

बच्चों को ईर्ष्यालु होने से बचाएँ

बाल मनोवैज्ञानिकों एवं बाल अपराध विशेषज्ञों का ऐसा कथन है कि ९० प्रतिशत बाल अपराधों का जन्म ईर्ष्या से होता है। बच्चों में ईर्ष्या का अंकुर अपने घर में ही उत्पन्न होता है एवं बच्चों के अभिभावकों ने बच्चों को ईर्ष्यालु होने से यदि नहीं बचाया, ऐसी परिस्थितियों व वातावरण उत्पन्न न किया जिसमें बच्चों में ईर्ष्या के अंकुर बजाय बढ़ने के समूल नष्ट हों तो फिर ईर्ष्यालु बच्चे आगे चलकर न केवल बालपन व किशोरावस्था में ही, अपितु अपने जीवन भर ईर्ष्याविश अपराधी-सा धिनौना व पतित जीवन जीते रहते हैं। अतः यह सर्वथा उचित ही होगा कि अपनी शैशवावस्था से ही बच्चों में ईर्ष्या के अंकुर प्रस्फुटित न होने दिए जाएँ व किसी कारण किसी स्तर पर यदि बच्चों में ऐसे भाव आ भी गए हों, तो उन्हें बच्चों के अभिभावक समूल नष्ट करने के प्रयास करें।

बच्चों में ईर्ष्या के भाव क्यों उत्पन्न होते हैं ? यह एक विचारणीय बिन्दु है। बच्चे को अपने आस-पास जैसा वातावरण मिलता है। उस वातावरण में यदि समय-समय पर बालक को अभिभावकों का समयानुकूल मार्गदर्शन, समयोचित मार्गदर्शन व बच्चों के अनुकूल प्यार-दुलार नहीं मिलता तो बच्चा अपने स्वयं के ही विचार दूसरों के प्रति बना लेता है व दूसरों के बारे में वह विद्वेषपूर्ण विचार बना लेता है। चूँकि विद्वेष, विद्वेष को ही जन्म देता है। अतः बच्चों में उभरे प्रारम्भिक विद्वेषपूर्ण विचार आगे चलकर उसे ईर्ष्यालु बना देते हैं व ईर्ष्याविश बच्चे फिर अपनी प्रतिकूल विचारणा बना लेता है, जो स्वयं उसके लिए, परिवार के लिए एवं पूरे समाज के लिए हानिप्रद रहती है।

ईर्ष्या एक प्रकार का विचार है, जो बच्चों के मन में इसकी अनभिज्ञता एवं पारिवारिक परिवेश के कारण उत्पन्न हो जाता है। आमतौर पर बच्चे में ईर्ष्या का विकार तब उत्पन्न होता है, जब उस घर में उस बच्चे के बाद कोई अन्य शिशु आने वाला होता है एवं नया शिशु आ जाता है। नए शिशु के आगमन की तैयारी में ही माता-पिता व परिवार के अन्य सदस्य रात-दिन लगे रहें व सदैव नवागन्तुक की ही चर्चा में व्यस्त रहें तो बच्चे के मन में सर्वप्रथम यह भाव जागता है कि ऐसा कौन-सा काम होने वाला है—ऐसा कौन-सा नया व्यक्ति आने वाला है, जो उसके माँ-बाप उसी की चर्चा-व्यवस्था में व्यस्त हैं व उनकी कोई चिन्ता ही नहीं कर रहे। नये शिशु के आगमन पर तो स्थिति और भी बिगड़ जाती है हर कोई नये शिशु को ही देखने, उसी की देख-रेख, चिन्ता, चर्चा में व्यस्त रहता है, क्या घर व क्या बाहर वाले हर कोई नये शिशु के आस-पास ही केन्द्रित रहते हैं व कल तक जो परिवार का प्यार-दुलारा राजा बेटा

था, वह आज कितना उपेक्षित हो गया है ? दुर्भाग्यवश यदि माता-पिता ने ऐसे अवसरों पर बच्चे की मनोदशा को ताड़कर उसे भावनात्मक प्यार न दिया व उसे नई स्थितियों से नहीं समझाया-बुझाया तो फिर बच्चा इस नये आगन्तुक के प्रति ईर्ष्यालु हो उठता है व उसके मन में यह विश्वास हो जाता है कि इसका अपना मान-सम्मान, प्यार-दुलार, पूछ-ताछ, नये शिशु के कारण ही कम हो गई है। यदि यह नया न आता तो उसका अपना अधिकार यथावत् बना रहता। अतः वह कई बार तो इतना अधिक ईर्ष्यालु हो उठता है कि अवसर मिलने पर अकेला देख नये शिशु को मारने को भी उद्यत हो जाता है। ऐसे में माँ-बाप को चाहिए कि बच्चे का काफ़ी ध्यान रखें। माँ जब प्रसूति अवधि पूर्ण कर ले तो प्रथम बच्चे को यथासम्भव अपने पास सुलावे तथा नये शिशु से माँ उसका परिचय करावे, उसके बारे में बतावे कि उसका छोटा भाई (अथवा बहिन) घर में आया है, जो उसका छोटा है उसका मित्र बनेगा, साथी बनेगा, उसका प्यार-दुलार चाहेगा। माँ यदि बच्चे को ठीक ढंग से नवागन्तुक के बारे में समझा दें व नये शिशु और बच्चे के परस्पर संभाव्य सम्बन्धों को एवं उसके प्रति उत्तरदायित्व, कर्तव्य भाव जाग्रत कर दे तो बच्चा बजाय ईर्ष्या करने के नये शिशु से स्नेह करने लगता है। इसी प्रकार पिता को भी चाहिए कि जब व जिन अवसरों पर माँ व नया शिशु व्यस्त रहें व जिस समय बच्चे की माँ के पास उपस्थिति अवांछनीय हो, तब पिता बच्चे को अपने पास रखे व उसके साथ घूमे-फिरे, खाये-पिये। इससे बच्चे को एक पारिवारिक आश्वासन मिलता है व वह ईर्ष्या के कीड़े को फिर आसानी से नहीं पाल सकता।

नये शिशु के आगमन के बाद भी फिर जब बच्चे बड़े हो जाते हैं कुछ समझने-बुझने लगते हैं, तब भी उनमें एक-दूसरे के गुणावगुणों, पढ़ाई-लिखाई, खेल-कूद में प्राप्त सफलताओं, असफलताओं के कारण भी तुलनात्मक प्रशंसा, अप्रशंसा प्राप्त होते रहने से ईर्ष्या पनपने लगती है। हाथ की पाँचों अँगुलियों के समान घर-परिवार के सभी बच्चे एक समान प्रतिभावान तो होते नहीं यदि कोई किसी अंश तक एक क्षेत्र में विशिष्ट योग्यता अर्जित कर लेता है तो कोई दूसरे क्षेत्र में व कोई बिल्कुल ही औसत से कम प्रतिभावान हो। ऐसे में भी बच्चों में ईर्ष्या भाव जाग्रत होता है। अतः माँ-बाप को व परिवार के अन्य वरिष्ठ सदस्यों को चाहिए कि वे बच्चों की कभी भी तुलनात्मक प्रशंसा-अप्रशंसा, डाँट-फटकार न करें व बच्चों को जो सुख-सुविधाएँ, सामग्री आदि का प्रदाय हो उसमें भी भेदभाव न हो अन्यथा जो बच्चे एक-दूसरे के भाई-बहिन बने हैं, वे ही एक-दूसरे के दुश्मन बन बैठेंगे। ऐसे अवसरों पर कम प्रतिभावान बच्चों को भी निरन्तर प्रोत्साहन, प्रशंसा व सुविधा-सामग्री मिलती रहनी चाहिए। घर पर तो ठीक अक्सर बाहर वाले, मिलने-जुलने वाले, पास-पड़ोसी, रिश्ते-नातेदार भी जब परिवार में मिलने-बैठने

आते हैं तो वे अधिक सुन्दर, स्वस्थ व प्रतिभावान बच्चों की तो प्रशंसा करते हैं व कम प्रतिभावान बच्चों को या तो कोसते हैं अथवा उनके अच्छों का अनुकरण करने की इस ढंग से सीख देते हैं कि कम प्रतिभावान बच्चे बजाय सीखने के लिए अपने प्रतिभावान भाई-बहनों के प्रति घोर ईर्ष्यालु हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर माँ-बाप ध्यान रखें कि बाहर वालों के सामने ऐसे प्रसंग आवें ही नहीं व यदि आवें तो भी कम प्रतिभावान की भी माँ-बाप किसी न किसी बहाने प्रशंसा करते रहें।

घर-परिवार में जिस तरह बच्चों का तुलनात्मक अध्ययन न किया जाय उसी तरह उनमें प्रतियोगी भाव भी इस अंश में जाग्रत न होने दिये जायें कि बजाय स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के ईर्ष्या को ही पल्लवित करें। माँ-बाप अपने बच्चों को यह समझाते रहने का प्रयास करते रहें कि बच्चे अनेक प्रकार की शक्ति के छिपे भण्डार हैं व हर बच्चे में प्रकृति प्रदत्त असीम प्रतिभा छिपी रहती है। कोई भी बच्चा जन्म से कोई गुणावगुण लेकर नहीं आता तथा जो जैसा चाहे अपने अन्तर्निहित गुणों-प्रतिभा का विकास कर उस क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है। बच्चों को यह बात भी अच्छी तरह समझाई जानी चाहिए कि मनुष्य शरीर में अगणित प्रकार के शक्ति स्रोत हैं व किसी बच्चे में पढ़ाई के प्रति, तो किसी में खेल के प्रति, तो किसी में साहित्य के प्रति, किसी में कला के प्रति झुकाव रहता है। कोई भी बच्चा ऐसा नहीं जिसमें निर्माणात्मक शक्ति न हो। अतः विभिन्न क्षेत्रों में अपने-अपने स्वभाव व गुणों के अनुसार बच्चे एकाध प्रवृत्तियों में प्रतिभा, विशेष योग्यता प्राप्त करता है। अतः कोई बच्चा यदि पढ़ने में कमजोर है तो वह यह न समझे कि उसका जीवन अब निरर्थक हो गया, हो सकता है जीवन के अन्य क्षेत्रों में वह योग्यता प्राप्त कर ले। बच्चों के मन में यह भावना भर देनी चाहिए कि हर मानव शरीर का अपना विशिष्ट महत्त्व है व हर बच्चे को आगे चलकर अपना योगदान राष्ट्रीय जीवन में किसी न किसी रूप में देना है। अतः प्रारम्भिक सफलता, असफलता से निराश होने के स्थान पर बच्चे बढ़ते चलें। काम करते चलें। उन्हें किसी न किसी क्षेत्र में कभी न कभी अवश्य ही ऐसी उपलब्धि अवश्य होगी, जिससे उन्हें जीवन सार्थक होता प्रतीत होगा। यदि इस तरह के भाव बच्चों में पनप जाएँ तो वे न तो हीनता के भाव से ही ग्रसित होंगे व न ही ईर्ष्या के भाव उनमें जाग सकेंगे।

न तो दब्बू बनें, न ही उद्दण्ड

बाल्यकाल में प्रेम-सम्मान से वंचित, उपेक्षा, उपहास तथा अभावों के बीच समय गुजारने वाले व्यक्तियों में इसकी प्रतिक्रियाएँ दो तरह से सामने आती हैं या तो दब्बू हो जाते हैं या उद्दत-उद्दण्ड। दोनों का मूल एक ही है—आत्महीनता। बचपन में किसी भी तरह का

अस्वाभाविक दबाव मन पर पड़ने पर ही आत्महीनता की ग्रन्थि पनपती है। यह दबाव माता-पिता द्वारा अनुशासन की गलत समझ से उत्पन्न अनावश्यक कठोरतापूर्ण बर्ताव के कारण भी हो सकता है। जन्म से भी ऐसी कुछ अविकसित बनावट कभी-कभी रह जाती है कि वे बच्चे तब तक सहज उन्मुक्त नहीं हो पाते, जब तक कि उनकी ओर विशेष ध्यान देकर समुचित प्रयास न किये जायें। पर आत्महीनता की ग्रन्थियाँ प्रधानतः जन्म के बाद शैशव काल के अभावों-न्यूनताओं की प्रतिक्रिया में पनपती हैं। बहुत-से पढ़े-लिखे माता-पिता अपने शिशु के अधिकाधिक विकास की शुभ आकांक्षा से ही, उसके एक-एक क्रिया-कलाप की अनावश्यक नुक्ताचीनी करते रहकर उसमें सदा मीनमेख ढूँढ़ते, टोका-टोकी करते रहते हैं। अन्य बच्चों की तुलना में उनके शिशु ने अधिक प्रगति की है किन्तु खेल में या कक्षा में एक-दो बच्चे उससे आगे बढ़ गए हैं तो प्रोत्साहन के स्थान पर भर्त्सना की मूढ़तापूर्ण प्रवृत्ति शिशु मन में कुण्ठा ही उत्पन्न करती है। बीमार, अपंग या मन्दबुद्धि बच्चों को बार-बार डाँट-डपट द्वारा सुधारना-सँभालना तो असम्भव है। दूसरों में अपनी स्थिति गर्द-गुजरी ही मान बैठने की भाग्यवादी धारणा का विष-वृक्ष उनमें अवश्य पनपा दिया जाता है।

महिलाएँ तथा पिछड़े कहे, समझे जाने वाले वर्ग के लोग निरन्तर उपेक्षा से अपने को हेय, घटिया मान बैठते हैं और उसी के अनुसार अपने सोचने-समझने का ढंग भी ढालते जाते हैं। परिणामतः उनकी प्रत्येक क्रिया से ऐसा दब्बूपन टपकता है, जो क्रूर, अमानवीय अहंता को भले ही अपने अनुकूल जान पड़े, पर संवेदनशील सज्जनों के मन में उससे गहरी पीड़ा तथा करुणा का स्रोत ही फूटता है। हीनताग्रस्त व्यक्ति की नम्रता से उन्हें प्रसन्नता नहीं, परेशानी ही होती है क्योंकि उस नम्रता में दब्बूपन और चापलूसी ही भरी होती है।

प्रकृति में दब्बूपन को पनपने देना वस्तुतः आत्म-तिरस्कार है। दूसरों को, विशिष्ट और अपने को तुच्छ मान बैठने पर अपने तथा औरों के बीच एक ऐसी कल्पित खाई बन जाती है कि सीधी-सी बात भी सहज रीति से औरों के सामने रखने का साहस नहीं होता। ऐसी मनोवृत्ति बन गई, तो अधिकांश समय गलतफहमी से ही अविश्वास, घुटन और अकारण रोष-क्षोभ उत्पन्न होते रहते हैं। दूसरा कुछ अन्यथा न समझ ले, बुरा न मान जाए, झिड़क न दें इस डर से मुँह खोलने का साहस भी नहीं जुटा पाने वाले लोग अपने को तो पीड़ा पहुँचाते ही हैं, औरों के प्रति भी मन ही मन गलत धारणाएँ पालकर अन्याय ही करते हैं।

दब्बू व्यक्ति आलसी भी हो जाते हैं। उनमें उत्साह उमड़ता ही नहीं। सहज सक्रियता के अभाव में उनमें स्थाई असन्तोष जड़े जमा लेता है। लोग उनका अनुचित

२.६४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

लाभ उठाते रहते हैं। बेगार लेते रहते हैं, ठग लेते हैं, रुपये आदि उधार ले लेते हैं और फिर लौटाते नहीं। ऐसा नहीं कि वे सामने वाले का इरादा भाँप न जाते हों, ऐसा भी नहीं कि गलत इरादों के प्रति उनके मन में विद्रोह न उठता हो, पर अस्वीकार करने का उनमें साहस ही नहीं होता। लोग उनसे लाभ तो उठा लेते हैं, पर कभी भी उनका एहसान नहीं मानते क्योंकि लाभ उठाते समय उनके मन में यह स्पष्ट रहता है कि वे उस दब्बू को ठग रहे हैं। वे उसे उदार नहीं मानते।

हीनता का भाव पूरे व्यक्तित्व को दबोच लेता है। व्यक्ति की चाल-ढाल से भी यह स्पष्ट ध्वनित होता रहता है। वे कंधे झुकाए, सहमे, सिर नीचा किए, जमीन में धँस जाने की-सी इच्छा टपकाते हुए चलते हैं। अपने पुरुषार्थ की विस्मृति ही इस विकृति का एकमात्र कारण है। इस आत्महीनता की छाप प्रत्येक कार्य में अंकित होती है। थोड़े-से साहस और धैर्य से जिन कामों में सफलता सहज सुनिश्चित थी, उनमें भी दब्बू व्यक्ति असफल हो जाते हैं और हर असफलता उन्हें अधिकाधिक निरुत्साहित ही करती है। उत्साह और सजगता रही होती तो असफलता प्राप्त होने पर भी प्राप्त अनुभव से प्रेरणा ही मिलती है। अगले कार्यों में, इस बार की गई गलतियों से बचकर, सफलता को सुनिश्चित बना लिया गया होता, पर अपनी क्षमता पर ही जिसे अविश्वास हो गया, वह हाथ-पैर होते हुए भी अपंग और बुद्धि होते हुए भी संशयग्रस्त बना रहता है। ऐसा नहीं कि वह सोचता ही नहीं, कुछ करने की योजना ही नहीं बनाता। वह निर्णय भी कर लेता है, पर आत्महीनता से भरा संकोच उसे कदम ही नहीं बढ़ाने देता। दुःख और अपमानों पर ही निरन्तर विचार करते रहने का अर्थ है—स्वयं को उन्हीं दोषों के अनुसार और अधिक ढालते जाना, क्योंकि प्रत्येक विचार हमारी मानसिक प्रकृति का निर्माण करता है।

दब्बू व्यक्ति स्वयं तो साहस, धैर्य और स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाकर स्वयं का विकास कर ही सकते हैं। पर उसके सच्चे मित्रों का भी कर्तव्य है कि उसके गुणों की सदैव चर्चा प्रशंसा करें। प्रोत्साहन द्वारा उसके व्यक्तित्व परिष्कृत करें। ताकि उसका साहस जाग्रत हो। प्रत्येक दब्बू व्यक्ति, फिर वह संकोची हो या चापलूस बन गया हो, सदा असन्तुष्ट और भीतर ही भीतर खीझ-रूठा रहता है। साहस जाग्रत हो जाने पर उसका असन्तोष उत्साह में और खीझ प्रसन्नता में बदल जाती है। प्रगति के बीज सभी के भीतर छिपे पड़े हैं, उनके विकास के लिए श्रम किया जाए तो सुफल अनिवार्य है।

प्रत्येक विवेकवान व्यक्ति का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि किसी दब्बू, संकोची व्यक्ति के व्यक्तित्व का अनुचित लाभ उठाने के स्थान पर उसे सुधारे-निखारे। बुराइयों का विश्लेषण अधिक न करे, सुधार के रचनात्मक

उपाय सुझाए। उत्साह से दिशा-निर्देश करे। भर्त्सना से उसके मन को और भयभीत न कर दे।

अधिकांश लोगों में आत्महीनता बाल्यकाल में तभी पनप जाती है जब बात-बात में उन्हें बेशऊर, मन्दबुद्धि, अभागा, अयोग्य, अविकसित आदि कहा बताया जाता है। बड़ों के ये गलत निर्देश शिशु की कोमल अन्तःचेतना में अंकित-स्वीकृत होते चलते हैं और उनकी अपने प्रति वही मान्यताएँ बन जाती हैं, उन मान्यताओं के इर्ग-गिर्द ही उनका जीवन-चक्र घूमता रहता है।

अन्तश्चेतना में इस स्थिति के प्रति विक्षोभ की लहरें उठती तो हैं, अपनी गई-गुजरी स्थिति से उबरने का उत्साह उत्पन्न तो अवश्यमेव और रह-रहकर होता है, उस समय यदि स्वयं अपनी गलतियाँ ढूँढ़ने, पूछने और सुधारने का प्रयास कम प्रबल कर दिया जाय, तो इस दुःखद स्थिति से छुटकारा पाना कठिन नहीं।

सही दिशा न मिलने पर आत्महीनता के विरुद्ध मन में उठा विक्षोभ औद्धत्य का विकृत नासूर बनकर फूट बहता है। पर इससे आत्महीनता समाप्त नहीं होती और जटिल हो जाती है। उद्धत व्यक्ति ऐसे कार्य करने को बेचैन रहते हैं, जिससे लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो और उन्हें असाधारण समझा जाय। सचमुच असाधारण बन सकने की सामर्थ्य-साधना का धैर्य उनमें होता नहीं। व्यक्तित्व के समग्र निर्माण हेतु वांछित मनोबल की उनमें कमी ही रहती है। आदर्शवादी गतिविधियाँ अपना सकने हेतु आवश्यक उदात्त साहस, संयम, तितिक्षा और प्रखरता के सात्विक आनन्द की अनुभूति से तो वे अपरिचित ही रहते हैं। अतः उच्छृंखलता-उद्दण्डता का मार्ग ही उन्हें सुगम प्रतीत होता है। उस हेतु आवश्यक संगति भी शीघ्र सुलभ हो जाती है। आवाराओं का साथ गुण्डागर्दी के अभ्यास में सहायक होता है और दूसरों को आतंकित करने में आत्म-गौरव की प्रतीति होने लगती है। आर्थिक लाभ तथा अन्य तात्कालिक सुविधाएँ भी साथ ही मिलती हैं। चापलूसों की कमी नहीं हो पाती। पर उद्दण्ड लोगों में साहस का सर्वथा अभाव ही होता है। असलियत तो यह है कि अधिकांश गुण्डे बराबरी की मार-पीट के अवसरों को ढालते रहते हैं और रौब दिखाकर दबे-सहमे लोगों को पीटकर अपना आतंक फैलाते रहते हैं। जिन लोगों को गुण्डों के वास्तविक जीवन को जानने का तनिक भी अवसर मिला हो, वे जानते होंगे कि कथित खूँख्वार गुण्डे तक बराबरी की मारपीट से हमेशा बचते हैं, किसी प्रमुख गुण्डे या कि आर्थिक अथवा अन्य दृष्टि से सुदृढ़ ऐसे व्यक्ति के संकेत पर ही वे बड़ी मार-पीट के कार्य करते हैं, जिससे उन्हें किसी न किसी तरह का भौतिक लाभ प्राप्त हो। सभी उद्धत, उच्छृंखल, आवारा लोग अपने निजी जीवन में थोड़ी-सी भी विपत्ति आ जाने पर बेतरह रोते-कलपते देखे गए हैं।

अधिक साज-शृंगार करने वाले, बन-ठनकर रहने वाले व्यक्ति भी आत्महीनता से ही ग्रस्त होते हैं और सतही तड़क-भड़क से अपने को आकर्षक बनाने का प्रयास करते रहते हैं। पैसे का अपव्यय, अमीरी का ढोंग, कर्ज से लदे रहकर भी बड़े आदमियों की तरह महँगी वस्तुएँ खरीद सकने और पैसे बहा सकने का प्रदर्शन आदि की प्रवृत्तियाँ आत्महीनता की ही निष्पत्ति हैं। इससे उनकी हीन-भावना समाप्त तो होती नहीं, चित्र-विचित्र प्रतिक्रियाओं के उतार-चढ़ाव में उलझती-फैलती रहती है।

आत्मीयता के दोनों ही रूप समान रूप से त्याज्य हैं। विकसित व्यक्तित्व का अर्थ है—अपनी मान्यता को स्पष्ट से नम्र एवं सन्तुलित रीति से कह सकना, औरों की मान्यता का सम्मान करना, जीवन को भार न मानते हुए हँसते-हँसाते रहना और अपने खर्च की सीमा निर्धारित कर सकना। अपनी गलतियों को समझना और उनके सुधार का निरन्तर प्रयास करना, पर अनावश्यक मनश्ताप न पालकर रचनात्मक उपाय अपनाना।

विश्वव्यापी प्रचण्ड शक्ति-सामर्थ्य के समुचित अंश के स्वयं में भी विद्यमान होने की वास्तविकता को स्मरण रखा जाये तो आत्महीनता का कोई भी कारण नहीं उपस्थित होगा। न तो दबू होने की स्थिति आयेगी, न उदण्ड बनने की प्रवृत्ति होगी। आत्मविकास और सामाजिक प्रगति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका और गरिमा को बनाए रखना और बढ़ाते रहना ही मनुष्य का उत्तरदायित्व है।

बच्चों को हठी न होने दीजिए

यों तो सभी बच्चे कुछ न कुछ हठी होते हैं, किन्तु कुछ बच्चे तो इतने हठी होते हैं कि उनके माता-पिता हर समय परेशान रहते हैं। उनके हठ की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ जाती है कि वे हर बात के लिए हठ करने लगते हैं। जो बात साधारणतः पूरी हो सकती है उसमें भी हठ के लिए कोई न कोई कारण निकाल लेते हैं। जैसे वह अपनी माँ से पैसे माँगता है और उसको इन्कार किया जाता है, तब तो वह हठ करेगा ही। इसके विपरीत यदि उसे पैसे दिये भी जाते हैं, तब भी वह उनके कम-ज्यादा होने के विषय में मचल उठेगा। यदि उसे चार रुपये दिये गये हैं तो वह छह के लिये हठ करेगा और यदि छह दिये गये हैं तो आठ के लिए हठ करेगा। तात्पर्य यह है कि किसी इच्छा अथवा आवश्यकता की वह तब तक पूर्ण तुष्टि नहीं मानता जब तक किसी न किसी प्रकार हठ करता रहता है। इसी प्रकार वह खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, उठने-बैठने, खेलने-कूदने आदि सारी साधारण एवं असाधारण सभी बातों में हठ का कारण निकाल लेता है।

कभी-कभी बालकों का यह स्वभाव हठ की परिधि लाँघकर निषेधात्मक प्रवृत्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। बालकों की यह प्रवृत्ति बड़ी खराब होती है। इस प्रवृत्ति

के बालकों को संतुष्ट करना बड़ा कठिन होता है। साथ ही वे हठ पूरा हो जाने पर भी पूर्ण रूप से स्वयं भी संतुष्ट नहीं हो पाते।

किसी माँग को पूरी कराने के लिए हठ करना एक बात है और माँग पूरी होने पर हेर-फेर कराने के लिए ज़िद करना दूसरी बात है। यह दोनों बातें परस्पर भिन्न हैं। इस स्वभाव के बच्चे निषेधात्मक, विरोधात्मक अथवा अस्वीकृतात्मक प्रवृत्ति के होते हैं जिसका सुधार बढ़ा दुःसाध्य होता है।

बच्चों के हठी हो जाने के अनेक कारण होते हैं, जिनमें सबसे प्रमुख कारण होता है—माता-पिता द्वारा उसकी हर बात को तत्काल मान लेना, वह बात उचित हो अथवा अनुचित। बच्चे की ज्यों-ज्यों हर बात मानी जाती है त्यों-त्यों उसकी इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं। एक दिन ऐसा आता है कि उसकी हर इच्छा पूरी कर सकना अभिभावकों के लिए कठिन हो जाता है और इन्कार करना पड़ता है। इधर बच्चा अपनी इच्छापूर्ति का इतना अभ्यस्त हो चुका है कि इन्कार होते ही उसको एक धक्का लगता है, जिससे उसे तकलीफ होती है और उस तकलीफ को दूर करने के लिए हठ का सहारा लेता है। उसके लिए रोयेगा, मचलेगा और तरह-तरह से कलह-क्लेश करेगा। कपड़े उतारने लगेगा, उनको नोचने लगेगा, स्कूल नहीं जायेगा, खाना नहीं खायेगा, बाल नोचेगा, सर पटकेगा और विविध प्रकार की ऐसी-ऐसी हरकतें करेगा, जिससे अभिभावक घबराकर, ऊबकर अथवा मजबूर होकर उसकी इच्छा पूरी कर दें।

किन्तु जिन बच्चों को अपनी हर बात पर हमेशा इन्कार सुनने को मिलता है, उनका हठ इस प्रकार का नहीं होता। उनका हठ कोई बाह्य आन्दोलन का रूप न लेकर मन ही मन पलता रहता है, जिससे वे अन्दर ही अन्दर अपने अभिभावकों के प्रति विरोधी हो जाते हैं, जो आगे चलकर स्पष्ट रूप में एक साथ प्रकट होता है। उन्हें माता-पिता से कोई विशेष लगाव नहीं रहता और अधिकतर वे कुछ सयाने होते ही अपना कमाने और अलग रहने की सोचने लगते हैं।

साथ ही अपनी इच्छापूर्ति के लिए उनमें बुरी आदतें पैदा हो जाती हैं, वे किसी चीज के लिए पैसे चुराते हैं, खाने के लिए चीजें चुराते हैं और कोई काम करने के लिए अभिभावकों की नज़र बचाते हैं। इस तरह एक प्रकार से उनमें चोरी एवं छिपाव का स्वभाव आ जाता है।

इसके अतिरिक्त हर बात में इन्कार पाने वाले बच्चे अधिकतर दीन-हीन होकर दयनीय भी हो जाते हैं। वे दूसरे बच्चों को देखकर तरसने लगते हैं, लालची बन जाते हैं और ईर्ष्यालु भी हो जाते हैं। उनमें एक ऐसी हीन-भावना आ जाती है जिससे वे साधारण और सामान्य बातों में भी सामंजस्य नहीं कर पाते और अकারণ दबते

या झंपते रहते हैं। उनके आत्म-विश्वास और आत्म-महत्त्व की भावना का ह्रास हो जाता है जो उनके विकास में हर प्रकार से बाधक होता है।

हठी स्वभाव के बालक न केवल माता-पिता के ही लिए परेशानी के कारण बनते हैं अपितु पाठशाला में अध्यापकों के लिए भी एक समस्या बन जाते हैं। कभी कोई प्रश्न पूछे जाने पर यदि उन्हें उसका उत्तर नहीं आता तो चुपचाप खड़े रहेंगे और 'हाँ, ना' में कोई उत्तर ही नहीं देंगे। अध्यापक कितना भी कुछ बोलने के लिए क्यों न कहें, वे उनकी ओर देखते हुए गुम-सुम खड़े रहेंगे। डाँटने पर चुपचाप आँसू गिराने लगेंगे किन्तु बोलेंगे नहीं। उन्हें न बोलने की ज़िद सवार हो जाती है। इस प्रकार बड़ी देर तक कक्षा में, अध्यापक के बार-बार कुछ उत्तर देने के लिए कहने और उसके न बोलने का झंझट पड़ा रहता है जिससे पूरी कक्षा का नुकसान होता है। उसकी मौनता से सारे बच्चे एक परेशानी अनुभव करते हैं। दो-एक बार ऐसे होने पर अध्यापक हठी बच्चे की उपेक्षा कर देते हैं, जिससे पाठशाला में वह असहाय-सा हो जाता है, पाठशाला जाने से जी चुराने लगता है। घर से पाठशाला के लिए चलता है, लेकिन पाठशाला न जाकर इधर-उधर घूमता रहता है, जिससे उसके आवारा हो जाने की सम्भावना रहती है।

दूसरे बच्चों के साथ खेलने में भी हठी बच्चों की पटरी नहीं बैठती। वे साथी चुनने में हठ करेंगे, गेंद या बल्ला पहले लेने या पहले खेलने के लिए ज़िद करेंगे, हार-जीत न मानने में उलझन करेंगे, इस प्रकार वे न सुविधापूर्वक स्वयं खेलेंगे और न दूसरों को खेलने देंगे। एक-आध बार ऐसा करने पर साथी उसका बहिष्कार कर देते हैं और वह अकेला रह जाने से सबसे चिढ़ने या झगड़ा करने लगता है जिससे आगे चलकर वह दिनोंदिन झगड़ालू होता जाता है।

हठी बच्चे के दिमाग में हर समय एक रोष, खीझ और परेशानी बनी रहती है, जिससे वे क्रोधी, चिढ़-चिढ़े और विरोधी बन जाते हैं। उनका बौद्धिक विकास रुक जाता है और वे किसी क्षेत्र में कोई उन्नति नहीं कर पाते।

इसलिए हठी बनने से रोकने के लिए माता-पिता को हर सम्भव उपाय करना चाहिए। माताओं को इस दिशा में अधिक सजग रहने की आवश्यकता है, क्योंकि छोटे बच्चों का अधिकतर सम्पर्क उन्हीं से रहता है। बच्चों के खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और पैसा आदि देने का सम्बन्ध उन्हीं से रहता है। साथ ही वे कोमल स्वभाव की भी होती हैं और बच्चा पिता की अपेक्षा उनसे डरता भी कम है। इसलिए माँ से हठ करने और उसके पूरे होने की सम्भावना अधिक रहती है।

जहाँ बच्चा किसी बात के लिए थोड़ा-बहुत मचला या रोया कि उनका कोमल हृदय विचलित हो उठा और

बच्चे की माँग पूरी हुई। उनको अपने मातृ-भाव के सामने यह विचार करने का मौका ही नहीं रहता कि बच्चे की माँग उचित है अथवा अनुचित है और यदि माँग अनुचित भी होती है, तब भी बच्चे के प्रति प्यार अथवा उलझन से बचने और समय बचाने के लिए वे उसके हठ को जल्दी से जल्दी पूरा कर देती हैं।

माताओं को चाहिए कि वे बच्चे के हित को ध्यान में रखकर अपने वात्सल्य का ऐसे अवसर पर नियन्त्रण रखें। बच्चे की हर माँग की विवेचना करके उसे पूरा करें। यदि माँग उचित है, तब भी तत्काल पूरा करने के बजाय इस ढंग से थोड़ी देर टालकर पूरा करें, जिससे कि उसमें धैर्य रखने की प्रवृत्ति पैदा हो। बच्चे की माँग पूरी करने के लिए न तो तत्काल स्वयं अधीर हो उठना चाहिए और न इतनी टालमटोल करनी चाहिए जिससे वह अधीर हो उठे।

जहाँ तक सम्भव हो बच्चे की अनुचित माँग को कदापि पूरा न किया जाय। इस विषय में अवश्य ही इतनी दृढ़ता बरती जानी चाहिए कि वह हठ छोड़ने पर मजबूर हो जाये और यदि किसी कारणवश उसकी अनुचित माँग करने की मजबूरी ही आ पड़े तो उसे तत्काल पूरी न करके विलम्ब से उस समय इस ढंग से पूरी करनी चाहिए, जिससे उसे हठ के विजयी होने का अनुमान न हो सके। इस प्रकार दो एक-बार परास्त होने पर अनुचित बात के लिए उसका हठ शिथिल पड़ जायेगा।

वास्तव में किसी अनुचित बात के लिए ही बच्चों का हठ ठीक नहीं होता, उचित बात में भी नहीं। कोई भी उचित माँग कर सकना उनका अधिकार है। उनके इस अधिकार की यथासम्भव रक्षा करना अभिभावकों का एक नैतिक कर्तव्य है। कोई उचित माँग पेश करने पर इन्कार कर देना उनके प्रति अत्याचार है। आवश्यकताएँ तो बच्चे की भी हो सकती हैं। यदि माता-पिता उसकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं करेंगे तो वह उनके लिए किससे अनुरोध करेगा उसके पास स्वयं अपना कोई साधन या स्रोत तो होता नहीं जिससे वह अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर ले और न वह इतना बुद्धिमान ही होता है कि बिना आवश्यकता पूर्ति के काम चला ले, साथ ही वह इतना संयमी भी नहीं होता कि किसी आवश्यकता को उत्पन्न ही न होने दे। हर दशा में वह अपनी आवश्यकता अपने माता-पिता के सम्मुख ही रखने को मजबूर है।

ऐसी दशा में यदि उसे बार-बार निराश होना पड़ेगा तो वह अवश्य हठी होने लगेगा। यदि उसके उचित हठ को भी डाँट-डपट और मार-पीटकर दबा दिया जावेगा तो उसका मन अवश्य अपने माता की ओर से फिर जायेगा। वह अपनी आवश्यकता किसी से कुछ उधार लेकर अथवा माँग कर पूरी करेगा। जिससे उसका सम्मान दूसरों की ओर हो जायेगा। बच्चों के लिए यह स्थिति अच्छी नहीं होती। उसमें लोभ, लालच और याचना की

प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। दूसरे लोग इसका लाभ उठाकर बच्चे को माता-पिता के प्रति विद्रोही बना देते हैं। यदि मित्र नहीं तो कम से कम वैमनस्य मानने वाले लोग तो इसका फायदा उठावेंगे ही।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए बच्चों की उचित माँग अवश्य मान लेना चाहिए किन्तु इसमें भी इतनी जल्दी नहीं करनी चाहिए जिससे वह उन्हें बार-बार तत्काल पूरी कराने का आदी हो जाये क्योंकि कभी-कभी कोई उचित माँग न पूरी कर सकने की स्थिति हो सकती है और तब तत्काल पूर्ति का अभ्यस्त उसके विषय में परेशानी पैदा करेगा।

कभी-कभी उचित माँग भी अनुचित होती है, जैसे वह घर के नियमानुसार कुछ पैसे माँगने और पाने का अधिकारी है किन्तु यदि वह अपने पैसे माँगता है, पतंग उड़ाने या आतिशबाजी जलाने के लिए तब उसकी वह उचित माँग अनुचित ही है और किसी दशा में भी पूरी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ऐसी माँगों को उसका अधिकार समझकर यदि पूरा किया जायेगा तो जहाँ एक ओर हठ की सम्भावना नहीं है, वहाँ दूसरी ओर उसमें अन्य बुरी बातें पैदा हो जाने की आशंका है। इसलिए बच्चे की उचित माँग को भी विश्लेषण किये बिना पूरी न करना चाहिए।

बच्चे को हठी बनने से रोकने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि उसकी आवश्यकताओं का स्वयं ध्यान रखा जाये और उनको ठीक समय पर उसके बिना कहे ही पूरा कर दिया जाये। इस प्रकार वह अपनी आवश्यकता खुद समझने और उनको पूरा करने के प्रयत्न से मुक्त होकर माता-पिता पर निर्भर रहेगा जिससे उसके लिए हठ करने का कोई अवसर ही न आयेगा और यदि कभी उसके कहने का अवसर आ भी जायेगा तो वह माता-पिता के सामने प्रस्ताव करेगा, स्वयं हठपूर्वक उसकी माँग न करेगा। जिन बच्चों को विश्वास रहता है कि उनके माता-पिता उनकी हर बात का ध्यान रखते हैं, वे बच्चे अपने माता-पिता के सदा अनुकूल रहते हैं और कभी परेशान नहीं करते। किसी बात के लिए इन्कार किये जाने पर भी उनके मन में कोई कुण्ठा अथवा क्षोभ की उत्पत्ति नहीं होती।

किन्तु इस बात में भी यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि उनकी इस निर्भरता से वे आगे चलकर परावलम्बी न बन जाएँ। इसलिए उनकी माँग को पूरा करते समय यह समझाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि यह आवश्यकता उनकी क्यों थी और इस समय क्यों पूरी की गई और अनुचित ब्रात के लिए इन्कार करते समय उन्हें बताया जाना चाहिए कि इस बात से उनको अमुक हानि हो सकती है, इसलिए उनके हित में ही उनकी अमुक बात नहीं मानी गई है। इस प्रकार वे आवश्यकता के औचित्य एवं अनौचित्य के प्रति समझदार होकर कभी अनुचित हठ करने के अभ्यस्त न होंगे।

बालचरित्र-निर्माण सम्बन्धी कुछ

आवश्यक ज्ञातव्य

आदत और चरित्र एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, क्योंकि एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इसी धारणा के आधार पर कुछ लोगों ने चरित्र को आदतों का पुंज और आदतों को व्यक्ति का दूसरा स्वभाव माना है। परन्तु इस धारणा से पूर्णरूपेण हम सहमत नहीं हो सकते, यद्यपि हम यह मानते हैं कि आदतों का व्यक्ति के चरित्र पर अवश्य गहरा प्रभाव पड़ता तो भी आदत और चरित्र में बड़ा भेद है। आदतें यात्रिक होती हैं, उन पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। अनुकूल परिस्थिति के अभाव में वे हमारी सहायता नहीं कर सकतीं। परन्तु चरित्र के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। चरित्र तो सदा हमारे साथ रहता है। हमारी प्रत्येक गति का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आदत से व्यक्ति को कोई ऐसी शक्ति नहीं प्राप्त होती जिससे उसके सारे कार्य निर्धारित होते रहे। परन्तु चरित्र तो व्यक्ति के सारे जीवन सिद्धान्त का निचोड़ होता है और उसी के अनुसार वह अपने जीवन का विभिन्न व्यापार चलाता है। विवेक के अनुसार जो कार्य किया जाता है, उससे अच्छी आदतें बन पड़ने की सम्भावना रहती है और तब ये अच्छी आदतें हमारे चरित्र के अंग हो सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्र और आदतों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी वे एक-दूसरे से भिन्न हैं।

आदत का महत्त्व—हमारे अनेक आचरण हमारी विभिन्न आदतों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। यदि कोई बुरी आदत पड़ गई तो उससे पिण्ड छुड़ाना बड़ा ही कठिन होता है। बीड़ी, सिगरेट तथा अन्य मादक वस्तुओं की आदत पड़ जाने पर उन्हें छोड़ना बड़ा ही कठिन हो जाता है। पिंजड़े से छोड़ा हुआ तोता फिर पिंजड़े में जा बैठता है। अभ्यस्त घोड़ा स्वतः स्वामी को घर पहुँचा देता है। जब पशु का जीवन आदतों से इतना प्रभावित होता है तो मानवीय जीवन का क्या कहना ? बहुत दिनों तक जेल में रहने वाले कैदी मुक्त किये जाने पर फिर जेल में ही रहना पसन्द करते हैं। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में वर्षों बाद वेस्टील नामक कारागृह से मुक्त किये जाने पर कैदियों में ही जीवन बिता देने की इच्छा प्रकट की। ग्राम्यजीवन से अभ्यस्त व्यक्ति शहरी जीवन से दूर रहना चाहता है। यदि प्रारम्भ में ही बालकों में कुछ अच्छी आदतें डाल दी जाती हैं तो वे उनमें स्थायी हो जाती हैं। बालक के मस्तिष्क में संस्कारों का प्रभाव बड़ी शीघ्रता से पड़ता है। अतः बचपन में आदतों का डालना बड़ा सरल होता है। इसीलिए तो बच्चे पढ़ना-लिखना शीघ्रतर सीख लेते हैं और प्रौढ़ों को सीखने में बड़ी कठिनाई होती है। लिखने का थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करते रहने से एक दिन लेखक बन जाना सम्भव हो सकता है।

२.६८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

अतः आदत से हम अपनी शक्तियों का संचय और वृद्धि कर सकते हैं। पर आदत का दास बन जाने पर व्यक्ति को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। 'विलियम जेम्स' ने आदत डालने के लिए चार नियमों का उल्लेख किया है—

संकल्पदृढ़ता—आदत डालने में संकल्प की दृढ़ता का बड़ा भारी महत्व है। संकल्प करने से व्यक्ति अपने में क्या-क्या आदतें नहीं डाल सकता ? संकल्प कर लेने के बाद यह चेष्टा होनी चाहिए कि अच्छी आदतें डालने का एक भी अवसर हाथ से न जाने पावे। अच्छा होगा यदि बालक को किसी विशिष्ट आदत की जीवन में उपयोगिता समझा दी जाये। इस प्रकार समझाना उपदेश के रूप में नहीं होना चाहिए। यदि इस सम्बन्ध में महापुरुषों के जीवन के दृष्टान्तों का सहारा लिया जाए तो बालकों में अच्छी आदतों के डालने की संकल्प-दृढ़ता आ जायेगी।

कार्यशीलता—सामने आदर्श रख देने के बाद उसके कार्यान्वित करने के लिए बालक को समुचित प्रेरणा देना आवश्यक है। कठोर आदर्शों और सिद्धान्तों से काम नहीं चलता। उनके अनुसार कार्य करना आवश्यक है अन्यथा वांछित आदत न पड़ सकेगी। कभी-कभी देखा जाता है कि कुछ अभिभावक और शिक्षक बालकों के समक्ष लम्बी-लम्बी बातें कर जायेंगे, परन्तु अपने सिद्धान्तों के अनुसार चलने में बड़े असमर्थ दिखलाई पड़ते हैं। ऐसे लोगों से बालक अच्छी आदत के बदले बुरी आदत सीखता है। अतः अच्छी आदत डालने के लिए यह आवश्यक है कि किसी विशिष्ट आदर्श के प्रति अभिभावक स्वतः क्रियाशील रहते हुए बालकों को उसे अपनाने के लिए आवश्यक प्रेरणा दें।

संलग्नता—संलग्नता के बिना आदत का पड़ना बड़ा कठिन है। कार्य आरम्भ कर देने के बाद उसमें संलग्न रहना, तब तक आवश्यक है जब तक आदत पक्की न हो जाये। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि गुण के लिए कभी भी अवकाश नहीं है।

अभ्यास—आदत पड़ जाने पर उसका जारी रखना बड़ा आवश्यक है अन्यथा आदत गायब हो सकती है। यह प्रायः प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा कि किसी कार्य का अभ्यास छूट जाने पर तत्सम्बन्धी आदत का लोप हो जाता है। संगीतज्ञ जब अभ्यास छोड़ देता है तो वह राग भूलने लगता है। अभ्यास के अभाव में टाइपिस्ट और स्टेटोग्राफर की गति बड़ी धीमी पड़ जाती है। स्पष्ट है कि आदत को पुष्ट रखने के लिए उसका अभ्यास करते रहना आवश्यक है।

बुरी आदतों से बचाव—मनोविश्लेषकों की खोज से उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर हमें मिलता है। कुछ लोगों में अनायास कुछ बुरी आदतें मिलती हैं। उन्होंने जान-बूझकर उन्हें अपनाने के लिए निरन्तर अभ्यास उस प्रकार नहीं

किया है जैसे संगीतज्ञ या टाइपिस्ट करता है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि आदतें कुछ ऐसी मानसिक उलझनों के कारण पड़ती हैं, जिनसे व्यक्ति अपनी चेतना में अवगत नहीं रहता। इन मानसिक उलझनों के सुलझाव से ही उन बुरी आदतों से व्यक्ति का छुटकारा हो सकता है। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार ऐसी आदतें अभ्यास के आधार पर नहीं, वरन् किसी संवेग के आधार पर पड़ती हैं। किसी बालक में चोरी करने अथवा झूठ बोलने की आदत होती है। ऐसी आदत उसमें किसी विकृत-संवेग के कारण आती है। इसी प्रकार अच्छी आदतें उसमें अच्छे संवेगों के कारण आती हैं। बुरी आदतों को दूर करने के लिए तत्सम्बन्धी विकृत संवेग का पता लगाकर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि विकृत संवेग नष्ट हुआ तो मानसिक उलझनें सुलझ जायेंगी। मानसिक उलझनों के दूर होने का तात्पर्य बुरी आदतों का नष्ट होना है। 'हेडफील्डर' के अनुसार "मानसिक उलझनों के हटने पर आदतें वैसे ही भाग जाती हैं जैसे बिजली के प्रकाश से अँधेरा गायब हो जाता है। यदि बुरी आदतें दूर न हुईं तो इसका अर्थ यह हुआ कि मानसिक उलझनों का अभी नाश नहीं हुआ। संवेगात्मक जीवन में वांछित परिवर्तन आने से व्यक्ति का बुरी आदतों से स्वतः उद्धार हो जाता है। मानसिक उलझनों के सुलझाव में कई सप्ताह अथवा महीने लग सकते हैं, पर उनके सुलझाव से आदतें स्वतः भाग जाती हैं।"

चोरी की आदत—कुछ बालकों में साधारण से साधारण वस्तुएँ चुराने की आदत पड़ जाती है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि चुराने की आदत काम-मूल-प्रवृत्ति के अवदमन के कारण पड़ती है। चुराने में उसे कामभावना की तृप्ति के संवेग का अनुभव होता है। कुछ बालक अपने मित्रों की वस्तुओं को चुरा लेते हैं। मनोविश्लेषकों के अनुसार यह आदत किसी प्रकार के क्रूर व्यवहार करने की उनकी प्रवृत्ति का द्योतक है। परन्तु प्रश्न यह है कि बालक घर की वस्तुओं को क्यों चुराता है ? पिता के जेब से वह पैसे क्यों चुराता है ? माँ के गहने चुराकर वह क्यों बेच आता है ? वस्तुतः इस प्रकार की चोरी का प्रधान कारण अभिभावकों का अमनोवैज्ञानिक व्यवहार है। अभिभावकगण उपयुक्त अवसर पर बालकों पर समुचित नियन्त्रण रखने में असमर्थ होते हैं। वे कभी बहुत लाड़-प्यार दिखाते हैं और कभी अनायास उन्हें अपने क्रोध का भाजन बनाते हैं। किसी वस्तु के मॉगने पर बालक को झिड़क दिया जाता है अथवा झूठी बातें की जाती हैं। उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं की जाती। फल यह होता है कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अथवा प्रतिशोध भावनावश अभिभावकों को तंग करने के लिए वे घर की वस्तुएँ चुराया करते हैं। फिर यह आदत दृढ़ होकर अन्य परिस्थितियों में भी बालक को चोरी करने के लिए अभिप्रेरित करती है।

अतः चोरी की आदत छुड़ाने के लिए बालकों की मानसिक उलझनों को समझकर तदनुसार उसकी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति करनी चाहिए।

धूम्रपान—बालक धूम्रपान की आदत अपने बड़ों के अनुकरण से अपनाता है। वह समझता है कि धूम्रपान करना बड़े लोगों का चिह्न है। अपने को कुछ बड़ा दिखलाने के लिए भी वह कभी-कभी धूम्रपान का अभ्यस्त हो जाता है। ऐसे भी अशिक्षित अभिभावक हैं जो स्वयं ही स्नेह की अधिकतावश अपने बच्चों से चिलम भरते हैं और पहले उसी से पीने के लिए कहते हैं।

मिल या फैक्ट्रियों में काम करने वाले बालकों में बीड़ी अथवा सिगरेट पीने की आदत पड़ जाती है। यह अनुकरण का परिणाम होता है। बहुतों में धूम्रपान की आदत किशोरावस्था में पड़ती है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि यह उनकी वासना-प्रवृत्ति का सांकेतिक चिह्न है। कहना न होगा कि बालकों के सामने यदि धूम्रपान करने का बुरा उदाहरण न रखा जाये तो उनमें यह आदत न आयेगी। उनमें यह आदत आ जाने पर इसके बुरे परिणाम को उन्हें समझाया जाये और उनके सामने स्वयं धूम्रपान की आदत को छोड़ा जाये।

चिढ़ाना—कुछ बालकों में दूसरों को चिढ़ाने अथवा तंग करने की आदत आ जाती है, जिन्हें अपने अभिभावकों अथवा शिक्षकों का प्यार और आदर नहीं मिलता, वे उन लड़कों को तंग करते हैं, जिन्हें दूसरों का प्यार और आदर मिलता है। दूसरों को सम्मानित होते देख उनमें ईर्ष्या-भावना जाग्रत हो जाती है, वे भी चाहते हैं कि लोग उनकी योग्यता को समझें और उन्हें प्यार और आदर दें। परन्तु अपनी इस इच्छा की पूर्ति होते न देखकर वे चिढ़ जाते हैं और ऊधम मचाना या दूसरों को चिढ़ाना प्रारम्भ कर देते हैं। यदि ऐसे बालकों को आत्मप्रकाशन का समुचित अवसर दिया जाय तो उनकी यह बुरी आदत दूर हो सकती है, क्योंकि तब वे समझेगे कि उन्हें भी आदर और प्यार दिया जा रहा है।

झूठ बोलना—बालक में झूठ बोलने की आदत के कई कारण हो सकते हैं। कभी-कभी यह देखा जाता है कि बालक किसी वस्तु का गलत वर्णन अपनी ऊँची कल्पना की उड़ान में करता है। बालक की धारणा शक्ति प्रबल नहीं होती। किसी वस्तु को देखने के बाद तत्सम्बन्धी बातें उसे अच्छी तरह याद नहीं रहतीं। उस वस्तु के वर्णन में वह झूठ बोलकर गलती करता है। अतः ऐसे अवसर पर बालक पर झूठ बोलने का अपराध नहीं लगाना चाहिए। अच्छा हो यदि सहानुभूतिपूर्वक उसे सारी बातें ठीक-ठीक समझा दी जायें। कभी-कभी बालक दूसरों के अनुकरण से भी झूठ बोलना प्रारम्भ कर देता है और धीरे-धीरे उसकी झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। जिस घर के लोग बातचीत में अपने झूठे सम्मान की रक्षा के लिए झूठ बोला करते हैं, उनके लड़कों में झूठ

बोलने की आदत आ ही जाती है। अतः यह आवश्यक है कि बालकों के सामने गलत उदाहरण न रखा जाये।

दण्ड के भय से कुछ बालक झूठ बोलना सीख लेते हैं। जिन बालकों पर बात-बात में अभिभावकों की डाँट या मार पड़ा करती है, वे उससे बचने के लिए झूठ बोल सकते हैं। उदाहरणार्थ, बाजार से कुछ खरीद करके बालक लौटा तो उससे पूछा गया कि अमुक वस्तु क्यों नहीं लाये तो दण्ड के भय से वह झूठ बोल सकता है कि वह वस्तु बाजार में मिली ही नहीं—यद्यपि उसके विषय में दुकानदार से उसने पूछा ही न हो।

बालक कभी-कभी आत्मप्रकाशन के लिए मनगढ़न्त बातें किया करता है। जब साधारणतः उसकी अवहेलना की जाती है और उसे अपेक्षित प्रशंसा नहीं मिलती तो दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वह झूठी बातें कर सकता है। माता-पिता के कठोर व्यवहार से जब बालक की सामाजिक इच्छाओं का दमन होता है तो वह आत्मप्रकाशन के लिए झूठ बोलने का अभ्यस्त हो सकता है। अतः बालकों की सामाजिक इच्छाओं का अवदमन करना बड़ा हानिकार सिद्ध हो सकता है। इच्छाओं के अवदमन से आत्मप्रकाशन की क्रियाशीलता रुक जाती है। और बालक झूठ की आड़ में आत्मप्रकाशन की चेष्टा करता है। बालक को झूठ की आदत छुड़ाने के लिए उसे दण्ड देना हानिकारक है। दण्ड से झूठ बोलने की आदत प्रायः बढ़ जाती है, क्योंकि दण्ड से उसके आत्मप्रकाशन में और रुकावट पड़ती है। अतः झूठ बोलने की आदत छुड़ाने के लिए आत्म-प्रकाशन का अवसर देना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

कुछ अभिभावक स्वयं अनजान में बालक में झूठ की आदत डालते हैं। पैसे रहते हुए भी जब वे कहते हैं कि पैसा नहीं है अथवा घर में उपस्थित रहते हुए भी जब वे कहलवा देते हैं कि वे घर पर नहीं हैं तो बालक समझता है कि झूठ बोलना बुरा नहीं है और अपना कार्य निकालने के लिए इसका अवलम्बन किया जा सकता है। फलतः बालक में झूठ बोलने की आदत आ जाती है।

रूसो का कहना है कि यदि बालक की सत्य बात पर भी विश्वास करना छोड़ दिया जाये, तो बालक तंग आकर झूठ बोलना स्वयं छोड़ देगा। किसी अवसर विशेष पर किसी झूठ के लिए दण्ड दिया जा सकता है, परन्तु इसका आधिक्य नहीं होना चाहिए। हमें यह याद रखना है कि बालक के प्रत्येक झूठ में कोई उसकी अतृप्त इच्छा छिपी हुई है। अतः झूठ की आदत निकालने के लिए हमें उस अतृप्त इच्छा को समझना है और उसकी स्वाभाविक पूर्ति के लिए समुचित आयोजन करना है। यदि यह आयोजन हो सका तो झूठ बोलने की आदत बालक से स्वतः दूर हो जायेगी। झूठ न बोलने के लिए

बार-बार उपदेश देने का परिणाम उल्टा हो सकता है। जो स्वयं झूठ बोला करते हैं और बालकों को झूठ न बोलने का उपदेश दिया करते हैं उनके उपदेश का बालक पर उल्टा प्रभाव पड़ता है और बालक से झूठ बोलने की आदत दूर नहीं होती। अतः उपदेश के स्थान पर यदि उनके सामने व्यक्तिगत व्यावहारिक उदाहरण रखे जायें तो अधिक लाभ होगा।

परन्तु हमें यह याद रखना है कि बालकों के जीवन से झूठ को हम एकदम अलग नहीं कर सकते। बालक कहानियों में बड़ी रुचि रखते हैं। परन्तु कहानियों में एक प्रकार से सब झूठ का ही जाल रहता है। ऐसी कहानियों के पढ़ने अथवा सुनने से बालकों में कल्पना शक्ति का विकास होता है। इन कहानियों के झूठे आवरण के अन्तर्गत सत्यता कूट-कूटकर भरी रहती है। इस सत्यता का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। तभी तो वह बालकों को बड़ी रुचिकर लगती है और उससे उनकी कल्पना-शक्ति का विकास होता है। अतः इस प्रकार के झूठ की बालकों के जीवन में उपयोगिता है और इसे उसके अनुभव से अलग करना उसके स्वाभाविक विकास में रुकावट डालना होगा।

चरित्र—चरित्र अच्छा और बुरा दोनों होता है। पर नैतिक दृष्टि से चरित्र का तात्पर्य सदा अच्छे ही चरित्र से लिया जाता है। जब यह कहा जाता है कि वह चरित्रवान है तो इसका अर्थ यही होता है कि वह अच्छे चरित्र का है। अतः 'चरित्र' शब्द का प्रयोग यहाँ अच्छे ही चरित्र के अर्थ में किया जा रहा है। चरित्रवान व्यक्ति में संकल्प शक्ति और आत्म-गौरव का स्थायी भाव कूट-कूटकर भरा होता है। ऐसा व्यक्ति सदा अपने एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है। चरित्रवान व्यक्ति किसी कार्य को अपना कर्तव्य समझकर करता है। जो कुछ कम चरित्र के होते हैं, वे किसी कार्य को पुरस्कार, प्रशंसा अथवा दण्ड के भय से कर सकते हैं। जो व्यक्ति पशुवत् होते हैं उनके कार्य बहुधा मूल प्रवृत्तियों द्वारा अभिप्रेरित होते हैं। मूल प्रवृत्तियाँ तो सभी व्यक्तियों में पाई जाती हैं, परन्तु उनकी प्रबलता में वैज्ञानिक भेद पाया जाता है। किसी में एक प्रवृत्ति प्रबल होती है तो दूसरी निर्बल। अपने-अपने विकास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्न मूल प्रवृत्तियों की प्रबलता भिन्न प्रकार की होती है। चरित्र की नींव मूल प्रवृत्तियों में पाई जाती है, क्योंकि मूल प्रवृत्तियों के शोधन से ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है। चरित्र पर हमारे सभी अनुभवों और मूल प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है। अतः आदर्श चरित्र के लिए हमें बालकों के मूल प्रवृत्त्यात्मक प्रकाशन तथा विभिन्न अनुभवों पर कड़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखनी होगी।

सच्चरित्र व्यक्ति अपने आदर्शों से अपना आत्मसात कर लेता है। फलतः अपने आदर्शों की रक्षा के लिए वह अपने सब कुछ की बाजी लगा सकता है। मानव

व्यवहार कभी-कभी भावों द्वारा भी नियमित होता है, क्योंकि मनुष्य सदा विवेक के अनुसार ही नहीं चल सकता। बड़े-बड़े विवेकी अवसर पर चुप मारकर बैठे रहते हैं। वे क्रियाहीन दिखलाई पड़ते हैं, क्योंकि उनमें अवसरानुसार उपयुक्त भावों का अभाव रहता है। चरित्रवान व्यक्ति का अवसरानुसार क्रियाशील होना आवश्यक है। अतः यह आवश्यक है कि सिद्धान्त वाला व्यक्ति सच्चरित्र होगा। इसीलिए तो कभी-कभी यह देखा जाता है कि बड़े-बड़े सिद्धान्त झाड़ने वाले अवसर पर बगलें झाँकने लगते हैं। सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है और यह शक्ति भाव से ही आती है। अतः स्पष्ट है कि चरित्र और भाव में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरित्र की प्रबलता तो संकल्प-शक्ति की प्रबलता पर ही निर्भर करती है। चरित्रवान व्यक्ति के कार्य में आवेश और हठ नहीं होता। आवेश और हठ तो संकल्प-शक्तिहीनता का परिचायक होता है। अतः बालक को चरित्रवान बनाने के लिए उसमें हमें दृढ़-संकल्पशक्ति डालनी चाहिए। चरित्र के विकास के लिए बालक को ऐसा वातावरण दिया जाये कि वह अपनी संकल्प शक्ति की क्रियाशीलता में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव न करे। उसे ठीक पथ को स्वयं खोज निकालने की प्रेरणा देनी चाहिए। इससे उसकी संकल्प-शक्ति का विकास होगा और चरित्रबल बढ़ेगा। उसे कठिनाइयों का प्रसन्नतापूर्वक सामना करना सिखलाना चाहिए। उसके सामने विभिन्न समस्याएँ रखनी चाहिए, जिससे वह उलझन में पड़कर अपने विवेक और तर्क का विकास करते हुए उसका समाधान निकाले। संकल्पशक्ति के विकास के लिए हमें सतत प्रयत्न करते रहना है। बहुत-से व्यक्ति अपने विवेक का सदुपयोग नहीं कर पाते। वह उनकी संकल्प-शक्ति हीनता होती है। जैसे व्यायाम से शरीर को पुष्ट बनाया जा सकता है उसी प्रकार अभ्यास से संकल्प शक्ति को भी प्रबल बनाया जा सकता है। जैसे—बूँद-बूँद से सागर भरता है, उसी प्रकार साधारण से साधारण बातों को अनावश्यक समझ उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि छोटी-से-छोटी बातों पर ध्यान देने में चरित्र का विकास होता है। जो छोटी बातों पर ध्यान नहीं दे सकता वह बड़ी बातों पर भी ध्यान नहीं दे सकता। अभिभावकों को यह देखना चाहिए कि संकल्पशक्ति अर्थात् चरित्र के विकास के लिए एक अवसर भी उनके हाथ से न जाने पावे।

मूल प्रवृत्तियों की तरह संकल्प-शक्ति के तीन अंग माने जा सकते हैं—ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक। अच्छे चरित्र के विकास के लिए हमें प्रत्येक अंग पर समुचित ध्यान देना है। ज्ञानात्मक अंग पर ध्यान देने का तात्पर्य बालक को आवश्यक ज्ञान देना है, जिससे किसी काम में हाथ लगाने के पूर्व उसके परिणाम का वह कुछ

अनुमान लगा सके, अन्यथा आवेशवश कार्य प्रारम्भ कर देने का परिणाम घातक हो सकता है। आवेश को दबाकर आत्मसंयम से काम लेना आवश्यक है। सच्ची संकल्पशक्ति के अन्तर्गत आत्मसंयम की भावना निहित रहती है।

संकल्पशक्ति के संवेगात्मक अंग पर ठीक से ध्यान देने से व्यक्ति में ऐसी भावुकता आ सकती है कि किसी कार्य के आरम्भ करने में वह हिचक सकता है, तब वह अपने व्यक्तिगत भावों में ही मग्न हो जाता है और वास्तविक कार्य की अवहेलना कर बैठता है। उदाहरणार्थ, देशभक्ति की भावुकतावश व्यक्ति अपने ही भावों में डूबा रह सकता है और देश के लिए कुछ करने में असमर्थ हो सकता है। यही बात प्रेम की भावुकता के विषय में भी कही जा सकती है। स्पष्ट है संवेगात्मक अंग की यह प्रबलता संकल्प-शक्ति के उद्देश्य को नीचे गिरा देती है।

संकल्पशक्ति के क्रियात्मक अंग पर ध्यान देने का तात्पर्य यह है कि बालक को नित्य कुछ ऐसे कार्य देने चाहिए, जिससे वास्तविकता से उसका परिचय होता रहे। इस प्रकार संकल्पशक्ति के ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक तीनों अंगों के सामंजस्यपूर्ण विकास से ही चरित्र का विकास सम्भव है।

नैतिक शिक्षा का चरित्र-विकास में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु नैतिक शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना बड़ा कठिन है। स्कूल के अन्य विषयों की शिक्षा के आयोजन में विशेष कठिनाई नहीं होती क्योंकि उसके लिए शिक्षक मिल जाते हैं परन्तु नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में यह समस्या बड़ी विकट हो जाती है। इसके लिए योग्य शिक्षकों का पाना अत्यन्त कठिन है। नैतिक उपदेश देने के पूर्व शिक्षकों को उन्हें स्वयं अपने व्यवहार में कार्यान्वित करके दिखलाना चाहिए, अन्यथा उनके उपदेश का उल्टा परिणाम होगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उपदेश से उदाहरण अच्छा होता है। अतः नैतिक शिक्षा के लिए हमें उनके सामने अच्छे उदाहरणों को रखना है। तभी उनमें चरित्र का अच्छा विकास हो सकता है। उदाहरण के अतिरिक्त बालकों को साहित्य अथवा इतिहास की छोटी-छोटी मनोरंजक और उपदेशात्मक कहानियाँ सुनाई जा सकती हैं। उपदेश को स्वयं शिक्षक का स्पष्ट करना ठीक न होगा। सारी बातें शिक्षक कह दें। उसमें किसी शिक्षा का निकालना और सीखना तो बालक का काम होना चाहिए।

निर्देश की सहायता से चरित्र में भारी परिवर्तन लाया जा सकता है। यदि सदा बालक को यह निर्देश मिलता रहे कि उसे एक दिन बड़ा आदमी होना है और जीवन में उसे कुछ कर दिखाना है, तो निश्चय ही वह एक दिन बड़ा होकर कुछ दिखायेगा। इसके विपरीत निर्देश पाने पर परिणाम एकदम उल्टा होगा और बालक अधोगति के गर्त में गिर जायेगा। अतः अभिभावकों और

शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों को अच्छे-अच्छे निर्देश देते रहें। बालकों के लिए स्वस्थकर निर्देश के वातावरण का आयोजन कर देना उनके चरित्र को बहुत ऊँचा उठाना है। इतिहास इसका साक्षी है। कुछ अर्थ में बालक एक पौधे के समान है। जिस प्रकार जरा-सी हवा बहने से छोटा पौधा प्रभावित हो जाता है, उसी प्रकार साधारण-सी बात का भी बालकों पर असर पड़ जाता है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों के मुँह से केवल वही बात निकलनी चाहिए, जिससे बालक किसी ऊँचे आदर्श की ओर अग्रसर होकर अपने उच्च चरित्र के निर्माण में सफल हो सके।

बालक बड़ा अनुकरणीय होता है। अपने अभिभावकों और शिक्षकों की बातों को आदर्श मानकर उनके अनुकरण की वह चेष्टा करता है। अतः बालकों के सामने हमें बड़ी सतर्कता से रहना है। उनके सामने कोई ऐसी बात नहीं होनी चाहिए, जिससे कोई अवांछित बात सीख सके। यदि उनके सामने अच्छी ही बातें रखी गईं तो उनके चरित्र में अनुकरण के फलस्वरूप अच्छे ही गुण आयेगे।

चरित्र विकास में दण्ड का स्थान—सुप्रसिद्ध बाल मनोवैज्ञानिक ‘ममफोर्ड’ का मत है कि ‘दण्ड यदि प्रभाव डाल सके तो वह केवल गलत कार्य करने से व्यक्ति को रोक सकता है, परन्तु उचित भावना नहीं उत्पन्न कर सकता।’ दण्ड का बालक पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि इससे उसकी भावनाओं के अनदमित होने का डर रहता है तथापि इतना तो कहना ही पड़ेगा कि दण्ड को एकदम बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो दण्ड देने की आवश्यकता मालूम ही पड़ती है। एक मनोवैज्ञानिक का कथन है कि ‘कभी केवल दण्ड ही ऐसा साधन दिखलाई पड़ता है जिससे कोई अवांछित आचरण रोका जा सकता है। परन्तु दण्ड का प्रयोग तभी करना चाहिए जब अन्य साधन असफल हो जायें।’ दण्ड का उद्देश्य बदला लेना न होकर सुधार करना होना चाहिए। यदि आवश्यकता जान पड़े तो चरित्र के निर्माण में दण्ड देना हानिकारक नहीं। ऐसे ही अवसर पर ‘पस्तालाजी’ दण्ड देने का समर्थन करता है। वह कहता है कि ‘यदि स्कूल एक घर है तो उसमें दण्ड दिया जा सकता है, क्योंकि माता-पिता भी तो दण्ड दिया करते हैं। माता-पिता के दण्ड देने पर बालक को ग्लानि नहीं होती, क्योंकि उसे उनके अभिप्रायः में कभी सन्देह नहीं होता। शिक्षक का व्यवहार ऐसा हो कि, दण्ड देने पर बालक उनके अभिप्रायः में सन्देह न कर सके।’

लाड़-प्यार का स्थान—बालक के वांछित चरित्र विकास के लिए यह आवश्यक है कि अभिभावक और शिक्षक यह समझें कि उन्हें कब लाड़-प्यार दिया जाये। बालक की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। इससे वह हठी हो जाता है और

२.७२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

उसका सामाजिक विकास वांछित दिशा की ओर नहीं चल पाता। जिस बालक की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति की चेष्टा बिना समझे-बूझे की जाती है वह अपने आगे दूसरे बच्चों को कुछ समझता ही नहीं। इस प्रकार की प्रवृत्ति कुछ समय तक घर में तो चल सकती है, पर बाहर इसका चलना अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि बाहर सब लोग उसे माता-पिता जैसा प्यार नहीं दे सकते। छोटे बच्चों को लाड़-प्यार अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इससे उन्हें बड़ा सन्तोष मिलता है और उनकी आत्मप्रकाशन सम्बन्धी मूल प्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति होती है। समुचित लाड़-प्यार न पाने वाला बालक अपने को अवहेलित समझने लगता है और इसमें आत्महीनता आने लगती है। अतः स्पष्ट है कि चरित्र विकास में लाड़-प्यार का विशेष स्थान है। इस सम्बन्ध में अवसर की उपयुक्तता तथा मनोवैज्ञानिकता अत्यन्त आवश्यक है।

बच्चों में स्वस्थ व मौलिक आदतें डालें

घर-परिवारों में माता-पिता इस बात की अपेक्षाएँ तो बहुत रखते हैं कि बच्चों को क्या करना चाहिए, क्या नहीं, उन्हें कैसे सुसंस्कारवान बनाया जाय, कैसे उनका दिशा-दर्शन किया जाय, परन्तु इन अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु अपने कार्य, व्यवहार के उचित आदर्श स्थापित कर अनुकूल वातावरण बनाने के प्रति वे उदासीन ही रहते हैं। बच्चों के पालन-पोषण करने, उन्हें प्रगति पथ पर आगे बढ़ाने की जानकारीयाँ भी माँ-बाप को रहती तो हैं परन्तु इन सबका लाभ पूरी तरह अपने बच्चों को नहीं दिला पाते। समुचित प्राप्त ज्ञान व जानकारीयों को कार्य रूप में परिणत करने में कई बाधाएँ भी आती हैं, जो उस निर्दिष्ट आदर्श तक पहुँचने के मार्ग में होती हैं। कई बार शुद्ध आदर्शों व मान्यताओं से भरी इतनी बातें उसके मस्तिष्क में आ जाती हैं कि वे मात्र सैद्धान्तिक ही लगती हैं, व्यावहारिक नहीं व कई बातें ऐसी होती हैं जिनको करने के लिए उपयुक्त वातावरण, साधन-सामग्री का अभाव रहता है।

इस दृष्टि से यहाँ एक मध्यमवर्गीय परिवार के लिए उसकी औसत स्थिति व अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए एक आचारसंहिता का अभ्यास कराया जाता है जिसके अनुसार सभी घरों के बच्चे यदि पालन करने लगे तो उनकी वर्तमान स्थिति की तुलना में कुछ अधिक प्रगति की सम्भावना परिलक्षित हो सकती है। यह आचार-संहिता इस प्रकार प्रस्तावित है—

(१) दिनचर्या नित्यकर्म—प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व ही बच्चे शैया त्याग कर दें। उठकर अपने बिस्तरों पर ही बच्चे हाथ जोड़कर अथवा बिना हाथ जोड़े मन ही मन भगवान की प्रार्थना करें। यह प्रार्थना अधिकाधिक

५-७ मिनट की हो सकती है। प्रार्थना किसी भी प्रकार की हो सकती है, पर उसका भाव यह रहना चाहिए कि हे परमपिता परमेश्वर ! तूने हमें जन्म दिया है, तू ही हमें ऐसी शक्ति दे कि हम आज अच्छे ही अच्छे काम करें, दुर्बलों एवं अभावग्रस्तों की सहायता करें, किसी को सताएँ नहीं, विद्या व ज्ञान प्राप्त करें व अच्छे संस्कारवान बनें, हम माता-पिता अन्य वृद्धजनों, गुरुजनों व समाज की सेवा करें।

(२) माता-पिता को प्रणाम—प्रार्थना करने के उपरान्त बच्चे अपने माता-पिता व अन्य वृद्धजनों (अपने से बड़ों) को प्रणाम करें।

(३) ऊषापान—बच्चों को मुँह साफ कर नित्य ही ऊषापान करना चाहिए, रात को एक गिलास पानी भरकर रख देना चाहिए—सम्भव हो तो ताँबे के पात्र में रात को पानी भर देना चाहिए, यह पानी पीने से विशेष लाभ होता है, क्योंकि ताँबे में एक प्रकार का विद्युत होता है व इसके सम्पर्क में आने से पिये जाने वाले पानी में भी वह विद्युत आ जाता है, जो शरीर शुद्धि के लिए उपयोगी रहता है।

(४) शौच, सफाई व स्नान—इसके उपरान्त शौच निवृत्ति, दाँत सफाई, मुँह धोना आदि की क्रियाएँ की जानी चाहिए। आधुनिक सभ्यता के प्रसाद स्वरूप बच्चों में दाँतों के ब्रुश से बाजार में मिलने वाले विभिन्न प्रकार के पेस्टों से दाँत साफ करने की आदत हो गई है। प्रथमतः तो यह व्ययसाध्य है द्वितीय यह विशेष लाभप्रद नहीं है। अब विज्ञान के प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि इन पेस्टों में जो तत्व दाँतों को साफ करता है वह 'क्लोरोफिला' है, यह नीम या बबूल की दतून में भी बहुतायत से होता है। बबूल की दतून करने से एक लाभ यह भी होता है कि उसका रस गले में जाने से बच्चों को सर्दी, खाँसी आदि की बीमारी आसानी से नहीं हो पाती। (दतून से दाँत साफ किये जायें या ब्रुश से अथवा और किसी से—आशय यह है कि नित्य ही दाँतों की सफाई की जाती रहनी चाहिए।) बच्चों को स्नान भी नित्य कराया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो ठण्डे पानी से स्नान करना चाहिए। ठण्डे पानी के डर से स्नान न करने की तुलना से गर्म पानी से भी नहा लेने में कोई हानि नहीं, परन्तु यथासम्भव ठण्डे पानी से ही नहाने की आदत डालनी चाहिए। यह डर किसी ठोस आधार पर नहीं टिका है कि नित्य ठण्डे पानी के स्नान से बच्चों को सर्दी हो जावेगी। सर्दी स्नान से नहीं होती वरन् शरीर के अन्य विकारों एवं पेट की बीमारी, कब्ज आदि से होती है।

(५) व्यायाम, आसन, प्राणायाम—इसके बाद बच्चों के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए कि वे नित्य ही कुछ न कुछ किसी न किसी प्रकार का व्यायाम अवश्य करें। घूमना, दौड़ना, दण्ड-बैठक,

योगासन, प्राणायाम, सूर्य नमस्कार आदि में से अपनी सुविधा व इच्छानुकूल कोई भी व्यायाम चुना जा सकता है। व्यायाम चाहे थोड़ा-सा ही हो परन्तु उसमें नियमितता व निरन्तरता का ध्यान रखना चाहिए। वैसे सूर्य नमस्कार एक व्यायाम तो है ही, इसे सूर्य की उपासना भी माना गया है।

(६) नाश्ता—इसके बाद बच्चों को नाश्ता देने की (यदि नाश्ता देना घर वाले अनिवार्य ही समझते हों तो) बारी आती है। नाश्ते में बिना तली, बिना मसाले की सुपाच्य चीजें दी जानी चाहिए। वैसे सबसे उत्तम नाश्ता ताजा दूध पिलाना ही होगा। उपासना के बाद नाश्ता की प्रथा डालना इस दृष्टि से उपयोगी रहेगी कि बच्चों में उपासना की आदत पक्की हो जावेगी व यह संस्कार भी पड़ेगा कि बिना भगवान की उपासना किये कुछ भी खाना-पीना अच्छा नहीं रहता।

(७) घर पर अभ्यास—इसके बाद बच्चों को कम से कम एक-डेढ़ घण्टा घर पर अभ्यास अध्ययन करने के लिए अवश्य बैठाना चाहिए।

(८) शाला की तैयारी, भोजन एवं शाला—इसके बाद शाला जाने की तैयारी बच्चे करें, वस्त्र उनके साफ हों, बाल सजे-सँवरे, नाखून कटे रहें, पूरी पुस्तकें व लेखन सामग्री साथ रहे, यह ध्यान में रखना चाहिए। फिर बच्चों का भोजन होगा। भोजन में बच्चों को पुष्टिकर भोजन को पसन्द करने के संस्कार डालना चाहिए। स्वादिष्ट भोजन स्वास्थ्य प्रधान हो न कि स्वाद प्रधान।

(९) सन्ध्या के खेल—बच्चों में यह आदत अवश्य डाली जाय कि वे सन्ध्या समय कम से कम एक घण्टा अवश्य ही मैदान के खेल खेलें। खेल अपने आप में एक व्यायाम भी है व इनसे सामूहिकता का भाव बढ़ता है व बच्चों में सामाजिक सम्बन्ध बनाये रखने की स्वस्थ आदतें बनती हैं।

(१०) वाचनालय-पुस्तकालय—बच्चों में यह संस्कार भी डाला जाना चाहिए कि वे नित्य ही अथवा नित्य सम्भव न हो सके तो अधिकांशतः कम से कम १ घण्टा या आधा घण्टा के लिए पुस्तकालयों, वाचनालयों में अवश्य जावें, वहाँ विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ देखें, पढ़ें (व अपनी रुचि की बातें डायरी में नोट करें।) यह विचार ठीक नहीं कि घरों पर ही ढेर सारी पत्र-पत्रिकाएँ मँगाई जाएँ व उन्हें पढ़ने के लिए दी जाएँ, घर पर आने वाला साहित्य तो पढ़ा ही जावेगा, पर पुस्तकालय, वाचनालय से विज्ञान क्षेत्र विस्तीर्ण होता है तथा हमें वैविध्य ज्ञान मिलता है।

(११) शयन—रात्रि को जल्दी ही अधिकाधिक १० बजे तक बच्चों को सुला देना चाहिए। बच्चों को जल्दी सोने व जल्दी उठने के लाभ समझाये जाने चाहिए। सोते समय बच्चे हाथ-मुँह साफ कर, घुटनों तक पैर धोकर

सोवें। सोते समय बिस्तर पर बच्चे फिर भगवान से इस तरह की प्रार्थना करें कि प्रभु तूने हमें जन्म दिया, आज का दिन हमें जीने को दिया, हमने आज अमुक-अमुक अच्छे या बुरे कार्य किये। बुरे कर्मों को तू क्षमा करना।

उक्त संहिता एक आदर्श के रूप में प्रस्तावित है इसमें बच्चों की आयु, उनके शैक्षणिक स्तर, घर-परिवार की परिस्थिति, वातावरण आदि को दृष्टिगत रखते हुए आवश्यक परिवर्तन किया जा सकता है। अधिक उपयुक्त तो यह होगा कि माता-पिता अपने बच्चों से इस संहिता पर विचार-विमर्श करें व सब मिल-बैठकर एक सर्वमान्य संहिता निर्धारित कर उसका पालन करने का निश्चय करें। ऐसे बच्चे स्वयं यह भाव रखेंगे कि यह संहिता उनके माता-पिता ने उनकी सहमति से उनके हित में ही बनाई है। अतः इसका पालन करना उनके लिए कल्याणकारी ही होगा।

बच्चों में अच्छी आदतें बढ़ायें,

कुटेव छुड़ायें

आदतों का निर्माण बच्चे के जन्म के साथ ही आरम्भ हो जाता है। जन्मतः बच्चा मात्र अपने संस्कारों के साथ अस्तित्व में आता है। ये विशेष संस्कार तथा सामान्य सार्वभौम मानवीय संस्कार जिन्हें आधुनिक शब्दावली में 'इन्स्टिन्क्ट' या मूल प्रवृत्तियाँ कहते हैं, आदतों के स्वरूप को नहीं निर्धारित करते। आदतें तो जन्म के उपरान्त पर्यावरण के प्रति अनुकरणमूलक संवेदना की प्रतिक्रिया होती हैं। इस अनजान जगत के अपरिचित, जटिल एवं नवीन वातावरण से अनुकूलता तथा सामंजस्य स्थापित करने हेतु और अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बच्चा जो क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ करता है—उनके ही आधार पर उसकी आदतों का स्वरूप ढलने बढ़ने लगता है। जिन क्रियाओं की आवृत्ति अधिकाधिक होती रहती है, वे आदतों का आधार बन जाती हैं।

इस तथ्य को ध्यान में रखने पर चरम स्वच्छन्दतावादियों का यह तर्क भ्रान्त ही नहीं, हानिकर सिद्ध होता है कि बच्चों को कोई भी मार्गदर्शन नहीं देना चाहिए, उन्हें अपने व्यक्तित्व का विकास स्वयं करने देना चाहिए और माता-पिता, अभिभावकों की कुल जिम्मेदारी इतनी है कि वे देखते रहें कि बच्चा किसी खतरनाक हरकत से स्वयं तो क्षति न पहुँचा ले। ऐसा तर्क देने वाले यह तथ्य भूल जाते हैं कि अपने सामाजिक पर्यावरण का निर्माण ईश्वर ने नहीं, मनुष्य ने ही किया है और इस प्रकार एक खास ढंग का सामाजिक वातावरण बनाकर बच्चे के लिए कुछ निश्चित ढाँचे पहले ही बना दिए गये हैं, जिनका उसे अनुकरण करना ही होगा। अब यदि चरम स्वच्छन्दतावादियों का तर्क सही है, तो उन्हें बच्चे को लेकर या तो जंगल में रहना चाहिए

जहाँ मुक्त प्रकृति से बच्चे का सीधा साक्षात्कार होगा और वह अन्तःप्रेरणा तथा प्रकृति-प्रेरणा से अपने व्यक्तित्व का विकास करेगा या फिर कोई ऐसा सामाजिक पर्यावरण बनाना चाहिए, जिसमें करोड़ों-अरबों तरह के सामाजिक ढाँचे साथ-साथ मौजूद हों, जो कि एक असम्भव बात है। अतः सामाजिक पर्यावरण का निर्माण कर अभिभावक बच्चों को पहले ही परोक्ष मार्गदर्शन दे चुके हैं, यह तथ्य यदि ध्यान में रखा जाय तो फिर मार्गदर्शन विरोधी तर्क का आधार ही खिसक जाता है।

इसके दूसरे सिरे पर वे लोग हैं जो समझते हैं कि बच्चा सचमुच कोई ऐसी अजूबा चीज है, जैसे उनकी डॉट-डपट, बातों के स्तर पर निर्देश आदि की पग-पग पर जरूरत है और जो उन निर्देशों पर आँख मूँदकर चलता चला जायेगा, मानो उनका क्रीतदास हो। यों क्रीतदास के भी अन्तःकरण में विद्रोह धक्कता रह सकता है पर, माता-पिता जो यह चाहते हैं कि बच्चा बिना सोचे-समझे उनके विसंगत निर्देश मानता रहे और इसी में मुदित रहे। यह दूसरी काल्पनिक स्थिति है, जो असम्भव है।

वास्तविक बात यह है कि बच्चे को पग-पग पर मार्गदर्शन आवश्यक है। पर साथ ही यह मार्गदर्शन एक मनुष्य शिशु को दिया जा रहा है, जिसके पास अपनी बुद्धि-शक्ति है, संवेदना है, अन्तर्दृष्टि है, मनोजगत है, रुचि-संस्कार हैं, यह तथ्य भी याद रखना चाहिए। ऐसे में, बच्चे का मार्गदर्शन स्थूल नहीं हो सकता। बच्चा सिर्फ अभिभावक की बात क्यों सुनेगा ? व्यवहार क्यों नहीं देखेगा ? इस सीधे-से तर्क को समझना ही चाहिए। उसके लिए तो हर बात नयी है। अभिभावक का व्यवहार भी और बातें भी। यदि वह ग्रहण करेगा तो दोनों को, अन्यथा नहीं। बातें ग्रहण कर वह बातें करना सीखेगा, व्यवहार को ग्रहण कर वह व्यवहार करना सीखेगा। यदि बच्चा माता-पिता के व्यवहार में समरूपता, सुसंगति देखेगा, तो स्वयं का भी व्यवहार सुसंगत समरूप बनाएगा। यदि वह व्यवहार एवं बातों में पग-पग पर भेद देखेगा, तो स्वयं भी वही आदतें अपनाएगा, जादूगरों के बच्चे बचपन से ही जादू के खेल का अभ्यास करते हैं, मजदूरों के बच्चे सामान्यतः श्रमशीलता प्रधान और साहबों के बच्चे कार चलाने, फोन करने आदि के खेल खेलते देखे जाते हैं। आश्रम के वातावरण में रहने वाले शिशु आश्रम-पद्धति के खेल खेलते हैं और मन्त्र-तन्त्र की बातें सुनने वाले बच्चे भी वैसी ही बातें करते देखे जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि बच्चों के बोलचाल एवं व्यवहार पर अभिभावकों का तथा आसपास के वातावरण का सीधा असर पड़ता है। शालीनता के वातावरण में बच्चे शील सीखते-अपनाते हैं, तो गाली-गलौज के वातावरण में गालियों को सीखते हैं। यद्यपि कोई भी अभिभावक अपने बच्चों को गाली देने की प्रत्यक्ष सीख कभी नहीं देता।

इस प्रक्रिया को ध्यान में रखा जा सके तो बच्चे को मार्गदर्शन की पद्धति स्पष्ट हो जाएगी। बच्चों को मार्गदर्शन न देने का विचार जितना भ्रान्तिपूर्ण है, पग-पग पर उपदेश पिलाने को मार्गदर्शन मान बैठना भी उतना ही भ्रान्तिपूर्ण है। बच्चों को जहाँ पग-पग पर मार्गदर्शन की आवश्यकता है, वहीं हर स्तर पर भी है यानी रहन-सहन, व्यवहार, बातचीत, भावनाएँ सभी को बच्चा देखता है, अपने ढंग से समझता है और सीखता है।

अतः बच्चों को स्नेहपूर्वक, सन्तुलनपूर्वक एवं स्वयं के दृष्टान्त द्वारा पथ-प्रदर्शन करना ही माता-पिता का कर्तव्य है। पारिवारिक शिष्टाचार, सहकारिता स्वच्छता, श्रमशीलता, सजगता जैसे सदगुण बच्चा परिवार में विद्यमान होने पर ही सीखता है और धीरे-धीरे उसकी आदतें, उसके स्वभाव का अंग बन जाती है।

बच्चे की किसी गलत आदत को बदलने के लिए उससे विरोधी बात की आदत डालने का प्रयास किया जाना उपयोगी सिद्ध होता है। अमरीकी मनोवैज्ञानिक श्री लार्सन ने इस विषय में अनेक प्रयोग कर यह पाया है कि विरोधी आदत डालने के अभ्यास से गलत आदतें सरलता से हट जाती हैं।

उन्होंने हाईस्कूल के छात्रों पर ऐसे प्रयोग किये, जिन्हें छोटी-छोटी गन्दी आदतें पड़ी थीं। उन्हें कहा गया कि जब वे ऐसे काम करें, तब उनके विरोधी काम भी करें। शौक-शौक में बच्चों ने ऐसा शुरू किया और शीघ्र ही वे आदतें, जो गन्दी थीं, उनकी विवशता नहीं रही और उन्हें छोड़ना आसान हो गया। किन्तु सिगरेट पीने जैसी गहराई तक जड़ जमाए हुई आदतें ऐसे अभ्यासों से नहीं छूट पातीं। उसके लिए स्वास्थ्य का महत्त्व, उसके नियम, धूमपान के खतरे आदि को विस्तार से समझाना होता है। यानी विचार-प्रक्रिया द्वारा ही गहराई तक जड़ जमाये बैठी आदतों के विरुद्ध गहरा भावनात्मक आक्रोश जगाया जाता है और उन बुरी आदतों का जोर धीरे-धीरे कम करने को कहा जाता है। गन्दी आदतों की विरोधी विचार प्रक्रिया के अभ्यास से कई बार ऐसा भी होता है कि अन्तःकरण से अपनी गन्दी आदत के प्रति अति प्रचण्ड आत्मधिकार भाव एवं उतना ही प्रचण्ड संकल्प उस आदत को छोड़ने के प्रति उत्पन्न होता है और वह आदत सहसा छूट जाती है परन्तु सामान्यतः धीरे-धीरे ही गन्दी आदतें छूट पाती हैं।

कुछ छोटी-छोटी गन्दी आदतें, जिन्हें वस्तुतः बच्चों की समस्याएँ कहा जाना चाहिए, किन्हीं कारण विशेषों से सम्बन्धित होती हैं। अतः उन कारणों को समझकर आवश्यक व्यवहार करना लाभकारी होता है।

उदाहरणार्थ, कई बच्चे अपनी माँ का दूध पीना छोड़ने के बाद अँगूठा चूसना आरम्भ कर देते हैं। इसका कारण कोई तीव्र संवेगपीड़न अथवा स्नेह के अभाव की अनुभूति होता है। अतः ऐसे बच्चों को डाँटकर नहीं

भरपूर स्नेह के साथ काम में, खेल-खिलौनों में उलझाए रखना चाहिए तथा हमउम्र मित्रों के साथ खेलने को प्रोत्साहित करना चाहिए। इससे अँगूठा चूसने की आदत स्वतः कम होती जायेगी और छूट जायेगी।

दाँत से नाखून काटने की आदत भी प्रारम्भ में संवेगात्मक तनाव के अनुभव की प्रतिक्रिया होती है। बाद में, वही आदत गहरी हो जाती है, तो अकरण भी बच्चे वैसा करते रहते हैं। ऐसे बच्चों में लापरवाही, मर्यादाओं के प्रति अवज्ञा-भाव आदि गलत प्रवृत्तियाँ घर कर जाती हैं तथा हीनभाव भरता रहता है। अतः ऐसे बच्चों की शिक्षा के लिए विशेष ध्यान देना चाहिए। उन्हें डॉक्टर शर्मिन्दा नहीं करना चाहिए अन्यथा हीनभाव अधिक बढ़ेगा। उनके खान-पान व आराम का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए।

कुछ बच्चे शर्मीले, झिझक भरे हो जाते हैं। उन्हें पारिवारिक कार्यों में भाग लेने के लिए अवश्य उत्साहित किया जाय। उन पर जिम्मेदारियाँ सौंपी जाएँ और मार्गदर्शन देते रहा जाय। इस प्रकार करने पर जब वे उस जिम्मेदारी को पूरा कर लें, तो भरपूर प्रशंसा की जाय। इससे उनकी झिझक यानी संकोची वृत्ति दूर होगी। उन्हें सामाजिक प्रसंगों पर, उत्सव आदि पर या पारिवारिक गोष्ठियों में राय देने को कहा जाय व उनकी सरहना की जाय। बातचीत करने के मौके उन्हें अवश्य दिये जायें इस प्रकार झिझक क्रमशः समाप्त हो जाती है।

कंधे उचकाने, पलकें ज्यादा झपकाने आदि की आदतें भी कई बार तनाव के कारण उत्पन्न होती हैं। इस हेतु भी उपर्युक्त व्यवहार ही अपनाया जाना चाहिए। बच्चे की रचनात्मक क्षमता को अभिव्यक्त होने का जितना ही अवसर मिलेगा, उतना ही उसके संवेगात्मक तनाव घटेगा। कई बार ऐसी आदतें दूसरों की नकल से पड़ जाती हैं। उस समय भी डॉक्टर नहीं, समझाकर ही उस आदत को छोड़ने की प्रेरणा उत्पन्न की जा सकती है। समझाने के साथ-साथ बच्चे को कार्यों में, ब्रैडों में उलझाए रखने का भी प्रबन्ध करना आवश्यक होता है। सक्रियता, सामाजिकता, सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति के जितने अधिक अवसर बच्चों को मिलेंगे, कुटेव से वे उतना ही दूर रहेंगे। कई छोटी आदतें समय बीतने पर स्वतः भी दूर हो सकती हैं। अतः इस मामले में अभिभावकों को अर्धैय से काम नहीं लेना चाहिए और न ही कठोर रवैया अपनाना चाहिए।

ध्यान रहे, बच्चों में अच्छी आदतें वातावरण से ही पनप सकती हैं। अतः उन्हें श्रेष्ठ वातावरण प्रदान करने की जिम्मेदारी मुख्यतः अभिभावकों पर और सामान्यतः पूरे समाज पर है। वातावरण ही अच्छी आदतों को बढ़ाने में वस्तुतः मददगार होता है।

बच्चों की अवांछनीय एवं अस्वाभाविक शारीरिक क्रियाएँ

बहुत-से बच्चों में कुछ ऐसी अस्वाभाविक आदतें आ जाती हैं जिन्हें बार-बार समझाने, मना करने और दण्ड देने पर भी वे नहीं छोड़ पाते, जैसे अँगुली चटकना, भौँए चढ़ाना, आँखें मिचमिचाना, कन्धे हिलाना, जबड़े खींचना, दाँत भीचना, अँगुली उलझाना, हाथ तानना, मुट्ठी कसना, होठ चलाना आदि।

यद्यपि वे स्वयं इन आदतों को पसन्द नहीं करते तथापि वे इनके इतने आदी हो जाते हैं कि उनका छोड़ सकना उनके लिए कठिन हो जाता है। वे वैसा करने की आवश्यकता महसूस करने लगते हैं और हाजत होने पर जब तक वैसा नहीं कर लेते, उन्हें चैन नहीं पड़ता। यदि किसी प्रतिबन्ध अथवा संकोचवश उन्हें वैसा करने का मौका नहीं मिलता तो उन्हें एक तकलीफ होने लगती है और उनका सारा ध्यान खिचकर उसी पर केन्द्रित हो जाता है। किसी बात में मन नहीं लगता। थोड़ी देर तो वे किसी प्रकार उस पर नियन्त्रण रख लेते हैं किन्तु कुछ ही देर बाद अनचाहे भी यंत्रवत् वैसा करने लगते हैं।

बहुत-से बाल-विज्ञान के जानकारों का यह कहना है कि बच्चों में ऐसी आदतें आयु परिवर्तन के कारण पैदा हो जाती हैं क्योंकि शरीर के विकास के समय उन स्नायुओं में एक तनाव पैदा होने लगता है, जिसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार की अनेक आदतों में परिलक्षित होती है। उनका कहना है कि आगे चलकर जब उनका स्नायुविक तनाव कम हो जाता है तो यह आदतें भी कम हो जाती हैं और धीरे-धीरे स्वयं छूट जाती हैं। अभिभावकों को इसके लिए अधिक चिन्तित न होना चाहिए।

किसी हद तक ऐसा होने पर भी यह बात बिल्कुल ऐसी ही नहीं है क्योंकि यदि आयु परिवर्तन से होने वाला स्नायुविक तनाव ही इसका एकमात्र कारण होता और इनका उदय-अस्त स्नायुविक तनाव के साथ ही होता तो बचपन की यह आदतें बहुत-से प्रौढ़ों में देखने में नहीं आतीं। लेकिन हम बहुत-से बड़ी-बड़ी आयु वाले आदमियों में भी ऐसी बहुत-सी हरकतें देख सकते हैं।

कुछ व्यक्तियों में तो यह आदतें इतनी गहरी और विस्तृत रूप में पैदा हो जाती हैं कि वे उनके व्यक्तित्व का एक अंग बन जाती हैं, लोग उनके आधार पर उनका कुछ परिचय तक देने लगते हैं। बहुतों को ऐसी आदतों के कारण लज्जित तक होना पड़ता है और हानि उठानी पड़ती है। किसी साक्षात्कार में नम्बर कट सकते हैं। दफ्तर में अपने बॉस के कोप-भाजन बन सकते हैं।

अतएव इसके पहले कि इस प्रकार कोई आदतें बच्चे में स्थायित्व पा सके उसका उपचार होना बहुत

जरूरी है। केवल इस बात की आशा पर निश्चित नहीं रहना चाहिए कि आगे चलकर उसकी यह आदतें स्वयं छूट जायेंगी।

बच्चे की यह आदतें छुड़ाने के लिए सतत् प्रयत्न की आवश्यकता है। उसके एक बार नहीं हजार बार मना करने, समझाने और रोकने में नहीं उबना चाहिए किन्तु इसके लिए उसे ताड़ना देना अनुचित है क्योंकि ऐसा करने से उसकी इन आदतों का दौरा तेज हो जायेगा। यह आदतें अपने स्वाभाविक रूप में तो देर-देर बाद उदय होती हैं, किन्तु अस्वाभाविक स्थिति में इनका आक्रमण तीव्र हो जाता है। चाहे वह अस्वाभाविक स्थिति भय, हर्ष, पीड़ा आदि किसी कारण क्यों न उपस्थित हुई हो।

बच्चे को यह आदत छोड़ने के लिए इस ढंग से कहना चाहिए कि उस पर कोई सावेग प्रतिक्रिया न हो। इस हरकत करने के जब भी आसार पता चलें तब उसका ध्यान ऐसी बात में लगाइये कि उसमें व्यवधान पड़ जाये और इस प्रकार एक बार व्यवधान पड़ जाने से दूसरी बार तक के लिए वह बात टल जायेगी। बार-बार ऐसा करने से धीरे-धीरे उनके उदय होने के समय में अन्तर बढ़ता जाने से एक दिन वह आदत स्वयं उसी प्रकार छूट जायेगी जैसे किसी का व्यसन छूट जाता है।

बच्चे की इस प्रकार की कोई आदत छुड़ाने के लिए उसकी नकल करके उसे चिढ़ाना भी ठीक नहीं क्योंकि वैसी ही हरकत दूसरे को करते देखकर उसमें उसका आवेग उत्पन्न होगा और कोई लाभ होने के बजाय हानि ही होगी।

इन आदतों की नकल करके मनोरंजन भी करना ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे बच्चे भी उसे मनोरंजन में शामिल होकर उसकी नकल करते-करते स्वयं भी उसके आदी हो जाते हैं।

परिवार के हर व्यक्ति को बच्चे की अस्वाभाविक आदत छुड़ाने में तत्पर रहना चाहिए जो भी उसे देखे वैसा करने के लिए टोके और बार-बार समझावे किन्तु उससे छोटी आयु वाले बच्चों को उसे नहीं टोकना चाहिए क्योंकि इसके वह अपमान समझेगा और बुरा मानकर गुस्सा करने लगेगा, उस आदत के वेग में वृद्धि होने के साथ-साथ बच्चों में कलह भी हो सकता है।

इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न से एक दिन ऐसा आयेगा कि उसका वह स्वभाव छूट जायेगा। बार-बार टोके जाने से वह उसके प्रति सजग रहने लगेगा और उसे छोड़ देने का स्वयं भी प्रयत्न करने लगेगा। यदि वह आदत किसी स्वाभाविक तनाव के कारण भी होगी तब भी अभ्यास से प्राप्त उसकी सहन-शक्ति उसके सन्तुष्ट कर देगी और कुछ समयान्तर में वह उसको बिल्कुल भूल

जायेगा और तब उसे न स्नायुविक तनाव का अनुभव होगा और न उसको सन्तुष्ट करने की आवश्यकता।

किन्तु जब इस प्रकार सतत् प्रयत्न से बच्चे की आदत में कमी होती दृष्टिगोचर न हो, तब समझ लेना चाहिए कि इसका अवश्य ही कोई विशेष कारण है और उसके कारण की खोज की जानी चाहिए। वह किस समय अपनी इन हरकतों को करता है। सुबह, शाम या दोपहर कब इनका वेग बढ़ जाता है, कोई काम करते समय, खाली बैठे समय, पढ़ते समय अथवा कुछ सोचते समय अक्सर ऐसी आदतें समय विशेष पर ही अधिक प्रकट होती देखी जाती हैं। समय निश्चित हो जाने पर उसके उस समय समझाने की आवश्यकता है।

इन सब बातों को करते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि उसे कुछ खाने या कोई काम करने से इस प्रकार न रोका जाय कि वह उससे दुःखी हो उठे क्योंकि ऐसा करने से आदत में कमी होने के साथ हठीलापन, चिड़चिड़ापन आदि अन्य बहुत-से बुरे स्वभाव पैदा हो सकते हैं, जो कि इस प्रकार की आदतों से भी बुरे होते हैं। हठीलापन, चिड़चिड़ापन आदि स्वभाव मनोवैज्ञानिक होते हैं अर्थात् इनका प्रभाव बच्चे के मन पर पड़ता है जो मानसिक विकास के लिए बहुत हानिकारक होता है। कई बुरी आदतें शारीरिक होती हैं वे प्रयत्न से सरलतापूर्वक छुड़ाई जा सकती हैं किन्तु मनोवैज्ञानिक आदतें कठिनता से छूटती हैं।

जब अभिभावकों के प्रयत्न से बच्चों की ये बुरी आदतें न छूटें तो उन्हें किसी बच्चों के डाक्टरों को दिखलाना चाहिए क्योंकि तब समझ लेना चाहिए कि बच्चे में अवश्य कोई ऐसी कमी है जिसको पूरा करने के लिए वह ऐसा करता है। अवश्य उसके स्नायुओं में ऐसा तनाव पैदा हो गया है जिनका विधिवत् उपचार आवश्यक है।

अधिकतर यह बातें बच्चे में स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं, पर कभी-कभी अपने आस-पास के वातावरण से ग्रहण कर लेता है। इसका एक कारण अनुकरण भी हो सकता है। सम्भव है उसे खिलाते समय अभिभावकों ने उसे हँसाने या प्रसन्न करने के लिए वैसी क्रियाएँ की हों या स्वयं वे इन हरकतों को करने के आदी हो रहे हों जिससे बच्चों की आदतों का विकास हो गया हो।

बहुधा ऐसा होता है कि बच्चों के सामने विविध प्रकार से मुँह बनाने, अंग संचालन करने और मुद्राएँ दिखलाने से वे खुश होते हैं। उनको खुश करने के लिए उसे खिलाने वाले जब तब वैसा करने लगते हैं और बच्चा उनका अनुकरण करता-करता इसका आदी हो जाता है।

बहुत बार बच्चों को खिलाते समय उन्हें खूब हिलाया-डुलाया भी जाता है। उनके अंग-प्रत्यंगों को

सहलाया और दबाया जाता है, जिससे उन्हें एक सुख मिलता है; किन्तु जब-जब वैसा नहीं किया जाता है, तब उन्हें एक तकलीफ महसूस होती है। अंग दबाना या सहलाना उनकी शारीरिक आवश्यकता बन जाती है, जिसको पूरा करने के लिए वे स्वयं वैसा करने का प्रयत्न करने लगते हैं, किन्तु सुविधापूर्वक या व्यवस्थित रूप से वैसा न करने से कोई न कोई गलत क्रिया करने लगते हैं। वह नहीं जानता कि किस प्रकार से एक हाथ से दूसरे हाथ दबाये या किस प्रकार अपनी पीठ सहलाये इसलिए उसकी आवश्यकता पूरी करने के लिए कभी पैरों को तानेगा, हाथ फैलायेगा, अंग-संचालन करेगा और इस प्रकार बहुत-सी बातों का आदी हो जायेगा।

प्रारम्भ में बच्चों की मालिश की जाती है। वे उसके आदी हो जाते हैं। जब कभी परिस्थितिवश उसकी मालिश नहीं हो पाती तो उसे एक तकलीफ होती है जिसे दूर करने के लिए वह रोता है और हाथ-पैर पटकता है। उसके शरीर में ठीक उसी प्रकार की ऐंठन पड़ने लगती है, जिस प्रकार व्यायाम करने वाले में शरीर के व्यायाम न करने से।

कभी-कभी बच्चों को हँसाने, खिलाने में अतिरेकता हो जाने से उनके विविध अंगों में उद्दीपन पैदा हो जाता है और वे अंग स्वयं कंपित अथवा संचरित होने लगते हैं, जो आगे चलकर उसके स्वभाव के अंग बन जाते हैं।

अनेक बार खेल-खेल में उसकी अँगुलियाँ भी चटकाई जाती हैं, दोनों हाथ ऊपर उठाकर ताली बजवाई जाती है, उसके दोनों हाथ तानकर ऊपर उठाया जाता है। ऐसा बार-बार करने से वह उनका आदी हो जाता है, क्योंकि शरीर का स्वभाव होता है कि उसे जिस प्रकार की हरकतों में अधिक लगाया जाता है, वह बार-बार वैसी हरकतें करने की आवश्यकता महसूस करेगा।

आँखें मिचमिचाना या भवें चढ़ाने आदि की आदतें इसलिए भी हो सकती हैं कि उन्हें जो काजल बगैरह लगाया जाता है, वह कुछ ऐसा हो सकता है कि उसके लगने से वह आँखों में सरसराहट या खुजली महसूस करने लगे, जिसे दूर करने के लिए वह वैसा करने लगता है। होंठों पर दूध अथवा शहद आदि खिलाई जाने वाली चीजें लगी रह सकती हैं, जिनका स्वाद लेने के लिए होंठ चलाते-चलाते वह उनका आदी हो जाता है।

आशय यह है कि यदि गहराई से खोज की जाय तो बच्चों की इन आदतों की पृष्ठभूमि में बहुत-से कारण ऐसे मिलेंगे जिनका सम्बन्ध उससे किये जाने वाले व्यवहार से होगा। अतएव बच्चों के साथ व्यवहार करने में आरम्भ से ही सावधान रहना चाहिए, उन्हें हँसाने, खिलाने आदि की क्रियाओं में ऐसी क्रियाएँ जहाँ तक हो सकें न की जायें जिनसे उनमें कोई बुरी आदत पैदा हो

जाय और यदि की भी जाय तो इस हद तक कि वह उनकी शारीरिक आवश्यकता न बन जाये।

बच्चों को मुँह बिगाड़-बिगाड़कर कम हँसाया जाय। उनके शरीर को ज्यादा न हिलाया-डुलाया जाय। जब-तब उनकी अँगुलियाँ आदि न चटकाई जायें और न बिना जरूरत उनके अंग-प्रत्यंगों को दबाया, सहलाया या खुजलाया जाये। उनकी आँखों में अच्छा काजल आदि साफ अँगुलियों से लगाया जाये। उनको इस हद तक न हँसाया, खिलाया जाये जिससे उनकी स्नायुओं में तनाव अथवा स्फुरण पैदा होने लगे।

उनकी मालिश आदि ठीक समय और मात्रा में की जानी चाहिए और आगे चलकर धीरे-धीरे कम करके छोड़ी जानी चाहिए जिससे वे उसकी कमी न महसूस करने लगे।

इस प्रकार शैशवकाल से यदि उनके साथ सावधानी बरती जाये तो बच्चों में उस प्रकार की बुरी आदतें पैदा हो जाने की सम्भावना बहुत कम रहेगी।

बच्चों में अच्छी आदत

इस तरह डालें

बच्चे के भविष्य की रूपरेखा बचपन में ही निर्धारित की जाती है। अतः छोटी-छोटी बातों की जानकारी बचपन से ही उसे दी जानी चाहिए। हम जिन्हें छोटी बातें कहकर टाल देते हैं, उनका बच्चों के जीवन में बहुत महत्व होता है। हम बच्चों को नासमझ समझते हैं किन्तु बच्चा हमारी हर गतिविधि को समझता है।

बच्चा कुछ करता है, तो माँ उसे डाँट देती है। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, खेलने की सभी चीजों के लिए बालक हठ करता है। बच्चा यदि कपड़े के सूटकेस के पास जाकर कहता है कि मैं तो वही शर्ट पहनूँगा, तो माँ कह देती है कि वह तो बन्दर ले गया। लेकिन बच्चा जानता है कि वह शर्ट इस सूटकेस के अन्दर ही है। इसलिए वह रोता-चिल्लाता है। माँ उसे डाँटती और मारती है, किन्तु कुछ देर बच्चे को रुलाने-चिल्लाने के बाद वह चीज माँ उसे दे देती है। इसे बच्चा जान लेता है और वह हर चीज के लिए जिद करता है क्योंकि उसे मालूम है कि वह चीज उसे मिल ही जायेगी।

ऐसी बातें अधिकांश घरों में पाई जाती हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि बच्चे के हृदय में अपने माता-पिता के प्रति सम्मान की भावना कम हो जाती है। उन्हें ऐसा लगता है कि ये तो झूठ बोलते हैं। बच्चे समझ जाते हैं कि उनके रोने-चिल्लाने से उनकी चीज उन्हें मिल जायेगी। इसलिए वे हर समय इसी तरह जिद करते हैं और माता-पिता को उनकी बात माननी पड़ती है।

२.७८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

दो-तीन वर्ष तक के बच्चों की इच्छाएँ सीमित होती हैं किन्तु बालक ज्यों ही ४-५ वर्ष का होता है, तो उसकी इच्छाएँ भी बढ़ जाती हैं। किसी भी वस्तु को देखकर बालक उसे माँगता है। आइसक्रीम वाले को देखकर आइसक्रीम की माँग करेगा। मोहल्ले के बच्चों को देखकर उनकी चीजों की माँग करेगा। कभी पैसों की माँग करेगा। इस तरह हमारे सामने एक समस्या आ जाती है क्योंकि वस्तु बेचने वालों को तो रोक नहीं सकते हैं। जगह पर किसी का बन्धन नहीं है। अतः यदि शान्त मस्तिष्क से विचार किया जाए, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि बच्चों को उनकी आयु वृद्धि के साथ ही उन सभी बातों का शिक्षण दिया जाना चाहिए, जो कि उसके जीवन के लिए उपयोगी हैं, अन्यथा आगे चलकर माता-पिता तथा स्वयं बालक के जीवन में कठिनाई होगी क्योंकि वह फिजूलखर्ची बन जायेगा।

कई घरों में बच्चों को पैसे नकद दिये जाते हैं। वे इसलिए कि बच्चा उनका स्वयं के लिए उपयोग कर सके किन्तु होता इसके विपरीत है। पिता जो पैसे बच्चे को देता है, माँ उसे गोलक में रख देती है और गोलक माँ के अधिकार में रहती है। बच्चा यदि पैसों की माँग करता है, तो माँ यह कह देती है कि बेटा ! तुम्हारे पैसों की गोलक भर रही है, जब पूरी भर जायेगी, तब तुम्हें दूँगे और जब पैसे पूरे भर जाते हैं, तब माँ उन पैसों को निकालकर स्वयं खर्च कर लेती है। जिन पैसों पर बच्चे का अधिकार था, उन पैसों का उपभोग वह नहीं कर सकता है। यह बच्चे के साथ धोखा है। बच्चे को पैसे इसलिए दिये जाने चाहिए, ताकि वह प्रारम्भ से ही स्वयं खर्च करना सीखे तथा स्वावलम्बी बन सके। उसे प्रारम्भ में ही यह अभ्यास सिखाना चाहिए कि हमारे पास जितनी चीज है, उतने ही में हमें काम करना चाहिए।

बच्चे मीठी-चटपटी चीजें खाने के बहुत शौकीन होते हैं। अतः किसी भी खोमचे वाले को देखकर उन्हें माँगते हैं। खोमचे वाले को मिठाइयों पर प्रायः मक्खियाँ बैठती हैं, इससे वह मिठाई दूषित तथा विषाक्त हो जाती है। उसमें हैजे के कीटाणु पैदा हो जाते हैं, जिन्हें खाने से मनुष्य के अन्दर हैजे के कीटाणु प्रविष्ट हो जाते हैं तथा व्यक्ति अकाल-मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इस तरह से स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। बच्चों को यह बात बतानी चाहिए कि ये तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। सबसे उत्तम तरीका यह है कि बच्चे की मनपसन्द चीज घर में ही माँ बनाकर दे। इससे बच्चे की इच्छापूर्ति भी हो जायेगी और साफ-सुथरी तथा ताजी वस्तु बच्चे को खाने के लिए मिल जायेगी। इस तरह बालक को हानि समझा देने पर बालक समझ जाता है, फिर वह जिद नहीं करता है तथा खोमचे वाले के पास भी नहीं जाता।

बच्चों को पैसे देते समय यह बता देना चाहिए कि पैसों का उपयोग किस तरह किया जाये ? बच्चों को एक निश्चित योजना समझा देनी चाहिए कि इस बार पैसे इकट्ठे होने पर अमुक वस्तु खरीद लेना तथा अगली बार दूसरी चीज खरीद लेना। इससे बच्चों को प्रसन्नता भी होती है तथा उन्हें प्रोत्साहन भी मिलता है।

प्रारम्भ में बालक में इन आदतों को डालने में परेशानी होती है क्योंकि पड़ोस के बच्चों को जब बालक दिनभर खर्च करते देखता है, तो उसका मन भी होता है कि वह खर्च करे। इसलिए वह माता-पिता के सामने जिद करता है किन्तु इस कठिनाई को आराम से हल किया जा सकता है। उसके लिए हमें बचपन से ही बच्चे को जरा-जरा-सी बातों के बारे में शिक्षण देना चाहिए। इससे आगे चलकर हमें इस कार्य में परेशानी नहीं होगी।

बच्चे बड़े जिज्ञासु प्रकृति के होते हैं। आस-पड़ोस के बच्चे जब एक बालक को इस तरह का कार्य करते देखते हैं तो उन पर भी इन बातों का प्रभाव पड़ता है और वे भी वैसे ही आचरण करने लगते हैं। इस कार्य में महिलाओं से हमें बहुत अधिक सहायता मिल सकती है, क्योंकि उनकी स्वाभाविक आदत होती है कि वे इकट्ठी होकर या तो सास की बुराई करती हैं या फिर बच्चों की शिकायत। यदि वे इस समय को व्यर्थ की बातों में न गँवाकर उस समय का सदुपयोग करें और बच्चों के भविष्य के विषय में एक निश्चित प्रोग्राम बना लें तो इससे उन्हें भी लाभ होगा तथा बच्चे भी उससे खुश रहेंगे और माता-पिता की परेशानी भी हल हो जायेगी।

खाने-पीने सम्बन्धी आदतों के साथ-साथ बच्चों को कपड़े पहनने सम्बन्धी जानकारी देनी चाहिए। उन्हें बताना चाहिए कि कौन-से वस्त्र उन्हें कब पहनने चाहिए ? इनके लिए हमें दो आलमारी ऐसी तैयार करनी चाहिए, जिनमें बच्चों के कपड़े दो प्रकार से रखने चाहिए। एक आलमारी में रोज के पहनने योग्य कपड़े रखने चाहिए तथा दूसरी आलमारी में वे वस्त्र रखने चाहिए, जो किसी विशेष अवसर पर पहने जाते हैं। इसकी जानकारी बालक को भली प्रकार दे देनी चाहिए। इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि आलमारी इतनी ज्यादा ऊँची न होवे कि बच्चे का हाथ उस ऊँचाई तक न पहुँच सके। इससे बच्चे का हाथ वहाँ तक नहीं पहुँचेगा तथा कपड़े निकालने में सारे कपड़े गिरकर बिखर जायेंगे। अतः इन सब बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

बच्चे को सिखलाना चाहिए कि कपड़े किस तरह से रखे जायें ? शुरू-शुरू में बालक ठीक तरह से कार्य नहीं कर पाता है। ऐसे समय में माताएँ बच्चे पर क्रोध करती हैं तथा उन्हें मारती हैं, यह तरीका उचित नहीं है। बल्कि हमें यह करना चाहिए, कि ऐसे समय पर धैर्य से कार्य करें। बच्चे को सिखायें कि किस तरह से काम

करना चाहिए क्योंकि आखिर वह बालक ही है, इसलिए गलतियाँ होना स्वाभाविक है। बच्चे के छोटे-छोटे हाथों से जितना होता है, उतना कार्य तो वे करते ही हैं। धीरे-धीरे बालक स्वयं ही सारे कार्य करने लगता है। इस तरह से यदि साहस और धैर्यपूर्वक काम लिया जाय तो किसी प्रकार की परेशानी भी नहीं उठानी पड़ेगी तथा बालक सभी कार्य आसानी से सीख जायेगा। अतः हमें इस कार्य में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए।

इसके अलावा भी कई और बातों का शिक्षण बालक को देना आवश्यक होता है जैसे सफाई से रहना, रोज नियत समय पर शौच-स्नान से निवृत्त होकर सिर में तेल डालना तथा कंधी करने की जानकारी भी बच्चे को देनी चाहिए। तेल, कंधी इत्यादि एक स्थान पर सुव्यवस्थित ढंग से रख देनी चाहिए, जहाँ से बालक सुविधापूर्वक उन वस्तुओं को उठा सके।

इस तरह से यदि बालक को उचित आदतों का अभ्यास बचपन से ही करा दिया जाय तो आगे भविष्य में उसे अपने जीवन का समायोजन करने में कोई भी परेशानी महसूस नहीं होती है तथा उसका भविष्य उज्ज्वल तथा प्रकाशमय बन जाता है।

बच्चों की अवांछनीय आदतें कैसे

सुधारें ?

मनुष्य अच्छाई और बुराई दोनों का पुतला है। त्रिविध प्रकृति, त्रिविध स्वभाव, त्रिगुण माया आदि शब्द उसकी इसी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। हालांकि महत्त्व अच्छाइयों को दिया जाना चाहिए और उनके विकास को ही प्रोत्साहित करना चाहिए। अपने आस-पास के वातावरण का, आनुवंशिकता का, दूसरों की आदतों का प्रभाव लेकर ही मानव-शिशु अच्छी या बुरी बातें सीखता है और कभी-कभी उसमें कुछ ऐसी अवांछनीय आदतें आ जाती हैं, जिनसे माता-पिता को बड़ी उलझन होती है। जैसे मुँह बनाना, निरर्थक अंग हिलाना-डुलाना, अँगूठा चूसना, मुँह से नाखून काटना, अनावश्यक बात पर गुस्सा करना, ज़िद पकड़ना जैसी कई आदतें बचपन में पड़ती हैं, जिन पर उसी समय ध्यान दिया जाना चाहिए।

मनोविज्ञानवेत्ता इन अवांछनीय आदतों का कारण बच्चों के मनोग्रन्थिगत समस्याओं को मानते हैं, जिन्हें बच्चे स्वयं नहीं समझते। बच्चे ही क्यों अभिभावक भी प्रायः उन्हें समझने में भूल कर जाते हैं और उन समस्याओं का हल करने की अपेक्षा तीसरे दर्जे के उपाय काम में लाने लगते हैं। उन आदतों को दूर करने के लिए वे धमकाने-डराने से लेकर मार-पीट तक करने लगते हैं। अँगूठा चूसने वाले बच्चों के अँगूठों पर माताएँ मिर्ची लगा देती हैं या दाँत से नाखून काटने वाले बच्चों के

दोनों हाथ पीछे बाँध देती हैं। इससे बच्चों का हित नहीं, अहित ही होता है।

बच्चों को डरा-धमकाकर, उन्हें दण्डित कर इन आदतों पर तात्कालिक रोक भले ही लगाई जा सके, पर उन आदतों के जो कारण हैं, वे तो ज्यों के त्यों ही रहते हैं। उन मनोग्रन्थियों का उपचार करने की अपेक्षा बच्चों का दमन करना—उनकी ग्रन्थियों की ओर भी जटिल बना देता है।

मानसिक और भावनात्मक कारणों से पड़ जाने वाली इन आदतों को छुड़ाने के लिए मनोवैज्ञानिक ढंग से ही प्रयास करना चाहिए। ऐसी अवांछनीय आदतों में अँगूठा चूसने की आदत को लिया जाय। हमारे देश में बहुधा माताएँ किन्हीं कामों में व्यस्त रहने से, बच्चों को स्तनपान न करा पाने के कारण खुद ही उनका अँगूठा उनके मुँह में दे देती हैं। इस प्रकार उसे एक काम में फँसाकर वह अपना काम करती रहती हैं। बच्चों को अपना अँगूठा चूसते हुए स्तनपान का आनन्द मिलता है। दूध भले ही न आये पर उसकी समझ में यह बात नहीं आती। सीमित मानसिक क्षमता के कारण वह इसी को स्तनपान के तुल्य समझने लगता है। उस समय तो उसमें कोई मानसिक उलझन नहीं रहती, पर उलझनग्रस्त बच्चे प्रायः चार वर्ष की आयु में अँगूठा चूसना आरम्भ करते हैं। मनोविज्ञानवेत्ता इसका कारण यह बताते हैं कि बच्चा अपने आस-पास के वातावरण से असन्तुष्ट है और वह अपने से ही अपने को तृप्त करने का प्रयत्न कर रहा है।

ऐसी स्थिति में धीरज से काम लेने की आवश्यकता है। बच्चे को उसका महत्त्व बोध कराना चाहिए। किसी प्रकार उसे समझाना चाहिए, यह आदत खराब है और यह क्रिया छोटे बच्चे ही करते हैं। जब उसे अपना महत्त्व बोध होने लगता है, वह समझने लगता है कि मैं स्तनपान की उम्र को पार कर चुका हूँ तो असन्तोष की बनी हुई ग्रन्थि अपने आप खुलने लगती है और वह वातावरण से अपने अनुसार समझौता शुरू कर देता है।

दाँत से नाखून काटने की आदत बड़े लोगों में भी पायी जाती है और बच्चों में भी। लेकिन इसकी जड़ें बचपन में ही प्रस्फुटित होती हैं। आकृति-विज्ञान के ज्ञाता भी यह मानते हैं कि दाँतों से नाखून काटने का स्वभाव व्यक्ति के हिंसक-स्वभाव का परिचायक है। मनोविज्ञानवेत्ताओं का यह मत है कि बच्चे जब अपने-आपको असुरक्षित अनुभव करने लगते हैं तो वे इस आदत के शिकार होते हैं। सुरक्षा की अभाववात्मक अनुभूति उन्हें आक्रामक और प्रतिहिंसक बनाती है। लेकिन लज्जा, संकोच और झिझक की विवशता उनकी प्रवृत्ति को इसी प्रकार प्रवृत्त करती है, अभिव्यक्ति देती है।

इसका एक कारण यह भी है कि बड़ों की भाँति बच्चे में भी अपना प्रभुत्व जमाने की महत्वाकांक्षा रहती

२.८० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

है। शारीरिक, बौद्धिक और स्थितिगत कारण उसकी महत्वाकांक्षा पूरी होने में बाधक बनते हैं। किन्हीं-किन्हीं बच्चों में विशेष रूप से प्रभुत्व जमाने की कामना रहती है। खासतौर से उनमें जो सुरक्षा के अभाव से ग्रस्त रहे हों और जब उनकी यह कामना पूरी नहीं होती तो वे खीझकर दाँत से नाखून काटना सीख जाते हैं।

सामान्य दृष्टि से भी देखा जाय तो नेलकटर या चाकू-ब्लेड से नाखून काटने की अपेक्षा दाँत से नाखून काटना क्यों अच्छा लगता है ? सीधा-सा उत्तर है, सहज रास्ता तलाश करना, श्रम से बचना और ये सब प्रयत्न केवल आत्मविश्वास के अभाव में ही किये जाते हैं। आत्म-विश्वास की कमी ही सुरक्षा के अभाव की अनुभूति बन जाती है।

अतः बच्चों की यह आदत छुड़ाने के लिए उन्हें सीधे दाँत से नाखून काटने से रोकने की अपेक्षा उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करते हुए यह बात समझाई जानी चाहिए। सुरक्षा और आत्मविश्वास के अभाव में बच्चा दूसरों से घृणा भी करने लगता है। यह प्रवृत्ति उनमें तब जन्मती है, जब हम उसकी उपेक्षा करते हुए दूसरे बच्चों को अधिक प्यार करते हैं। आठ-दस साल के बच्चों को एकदम प्रौढ़ या समझदार मानकर उनसे वैसा ही व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिसमें वे अपने प्रति घृणा अनुभव करें।

दाँत से नाखून काटने की आदत को रोकने के लिए सावधानी के तौर पर उनके नाखून अधिक बड़े न हो जाएँ, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए। उन्हें यह भी समझाया जा सकता है कि शरीर के अन्य अंगों को साफ-सुथरा रखने की तरह नाखूनों को भी स्वच्छ रखना चाहिए। दाँत से कटे हुए खुरदरे नाखून कितने भेदे और कुरूप लगते हैं तथा यह आदत उनकी सुन्दरता को किस बुरी तरह नष्ट कर डालती है। ये सावधानियाँ तभी लाभदायी हो सकती हैं, जब बच्चे की समस्याओं, उलझनों को समझते और उनका निराकरण करते हुए बरती जाएँ।

बहुत-से बच्चों में सोते-सोते पेशाब करने की आदत भी पड़ जाती है। छोटे बच्चे तो इस योग्य होते नहीं कि वे इस बात को समझ सकें और उन पर नियन्त्रण रखा जा सके, पर बड़े बच्चों में कितने ही इस आदत के शिकार बन जाते हैं। इन आदतों के लिए जहाँ मानसिक प्रवृत्तियाँ जिम्मेदार हैं, वहीं शारीरिक कारण भी हैं। जैसे कोई बीमारी होना या रात को सोते समय पेशाब करके न सोना अथवा पेट में कीड़े पड़ जाना।

मानसिक प्रवृत्तियों में ईर्ष्या और भय मुख्य कारण है। बच्चा जब देखता है कि माता-पिता उसके छोटे भाई या बहिन को अधिक प्यार करते हैं और वे भी बिस्तर में पेशाब करते हैं तो वह प्यार पाने के लिए उसी की तरह हरकतें करने लगते हैं या वह यह प्रकट करना

चाहता है कि वह भी अधिक प्यार किये जाने वाले छोटे बच्चे से किसी प्रकार कम नहीं है और हुबहू उसी की तरह रह सकता है।

दिन में अधिक डराये-धमकाये जाने, कोई भयानक सपना देखने या चौक उठने के कारण भी बच्चा बिस्तर गीला कर देता है, पर वह रोज-रोज की बात नहीं है। इस आदत को दूर करने के लिए स्वास्थ्य की जाँच-पड़ताल से लेकर उसकी मानसिक-प्रवृत्तियों के अध्ययन की भी व्यवस्था रखनी चाहिए अन्यथा हम शारीरिक रोग समझते रहें और बच्चा किसी मनोग्रन्थि का शिकार बनता जाय या हम उसके मानसिक उपचार की व्यवस्था बनाने का प्रयत्न करें और बच्चे के शरीर में कोई रोग घर करता जाये।

अब तक तो बच्चों की कुछ विशेष आदतों की चर्चा की गई। पर कई आदतें ऐसी हैं, जो सामान्य रूप से किसी भी बच्चे में उत्पन्न हो सकती हैं या होती हैं। घृणा, ईर्ष्या, भय जैसे मनोविकारों की चिकित्सा तो बड़े वयस्क लोगों की भी नहीं की जा सकती, क्योंकि इन पर स्वयं के अतिरिक्त कोई दूसरा कबू नहीं कर सकता। पर ज़िद करना, झिझकना, अनावश्यक संकोच करना, लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए गलत-सलत हरकतें करना तथा अशिष्ट व्यवहार करना आम बच्चों की समस्या है। जो बड़े होने पर कफ़ी हानिकारक हो जाती है।

इन समस्याओं का हल खोजने से पूर्व पहले यह देख लेना आवश्यक है कि ये कमजोरियाँ कहीं माता-पिता में तो नहीं हैं क्योंकि कमजोरी हो या विशेषता बच्चा अपने अभिभावकों से ही उत्तराधिकार में प्राप्त करता है। यदि ये दोष अभिभावकों में हों तो पहले अपने को सुधारकर बच्चों के सामने आदर्श उपस्थित करना चाहिए और उसके बाद बच्चों में उनका परिष्कार करना चाहिए। लेकिन देखा गया है कि माता-पिता में कोई दोष थोड़ा-सा हो तो बच्चों में वह ज्यादा और भयंकर रूप में भी हो सकता है। यहाँ विवेकपूर्वक नियन्त्रण किया जाना आवश्यक हो जाता है। जैसे किसी बच्चे में बुरी तरह गुस्सा करने की आदत है और वह आदत उसकी माँ या पिता में स्वाभाविक रूप से है तो उन्हें चाहिए कि वे बच्चों के परिष्कार का प्रयास करते हुए उनके सामने कम से कम क्रोध करें।

कई बच्चों में झिझकने या अनावश्यक संकोच करने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इसका सीधा-सा उपाय है कि उन्हें बालोपयोगी कार्यों में व्यस्त कर दिया जाय। जैसे खेलने में लगाया जाय और कुछ साथी-मित्र बनाने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाय। झिझक या संकोच किन परिस्थितियों में पैदा होता है—यह जानना भी आवश्यक है। बच्चे प्रायः घर के लोगों के सामने नहीं झिझकते, पर किसी नये व्यक्ति या बाहर के आदमी के

आते ही चुप हो जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वह अपरिचित के सामने ही झिझकता है अर्थात् वह अपने में किसी बात की कमी अनुभव करता है और उन्हें छुपाना चाहता है। अतः उचित है कि उसका परिचय क्षेत्र बढ़ाया जाय और उसमें आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न की जाय।

झिझक की तरह दूसरा दुर्गुण है—आत्मप्रदर्शन। यह आदत अपनी उपस्थिति जताने या बड़ों को प्रभावित करने की अदम्य आकांक्षा के रूप में जन्म लेती है। उन्हें दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने के उचित-अनुचित उपायों का ज्ञान तो होता नहीं, अतः वे कोई भी उपाय अपनाने लगते हैं। स्वाभाविक चंचलता के कारण ऊधम मचाने या शरारत करना ही उन्हें अधिक रुचिकर लगता है।

इस आदत का शिकार होने से बचाने के लिए बच्चों को कभी भी उपेक्षित अनुभव नहीं होने देना चाहिए। दूसरे रूपों में भी उनकी उपेक्षा कई प्रकार से हानिकारक है। अतः बच्चों को अकेलेपन का अहसास न होने देने के साथ-साथ उनका ध्यान रखते हुए उनकी प्रवृत्तियों को रचनात्मक दिशा देनी चाहिए। आत्म-प्रदर्शन की भावना आत्मविश्वसि के रूप में परिष्कृत ढंग से उभारी जा सके तो वह एक सद्गुण बन सकती है और बच्चे की रुचि को समझकर उसे अपने क्षेत्र में आगे बढ़ने को प्रोत्साहन दिया जाय तो वे सचमुच प्रतिभावान सिद्ध हो सकते हैं, आगे चलकर कुछ करने योग्य बन सकते हैं।

बच्चे परमात्मा के जागतिक उद्धान में मानवी-पुष्प हैं। वे ठीक से खिलें, अपनी सुवास से वातावरण को महकायें, इसका ध्यान रखना अभिभावकों का कर्तव्य है। इस कर्तव्य की पूर्ति में जरा भी ढील या शिथिलता न आने देनी चाहिए और एक सुहृद साथी की तरह उनकी समस्याओं का हल तथा विकास का प्रयत्न करना चाहिए।

बच्चों में भोजन की

स्वस्थ आदतें डालें

एक ओर जहाँ बच्चों के रोगों के डाक्टर अक्सर यह शिकायत करते हैं कि बाल रोगों का अधिकांश कारण माँ का अस्थिममत्व रहता है, वहीं दूसरी ओर माताएँ अक्सर यही शिकायतें-चर्चाएँ करती रहती हैं कि उनका बच्चा तो कुछ खाता ही नहीं—दुबला होता जा रहा है।

माताओं का यह तो कर्तव्य अपने स्थान पर सर्वथा उचित है कि वे अपने बच्चों के विकास व वृद्धि के लिए उन्हें उपयुक्त भोजन उपलब्ध करावें, परन्तु भोजन के प्रति अधिकांश माताओं का दृष्टिकोण व ज्ञान उपयुक्त न होने के कारण एवं बच्चों को अधिकाधिक

खिला-खिलाकर उनके पेट में दूँसते रहने की लालसा के कारण बेचारे बच्चे चाहे प्रारम्भ में दुबले न हों परन्तु अधिक खा जाने के कारण रोगग्रस्त हो अवश्य ही दुबला जाते हैं। डाक्टरों की चिन्ता, माँ की अधिक खिलाने की इच्छा व बच्चे का हठ—इन तीनों के बीच कोई सामंजस्य न रह पाने से बच्चों में भोजन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं बन पाता। उनकी आदतें यदि शुरू में ही नहीं सुधारी जातीं तो वे बालरोग विशेषज्ञों की समस्याएँ बढ़ाते ही रहेंगे। अतः बच्चों के अभिभावकों—माता-पिताओं के लिए यह उपयोगी होगा कि वे भोजन करने-कराने का उद्देश्य व उपयोग समझकर तदनु रूप ही अपने बच्चों में भी स्वस्थ संस्कार डालने का प्रयास करें।

भोजन इसलिए किया जाता है कि इससे शरीर को निरन्तर शक्ति प्राप्त होती रहे, ताकि शारीरिक वृद्धि व विकास के लिए जो अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता रहती है, उसकी पूर्ति होती रहे एवं शरीर द्वारा नित्यप्रति किए जाने वाले कार्यों से होने वाले शक्ति ह्रास की पूर्ति होती रहे। अतः इस दृष्टि से जो पदार्थ उपयोगी हो उन्हें ही हमारे भोजन में सम्मिलित किया जाना चाहिए। जन्म से लेकर ७-८ माह के अन्दर बच्चों के दाँत निकल आते हैं व उनकी हड्डियों का विकास होना प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भ में बच्चा बड़े वेग से बढ़ता है। उसके शरीर के विभिन्न अवयवों व अस्थियों की वृद्धि होती है। अतः इस अवसर पर बच्चों को अधिक वसायुक्त एवं कैल्सियम वाले पदार्थ दिये जाने चाहिए और बड़े होने पर बच्चे अधिक खेलते-कूदते हैं तथा उन्हें शरीर का अधिक श्रम करना पड़ता है, इससे शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। अतः इसकी क्षतिपूर्ति के लिए भी बच्चों को अधिक पुष्टिकारक भोजन की आवश्यकता रहती है। साधारणतया बच्चों को भोजन में दूध, दूध की बनी चीजें, अन्न (गेहूँ, जौ, मक्का, ज्वार, बाजरा, चावल आदि) दालें व कुछ फल (सेव, नारंगी, लीची आदि) साग-सब्जी (हरी भाजी कन्द आदि) दिये जाने चाहिए।

दूध बच्चों के लिए आवश्यक भोजन माना गया है, क्योंकि इसमें बच्चों की वृद्धि के लिए आवश्यक सभी तत्व विद्यमान रहते हैं। वैसे दूध गाय, भैंस, बकरी किसी का भी अच्छा रहता है परन्तु गाय के दूध में प्रोटीन व लवण अधिक होने से वह अधिक उपयोगी रहता है। दूध एवं हरी सब्जी, दालों एवं अन्नादि के शाकाहारी भोजन में आवश्यक सभी तत्व मिल जाते हैं। बच्चों को निश्चित समय पर, निर्धारित मात्रा में यदि शाकाहारी भोजन दिया जाता रहे तो वे स्वस्थ व पुष्ट बने रहते हैं। इस दृष्टि से बच्चों में सदैव ही इस तरह के संस्कार डाले जाने चाहिए कि वे खाने योग्य पदार्थों के सेवन की ही अपनी आदत बनावें। सादा, ताजा, बिना दुर्गन्ध के भोजन को भगवान् कृष्ण ने गीता में सात्विक भोजन बताया है। इस तरह का भोजन ही अधिक अच्छा

२.८२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

व उपयोगी है। बच्चों में प्रारम्भ से ही ऐसे संस्कार डाले जाने चाहिए कि वे भोजन शरीर व स्वास्थ्य के लिए करें न कि स्वाद व जीभ के लिए। स्वाद में अच्छे लगने वाले मसालेदार, चटपटे, जायकेदार पदार्थों के सेवन से बच्चों की पाचनशक्ति भी क्षीण होती है व तरह-तरह के रोग इससे हो जाते हैं।

बच्चों में अधिकाधिक खाने खिलाने की समस्या तो बाद में आती है। पहले तो माताओं के समक्ष यह चिन्ता मुख्य रहती है कि वह अपने बच्चे में भोजन के बारे में स्वस्थ आदतें डाले। शैशवावस्था में बच्चा माँ का दूध छोड़ने को प्रथमतः तो तैयार नहीं होता व माताएँ जब स्तन दुग्धपान-छुड़ा भी देती हैं तो वह बोटल का दूध व पेय पदार्थों को ही प्रिय समझे रहता है व ठोस भोज्य पदार्थ ग्रहण नहीं करता। बच्चों के प्रारम्भिक काल में तो माँ का दूध तथा ऊपर का दूध उपयुक्त रहता है परन्तु बाद में जैसे-जैसे वह बढ़ता रहता है, उसके शरीर की वृद्धि एवं उसके समुचित विकास के लिए उसे ठोस भोजन पदार्थ यथा—अन्न, शाक-भाजी, दाल आदि भी दिया जाना चाहिए, कारण कि इनके बिना उसका स्वास्थ्य व समुचित विकास प्रायः असम्भव ही रहता है।

शिशु के बढ़ते शरीर की आवश्यकता को देखते हुए उसे ठोस भोज्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ने लगती है व बिना इनके उसका शारीरिक विकास अपेक्षानुरूप नहीं हो पाता। ठोस भोज्य पदार्थ खिलाना प्रारम्भ करना अपने आप में एक बड़ा काम रहता है व इसीलिए शायद बच्चों को प्रथम बार ठोस भोजन खिलाने के कार्य को पर्व के रूप में मनाया जाता है—जिसे 'अन्नप्राशन' के नाम से जाना जाता है।

जब एक बार बच्चा ठोस भोजन पदार्थ ग्रहण करना प्रारम्भ करता है तो फिर माँ-बाप के समक्ष दूसरी समस्या यह आती है कि बच्चा स्वयं के हाथ से भोजन नहीं खाता, इसके लिए बड़े-बूढ़े उसको लाड़-प्यार से खुद खिलाते रहते हैं। यह प्रवृत्ति थोड़े समय के लिए तो ठीक है परन्तु अधिक समय तक लाड़-प्यार बच्चों को बिगाड़ देगा व उसमें भोजन ही क्या हर काम करने के लिए दूसरों पर निर्भर रहने की आदत डाल देगा। अतः जितनी जल्दी सम्भव हो सके अभिभावकों एवं मुख्यतः माँ को यह प्रयास करना चाहिए कि बच्चा अपना भोजन स्वयं ही करे। कई घर-परिवारों में बच्चों को भोजन कराने खिलाने के लिए बड़ी चिरोरियाँ-मिन्नतें की जाती हैं। परन्तु इस तरह बड़ों का शौक व वात्सल्य चाहे पूरा होता-सा उन्हें दीखे परन्तु बच्चों में ढीठता आ जाती है व फिर यह ऐसा संस्कार बन जाता है, जो प्रायः हर काम के लिए खुशामद कराता रहता है। अतः बच्चों को भोजन के लिए आग्रह-प्रस्ताव तो करना चाहिए परन्तु इसके लिए उनकी निरन्तर खुशामद नहीं की जानी चाहिए एवं तनिक

कठोरता की भी आवश्यकता हो तो उसका-उपयोग कर बच्चों को भोजन की आदतें डालना चाहिए।

कभी-कभी यह भी होता है कि कतिपय परिवारों के बच्चों में दिन में कई बार या यों कहा जाय कि दिन भर खाते रहने की भी जो आदत बन जाती है, यह कोई स्वस्थ आदत नहीं। ऐसे बच्चों को बहुधा पेट की बीमारियाँ हो जाती हैं। अधिक भोजन से बीमारी का उपचार तो किया-कराया जा सकता है। परन्तु शारीरिक बीमारी से अधिक नुकसानदायक बात यह होती है कि उनकी बार-बार खाते रहने की आदत बन जाती है। अतः माँ-बाप अपने बच्चों में ऐसे संस्कार डालें कि बच्चे अपने नियत समय पर ही खाएँ, पिएँ व उसके बाद कभी भी चाहे घर में मेहमान आवें या माँ-बाप के साथ मेहमानी में वे जावें न खाएँ-पीएँ। दूसरे आग्रह भी करें तो नम्रता से मना कर दें। इसके लिए माँ-बाप को चाहिए कि घर में बच्चों की संख्या व अपनी आर्थिक स्थिति को देखते हुए ऐसी व्यवस्था बनावें, जिससे बच्चों को खान-पान का अभाव न रहे तथा अपनी वित्तीय सीमा में रहते हुए सादा भोजन की ही व्यवस्था करने एवं बच्चों को सही ढंग से सस्नेह यदा-कदा न खाते रहने की सीख दें।

बच्चों में यह बात अच्छी तरह जमा दी जानी चाहिए कि भोजन सादा रहे पर पुष्टिकारक व स्वास्थ्यप्रद हो, कारण कि हम भोजन पूरे शरीर की पुष्टि के लिए करते हैं जीभ की तुष्टि के लिए नहीं।

बच्चों को कुसंग से दूर रखने की सतर्कता बरतें

वातावरण और वंशानुक्रम इन दो का ही व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ता है। दोनों में से किसकी भूमिका निर्णायक होती है, यह विवाद पुराना है, पर अधिक हो या कम, प्रभाव दोनों का ही होता है, यह तो निश्चित ही है। वस्तुतः जिसे वंशानुक्रम कहा जाता है, उस पर भी कई पीढ़ियों के रहन-सहन और विचार-भावनाओं से सम्बन्धित बाह्य तथा आन्तरिक पर्यावरण का असर ही प्रधान रहा करता है। इस प्रकार वातावरण या पर्यावरण का व्यक्तित्व-निर्माण में बहुत हाथ होता है।

विकसित, वयस्क तथा प्रौढ़ लोगों में तो ऐसी सामर्थ्य भी होती है कि वे अपनी आन्तरिक संगति की स्वयं व्यवस्था कर लें—स्वाध्याय, साधना तथा चिन्तन-मनन के रूप में वे ऐसा कर सकते हैं और बाहरी वातावरण के प्रभाव से बड़ी सीमा तक मुक्त रह सकते हैं किन्तु बच्चों में ऐसी सामर्थ्य और समझ नहीं होती। उनके व्यक्तित्व पर तो वातावरण और संगति का ही प्रमुख प्रभाव पड़ता है। इसलिए अपने बच्चे को सुविकसित देखने के आकांक्षी प्रत्येक अभिभावक को बच्चों की

सत्संगति का ध्यान रखना आवश्यक है और उतना ही आवश्यक है—उन्हें कुसंगति से दूर रखने की सतर्कता बरतना।

पौधे खाद और पानी देने से बढ़ते हैं। प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलने से वे पनपती हैं। भली और बुरी दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ बच्चे के भीतर रहती हैं, उनमें से जिन्हें विकसित होने का अवसर मिलता है, वह बढ़ती और फलती-फूलती हैं, जिन्हें ऐसा अवसर नहीं मिलता वह मुरझाई रहती हैं और धीरे-धीरे मृतप्रायः अवस्था में जा पहुँचती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि जिन प्रवृत्तियों को हम उपयोगी और जरूरी समझते हैं, उनके प्रोत्साहन की व्यवस्था करें।

अच्छी संगति का प्रभाव सर्वविदित है। चन्दन के समीपवर्ती अन्य पौधे भी सुरभि सम्पन्न हो जाते हैं। पुष्प जिस मिट्टी पर झड़कर गिरते हैं, वह मिट्टी भी महकने लगती है। सुसंगति को पारस की उपमा दी गई है। लोहा पारसमणि को छूकर सोना बन जाता है। उसी प्रकार सत्संगति से साधारण व्यक्तित्व में भी विशेषताएँ उभर आती हैं।

आज की एक अत्यन्त विषम समस्या यह है कि हम बुरे लोगों के द्वारा निरन्तर फेंके जाने वाले दुष्प्रभाव से अपने बच्चों की रक्षा कैसे करें ? वयस्क व्यक्ति तो समझदार भी होते हैं, अपना भला-बुरा सोच भी सकते हैं, पर बच्चों में यह बुद्धि भी ठीक तरह विकसित नहीं हो पाती, उनके लिए कुसंग विष की तरह घातक सिद्ध होता है। सभ्य घरानों के अनेक बच्चे कुसंग में बिगड़ते हैं और वे ऐसे बिगड़ते हैं कि अपना और अपने परिवार का सर्वनाश ही कर बैठते हैं। घर से पैसे चुराकर मटरगश्ती के लिए दोस्तों के साथ भाग खड़े होने की अगणित घटनाएँ आये दिन सुनने में आती रहती हैं। घर में छोटी-मोटी कहा-सुनी हो जाने पर भाग खड़े होना तो एक बहाना होता है। वस्तुतः पहले से ही दोस्त लोग स्वेच्छाचार की शिक्षा उन्हें देते रहते हैं और छोटी-मोटी नाराजी का कारण प्रस्तुत होते ही वह शिक्षा सार्थक हो जाती है। कितने ही लड़के घर रहते हुए आवारागर्दी में दिन बिताते हैं। दूसरे आवारा लड़कों का साथ ही इसका प्रमुख कारण होता है। असन्तोष उत्पन्न करने वालों, कलह भड़काने वालों, निराशा एवं खिन्नता उत्पन्न करने वालों के तौर-तरीके ऐसे होते हैं, जिनके कारण बने घर बिगड़ते देखे गये हैं। बिच्छू और साँप से जिस प्रकार सावधान रखा जाता है, उसी प्रकार कुसंग से भी बचाव रखा जाना चाहिए।

किशोरावस्था में तो विशेषकर कुसंगति से ही यौन दुष्प्रवृत्तियों से प्रारम्भ होता है और तब अपराधी स्वभाव का विकास होता ही चला जाता है।

जुआ खेलना, गाली देना, आलस में पड़े रहना, ताश, शतरंज, चौपड़, कैरम आदि में वक्त बर्बाद करना, बढ़-चढ़कर शेखी मारना, फैशन बनाना आदि कितनी ही

बातें ऐसी हैं, जो यार-दोस्तों के द्वारा ही उपहार में मिलती हैं। जिनके साथ दोस्ती होती है उनकी आदतों के साथ भी दोस्ती बढ़ने लगती है। उनकी इच्छा, अनुरोध एवं प्रवृत्ति के साथ-साथ चलने में दोस्ती पक्की होती दीखती है। इसलिए सम्पर्क में आने वाले उसके गुण-दोषों को भी सीख लेते हैं।

व्यभिचार आमतौर से ऐसे ही पनपता है। आरम्भिक जीवन में हर कोई सदाचारी होता है। पाप से विशेषतया व्यभिचार सम्बन्धी पाप से हर किसी को बहुत डर लगता है क्योंकि हमारी धार्मिक और सामाजिक मान्यताएँ इसका बहुत विरोध करती हैं। आन्तरिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के भय, संकोच एवं लज्जा के कारण मनोविकार रहते हुए भी इस कुमार्ग पर सहसा कदम उठा सकना कठिन होता है। पर कुसंग में वह झिझक छूट जाती है। प्रारम्भ वार्ता में अश्लील बातों में रस लेने से होता है और अन्त पतन के गहन गर्त में गिरने के साथ होते देखा गया है। कुसंगति में ही यह पतन पनपता है। भोले बच्चे और बच्चियाँ दुष्ट-दुराचारी लोगों के सम्पर्क में आकर अपना भविष्य अन्धकारमय बनाते हैं और छूट की बीमारी की तरह यह लत एक से दूसरे को लगती चली जाती है।

इसीलिए बच्चों को कुसंग से दूर रखने की पूरी सतर्कता बरतनी चाहिए। अच्छी शिक्षण-संस्था में प्रवेश उसका एक छोटा-सा अंश है। अच्छा पास-पड़ोस, घर व मुहल्ले का अच्छा वातावरण, अच्छी रुचियों के अभिवर्द्धन का हर सम्भव प्रयास तथा प्रेरक कथाओं, दृष्टान्तों, जीवन चरित्रों एवं सत्साहित्य द्वारा अच्छाई की समझ विकसित करने का प्रयास किया जाना चाहिए। बच्चा कुसंगति में फँसता दिखे तो उसे बहुत तेज डाँटना-फटकारना नहीं चाहिए, अपितु प्यार से समझाना चाहिए। किशोर बच्चों को तो भ्रमण, सैर-सपाटे, पारिवारिक गोष्ठियों तथा पारिवारिक मनोरंजन के कार्यक्रमों द्वारा यथासम्भव घर में ही व्यस्त रखने की कोशिशें सर्वोत्तम लाभदायक होती हैं।

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि बच्चा सुनापन नहीं सह सकता। उसे व्यस्तता चाहिए। यदि वह व्यस्तता उसे अभिभावक नहीं दे सके, तो वह स्वयं ही अपनी व्यस्तता के अनेक मार्ग अपने ढंग से ढूँढ़ लेगा। इसलिए मात्र निषेधात्मक वर्जना से बात बनेगी नहीं। बच्चे को यदि सचमुच कुसंगति से बचाना है तो उसे अच्छी संगति सुलभ करने की विधेयात्मक व्यवस्था भी करनी होगी।

बच्चों को डराया न करें

बच्चों के साथ अपने दैनिक व्यवहार में हम बहुत-सी भूलें कर बैठते हैं और उनका बच्चों के सम्पूर्ण जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बहुत-से माँ-बाप अपने लाभ के लिए या बच्चों को सुधारने के लिए उन्हें तरह-तरह के भय दिखाया करते हैं। अबोध बच्चों को अक्सर 'होवा' से डराया जाता है 'मुन्ना जल्दी सो जा,

२.८४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

दुबक जा, नहीं 'हौवा' आ जायेगा'' ऐसे भय-प्रधान संकेत बच्चों को दिए जाते हैं। अबोध बालक समझने लगता है कि 'हौवा' नाम की कोई भयानक वस्तु है, जो उसे खा जायेगी या पकड़ ले जायेगी।

कुछ बड़ा हो जाने पर वह चलने-फिरने लायक होता है तो कुत्ता, शेर, पकड़ ले जाने वाले साधु बाबा का डर दिखाया जाता है। प्रत्यक्ष डर दिखाने के साथ-साथ ही घर में कहे जाने वाले किस्से, कहानी जिनमें राक्षस, भूत, प्रेत, चुड़ैल आदि की प्रधानता रहती है, बच्चों में कुछ कम भय पैदा नहीं करते। बहुत-से घर वाले तो अमुक स्थान, पीपल का पेड़, मरघट, कब्र आदि पर भूत-प्रेत का निवास कर बच्चों को वहाँ जाने, चौराहा लाँघने से रोकते हैं।

किसी भी रूप में बच्चे को डराने की प्रवृत्ति बहुत ही हानिकारक सिद्ध होती है। इन बातों से बालक के कोमल मन पर भय की भावना इतनी दृढ़ता से जम जाती है कि वह जीवनभर नहीं छूट पाती। वह अँधेरे में, अकेले में डर महसूस करता है। अँधेरे में कोई कपड़ा या वस्तु हवा से हिलती-डुलती देखकर उसकी घिग्गी बँध जाती है। जिन वस्तुओं का नाम लेकर डराया जाता है यथा—कुत्ता, बिल्ली, बन्दर, भालू, साँप, छिपकली इनके सम्पर्क में आते ही बालक होश-हवाश खो बैठता है। भयावनी कहानियाँ उसकी विचारधारा और कल्पनाओं को उसी दिशा में मोड़ देती हैं, जिससे बालक अकारण ही कई भयप्रद कल्पनाओं और विचारों में उलझकर भयभीत होता रहता है।

एक-दूसरे ढंग से भी माँ-बाप बच्चों में भय की भावना पैदा करते हैं। बातचीत में, व्यवहार में, बच्चों के साथ सख्ती से पेश आना, उन्हें झिड़क देना भी बच्चों को दूसरे ढंग से भयभीत बना देता है। ऐसा बालक बात-बात में दूसरों से डरने लगता है। कुछ करने से पूर्व झिड़कता है। धीरे-धीरे यह भय इतना बढ़ जाता है कि वह कुछ नहीं कर पाता।

कई बार किसी पराजय अथवा कटु अनुभव होने पर बालक को चिढ़ाना, धिक्कारना, उस पर ज़बर्दस्ती करना भी उसके साहस को कमजोर करना है। कुछ करने से पहले ही असफलता की, हानि की भविष्यवाणी कर देना भी बच्चों में एक प्रकार का भय पैदा करना है जिससे बालक फिर इस तरह के कामों में हाथ डालने पर सहम जाता है और वह अपना बढ़ा हुआ पैर तक पीछे हटा लेता है। दिन भर दिये जाने वाले भयप्रधान संकेत 'देख ऐसा मत करना, अमुक वस्तु को मत छूना, शीशा मत तोड़ देना' आदि आदेश जो भय दिखाते हुए दिए जाते हैं और भूल हो जाने पर जब बच्चे को डाँट-फटकार सुननी पड़ती है तो बालक निर्भय होकर कुछ नहीं कर पाता। वस्तु के टूट जाने, नुकसान हो जाने के भय से बालक इतना दब जाता है कि बात-बात में बहम करने

लगता है—हिचकता है। किसी महत्वपूर्ण एवं जोखिम भरे काम में हाथ डालने की उसकी हिम्मत ही नहीं होती और जो व्यक्ति जीवन में कोई जोखिम नहीं उठा सकता, वह कुछ कर भी नहीं सकता।

किसी भी रूप में क्यों न हो बच्चों में भय के संस्कार पैदा कर देना उनके स्वाभाविक जीवन विकास-क्रम में अवरोध पैदा कर देना है। निर्द्वन्द्व, निर्भय, बालक जल्दी प्रगति करता है, बजाय एक भयभीत मनःस्थिति के बच्चे के। जो बालक कुत्ते, बिल्ली, छिपकली, हौवा, भूत, चुड़ैल के नाम से धिधियाते हैं, अँधेरे में, अकेले में रहने से परेशान हो जाते हैं, जो नाना भयप्रद कल्पनाओं में डूबते-उतराते रहते हैं, उनसे क्या आशा की जा सकती है कि वे जीवन में कोई महत्वपूर्ण काम कर सकेंगे ?

आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों में भय की भावनाओं को पैदा ही नहीं होने देना चाहिए। कदाचित् किसी रूप में भय पैदा हो ही जाय तो माता-पिता का कर्तव्य है कि बालक की स्थिति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके तुरन्त उसके मन से भय को दूर करें।

यदि अँधेरे में या किसी स्थान विशेष पर बालक जाने से डरे तो उसे प्रेम के साथ अपना पूर्ण संरक्षण प्रदान करें। स्मरण रहे बालक अपने अभिभावकों की गोद में अपने आपको सर्वप्रकार से सुरक्षित समझता है। लेकिन माँ-बाप ही जब हौवा या जूजू, भूत, चुड़ैल आदि का डर बताते हैं तो उसका धैर्य और विश्वास नष्ट हो जाता है। समझदार माँ-बाप को चाहिए कि वे बच्चों को इस तरह के कोई काल्पनिक भय न दिखावे चाहे ऐसा उनके भले के लिए ही किया जाय लेकिन वह सर्वथा गलत है। जिस स्थान पर जाने से बालक डरता हो उसे अपने संरक्षण का पूर्ण विश्वास देकर उस स्थान पर ले जाना चाहिए और उसकी वास्तविकता का खोखलापन विनोद में ही समझा देना चाहिए। कुछ समय वहाँ खेलने-कूदने में बिताने पर उसके मन से भय की भावना दूर हो जायेगी।

कोई नुकसान हो जाय, वस्तु टूट-फूट जाय, बालक को कोई असफलता मिल जाय तो उसे आप कभी न टोकें, न कोई दोष दें, न मीन-मेख ही निकालें। गिरे हुए बालक को कोसने के बजाय उसे उठने, असफल हो जाने पर सफलता के लिए प्रोत्साहित कीजिए, खतरों, दुर्घटनाओं के लिए उसे डाँट-फटकार देने की अपेक्षा उसका हौसला बढ़ाइए। तभी उसका जीवन आने वाली बहुत-सी असफलता, दुर्घटना, कठिनाइयों को झेल सकेगा। बच्चों से जो नुकसान हो गया वह तो पूरा होने का नहीं। व्यर्थ ही उन्हें भयभीत करना, डाँटना-फटकारना, उनके मनोबल को क्षीण कर देना है। अतः बच्चों को उनकी भूलों पर, असफलता पर, असावधानी पर शर्मिन्दा न करें, न कोसें।

बच्चों को भूलकर भी ऐसी कथा, कहानियाँ, प्रसंग न सुनायें जिनमें भूत, प्रेत, चुड़ैल, हौवा जैसी काल्पनिक लेकिन भयानक बातों की प्रधानता हो। इसके स्थान पर

उन्हें इतिहास के वीरों की, महान पुरुषों की, साहस शौर्य की घटना, कथाओं को सुनाया जाय। पढ़ने के लिए अच्छा साहित्य हो जो उनके मनोबल को महान बनावे।

बच्चों को सहज रूप में खेलन-कूदने देना चाहिए। उनको बात-बात पर टोकना, डिक्टेटर जैसा हुकम चलाना, दण्ड देना अनुपयुक्त है। इससे बालक का मनोबल क्षीण होता है और वह सहमा-सहमा रहने लगता है। झिझकता है। दबूपन की भावना उसमें घर कर लेती है। बच्चे को उसकी सहज स्थिति में रहकर विकसित होने देना चाहिए।

एक बात और सबसे महत्वपूर्ण है कि माता-पिता, अभिभावकों को भूलकर भी अपने बच्चों के समक्ष कोई भय-प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। वस्तुतः बालक अपने अभिभावकों को सर्वसमर्थ समझता है और इसी विश्वास से वह उनके संरक्षण में रहकर निडर रहता है। लेकिन वे जब भययुक्त आचरण करते हैं तो बालक का विश्वास डगमगा जाता है, साथ ही वह भी भयभीत होने लगता है। जो माँ-बाप स्वयं डरपोक होंगे तो उनके बच्चे साहसी, निडर बन जाएँ ऐसा सम्भव नहीं। माँ-बाप को चाहिए कि अपने बच्चों में निर्भयता, साहस की भावना जगाने के लिए स्वयं इस तरह का आचरण-व्यवहार करें।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाल्यकाल में बच्चों के कोमल मन में जमी हुई भय की भावना उन्हें जीवन-भर के लिए अकर्मण्य, कायर एवं भीरु बना देती है। उन्हें एक प्रकार की मानसिक गुलामी का जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि संसार में निर्भयी ही महत्वपूर्ण स्थान पा सकते हैं। माँ-बाप का कर्तव्य है कि वे अपने बच्चों का जीवन भय के कारण नष्ट न होने दें। सर्वप्रथम उनमें भय की भावना पैदा ही न होने दें, फिर यदि हो भी जाय तो उसे दूर करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें।

स्वयं निर्भीक बनें एवं बच्चों को निर्भीक बनाएँ

प्रायः बाल-विकास के कुछ निश्चित नुस्खों की खोज शिक्षित माता-पिता को रहा करती है। लेकिन यह सदैव स्मरण रखा जाना चाहिए कि बच्चा न तो कोई पदार्थ है, न ही सरल जैव-रासायनिक समीकरण। प्रत्येक शिशु में अज्ञात सम्भावनाओं के अनन्त कोष छिपे होते हैं। इसलिए जहाँ एक ओर उनके विकास-व्यवहार की आवश्यक जानकारी तथा उन्हें सँभालने की विधियों का ज्ञान जुटाते रहना उचित है, वहीं यह भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि किसी भी व्यवहार-विधि को अटल, अचूक सूत्र मानकर न बैठ जाना चाहिए। अपितु उसके पीछे की भावना को समझा जाना चाहिए।

किसी भी कार्य में मात्रा और अनुपात की सही समझ आवश्यक होती है। व्यंजन बनाते समय यदि घी, तेल, गुड़-शक्कर, नमक-मिर्च आदि की मात्रा और

अनुपात की सही समझ न हो तो स्वादिष्ट पदार्थों के ढेर से भी ऐसा आहार तैयार होगा, जिसे एक कौर भी गले के नीचे उतारना सम्भव न होगा। तकनीकी और वैज्ञानिक कार्यों एवं प्रयोगों का तो सारा खेल ही मात्रा-अनुपात की सही जानकारी पर निर्भर है। वृक्षों को खाद-पानी देने का मामला ही या भवन-निर्माण का मसाला तैयार करने का प्रश्न ही, प्रक्रिया और विधि के साथ ही अनुपात तथा मात्रा, भेद का ध्यान रखना होता है, अन्यथा इच्छित परिणाम प्राप्त नहीं हो पाता।

बच्चों का पालन-पोषण तो और भी जटिल तथा नाजुक काम है। इसमें मात्रा, भेद और अनुपात की समझ की अधिक ही जरूरत पड़ती है। इसीलिए बच्चों के पालन-पोषण के दायित्वों में धन-सम्पदा भौतिक सामग्रियाँ और उपकरण जुटा सकने एवं पोषक आहार सुलभ करा सकने की तैयारी तथा क्षमता तो चाहिए ही, संस्कार संवर्द्धन तथा गुण-विकास के योग्य वातावरण तैयार करने और एक-एक बच्चे के लिए पर्याप्त समय निकाल सकने की क्षमताएँ इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। बच्चे के लिए माता-पिता को जो वस्तु सबसे अधिक देनी चाहिए, वह है समय। पर्याप्त समय देने पर ही उनकी बाल-भावनाएँ समझी जा सकेंगी।

उदाहरण के लिए बच्चों की भय की भावना को लें। सामान्यतः प्रत्येक माँ-बाप यह सुनते रहते हैं कि बच्चों को डराना-धमकाना नहीं चाहिए। परन्तु इस पर अमल करते हुए बिरले ही देखे जाते हैं क्योंकि भय दिखाने से शीघ्र काम निकलता दिखाई पड़ता है और दिन-रात बच्चों के लिए कमाने तथा वस्तुएँ जुटाने की चिन्ता करने वाले माता-पिता को ऐसे कामों में सदा हड़बड़ी मची रहती है, जिनके लिए कि उन्हें पर्याप्त समय देना ही चाहिए। 'हौए' का नाम लिया और बच्चे ने चट दूध पी लिया। कौए का डर दिखाया और बच्चे ने रोटी लेकर आँगन में जाने की जिद छोड़ी। सिपाही या जोगी बाबा के आने का भय दिखाया कि वह सो गया। यह तो हुई भय की बात। झिड़की, क्रोध, उपेक्षा आदि से बच्चे की मनोदशा पर पड़ने वाले प्रभावों की चिन्ता का हमें समय कहाँ ? हम तो उसके लिए चीजें जुटाने की चिन्ता भरपूर करते हैं, यही क्या कम है ?

अपनी तनिक-सी आसानी के लिए हम बच्चे की कितनी बड़ी हानि कर रहे हैं इसकी हमें कल्पना भी नहीं होती। यदि हम यह जानें कि इसमें बच्चे की जो हानि हो रही है, उनकी पूर्ति हजारों खिलौने तथा खाने की विविध वस्तुएँ देने पर भी, होने की नहीं, तो हम ऐसा कदापि न करें।

इस विषय में, अब तक अनेक प्रकार के वैज्ञानिक परीक्षण हो चुके हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो गया है कि ऐसे प्रभाव, जिनसे बच्चे में अनावश्यक भय, उदासी, खोझ, चिड़चिड़ाहट, ईर्ष्या, शोक और क्रोध पैदा होते हैं, अत्यन्त हानिकर होते हैं।

२.८६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

शल्य-चिकित्सा की तकनीक अत्यधिक उत्पन्न हो जाने के कारण अमरीका में अनेक रोगियों के चिकित्सा क्रम के साथ ही उनके कारणों के निरीक्षण-अवलोकन का भी क्रम चलता रहता है। वहीं देखा गया कि एक किशोर जिसके उदर में घाव हो गया था और जिसका आपरेशन होना था, उसे जब क्रोध दिलाया गया तो उसके आमाशय में रक्त-संचार अति तीव्र हो गया और पूरा आमाशय रक्ताभ हो उठा। स्पष्टतः पाचन-यन्त्र पर इसका प्रतिकूल प्रभाव होता है। इस प्रकार पता चला कि क्रोध से बच्चों का पाचन-तन्त्र दुर्बल होता है।

भय का प्रभाव जानने हेतु किये गये एक अन्य प्रयोग में एक भेड़ के बच्चे को बढ़िया आहार दिया गया। वह भोजन करने लगा, उस समय एक्स-रे प्रयोगों द्वारा देखा गया कि उसके पाचक अङ्ग पूरी गति से क्रियाशील हैं। तभी उसे एक भेड़िया दिखाया गया तो पाचक अंग शिथिल हो गए। यह भय का प्रभाव था।

यह तो पाचन-शक्ति और शरीर-स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों की सांकेतिक चर्चा हुई। अन्तःस्नायी ग्रन्थियों के अध्ययन से यह भी जाना जा चुका है कि भय, क्रोध, शोक आदि की स्थिति में हार्मोन्स के अनियमित और असंतुलित स्नाव-होने से शरीर तथा मन दोनों पर हानिकर प्रभाव होते हैं।

भय का कुप्रभाव तो बच्चे के मन पर बहुत गहरा होता है। इसलिए बाल मनोवैज्ञानिक सदैव इस बात पर बल देते हैं कि बच्चे के मन में भय कदापि न बैठना जाये।

बच्चों के मन में भय से असुरक्षा और आत्महीनता की भावना घर करती जाती है। डाक्टर चार्ल्स मिशेल ने अपनी पुस्तक 'द चाइल्डहुड ऑफ एनिमल्स' में यह विश्लेषित किया है कि एक साल से कम आयु के मानव-शिशु भी अन्य पशु-पक्षियों की तरह ही बाहरी वस्तुओं से भयभीत नहीं हुआ करते। हाँ, कुछ रहस्यपूर्ण वस्तुओं के प्रति भय अवश्य बच्चों में जन्मजात होता है। 'साइक्लाजी ऑफ अर्ली चाइल्डहुड' के लेखक विलियम स्टर्न ऐसे भय को सहजात भय मानते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्य प्रवृत्तियों की तरह भय के भी बच्चों में दो पहलु होते हैं। एक तो स्वाभाविक भय। यह भय आत्मरक्षा और सावधानी के लिए आवश्यक है। दूसरे, अस्वाभाविक भय, जो आत्महीनता, शक्तिहीनता, मानसिक दुर्बलता और मिथ्या धारणाओं को बढ़ाता है।

एक प्रश्न सीधे-सीधे यह उभर सकता है कि बच्चे में भय क्यों उत्पन्न होता है ? यह मुख्यतः इन परिस्थितियों में उत्पन्न होता है—

अस्वस्थ तथा मन्दबुद्धि बच्चा शीघ्र भयग्रस्त होता है। ऐसी परिस्थितियाँ बच्चे के सामने आ जायें जो उसे असुझ लगे, तो उसे यह नहीं सुझ पाता कि इस

परिस्थिति का सामना वह कैसे करे ? अतः वह भयग्रस्त हो उठता है। यदि बच्चे ने कोई ऐसी परिस्थिति देख ली है जो भय का कारण है, तो भी वह उस स्थिति में डरेगा। जैसे यदि स्कूल में बड़े भाई को पिटते देख लिया तो बच्चा स्वयं के स्कूल जाने की कल्पना से ही डर उठेगा वह स्कूल जाने से इन्कार करेगा।

अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण बच्चा बड़ों को या दूसरे बालकों को डराता है।

मिथ्या धारणाएँ उत्पन्न करने से, जैसे—अँधेरा, चोर, हौआ, भूत-प्रेत, सिपाही, जोगी बाबा आदि का नाम लेकर भय दिखाने पर भी बच्चा उनसे डरने लगता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि बच्चा डरपोक न बने, इसके लिए उसमें मिथ्या धारणाएँ न पैदा करना, बात-बात में उसे किसी काल्पनिक वस्तु का डर न दिखाना तो आवश्यक है ही, परन्तु मात्र इतना पर्याप्त नहीं। यदि माँ छिपकली, बिल्ली आदि से डरती है, तो बच्चा उनसे अवश्य डरेगा।

बच्चों के अधिकांश डर संसर्गज होते हैं। इसलिए महत्व अकेले बच्चे को नहीं, उसके वातावरण को भी दिया जाना चाहिए। बच्चे को वातावरण एवं परिस्थिति की भलीभाँति जानकारी देना उसे स्वस्थ-सबल बनाये रखना और उसका उचित बौद्धिक विकास होने में सहायता करना ही वे उपाय हैं, जिनसे कि बच्चा निर्भीक बनेगा। यह भी स्मरण रखा जाये कि बार-बार गिर पड़ने, हानि पहुँचने के संकेत तथा ऐसे ही अन्य सावधान करने वाले निर्देश भी बच्चों को बार-बार देने पर वे डरने लग सकते हैं, जैसे कबड्डी से या हाकी से या साइकिल से तुम्हारी हड्डी टूट जायेगी, वहाँ मत जाओ, बीमार पड़ जाओगे आदि संकेत बच्चों के मन में भय की सृष्टि करते हैं। बच्चे को लेकर बहुत अधिक आशंकित-भयभीत रहे आने वाले माता-पिता बच्चे में जाने-अनजाने भय पैदा करते रहते हैं। इसीलिए बच्चे को निडर, निर्भीक, साहसी बनाने के लिए स्वयं वैसा बनना तथा अनावश्यक मोह से बचना आवश्यक है।

कोई भी माता-पिता यह अनुमान नहीं कर पाते कि बच्चे का शारीरिक विकास उसमें अनुचित भय के कारण रुक गया है परन्तु ऐसा होता कई बार है।

धीरे बालक रोगी बन जाता है। उसका आत्मविश्वास समाप्त हो जाता है। उसे व्यर्थ की बातों से भी भय होने लगता है। उसका व्यक्तित्व पंगु होता जाता है। अतः बच्चे के मन में अपने वातावरण के प्रति परिचय और आत्मीयता पैदा करना, उसे कभी भी काल्पनिक भय न दिखाना और न भयोत्पादक संकेत करना, स्वयं भी निर्भीक रहना और निर्भीक बच्चों के बीच ही उसे रखना आवश्यक है। बच्चे मुख्यतः अनुकरणशील होते हैं, अतः निर्भीक परिवार और निर्भीक वातावरण ही बच्चों को निर्भीक बनाने का सर्वोत्तम उपाय है।

बच्चों को भीरु नहीं, वीर बनाइए

बच्चा जन्म से कायर नहीं होता। उसकी नैसर्गिक प्रकृति इतनी निर्भीक होती है कि वह साँप, चूहे, बिल्ली, बन्दर जो भी पास आये पकड़ने को दौड़ता है। उसे प्रत्येक वस्तु खेल की, विनोद की वस्तु लगती है और सम्भवतः वह इसीलिए बिना हिचक के, प्रत्येक वस्तु की ओर दौड़ पड़ता है। बच्चे के मस्तिष्क में पूर्वारम्भ में भय की भावना न जगायी जाय तो हमारा विश्वास है कि वह कभी कायर नहीं हो सकता। घर का वातावरण और माता-पिता का त्रुटिपूर्ण संरक्षण ही उन्हें भीरु बनाता है। भारतवर्ष की अतीतकालीन परम्पराओं की दृष्टि से यह अभिशाप-सा लगता है कि हमारे बच्चे डरपोक बनें। वीर-प्रसविनी वसुन्धरा के लाइलों को तो वीर और बाँकुरा ही होना चाहिए।

इस निर्माण में आप बहुत अधिक सहयोग दे सकते हैं। निर्भीक प्रकृति के बालकों में भय की भावना पैदा करने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व अभिभावकों का है। व्यक्तिगत सावधानी और समीपवर्ती वातावरण को शुद्ध रखकर आप अपने बच्चों को निर्भय प्रकृति का बना सकते हैं।

माता-पिता की अविश्वासी प्रकृति हमारी दृष्टि में मुख्य विकार है। उन्हें अपने बालकों पर विश्वास नहीं होता और वे छोटी-छोटी आशंकाओं को लेकर बालकों की क्रीड़ाओं में हस्तक्षेप करते रहते हैं। इसमें केवल परावलम्बी हो जाने का ही दोष नहीं है, वरन् बच्चे में भी अपनी शक्तियों के प्रति विश्वास उठने लगता है। वह अपने को दीन-दयनीय स्थिति वाला समझने लगता है। कायरता की मुख्य जड़ यही है। बच्चे की कुशलता की देख-रेख तो रखिए पर इतना नहीं कि उसकी अपनी क्रिया-शक्ति परावलम्बी हो जाय। इसमें इतना ही सम्भव है कि बच्चा कहीं फिसलकर गिर पड़े तो मामूली चोट आ जाय या अँगुली में थोड़ा जल जाय। घर में और किसी बड़े खतरे की आशंका नहीं होती, यदि हो भी तो कारण को दूर कर देना चाहिए, पर बच्चे के कार्यों में जितना कम सम्भव हो, हस्तक्षेप करना चाहिए। स्वानुभूतियाँ बालक का नैसर्गिक विकास करती हैं, प्रबुद्ध और निर्भय बनाती हैं।

अज्ञान और असत्यमूलक विश्वास से बच्चों को परिचित करा देना बहुत बड़ी भूल है। मनुष्य का जैसा विश्वास होता है वैसा ही उसके कार्यों का फल भी उसे मिलता है। यदि विश्वास सत्य, ज्ञान और प्रेममूलक होगा तो उससे विकास होगा, इसके विपरीत यदि विश्वास

असत्य और अज्ञानपरक हुआ तो वह घृणा और पतन की ओर ले जायेगा।

बच्चों के आगे डरावने दृश्यों का वर्णन या भयोत्पादक कहानियाँ नहीं सुनानी चाहिए। भूत-मसानी के किस्से और रोमांचकारी घटनाओं के चित्रण करना बड़ी भूल होगी। इस प्रकार की बातों से उसके प्रसुप्त मन में भयोत्पादक ग्रन्थियाँ जम जाती हैं, जो बाद में स्वयं अपना कार्य प्रारम्भ कर बच्चे को डरपोक बना देती हैं।

कहीं से आपके बच्चे के मस्तिष्क में इस प्रकार का भय छा गया हो तो उसका हर सम्भव तरीके से निवारण करना चाहिए। इस प्रकार भ्रान्त-धारणा को पूर्व में ही निर्मूल कर दिया जाय तो बच्चे का न केवल भय ही दूर हो जाता है, वरन् भय की निरर्थकता भी मालूम पड़ जाती है।

स्वामी विवेकानन्द जी जब बालक थे तो एक बार उनकी बहिनों ने उन्हें पास के पेड़ में भूत होने की बात सुनाकर डरा दिया। एक रोज बालक विवेकानन्द उसी पेड़ पर जा बैठे और बड़ी देर तक भूत के आने की प्रतीक्षा करते रहे। काफी देर हो जाने पर घर में तलाश हुई। उनकी माताजी उसी पेड़ की ओर गईं तो वे पेड़ पर बैठे मिले। माँ ने वहाँ बैठने का कारण पूछा तो बालक ने बताया कि वह भूत देखने आये थे। माँ ने समझाया बेटा भूत कुछ नहीं होता, न मानो तो और परीक्षा कर लो। बालक के मन से भूत की कल्पना दूर हो गई और उसका भय मिट गया।

प्रत्येक माता-पिता का यह कर्तव्य है कि यदि उन्हें ऐसा मालूम पड़े कि किसी बात को लेकर बच्चे के मस्तिष्क में भय पैदा हो रहा है तो उसे तुरन्त दूर कर दिया जाय ताकि वैसी भावना मस्तिष्क में जड़ न जमा ले।

भय केवल डराने, मनगढ़न्त भयोत्पादक कहानियाँ सुनाने से ही नहीं पैदा होता। कई बार लड़ाई-झगड़ों के कारण वातावरण में एक प्रकार का भयोत्पादक कम्पन छा जाता है। इससे बच्चों के कोमल मस्तिष्क में आघात होता है और वे बहुत जल्दी डर जाते हैं। जोर-जोर से चिल्लाकर लड़ने, गालियाँ बकने, चीखने, मारपीट करने से जो डरावना वातावरण बनता है, उससे बच्चों को सदैव दूर रखना चाहिए।

यह सब इसलिए आवश्यक है कि बच्चे के मन में भय न पैदा हो और वह कायर एवं कमजोर न बने। इनसे अधिक बच्चे के रचनात्मक विकास में सहयोग देने का महत्त्व है। बच्चों को प्रारम्भिक अवस्था से ही वीरबाँकुरा बनाना चाहिए।

२.८८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

शकुन्तला का भरत सिंहों के बच्चों के साथ खेला करता था। अब वैसा संकल्प और आत्मबल न हो तो भी साहसपूर्ण कहानियाँ, बाल-निर्माण के रोचक संस्मरण तो उन्हें सुनाये ही जा सकते हैं। छोटे-छोटे बच्चों के वीरतापूर्ण कार्यों की चर्चा करनी चाहिए। ऐसी कहानियाँ काल्पनिक भी हो सकती हैं, ऐतिहासिक भी, जिनसे बच्चे पर अनुकूल प्रभाव पड़े, ऐसी कथाएँ रात को लेटते समय या दिन के किसी भी अवकाश के समय बच्चों को सुनाना चाहिए।

कहानियों की तरह ही काव्य भी बच्चों को प्रिय होता है। उन्हें गाना सुनने, सुनाने का शौक होता है पर लोगों की भूल यह होती है कि वे दोषपूर्ण गीतों के द्वारा बच्चों के मस्तिष्क में विकार उत्पन्न कर देते हैं। यों नहीं, बच्चों को ऐसी रचनाएँ सुनानी और याद करानी चाहिए, जिनसे उनकी भावनाओं में दृढ़ता, वीरता और आदर्श ज्ञात होता हो। बुद्धिमान स्त्रियाँ बच्चों को लोरियाँ गाकर सुलाती हैं। उन लोरियों में भय नहीं, प्रेम, श्रद्धा और वीरता की बातें होती हैं। भूत आदि की अश्विश्वासमयी बातों से बालक का मन कमजोर नहीं करतीं। ऐसे लोग वीर होते हैं। बालक के मन को भय और विकारजन्य संकमों से बचाना नितान्त आवश्यक है।

बच्चों को स्वस्थ रखने की सामान्य जानकारी प्रत्येक अभिभावक को होनी चाहिए। आहार-विहार, खेलकूद के नियमोपनियम तथा सुव्यवस्था की जानकारी खुद न हो तो अपने मित्रों और पड़ोसियों से सीख लेनी चाहिए।

यदि किसी बच्चे का वजन प्रतिमास बढ़ता रहता है, श्वास-प्रश्वास नियमपूर्वक चलते हैं, सोते समय उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता और खूब गहरी नींद आती है, दिन में उसे टट्टी एक या दो बार साफ आती है, तो समझना चाहिए बच्चा स्वस्थ है और उसे कोई शारीरिक बीमारी नहीं है। अस्वस्थ होने पर बच्चे मुरझाये रहते हैं, खेलते नहीं और उनका वजन भी नहीं बढ़ता। ऐसा कोई कारण जान पड़े तो उसका तुरन्त उपचार करना चाहिए।

घर की बैठक के कमरे में शिवाजी, रणाप्रताप, गुरुगोविन्दसिंह, रणजीतसिंह, सुभाष आदि वीरपुरुषों के चित्र रहने चाहिए। अवकाश होने पर बच्चों को उनसे सम्बन्धित ऐतिहासिक वर्णन भी सुनाने चाहिए।

माताएँ और कुछ न करें तो भी केवल अपने संकल्प से बच्चों में वीरतापूर्ण, शौर्य और साहसपूर्ण भावनाओं का जागरण कर सकती हैं। बच्चे को दूध पिलाते समय ऐसी भावना की जाती रहे कि मेरे स्तनों से यह जो मधुर दूध बच्चे के शरीर में पहुँच रहा है, उससे उसका शरीर, मन और आत्मा सभी बलिष्ठ हो

रहे हैं। मेरा बच्चा कर्ण, अर्जुन, अभिमन्यु, राम, भरत, गोरा, बादल, फतेहसिंह, जोगवरसिंह, आदि की तरह ही वीर-बाँकुर, और बलशाली बनेगा। वह धर्मनिष्ठ होगा पर दुष्टता एवं अनैतिकता से जूझने में भी पीठ न दिखायेगा। हमारे बच्चे वीर-बाँकुरे बनें यह हमारा उत्तरदायित्व है।

अबोध बालकों को भयभीत न करें

बालक की समझ जैसे-जैसे विकसित होती जाती है, वह अपने आस-पास की प्रत्येक चीज को विस्मित के भाव से देखता है। उसके सम्बन्ध में बच्चे की क्या प्रतिक्रिया होती है, यदि उसका शिक्षण गलत ढंग से हुआ है और उस पर गलत प्रभाव डाले गये हैं, तो वह अपने आसपास की चीजों के प्रति जिज्ञासा का भाव रखने के साथ-साथ अनजानी घटनाओं और वस्तुओं से भयभीत भी होने लगता है। यदि छोटे बच्चों को आरम्भ से ही गलत कल्पनाएँ करना सिखाया गया, उन्हें भूत-प्रेत और चुड़ैल का डर बताया गया तथा दानवों और राक्षसों की कहानियाँ सुनाई गई हैं तो वह अकेला होते ही, एकान्त स्थान में जाने पर अथवा अन्धेरे में, रात के समय झींगुरों की झँझ-झँझ और उल्लू की आवाज सुनकर भूत-प्रेतों की कल्पना करने लगता है तथा डरने लगता है।

यहाँ तक कि चूहे की खटखट भी बच्चे को परेशान करती देखी गई है। एक-दो बार वह अपना डर भी व्यक्त करता है। पर माँ-बाप उसका डर दूर करने के स्थान पर उसकी बातों पर हँसने लगते हैं। तब तो बात आई-गई हो जाती है, पर फिर किसी अवसर पर माँ-बाप उसके भय को पुनः पुष्ट कर देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि अन्धकार अथवा एकान्त बच्चे के लिए एक समस्या बन जाता है। रात को कमरे में अकेला सोना उसे अच्छा नहीं लगता या सब लोगों के साथ होने पर भी वह अन्धेरे में आँखें फाड़-फाड़कर जागे रहने की चेष्टा करता है। जब सब लोग सोये रहते हैं तो वह जागा हुआ चुपचाप माँ के पलंग पर टकटकी लगाकर देखता रहता है।

यह सब होता है, उन कहानियों के सुनने से, जो बच्चे को मनोरंजन के उद्देश्य से सुनाई जाती हैं अथवा उन उपायों के फलस्वरूप होता है, जो उसे किसी काम-से रोकने के लिए किये जाते हैं। वस्तुतः बच्चों से व्यवहार करते समय बड़ों के साथ बरती जाने वाली व्यवहार-कुशलता से भी अधिक व्यवहार-कुशलता आवश्यक होती है। उपरोक्त बातें बड़ों को भले ही मूर्खतापूर्ण लगें, पर वे बच्चों के लिए वस्तुतः एक समस्या होती हैं और उस समस्या को सुलझाने के लिए स्नेह तथा सहानुभूति आवश्यक होती है। अगर आपका

बच्चा डरता है, तो उसके डर को हँसी में न उड़ाइये, वरन् उसमें सुरक्षा की भावना का विकास करें तथा उसके भय को दूर करें।

इस सम्बन्ध में पहली सतर्कता यह बरती जानी चाहिए कि बच्चे के सामने कोई कल्पनिक भय न खड़ा किया जाय। उसे रक्षकों और भूत-प्रेतों की मनगढ़न्त खौफनाक कहानियाँ न सुनाई जाएँ। वस्तुतः इस तरह के पात्रों का कहीं कोई अस्तित्व तो होता नहीं, वे गढ़े ही मात्र मनोरंजन के लिए जाते हैं। पर बच्चों को ऐसा मनोरंजन महंगा पड़ता है और वे सूने वातावरण में एकान्त स्थान पर, अन्धेरा हो जाने पर उन पात्रों की मौजूदगी की कल्पना करते रहते हैं। उनकी कल्पनाशक्ति विचित्र-विचित्र उड़ानें भरने लगती है और जब मस्तिष्क निश्चेष्ट नहीं हो पाता तो नींद दूर भाग जाती है। अगर थककर नींद आ भी गई तो वही कहानियाँ और वे ही चित्र किसी न किसी रूप में सजीव बनकर सपनों के रूप में दिखाई देने लगते हैं।

बच्चों में डरने की वृत्ति यदि किसी कारण आ भी गई तो उसे सुलझे हुए ढंग से दूर करने के लिए प्रयास करना चाहिए। रात को डरने वाले बच्चों को अपने पास लेकर सोया जाय, इससे उनमें सुरक्षा की भावना बढ़ती है। सोते समय उन्हें कहानियाँ तो सुनाई जाएँ, पर वे भूत-प्रेतों या रक्षक, दानवों की न हों। उन्हें कोई शिक्षाप्रद प्रेरक कहानियाँ सुनाई जाएँ, जिससे वे अच्छी प्रेरणाएँ ग्रहण कर सकें। वीर बालकों, ईमानदार व्यक्तियों, महापुरुषों और सन्त-महात्माओं की कहानियाँ सुनाई जा सकती हैं, जो उन्हें मानवीय आदर्शों के प्रति निष्ठावान बनायें। आत्मविश्वास और सुरक्षा की भावना के लिए बच्चों को वीर बालकों के नाम और सम्बन्धित घटनाएँ भी कण्ठस्थ करायी जा सकती हैं। इस प्रकार करने से बच्चों का ध्यान भय के केन्द्र से हट जायेगा और वीर-बालकों की कहानियाँ याद आने पर वे साहसी बनने की प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे। साथ ही शयन-कक्ष में बिल्कुल अन्धेरा न रखा जाय, थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य ही रखें।

इन बातों का उस पर इतना बुरा असर पड़ता है कि बड़ा होने पर भी उसमें आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और साहस के गुणों का अभाव हो जाता है। बहुत बार तो बच्चे के शारीरिक विकास में भी रुकावट आ जाती है! नींद में जब पेशाब की हाजत लगती है तो आँख खुलने पर भी बच्चा डर से उठता नहीं और वहीं पेशाब कर देता है।

बिस्तर में पेशाब करने की गन्दी आदत छुड़ाने के लिए भी माँ-बाप डरावने तरीके ही अपनाते हैं। वे कहते हैं—‘आज बिस्तर में पेशाब किया तो चोर पकड़कर ले जायेगा। अब बच्चे पर दोहरी मुसीबत आ जाती है। वे किस प्रकार इस मुसीबत से भाग पायें इसका कोई उपाय

ही नहीं सूझता। यह पहले दर्जे की बेवकूफी है। उसे न तो डराया जाय और डर के कारण उससे कोई गलत काम हो जाय तो उसके कारण को समझकर उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

अक्सर बच्चे अन्धेरे में जाने से डरते हैं, इस डर को, जो कल्पना में रहता है—अन्धेरे में जाकर निर्मूल प्रमाणित किया जाय। स्वयं भिन्न-भिन्न प्रकार के जानवरों की बोलियों से परिचित कराया जाय। चित्रों वाली किताबें दिखाकर उसे जानवरों तथा कीड़े-मकोड़ों के बारे में बताया जाय, ताकि वे तत्सम्बन्धी अज्ञान के कारण उनसे न डरें। उन्हें यह भी बता दिया जाय कि विषाक्त कीड़े—जैसे साँप, बिच्छू आदि अपने-आप किसी को नहीं काटते। उन्हें सताये जाने पर ही वे आत्मरक्षा के लिए अपना डंक या दाँत गड़ाते हैं।

जानवरों, कीड़ों और अन्धेरी जगह के अतिरिक्त बच्चे कुछ विशेष प्रकार के मनुष्यों से भी डरते हैं। जैसे कोई बच्चा चोर से डरता है तो इस सम्बन्ध में उसका अज्ञान दूर करना चाहिए और बताना चाहिए कि चोर कोई भयानक जीव नहीं है। वरन् प्रत्येक वह मनुष्य, जो किसी की कोई चीज बिना पूछे ले ले या कोई काम छुपाकर करे तो वह चोर है। छोटे अपराधों को माँ-बाप घर में ही जैसे सजा देकर सुधारते हैं, उसी प्रकार बड़े अपराधियों को सरकार थाने में ले जाकर, उन्हें सजा देकर सुधारती है। कुरूप तथा भयानक आकृति वाले व्यक्तियों को देखकर भी बच्चे डर जाते हैं। अच्छा तो यह है कि उन्हें ऐसे व्यक्तियों से दूर ही रखा जाय, पर अचानक सामना हो भी जाय तो—बाद में या अवसर हो तो तत्काल ही उन्हें समझा दें कि कोई रोग या चोट लगने के कारण वह व्यक्ति ऐसा हो गया है और ऐसे मनुष्यों की सहायता करनी चाहिए।

माता-पिता की तरह अध्यापकों को भी चाहिए कि वे बच्चों से ज्यादा मारपीट न करें। डाँट-डपट और मारपीट से बच्चे इस कदर भयभीत हो जाते हैं कि फिर पढ़ने में ही उनका मन नहीं लगता। वस्तुतः बच्चों को पढ़ाते समय धैर्य और सहानुभूति की बड़ी आवश्यकता है। उनकी गलतियों और असफलताओं पर उन्हें धमकाना या सजा देना बड़ी भारी भूल है।

यों बालक स्वभावतः निडर होते हैं। उसके लिए साँप और रस्सी बराबर है, पर हम अपने व्यवहार और चेतावनी द्वारा ही उनके मन में डर तथा अविश्वास जमा देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि बच्चों को नई जानकारी दी ही न जाय। उन्हें नई जानकारी दी तो जाय, पर जानकारी देने का ढंग ऐसा अपनाया जाय, जिससे वे डरपोक बनने के स्थान पर जिज्ञासु बनें।

बच्चों में भयपूर्ण संस्कार मत

डालिए

बच्चा रो रहा है और माँ उसे कहानियाँ सुनाकर सुला रही है। कहानी सुनते हुए नींद आ जाना बच्चों के लिए स्वाभाविक भी है। परन्तु कहानियाँ किस प्रकार की हैं ? उसका प्रभाव आगे चलकर युवावस्था में, समूचे जीवनभर दिखाई देता है। जिन बालकों को भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनाई जाती हैं, आगे चलकर वे उनके अस्तित्व में भले ही विश्वास न रखें, परन्तु ऐसी शक्तियों से एक अज्ञात भय संस्कार के रूप में उनके मन-मस्तिष्क में बस जाता है। वे कितने ही प्रत्यक्षवादी, यथार्थ विचारों वाले, तत्त्वचिन्तक क्यों न हों, अन्धेरी रात में सुने स्थानों पर एकबारगी जाते हुए हृदय कॉप उठता है। इसका कारण है वह भय जो बचपन से सुनी कहानियों से जम जाता है।

वस्तुतः बच्चे के साथ किया गया प्रत्येक व्यवहार, उससे की गई हर बात, उसके सामने किसी भी प्रकार की चेष्टा या हरकत अप्रत्यक्ष रूप से कि निश्चित ही उसे प्रभावित करती है। उसके व्यक्तित्व निर्माण में सहायक और आधारशिला बनती है। बालक आगे चलकर क्या बनेगा, किस रूप में समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होगा यह इस बात पर निर्भर है कि बाल्यावस्था में उसे किन लोगों का साथ रहा है, किस प्रकार के वातावरण से क्या-क्या प्रेरणाएँ प्राप्त हुई हैं ?

इन सब बातों के अतिरिक्त रात में सोते वक्त नानी, दादी या माता से सुनी हुई कहानियाँ उसे एक सीमा तक ही नहीं, बहुत अधिक रूप से प्रभावित करती हैं। कहानियाँ सच हैं या झूठ इसका तो उसे कोई ज्ञान नहीं, उसके सामने तो जो कुछ भी कहा जायेगा, किया जायेगा उसे सत्य ही लगेगा। भूत-प्रेतों की डरावनी कहानियाँ सुनकर बालक के मन में ऐसी काल्पनिक सत्ताओं के प्रति सहज ही विश्वास जम जाता है। कभी-कभी रात को भी स्वप्न में वह डर जाता है चीख उठता है। इसका कारण है कि वे काल्पनिक मूर्तियाँ उसकी स्मृतियों में अनुभूति के रूप में कौंध जाया करती हैं।

उस समय तो जबकि ये कहानियाँ सुनाई जाती हैं सुनाने वाला कौतुक मात्र समझता है। बच्चे भी सहज स्वभाव से उन्हें सुना करते हैं। सुनाने वाले के मन में तो कोई विचार प्रक्रिया नहीं चलती परन्तु सुनने वाले बालक तो जिन्होंने कभी ऐसी घटनाएँ आँखों देखी नहीं हैं एक गम्भीर चिन्तन के दौर से गुजरते हैं, जो उनके मन में संस्कार जमा देता है। परिणामस्वरूप बालक आगे चलकर भीरु, कायर और बुजदिल बन जाता है।

आवश्यक है बालक के व्यक्तित्व विकास के लिए उन्हें स्वस्थ कहानियाँ और प्रेरक घटनाएँ सुनाई जायें। इनका आशाजनक परिणाम देखा गया है। वीरता, साहस और उत्साह की प्रेरक कथाएँ सुन-सुनकर ही कई बालकों की अन्तर्निहित प्रतिभाएँ जाग्रत हुई हैं। जिन्होंने आगे चलकर इतिहास बनाये। पौराणिक और ऐतिहासिक साहित्य में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। अभिमन्यु ने प्रेरणा ही नहीं प्रशिक्षण भी इस प्रकार की कहानियाँ सुनकर प्राप्त किया था, वह भी माता के गर्भ में। तब अर्जुन अपनी पत्नी से इस प्रकार की चर्चाएँ किया करते थे। राष्ट्रवीर शिवाजी को उनकी माता जीजाबाई रामायण और महाभारत के प्रेरणाप्रद दृष्टान्त सुनाया करती थीं। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में सेनानियों और योद्धाओं को आदर्श की बलिदान की प्रेरणाएँ ऐसी ही घटनाओं से प्राप्त हुई थीं। महात्मा गाँधी बचपन में अपनी माता से ऐसी ही प्रेरक कथाएँ सुनकर सत्य और अहिंसा के प्रति अपनी आस्थाएँ सुदृढ़ कर पाये थे।

इसलिए बालकों को कहानियाँ मन-बहलाव या मनोरंजन की दृष्टि से ही नहीं कही जानी चाहिए, वरन् यह ध्यान रखना चाहिए कि इनका प्रभाव अपरिहार्य रूप से उसके मन-मस्तिष्क पर पड़ता है और वे संस्कार रूप में जमकर उसके जीवन को दिशा देती हैं।

आप बच्चों को डरपोक तो नहीं बना रहे हैं ?

आत्मरक्षा की दृष्टि से अपने बचाव की खतरों से सुरक्षा की दृष्टि से भय एक आवश्यक गुण है। आत्मरक्षा की भावना हर प्राणी में होती है। सहारा पकड़कर खड़े होने वाले बच्चे को यकायक छोड़ दिया जाय तो वे गिरने से बचने के लिए अपने आस-पास की वस्तुओं को कसकर पकड़कर अपनी सुरक्षा कर लेते हैं। सड़क पर वाहनों से टकराने का भय मनुष्य से ट्रैफिक के नियमों का पालन करा लेता है। ईश्वर के दण्ड का भय मनुष्य को उच्छृंखल बनने से रोकता है और नीति-सदाचार की मर्यादा में बनाये रखता है। अस्तु, सीमित मात्रा में प्रत्येक प्राणी में भय संवेग का होना तो अति आवश्यक है। बालकों के लिए भी वह उपयोगी है। किन्तु यह भय जब अधिक मात्रा में बढ़कर बालक में भीरुता का रूप धारण कर लेता है तो आगे चलकर उसमें आत्मविश्वास की कमी पड़ जाती है। सामान्य-सी प्रतिकूलता आने पर भी वह अपना सन्तुलन नहीं रख पाता। छोटी-छोटी कठिनाइयाँ भी उसे विकराल जान पड़ती हैं।

छोटे बालक का मन बड़ा संवेदनशील और अविकसित होता है। वह देखी या सुनी हुई बातों को अपनी बुद्धि के अनुसार बड़ी शीघ्रता से ग्रहण करता है, जिसका बुरा प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर बड़ा गहरा पड़ता

है। यदि बालक का स्वभाव बचपन से ही भीरुता की दिशा में बहने वाला बन गया तो वह उसके भविष्य को अन्धकारमय बना देगा। बच्चे को इस स्थिति से बचाने का उत्तरदायित्व घर के माता-पिता व अन्य वयस्कों पर आता है। बालक को निर्भीक व साहसी बनाने के लिए चतुर माली की तरह अनेकानेक विषम परिस्थितियों में उनकी देखभाल करनी आवश्यक है। बच्चों में अत्यधिक भय किन कारणों से उत्पन्न होता है ? उनका उचित ढंग से निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? इसका मनोवैज्ञानिक ज्ञान होना बड़ों के लिए अति आवश्यक है।

कुछ समझदार होने पर बच्चों को भयंकर वस्तुओं और परिस्थितियों से बचाने के लिए मनोवैज्ञानिक उपाय ही प्रयोग में लाने चाहिए। अधिकांश बच्चों के पालन-पोषण में अनेकों ऐसी त्रुटियाँ रह जाती हैं, जिनसे बच्चों में भय की प्रवृत्ति जन्म लेती है। ये त्रुटियाँ उतावलेपन और बालमनोविज्ञान की अज्ञानता के ही कारण होती हैं। भयप्रद संस्कार उस पर जड़ जमा लेते हैं। बड़े होने पर जबकि वह उनकी वास्तविकता को समझ भी लेता है फिर भी वे संस्कार उसका पीछा नहीं छोड़ते। दिशाशूल, बिल्ली का रास्ता काटना, छींक आना, छिपकली का गिरना आदि अनजाना भय उसे आजीवन घेरे रहता है।

माताओं को चाहिए कि बालक को उसकी इच्छानुसार सुरक्षा का ध्यान रखते हुए उनके खेलने में अनावश्यक हस्तक्षेप न करें। अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक खेलने और कार्य करके प्रसन्नचित रहने वाले बालकों में आगे चलकर भी साहस और आत्मविश्वास बना रहता है। प्रकृतिवाद शिक्षा प्रणाली के समर्थक दार्शनिक प्लेटो ने तो यहाँ तक कहा है कि “बालक को स्वतन्त्र छोड़कर उसे प्रकृति से ही शिक्षण लेने देना चाहिए। यदि वह आग में हाथ डालता है तो आग से जलने का उसे एक बार अनुभव होने देना चाहिए। उससे जलने का अनुभव लेकर वह दुबारा आग के पास नहीं जायेगा।” यह कथन अतिवादी भी हो सकता है पर सामान्य जीवन में बालक को सम्भावित आपत्तियों से सचेत करने के लिए अभिभावकों को उनका पूर्व ज्ञान करा देना चाहिए। लेकिन वह इस ढंग से कराया जाय कि बालक उससे भयभीत न हो।

भीरुता बढ़ने में अभिभावकों द्वारा बच्चे की भर्त्सना करने की प्रवृत्ति भी एक कारण है। जब बच्चा कोई कार्य करने में असफल हो जाता है तो माता-पिता उसे मूर्ख कहकर दुतकारते हैं या किसी अन्य होशियार बच्चे से तुलना करते हैं, जिससे बालक के मन में आत्महीनता के भाव उत्पन्न होते हैं और वह अपने को हर तरह से अयोग्य समझने लगता है। यह अविश्वास उसे मनोबलहीन और दम्बू बना देता है, जिससे वह कोई कार्य करने से पहले हिचकिचाता है। ऐसा बालक आगे चलकर

सामान्य-सी परिस्थितियों में भी घबराने वाला, हारा हुआ व भयभीत बना रहता है।

अपरिपक्व बुद्धि व मन-मस्तिष्क वाले बालकों के लालन-पालन में अभिभावकों को पूर्ण सतर्कता रखनी चाहिए। उन्हें स्नेह, सहानुभूतिपूर्वक कष्ट-कठिनाइयों से लड़ने का साहस बँधाना चाहिए। प्रारम्भ से ही उनमें आत्मविश्वास जाग्रत करने के अनेक उपाय काम में लाते रहना चाहिए। अत्यधिक उद्दण्डता दिखाने पर जहाँ एक आँख सुधार की प्रयोग की जाती हो, दूसरी ओर उसकी प्रत्येक अच्छे कार्य पर प्रशंसा की जाती रहे, प्रोत्साहन दिया जाता रहे। इससे उसी बालक में आत्मविश्वास, साहस, स्वावलम्बन जैसे गुण जाग्रत किये जा सकते हैं। परिवार में बालकों में इस प्रकार के गुण उत्पन्न करने का श्रेय प्रमुखतः माताओं को लेना चाहिए। वे ही बच्चों को साहसी, उत्साही और आत्मविश्वासी बनाने में सक्षम हो सकती हैं, क्योंकि बच्चा सबसे अधिक समय तक माँ के पास ही रहता है। इसका अर्थ यह नहीं कि घर के अन्य सदस्यों के ऊपर बच्चों के नव-निर्माण का कोई दायित्व नहीं होता। बालकों के सर्वांगीण विकास में योगदान हर सदस्य का होना चाहिए। भीरुता के मनोवैज्ञानिक कारणों को समझा जा सके और उसके निदान के लिए शिक्षण व्यवस्था बनाई जा सके तो हर बच्चा साहसी, समर्थ और आत्मविश्वास सम्पन्न बन सकता है।

बालक्रीड़ा नहीं क्रीड़ाशील बालक

बालचपलता और उनकी अन्तःस्फूर्त क्रीड़ाएँ इतनी मनोहारी होती हैं कि माता-पिता उन्हें देख-देख गद्-गद् होते रहते हैं। कभी बच्चा गम्भीर हो तो भी वे इस बात का प्रयास करते देखे जाते हैं कि बच्चा क्रीड़ाएँ करे, उसके लिए उन्हें हलराने-दुलराने, छेड़ने आदि की क्रियाएँ भी चलती रहती हैं। इसमें कुछ बुरा भी नहीं है। आमोद-प्रमोद का वातावरण पारिवारिक जीवन का प्राण है जिससे परिजनों में नवचेतना विकसित होती रहती है। स्फूर्ति और उमंग हिलोरें लेती रहती है।

किन्तु इस क्रीड़ा के लिए बालक के जीवन का जितना अंश नियत है, उतना ही अच्छा। इसी बीच बालक की उस उमंग को दिशा देने की आवश्यकता माता-पिता पूर्ण न कर लें तो यह लाड़ बालक की सारी रचनात्मक दिशाओं को ही दिक्भ्रान्त बना सकता है। प्रकृति बालक में अन्तःस्फूर्त चपलता के रूप में इस बात का संदेश दिया करती है कि इस ऊर्जा को समय रहते दिशा दे दी जाये यदि ऐसा न किया गया तो शक्ति विध्वंस की दिशा ले सकती है।

आग एक शक्ति है उसे बाबलरों में एकत्र पानी को खौलाकर विशालकाय रेलगाड़ियों को चलाने में भी प्रयुक्त किया जा सकता है और मकान, फसल जायदाद जलाकर खाक कर देने में भी। विध्वंसशील ऊर्जा को

२.१२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

भाप की तरह बालक की रचनात्मक प्रवृत्तियों में बदल दिया जाये तो ऐसा बालक सफलता की दिशा में तेजी से अग्रसर होता चला जा सकता है।

यह कार्य वास्तव में उतना जटिल नहीं जितना लोग सोचते हैं। माता-पिता जागरूक हों अपना दायित्व निभा देने में वे आलस्य और प्रमाद न करते हों तो बच्चों में खेलों के माध्यम से रचनात्मक बुद्धि और रचनात्मक दृष्टिकोण का विकास किया जा सकता है। इस दृष्टि से बालक के जीवन में खेलों का महत्व उतना ही है, आमोद-प्रमोद का वही स्थान है, जो पोषण और ज्ञान सम्बर्द्धन का। अनिवार्य आवश्यकताएँ जिम्मेदारी की भावना से सम्पन्न की जाती हैं, जबकि देखा यह जाता है कि बहुत-से माता-पिता उन्हें बाहर जाकर खेलने के लिए धकेलते तो रहते हैं, पर इस दिशा में उन्हें समुचित मार्गदर्शन नहीं देते।

पश्चिमी देशों के निवासी भले ही अध्यात्मवादी न हों पर उनमें जो आत्मविश्वास, साहस की भावना और सक्रियता उपलब्ध है, वह किसी भी आध्यात्मिक गुण से कम नहीं। आलसी और मूर्च्छित जीवन तो कभी अध्यात्मवादी हो ही नहीं सकता। सक्रियता ही अध्यात्म का मूल गुण है। वह न हो तो जीवन में कोई उल्लेखनीय उपलब्धि झाँक भी नहीं सकती। पश्चिम की सफलता का आधार उनकी जाग्रत और जीवन दिनचर्या है। उसका विकास उनके घरों से होता है। उनकी बाल्यावस्था से माता-पिता उभारते हैं। यह दुःखद बात है कि इस देश में चारित्रिक विकास को स्थिर करने वाले खेलों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता और इस तरह बच्चों की अत्यन्त उपयोगी अन्तःशक्ति दबकर नष्ट हो जाती है उसे पनपने का अवसर ही नहीं मिलता।

राजनीति के क्षेत्र में, सामाजिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में 'खिलाड़ी की भावना' एक सामान्य उक्ति बन गई है। खिलाड़ी की भावना का अर्थ है अपनी समस्त शक्तियों से प्रयत्नशील होना, अच्छे भविष्य और सफलता पर पूरा भरोसा रखना किन्तु पराजय को भी एक अनिवार्य तथ्य के रूप में स्वीकार करना और उस स्थिति में न तो विचलित होना, न ही धैर्य खोना। गीता में इसे ही योगी की स्थिति कहा है, इसी से इस तरह की जीवनपद्धति को सराहा गया है।

इतनी सर्वांगपूर्ण जीवनपद्धति का विकास खेलों से सम्भव है, तभी यह मुहावरा प्रचलित हुआ। खेलों से बच्चों में अनुशासन और आत्मविश्वास की शक्ति जाग्रत होती है। अलग-अलग रहन से स्वाभाविक है कि व्यक्ति का चिन्तन भी अपने तक ही सीमित रह जाये, वह दूसरों की परवाह कम तो करेगा ही जिसे केवल अपनी चिन्ता होगी। ऐसे स्वार्थपरायण व्यक्ति किसी को अच्छे नहीं लगते न ही वे समाज के लिए उपयोगी होते हैं उन्हें पारिवारिक जीवन तक में असफल पाया गया है,

जिनमें सामाजिकता, सामुदायिकता और पारस्परिक व्यवहार के गुण नहीं होते। खेलों में बच्चे सफलता का यह पाठ प्रारम्भ से ही पढ़ते हैं, जो धीरे-धीरे परिपक्व होकर उनके जीवन का अंग बन जाते हैं।

खेल में सामूहिक उत्तरदायित्व और आत्म-अभिव्यक्ति का दोहरा सामंजस्य रहता है। इसीलिए खिलाड़ी प्रवृत्ति का व्यक्ति हर किसी को अच्छा लगता है। एक साथ बहुत साथियों के मिलने-जुलने से ज्ञान का आदान-प्रदान होता है, सरसता बढ़ती और आत्मीयता विकसित होती है। बेकार के समय का इस तरह का उपयोग बच्चों में चारित्रिक विकास भी करता है।

सन् १९६७ में मद्रास में इस तरह का एक दिलचस्प सर्वेक्षण उन किशोरों का किया गया जो फैक्ट्रियों में काम करते थे, पढ़ते थे या बेरोजगारी की स्थिति में जीवन बिताते थे। इस अध्ययन से पता चला कि उनमें से जिन बालकों में जुआ खेलने, चोरी छिपे शराब बेचने, सट्टा लगाने तथा दूसरी व्यक्तिगत बुराइयाँ थीं उनका ९० से भी अधिक प्रतिशत वह वर्ग था, जिसे खेलने का अवसर नहीं दिया गया था। 'भारतीय सामाजिक कार्य सम्मेलन' की उक्त शाखा ने अपने निष्कर्षों के बाद यह अपील की है कि मन्दिर, धर्मशालाएँ, प्याऊ आदि लगाने वाले दानी व्यक्ति यदि बाल-बाड़ियों, क्रीड़ा-संस्थानों तथा स्टेडियमों के विस्तार में धन लगायें तो यह देश और समाज का कहीं अधिक उपकार और पुण्य होगा। इन शब्दों में खेल की महान महत्ता छिपी हुई है।

खेलों में शारीरिक स्वास्थ्य का महत्व ब्याज की ही तरह है। मुख्य लाभ बच्चे के मानसिक स्वास्थ्य और उसकी चरित्रनिष्ठा व समाजनिष्ठा का है। माता-पिता को चाहिए कि वे अनुशासन और शिष्टाचार का विकास करने के लिए बच्चों को खेलना अवश्य सिखायें। ऐसा उन्हें मात्र आदेश देकर नहीं करना चाहिए, अपितु स्वयं अभिरुचि लेकर, सहयोग देकर तथा सिखाकर इस आवश्यकता को पूरा करना चाहिए।

बच्चों को खेलने दीजिए

क्रीड़ा और मनोरंजन हर प्राणी की एक प्राकृतिक आवश्यकता है। इसके अभाव में कोई भी प्राणी अपने जीवन का सहज स्वरूप में यापन नहीं कर सकता। जिन प्राणियों को किसी कारण से, चाहे वह कारण ही रोग हो, चाहे विवशता अथवा प्रतिबन्ध, क्रीड़ा और मनोरंजन का अवसर नहीं मिलता, उनका जीवन एक दुर्वह-भार बन जाता है, जिसको वे धके-धके से वेमन ढोया करते हैं।

जिनको निर्बन्ध, निर्भय और निश्चिन्त केलि-कलाप का अवसर मिलता रहता है, वे स्वस्थ, सबल और सुन्दर बने रहते हैं। उनमें एक आन्तरिक हर्ष हिलोरेँ लिया करता है।

आप पशु-पक्षियों को ही देख लीजिए। वे अपनी-अपनी तरह की क्रीड़ा और मनोरंजन करने में कभी नहीं चूकते, कुत्ते दौड़-दौड़कर, एक-दूसरे से लपक-झपटकर खेलते हैं। जमीन पर लोटते-पोटते, उठते-भागते और पीछा करते हैं। बन्दर एक-दूसरे को चिढ़ाते, खेलते, कूदते, फँदते और लता पर लटकते, चढ़ते और झूला झूलते हैं। गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि पालतू जानवर भी खूँटे से खुलते ही चारागाह की ओर दौड़ते-भागते और मैदान में खूब खाते और खेलते हैं, पक्षी आकाश में उड़ते, नीचे गिरते, एक-दूसरे को दौड़ते, पकड़ते और तरह-तरह के शोर करते, खेलते और मनोरंजन करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सारे प्राणी—क्या पशु, क्या पक्षी और क्या मनुष्य सभी के लिए क्रीड़ा और मनोरंजन उसी प्रकार से आवश्यक है जिस प्रकार खाना, पीना, सोना, जागना आदि। बिना इन सब बातों को किये वह रह ही नहीं सकता और यदि किसी विवशतावश वह इससे वंचित रहता है तो जीवित होते हुए भी निर्जीव जैसा ही है। उसके लिए प्रसन्नता और न जैसी कोई चीज रह ही नहीं जायेगी। न उसे किसी से प्रेम होगा और न किसी बात में रुचि।

खेल और मनोरंजन का इतना महत्त्व होते हुए भी अधिकतर अभिभावक खेलने से बच्चों को मना करते रहते हैं। बच्चों का मनोरंजन उनके खेल में ही सम्मिलित रहता है, जबकि ऐसा कोई अभिभावक नहीं है जो अपने जीवन के बचपन-काल में न खेला हो और अब भी बच्चों और परिवार का उत्तरदायित्व आ जाने से उस स्वच्छन्दता से खेल तो जरूर नहीं पाते किन्तु मनोरंजन और हँसने व प्रसन्न होने का अवसर जरूर निकाल लेते और वे मित्रों से व्यंग्य-विनोद करते ही हैं। व्यापारिक कामों में हँसने और घटनाओं को नहीं जाने देते। नौकरी पर काम करते हुए दस-बीस बार हँसने और प्रसन्न होने का अवसर निकाल लेते हैं। धूमते हैं, बाजार जाते हैं और पुस्तकें पढ़ते हैं और खेल-तमाशे देखते, मित्रों के साथ बैठ शतरंज और चौपड़ खेलते हैं। इस प्रकार जागने से लेकर सोने तक सारा लेखा-जोखा लिया जाये तो शायद ही कोई ऐसा अभिभावक मिले जिसका मनोरंजन, काम अथवा चिन्ता से कम बैठे। तब कोई कारण नहीं कि बच्चों को खेलकर मनोरंजन करने से रोका जाये। किन्तु फिर भी बहुत-से अभिभावक उनको हर समय इसमें बाधा देते रहते हैं और जरा भी इस बात पर ध्यान नहीं देते कि इसका बच्चे के विकास पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

जहाँ बच्चा खा-पीकर उत्साहपूर्वक खेलने के लिए बाहर की ओर चला कि एक कठोर आवाज “किधर” से ठोकर खाकर जहाँ का तहाँ ठिठक गया। इससे उसे ठीक उतनी ही तकलीफ होती है, जितनी पैर में ठोकर लग जाने से। उसका उत्साह इस प्रकार बिखर जाता है जिस प्रकार कोई जलधारा किसी चट्टान से टकराकर फूट जाती

है। उस समय यदि कोई ऐसा यंत्र हो जो उस बच्चे की शारीरिक और मानसिक हानि को माप ले सके, तो पता चल जाये कि अभी खा-पीकर उसने जो सन्तोष पाया था और उन चीजों से उसे आगे चलकर जो लाभ होगा उससे कहीं अधिक हानि हुई है।

वह रोया-रोया-सा, सहमा-सहमा-सा वापिस कमरे में आ जाता है और बहुत देर तक उदास रहता है। उसके मन में एक कसक होती रहती है और वह उस कठोर अनुशासन का मूल्य चुकता हुआ बन्दी की तरह कमरे में बैठा रहता है या वेमन कुछ पढ़ता-लिखता है। उसे बराबर याद आता रहता है कि उसके साथी कितने मुक्त रूप में खेल-कूद रहे होंगे और आपस में हँस-बोलकर शोरगुल कर रहे होंगे। उसका मन बार-बार बाहर जाने को करता किन्तु विवश बन्दी की तरह बैधा रहता है। उसके सुकुमार हृदय को यह एक बहुत बड़ा दण्ड है, जो हर प्रकार से अनुचित है।

निस्सन्देह बच्चों को खेलने से रोका जा सकता है, मना किया जा सकता है तब, जब उनकी यह इच्छा अपनी उचित सीमा को तोड़ने लगे। यदि वह खेल चुका है और फिर दुबारा पढ़ने अथवा किसी अन्य काम के वक्त खेलने जाना चाहता है, तो उसे अवश्य रोका जाना चाहिए। उस दशा में कोई मानसिक हानि नहीं होगी, बल्कि उल्टा लाभ ही होगा।

जब वह अनुचित रूप में खेलने को जाने लगता है, तब स्वयं उसमें एक चोर रहता है। उसे एक दहसत रहती है कि वह इस समय खेलने जाने में अनधिकार चेष्टा कर रहा है। उसकी बुद्धि बार-बार रोकती है। किन्तु यदि वह फिर भी चला जाता है तो पूरे समय भर जब तक वह खेलेगा, अनौचित्य की दहसत की कसक उसे बराबर होती रहेगी, जिससे उसका मन पूरी तरह खेलने में न लगेगा और वह डरता-डरता घर वापस आयेगा और जब तक उसको डाँट नहीं पड़ जाती या वह अवस्था नहीं टल जाती, एक डर उसके मन में पैदा रहेगा जिससे उसकी उतनी ही मानसिक हानि होगी जितनी कि बेजा रोकने से होगी। यदि वह अपने उस अनौचित्य से तत्काल रोक दिया जायेगा तो वह इस हानि से बच जायेगा और लज्जित होकर चुपचाप जो काम करना होगा, करना शुरू कर देगा।

यह स्थिति उन बच्चों के सम्बन्ध में है, जो थोड़े सयाने हो जाते हैं और पढ़ने जाने लगते हैं। इनके साथ तो यह किया जा सकता है कि उनके खेल और काम के समय का विभाजन कर दिया जाये और उसके विपरीत करने पर वेशक टोका और रोका जा सकता है। पर सबसे अधिक सावधानी तो उन बच्चों के साथ बरतने की आवश्यकता है, जो अभी अबोध हैं और जिनके कार्य और खेल का कोई विभाजन नहीं दिया गया है।

२.६४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

जो लोग केवल अभी उसी आयु में हैं, जो खाने और खेलने के लिए ही हैं।

लगभग चार साल से जब वे चलने-फिरने और कुछ बोलने, समझने लगते हैं, ६ साल तक लगभग सभी बच्चों के कुछ खेल प्रायः सामान्य और एक जैसे होते हैं। जैसे मिट्टी खेलना, पानी गिराना और उसमें भीगना, खिलौने या गुड़िया-गुड़ु खेलना, घर बसाना, दुकान लगाना और कचहरी करना।

मिट्टी से बच्चे बहुत तरह-से खेलते हैं जैसा उसे समेटना, बिखेरना, उड़ाना, सिर पर डालना, घरोँदे बनाना और मूर्तियाँ अथवा पदार्थ बनाना।

मिट्टी की इन क्रीड़ाओं में से केवल दो क्रीड़ाएँ सिर पर डालना या उड़ाना जरूर ऐसी क्रीड़ाएँ हैं, जिनसे उन्हें ढंग से रोका जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार मिट्टी उनकी आँख में पड़ सकती है और वे दुःखने लग सकती हैं, बाकी सारी क्रीड़ाएँ उन्हें करने दीजिए। बच्चों के गन्दे हो जाने के भय से उन्हें मिट्टी में खेलने से मना करना एक ऐसी प्राकृतिक आवश्यकता को रोकना है जो मिट्टी के स्पर्श से पूरी होती है।

मिट्टी समेटने, बिखेरने में उनका अज्ञात चेतन निश्चित रूप से संग्रह तथा त्याग का अभ्यास करता है। उसे यह न करने दिया जायेगा, तो अवश्य ही उसकी इस प्रक्रिया को हानि होगी। यदि किसी बच्चे को घरोँदा बनाने से रोका गया, तो समझ लीजिए कि उसके नक्शा नबीस को रोका गया है। मूर्तियाँ और वस्तुएँ बनाते समय उनकी टोकना या उनकी हँसी उड़ाने का मतलब है कि उसके अन्दर के शिल्पकार को हतोत्साहित किया गया है।

इसी प्रकार घरवार खेलते वक्त और बाजार या कचहरी करते वक्त उनको न कभी रोका जाये और न टोका जाय और न बीच में उठाया जाय। इससे उनमें विकसित होते हुए गृहस्थ, व्यवसाय और न्याय के अंकुरों को हानि पहुँचती है।

हर समय यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कोई बच्चा जिस समय कोई खेल तन्मयता से खेल रहा है, उसे उस समय प्रकृति उसके अर्द्धचेतन को कोई काम सिखा रही है और उसमें तत्सम्बन्धी ज्ञान का विकास हो रहा है। यदि हो सके तो उस ढंग से सहयोग और सहायता की जाये जिससे उसकी उस स्वतः स्वाभाविक शिक्षा में कोई विघ्न अथवा अस्वाभाविकता न आने पाये इसके लिए उसे ऐसे उपादान जुटाइए, जिससे इसकी उस शिक्षा में चढ़ाव आ जाये।

बहुत-से लोगों में यह आदत होती है कि वे या तो उनके खेल में दखलन्दाज होने लगते हैं, समझाने, सिखाने लगते हैं या खड़े होकर देखने लगते हैं। इससे बच्चे शर्मा जाते हैं और अपनी शिक्षा की तारतम्यता भूल जाते हैं।

बच्चों की यह क्रीड़ाएँ बड़ी आकर्षक होती हैं और उन्हें देखने और उनमें दखल देने को जी चाहता है किन्तु अपनी इस जिज्ञासा को रोकना चाहिए। नहीं तो उनकी नजर बचाकर देखा जाये और यदि दखल दिया जाये तो उनसे अबोध बनकर। किन्तु प्रायः प्रौढ़ लोग अबोधता का उतना अभिनय नहीं कर सकते, जिससे बच्चों के मन में अन्यथा कोई भाव न और उनकी क्रिया-कलाप में व्यवधान न पड़े, इसलिए यही अच्छा है कि उनकी क्रीड़ा चुपचाप नजर बचाकर ही देखकर सन्तोष कर लिया जाय।

इसके अतिरिक्त अब बच्चों के कुछ और मनोरंजनों की बात आती है जैसे—मेला देखना, झूला झूलना, सैर करना, बाग व मैदान में घूमना, बाजार देखना, चीजें इकट्ठी करना। बच्चे जब इन बातों की इच्छा प्रकट करें तो उन्हें जरूर वैसा करने दिया जाये। उन्हें मेला अपने साथ दिखाइये। अपनी देख-रेख में झूला झुलाइये, बागों में, मैदानों में घूमने और सैर करने का अवसर दीजिए, बाजार ले जाइये और उसे अच्छी चीजें और दुकानें दिखाइए। जो चीजें वे इकट्ठी करें, चाहे बेकार ही क्यों न हों, कभी मत फेंकिए। इससे बच्चे को एक प्रसन्नता होगी, वह बहुत-सी बातों का परिचय पायेगा, नई चीजें पहचानेगा। नये व्यक्तियों का देखा व्यवहार सीखेगा और बाह्य वातावरण का अभ्यस्त होगा। यह सब बातें ऐसी हैं, जिससे उसमें विविध चेतनाओं का प्रस्फुटन हो उसकी लज्जा, भीरुता और संकोच के बन्धन टूटते हैं, नई बुद्धि के अंकुर फूटते हैं।

पढ़ने-लिखने में कुछ गति हो जाने से उन्हें बच्चों की अच्छी पुस्तकें पढ़ने को दीजिए। उनके साथ हँसिये, बोलिये, खेलिये और मधुर विनोद करिये। आशय यह है कि बच्चों को कभी भूलकर खेलने और मनोरंजन से वंचित न किया जाये। इस प्राकृतिक आवश्यकता से वंचित करने से मन ही मन मलीन हो जाते हैं। घर में उन्हें खेलने, शोर करने और धूमधाम मचाने से तब तक मत रोकिये जब तक कि कोई विशेष हर्ज न हो। बहुत-से अभिभावकों का कुछ ऐसा अस्वस्थ स्वभाव होता है कि उन्हें बच्चों का शोरगुल और चीख-पुकार भाती ही नहीं। बात-बात में उन्हें मना करते हुए उनकी हर क्रीड़ा रोकते रहते हैं।

बच्चे तरह-तरह के वेष बनाते रूप रखते और बहुरूपियापन करते, बूढ़ों को चिढ़ाते, उन्हें छेड़ते और परेशान करते हैं। बच्चों की इन सब बातों से अभिभावक चिढ़ते और नाराज होते हैं। यह स्वभाव अच्छा नहीं। बच्चों की यह चंचलताएँ और शरारते उनका बहुत सुखद मनोरंजन है। वह यही बचपन है, जिसके लिए वे बच्चे कह जाते हैं और जिससे घर में एक हँसी-खुशी का वातावरण रहता है। बच्चों की बाल-क्रीड़ाओं से चिढ़ना ऊबना या परेशान नहीं होना चाहिए, बल्कि रस लेना चाहिए और प्रसन्न होना चाहिए।

जो बच्चों के खेलों, मनोरंजनों और चंचलताओं को न समझते और न सहन करते, वे एक प्रकार से असफल अभिभावक होते हैं, उन्हें इस दशा में अपना सुधार करना चाहिए और इस बात को समझने का ठीक-ठीक प्रयास करना चाहिए कि बच्चों की कौन-सी क्रीड़ाएँ मनोरंजन हैं और कौन-सी शैतानियाँ हैं। बच्चे तो बच्चे हैं, उनसे बूढ़ों जैसी गम्भीरता और ज़िम्मेवारी की अपेक्षा न की जानी चाहिए और यदि ऐसा किया गया, तो वे बचपन से ही बूढ़े हो जायेंगे।

खेलने से बच्चों को मना मत कीजिए

खेल बाल्यजीवन की एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया है। मनुष्य के बच्चों से लेकर पशु-पक्षियों तक के बच्चों में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। पक्षियों के बच्चे एक-दूसरे को चोंच मारकर खेलते रहते हैं। कुत्ते के पिल्लों को लड़ाई का खेल खेलते और एक-दूसरे पर भौंकते हुए देखा जा सकता है। बिल्ली के बच्चों को गेंद मिल जाये तो वह उसको लुढ़काकर आनन्द लेने लगते हैं।

व्यक्ति बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक किसी न किसी प्रकार के खेल में रुचि रखता है। बच्चे, प्रौढ़ और वृद्ध सभी को खेल समान रूप से आनन्द प्रदान करते हैं, यह अवश्य है कि उसके खेलों का स्वरूप आयु के अनुसार बदलता रहता है। यदि बच्चों के खेलों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाए तो उनके द्वारा निश्छल रूप से अभिव्यक्त कल्पनाओं और मनोभावों को देखकर सामान्य जीवन के अनेक तथ्यों का पता लगाया जा सकता है। इस बात को मनोविज्ञानी फ्रैन्ड ने भी माना है कि खेल के माध्यम से बच्चों की कुण्ठाएँ और संवेग उभरकर ऊपर आ जाते हैं। यदि माता-पिता को बच्चे के जीवन के विविध पहलुओं की जानकारी प्रारम्भ में ही मिल जाये तो वे उसकी बहुमुखी प्रतिभा के विकास हेतु प्रयत्नशील हो सकते हैं।

स्वतन्त्रता खेल की आत्मा है। यह एक स्वतन्त्र क्रिया है। एक ही क्रिया किसी व्यक्ति को काम और दूसरे के लिए खेल हो सकती है। खेल में मनुष्य थककर भी आनन्द और प्रसन्नता अनुभव करता है, जबकि काम की थकावट लाचारी उपस्थित कर देती है। एक दिन कुछ बच्चों को रंगीन पेंसिलें और ड्राइंग कॉपी देकर उसमें बने विविध चित्रों में रंग भरने के लिए कहा गया तो वे उसमें घंटों उलझे रहे। उनका मन हो रहा था कि आज ही सारी कॉपी के चित्रों में रंग भर दिया जाये। दूसरे दिन उतना ही कार्य एक निश्चित समय में पूर्ण करने के लिए कहा गया तो वे बहुत जल्दी ही थक गये और पहले दिन की अपेक्षा आधा कार्य भी न कर

सके। यह घटना स्पष्ट करती है कि जब बालक किसी कार्य को अपनी रुचि से करते हैं तो वह खेल और जब प्रतिबन्धों के भय से किया जाय तो वह काम बन जाता है। इसीलिए विचारक खेल को ही जीवन का पर्याय मानते हैं। यदि जीवन को खेल के तरीके से मानसिक तनावों को छोड़कर सहज रूप में जिया जाये तो स्वस्थ शरीर और स्वच्छ मस्तिष्क की प्राप्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में किये गये कार्य पूर्ण मनोयोग से सम्पन्न होते हैं और उनके आशाजनक परिणाम भी सामने आते हैं।

बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति होती है, इसलिए उनके खेलों में आस-पास के परिवेश का प्रभाव लक्षित होता है। वह प्रत्येक कार्य अपने परिवार और समुदाय से सीखता है। समुदायों की विभिन्नता के कारण ही बच्चों के खेलों में भिन्नता होती है। ग्रामीण वातावरण में रहने वाले बच्चे सामान्यतः गुल्ली-डण्डा, कबड्डी, कौड़ी, घरीदा बनाने तथा लुकने-छिपने के खेल खेलते हैं। शहरी बच्चे प्रारम्भ से ही क्वालीबाल, फुटबाल, क्रिकेट, हॉकी तथा कैम बोर्ड जैसे खेल खेलते हैं।

खेल में बच्चों को शारीरिक और मानसिक शक्तियों के उपयोग का अवसर मिलता है। उस समय बड़ा हास्यास्पद लगता है, जब बच्चे कभी किसान बनते हैं, कभी डाक्टर, कभी इन्जीनियर, कभी अध्यापक तो कभी पण्डित। बच्चों को इन अनुकरणात्मक खेलों में कभी रोक-टोक न करनी चाहिए, क्योंकि उनके भविष्य की तैयारी के संकेत इन खेलों में ही दिखाई पड़ते हैं। बच्चे स्वयं सोचने-विचारने की चेष्टा करते हैं।

कभी-कभी खेल के सम्बन्ध में बच्चों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। वे रात-दिन खेलते ही रहते हैं इससे उनके भविष्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि उनके माता-पिता खेल का समय निर्धारित कर दें तो उन्हें अन्य भी अनेक बातें सीखने का अवसर मिल सकता है।

परिवेश के साथ बालक की रुचि, मानसिक गठन और स्मृति भी खेल के स्वरूप को निर्धारित करती है। छोटी बच्चियाँ गुड़ियों से खेलती हैं साथ ही उनके लिए खाना पकाने और कपड़े का भी अभिनय करती रहती हैं। कुछ बड़ी हो जाने पर गुड़िया का विवाह करने, बारात बुलाने और लड़की की विदा करने का अभिनय करती हैं। रस्सी कूदना, संज्ञा बनाना और गिट्टे खेलना उन्हें प्रिय लगने लगता है।

तीन वर्ष की आयु में जो खेल बालकों को पसन्द थे वह पाँच वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते अग्रिय हो जाते हैं। कभी हम यह भी देखते हैं कि एक ही वातावरण में रहने वाले बच्चों को भिन्न-भिन्न खेल पसन्द होते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि अभिभावकों और शिक्षकों को बालक की आवश्यकतानुसार खेलों में परिवर्तन करते रहना चाहिए।

२.९६ हथारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

खेल के माध्यम से एक ओर बच्चे नये-नये काम सीखते हैं, वहीं उन्हें अपनी कुप्रवृत्ति को परिष्कृत करने का सुअवसर भी मिलता है। किसी भी खेल की सफलता सामाजिक नियमों के पालन पर आधारित है। अनुशासन के अभाव में तो किसी खेल की कल्पना ही सामने नहीं आती। जब कोई बालक अपने साथियों के साथ खेलता है तो इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखता है कि कहीं उसके द्वारा किसी का अहित तो नहीं हो रहा है। यदि कोई बालक समूह के किसी साथी को गाली देता है या मार-पीट करता है तो समूह के सभी बालक उसकी भर्त्सना करते हैं और अपने खेल से बाहर निकाल देते हैं। एकदम तो वह बालक किसी दूसरे समूह में सम्मिलित हो नहीं पाता। अतः अपनी गलती को मानकर क्षमा-याचना करता है, साथ ही भविष्य में उस ढंग का अपराध न करने का आश्वासन देता है। इस प्रकार खेल में पराजय को खिलाड़ी की भावना से स्वीकार कर अच्छे ढंग से खेलने का प्रयास करता है। आगे चलकर यही सख्त-आचार उसके स्वभाव का अंग बन जाता है। इस प्रकार खेलों द्वारा बच्चों के चरित्र का विकास होता है।

सहयोग तथा आत्मनिर्भरता की भावना का विकास समूहगत खेलों से ही होता है। कबड्डी, फुटबाल और क्वालीबाल जैसे खेलों से बालक का शारीरिक विकास ही नहीं होता वरन् अनेक गुणों में वृद्धि भी होती है। वह आवश्यकता पड़ने पर अपने व्यक्तित्व को समाज-हित के कार्यों में लगाने को तैयार रहता है। कितने ही अवसर ऐसे आते हैं, जब एक समूह के सभी बच्चे समान रूप से अपनी इच्छा की पूर्ति करना चाहते हैं पर समय और साधन की सीमितता धैर्य रखना सिखाती है।

बच्चे का आधा समय समवयस्क साथियों के साथ पढ़ने-लिखने या खेलने-कूदने में जाता है। वह उनके साथ निःसंकोच व्यवहार करता है और आवश्यकता पड़ने पर किसी कार्य का निर्णय लेने की स्थिति में भी रहता है। आगे चलकर निर्णय लेने की क्षमता का इतना अधिक विकास हो जाता है कि वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपनी सूझ-बूझ का परिचय दे सकता है। दूसरे समूह के बच्चों के साथ प्रतियोगिता में भाग लेते समय परस्पर मिल-जुलकर कार्य करना पड़ता है, जिससे सहयोग और सहानुभूति की भावना का विकास होता है और आपस में सौहार्द और मधुर सम्बन्ध बने रहते हैं।

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि खेल में बच्चे का शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सांवेगिक विकास होता है। समूह के साथ रहकर बच्चे नये-नये कार्य तो सीखते हैं साथ ही महत्वाकांक्षी बच्चों को अपनी नेतृत्व करने की शक्ति को बढ़ाने का भी अवसर मिलता है। बच्चों में आत्मनिर्भरता, अनुशासन, प्रेम और सहयोग जैसे गुण खेल के माध्यम से ही आते हैं। अतः अभिभावकों और शिक्षकों को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

बच्चों के खेल-खिलौने—बच्चे के मानसिक और शारीरिक विकास के लिए खेल बहुत ही आवश्यक है। जो बच्चे खिलाड़ी प्रकृति के होते हैं, वे हमेशा प्रसन्नवदन तथा फुर्तिले होते हैं। अपने देखा होगा कि बच्चे के लिए सबसे बड़ी सजा है, उसे मुँह पर अँगुली रखवाकर एक कोने में खड़ा कर देना। इससे अधिक कड़ी कैद उसकी कल्पना के परे है। खेलने-कूदने में व्यस्त रहने वाले बच्चों की मानसिक स्थिति बहुत स्वस्थ होती है। उनमें स्फूर्ति और प्रसन्नता पाई जाती है, वे भरपेट भोजन करते हैं, पूरी नींद सोते हैं, कुछ करने, सीखने तथा जानने की भावना उन्हें व्यस्त रहने की प्रेरणा देती रहती है। इसके विपरीत जो बच्चा 'खेल-कूद' में भाग नहीं लेता है, उसकी तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति जोर करने लगती है। वह दूसरों को सताकर उनका खेल बिगाड़कर अपनी विनाशात्मक वृत्ति को सन्तुष्ट करता है।

बालक के स्वभाव की तीन नैसर्गिक विशेषताएँ हैं—स्वातन्त्र्यप्रियता, गतिशीलता तथा आनन्द-स्फूर्ति। खेल के द्वारा इनसे भी नैसर्गिक मनोवृत्तियों को विकसित व सन्तुष्ट होने का अवसर मिलता है। खेल के द्वारा ही उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता है। उसके शारीरिक, बौद्धिक अथवा मानसिक विकास में खेलों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिशु के इस सर्वांगीण विकास में खेल की उपयोगिता निम्न प्रकार से है—

शारीरिक—खेलते समय बालक के सभी शारीरिक अंगों के क्रियान्वित होने से उनका भली-भाँति व्यायाम हो जाता है। अतः उसकी माँसेपेशियों में पुष्टता एवं सुडौलता आती है। दौड़ने-भागने आदि से रक्त-संचालन बढ़ता है, श्वास-क्रिया बढ़ती है और इस प्रकार रक्त का शुद्धीकरण होता है। अभिप्राय यह है कि खेल द्वारा बालक का शरीर स्वस्थ एवं पुष्ट होता है।

बौद्धिक—शिशु मुख्यतः खेल द्वारा ही संसार से परिचय प्राप्त करता है। उसके मस्तिष्क की सभी शक्तियों का विकास होता है। उपयुक्त खिलौने की सहायता से ज्ञान-वृद्धि के साथ ही ज्ञानार्जन की रुचि में भी वृद्धि होती है। उसकी विचार एवं विवेकशीलता जाग्रत होने से अनुसन्धान व अन्वेषण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। बाल्यकाल के उत्तरार्द्ध में रेडियो, मैकेनो व सचित्र पुस्तकें आदि सामग्री बच्चे में सृजनात्मक कौशल का विकास करते हैं।

रेलवे टिकट आदि वस्तुओं का संग्रह करके बालकों के संचय एवं संभाल करने की क्षमता उत्पन्न होती है।

संवेगात्मक—खेल में बच्चे की कई आन्तरिक प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि होती है। अन्य बालकों के साथ खेलने से तथा उसे अपनी अहमन्यता एवं परिस्थितियों की सीमितता होने का भान होने से, उसको दूसरों के मनोभावों का आदर तथा अपने संवेगों पर नियन्त्रण करने की शिक्षा स्वयं ही प्राप्त हो जाती है। फलतः उनमें

क्रोध, आवेश एवं चिड़चिड़ापन तथा लड़ने-झगड़ने व मारपीट करने की प्रवृत्ति का शमन होना आरम्भ हो जाता है।

सामाजिक व नैतिक—खेल बालक को सामाजिकता की शिक्षा देने का सर्वोत्तम साधन है। अन्य साथियों का साथ पाकर उसमें ऊँच-नीच का भेद हटाकर भाव-भाव का प्रादुर्भाव होता है। दूसरों में हिस्सा बाँटना, आपसी सहयोग, ईमानदारी तथा नियम पालन व आज्ञा-पालन आदि गुणों का विकास होता है। बालक सीख जाता है कि अपने 'अहं' को परहित के लिए किसी प्रकार भुला देना चाहिए। वह सहनशील एवं दूसरों के अधिकारों व वस्तुओं का आदर करने वाला बन जाता है।

स्वसंगठित खेलों द्वारा बालक की स्वार्थपरता का अवगुण, परोपकार के गुण में परिवर्तित होकर उसे सहानुभूतिपूर्ण बना देता है। उसकी नैतिक शिक्षा इसी काल में होती है। जब वह खेल में सत्यनिष्ठ, ईमानदार, आत्मसंयमी, साहसी, विनम्र, विजयी तथा सफल खिलाड़ी बनकर निकलता है।

महानता का बीजारोपण खेल में ही होता है। खेल, किया गया आपसी व्यवहार बच्चों के जीवन पर अमिट छाप डालता है।

राम का अपने तीनों भाइयों से प्रेम का अटूट नाता खेल के मैदान में ही जुड़ा था। राम के वन-गमन के बाद भरत ने बिलखकर उन गुणों को याद किया था।

“हारे खेल जितावहि मोही॥”

क्रियाशीलता का विकास—खेलने की वृत्ति ही बच्चे को कुछ करने, जानने और अनुभव करने की प्रेरणा देती है। दो महीने का बच्चा अपने पाँवों के अँगूठे पकड़कर मुँह में दूँस लेता है। धूँक के बुलबुले उड़ाता हुआ वह अपनी ही आवाज से प्रसन्न होता है, कुछ देर बाद उसकी दृष्टि झूले में लटकती हुई चिड़िया, गुब्बारे या झँझरी पर जाकर टिक जाती है और उनको नाचते-धूमते देखकर वह भी किलकारियाँ भरने लगता है। दो-तीन मास बाद उसकी पकड़ मजबूत हो जाती है, वह आस-पास की चीजों की ओर हाथ बढ़ाता है। बाप की गोद में आकर उनकी नाक से चश्मा, जब में से फाउन्टेनपेन रूमाल, माँ की गोद में से गले की चैन, बुन्दे या चूड़ियाँ जो वस्तु भी उसे आकर्षित करती हैं, वह हथियाने की कोशिश करता है। न केवल हाथ से ही, वरन् मुँह में लेकर भी वह उनका स्पर्श अनुभव करता है। धीरे-धीरे उसे कोमल और कठोर, हल्के और भारी आदि का भान होने लगता है। परिणाम जाने बिना कभी-कभी वह कोई कार्य ऐसा कर बैठता है कि उसको चोट लग जाती है। यथा—ऊपर से अचानक नीचे कूद पड़ना, कठोर, तेज या गर्म वस्तु पर जोर से हाथ पटक देना अथवा झुँझलाकर अपने ही बाल खींच लेना या

झुँझलाकर अपने ही सिर में मार लेना। खेल में या अपनी हरकतों में भूलकर देने पर बच्चा चिल्लाकर रो पड़ता है। धीरे-धीरे अभ्यास से वह अपनी भूल समझने लगता है।

सालभर के बच्चे की श्रवण शक्ति भी बढ़ जाती है। वह आपके भाव-भंगी से भी प्रभावित होता है। जानवरों की बोलियाँ, संगीत, ताल, लय आदि से उसका मनोरंजन होता है। दो-तीन साल के बच्चे को ऐसे खेल जिनमें गीत गाये जायें, म्यूजिकल ड्रिल करवाई जायें, बहुत भाते हैं, उन्हें ऐसी कहानियाँ जिनमें अभिनय तथा गीत विचित्र-विचित्र प्रकार की ध्वनि की जाये, बहुत पसन्द आती हैं। ढोलक या रेडियो सुनकर वे ताली बजा-बजाकर नाचना शुरू कर देते हैं।

खेल से अनुकरण और पुनरावृत्ति—बच्चों के खेल में अनुकरण वृत्ति बहुत होती है। बच्चा अपने पिताजी को साइकिल पर चढ़ते देखता है, तो वह एक डण्डे को साइकिल या घोड़ा मानकर उस पर चढ़कर मजे में खेलता है। इसी प्रकार बच्ची अपनी माताजी को छोटे बहिन-भाइयों को सँभालते देखती है, तो वह भी अपनी गुड़िया को सीने से लगाकर, अपने सिर पर एक फटा-सा दुपट्टा लपेटकर, गृहिणी का अभिनय करती है। अगर कभी छोटे बच्चों को गुड़े-गुड़िया खेलते देखें तो आपको पता चलेगा कि वह अपने बड़ों के कार्यों, व्यवहारों तथा सामाजिक रीति-रिवाजों व त्योहारों की हू-ब-हू नकल करने की चेष्टा करते हैं। बच्चों को सँभालना, झाड़ू देना, भोजन पकाना आदि से लेकर पिताजी की तरह दफ्तर का काम करना, प्रीति-भोज आदि का आयोजन ये सभी काम करने में उन्हें आनन्द आता है। दशहरा, दीपावली तथा मुहर्रम के बाद हर गाँव और शहरों के बच्चों की एक महीने तक इन त्योहारों की नकल करते देखा जाता है। रावण बनता है, राम, लक्ष्मण बनते हैं, धनुष-बाण बनाकर उसे मारने और लंका जलाने का अभिनय करते हैं। मुहर्रम की तरह ढोल लटकाकर पीटने की नकल करेंगे। बड़ों की नकल करना माना उनके लिए एक मनोरंजक खेल है।

अपने तीसरे वर्ष में पहुँचते-पहुँचते बच्चा रंगीन तस्वीरों की ओर आकृष्ट होता है। वह उन्हें गौर से देखता है, उत्सुकतापूर्ण उनकी कहानी सुनता है। कुछ वर्णन उसे याद भी रहता है और जब वह दोबारा उन तस्वीरों को देखता है, तो अपने छोटे-छोटे वाक्यों में अपनी जानकारी प्रकट करता है। इस उम्र में इसीलिए चटख रंग की पुस्तकें बच्चों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। तस्वीरों के द्वारा आकृतियों की सदृशता तथा भिन्नता समझने में उन्हें आसानी होती है।

बच्चों के खेलों में पुनरावृत्ति अधिक होती है। सभी देशों के बच्चे आँख-मिचौनी, पकड़ने और दौड़ने के खेल आदि खेलते हैं। ये खेल बाल-समाज वर्षों से खेलता आ रहा है और नित्य ही खेलता है। उनकी खेल की भावना

२.१८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

इतनी सजीव है, वे अपने खेल में ऐसे लीन होकर खेलते हैं कि उन्हें उसमें कुछ पुरानापन नहीं दीखता। इसी प्रकार कहानी सुनने या गीत सुनने या गीत गाने में भी उन्हें वही पुरानी कहानी या गीत सुनकर, गाकर प्रसन्नता होती है।

खेलों के प्रकार—बालकों के खेलों को विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है—

१. **स्वतन्त्र एवं इच्छानुरूप**—यह नियमों व प्रतिबन्धों से मुक्त होता है। बालक अधिकतर अकेले ही स्वतन्त्र रूप से खेलता है, खिलौनों की छानबीन करने के लिए उन्हें तोड़ना-फोड़ना, फेंकना, उठाना आदि खेल विशेष प्रिय होते हैं।

२. **कल्पनात्मक**—तीन वर्ष के बालक के खेल कुछ जटिल रूप धारण कर लेते हैं। वह अपने खेलों में जीवन के रुचिकर अध्यायों के नित्य नवीनतम प्रयोग करता है, जिनकी विधियाँ भी नूतन होती हैं। घर के व्यक्तियों के विविध कार्य-कलाप जैसे दुकान सजाकर क्रय-विक्रय आदि की नकल करना, यातायात के साधनों के खेल इत्यादि इसी वर्ग में आते हैं।

३. **रचनात्मक**—क्रियाशीलता बच्चों का स्वाभाविक गुण है। बच्चे अपने बड़ों की नकल करते हैं। इससे उन्हें बहुत आनन्द मिलता है। मिट्टी, रेत, लकड़ी व ईंटों के विविध सामान व घर इत्यादि भी बनाना इस वर्ग के खेल हैं। पाँच वर्ष की अवस्था के पश्चात् ये खेल एक विशेष उद्देश्य लेकर खेले जाते हैं। क्रमशः उद्देश्य अधिक उच्च तथा खेलों का रूप अधिक जटिल होता जाता है।

४. **संग्रहात्मक**—प्रारम्भ में तीन-चार वर्ष तक साधारण रूप से सभी छोटी-बड़ी वस्तुओं का संग्रह किया जाता है जैसे कोंच के टुकड़े, बीज, गोलियाँ, रंगीन चाक, पेंसिल आदि इसके पश्चात् बुद्धि के विकास के साथ संग्रह में रुचि तथा विवेक से काम लेना प्रारम्भ हो जाता है। चित्र-संग्रह, सिक्के व टिकट-संग्रह इसी प्रवृत्ति का विकसित रूप हैं।

५. **मनोरंजनात्मक**—इस प्रकार के खेल भी अवस्था-अनुरूप कई रूप धारण करते हैं। प्रारम्भ में चित्र देखना, फिर कहानी सुनना व धीरे-धीरे कहानी पढ़ना आदि।

६. **संगठित**—इस प्रकार के खेल किशोरावस्था में खेले जाते हैं।

अवस्थानुसार खेलों के रूपों में परिवर्तन—बालक के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ ही उसकी रुचि एवं आवश्यकताओं में भिन्नता आ जाती है। अतः उसके खेलों का रूप भी क्रमशः परिवर्तित होता जाता है। जन्म के पश्चात् शिशु की सभी माँसपेशियाँ शिथिल रहती हैं, वह केवल चूसने व बाहों हिलाने में ही सशक्त होता है।

शनैः-शनैः धड़ व टाँगों-बाहों की माँसपेशियों में सबलता आने के साथ उसकी गतिशीलता बढ़ती है। अपने हाथ को या अपने हाथों से, पैर के अँगूठे को पकड़कर मुँह में ले जाकर चूसता है। यही इस आयु का विशेष आनन्ददायक खेल है।

कुछ समय के बाद प्रत्येक आकर्षक वस्तु को मुट्ठी में पकड़कर खेल का सुख प्राप्त करना, जैसे रंगीन गुड़िया या झुनझुना। उसके पश्चात् माँसपेशियों में और बल आने पर बच्चा घुटनों के बल चलने लगता है। इस समय घर की जो वस्तु भी हाथ में पकड़ जाती है, उसे उठाना, गिराना, पटक देना, फेंकना यही विशेष रुचिकर खेल हो जाते हैं। टाँगों व बाहों की माँसपेशियों में शक्ति की वृद्धि के साथ ही साथ वस्तुओं को अपनी ओर खींचना व धकेलना प्रारम्भ हो जाता है। उसके बाद सीढ़ियाँ चढ़ना, उतरना, भागना-दौड़ना आदि खेल प्रारम्भ हो जाते हैं। इसी प्रकार बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियों के विकास के अनुरूप भी शिशु के खेलों के रूप में जटिलता आती है। दो-तीन मास के शिशु के लिए, जब से उसकी दृष्टि-शक्ति एवं स्पर्श-शक्ति जाग्रत हो जाती है, चटकीले रंग के या ध्वन्यात्मक खिलौने-झुनझुने आदि विशेष आनन्दप्रद होते हैं। इनके प्रयोग से छह मास तक उसकी अँगुलियाँ विभिन्न वस्तुओं के स्पर्श-ज्ञान में अभ्यस्त हो जाती हैं। इसके बाद उसके खिलौनों में अन्य आकर्षक सामग्री जिससे शिशु को चोट की सम्भावना न हो, जोड़ी जा सकती है। इस प्रयोजन के लिए साधारण गृह पर तैयार किये खिलौने बाजार से खरीदे खिलौनों से उत्तम होते हैं, जैसे पाउडर के खाली डिब्बे, बड़े-बड़े रंगीन बटनों की माला, बड़े रंगीन मोतियों की माला आदि।

एक वर्ष की अवस्था तक लकड़ी के रंगीन गुटके सभी बच्चे पसन्द करने लगते हैं। रंगीन गुटके बच्चे को विशेष प्रिय होते हैं परन्तु उनके रंग गीले होकर छूटने वाले न होने चाहिए। प्रारम्भ में इन टुकड़ों को केवल ऊपर-नीचे रखना, उठाना ही बच्चों का खेल होता है। बौद्धिक विकास के साथ इन लकड़ी की छोटी ईंटों से घर, रेलगाड़ी आदि बनाने का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इससे कल्पना-शक्ति के साथ ही साथ विवेकशीलता का भी विकास होता है।

एक वर्ष के बालक के लिए प्लास्टिक, रबर व बढ़िया सेल्युलायड के खिलौने भी उपयुक्त होते हैं। रोये लगे हुए खिलौने इस काल में अनुपयुक्त होते हैं क्योंकि सम्भव है बच्चा उसे अपने मुँह में डाल लें, जिससे उसका रूँआ मुँह में जा सकता है।

दो-तीन वर्ष की आयु में शिशु को रेत व पानी से खेलने में विशेष आनन्द आने लगता है। किसी गिलास या छोटी बाल्टी में रेत या पानी को बार-बार भरना व खाली करना उसे विशेष प्रिय होता है। यह

खेल बच्चे बड़ी तन्मयता के साथ करते हैं। लकड़ी की ईंटों को, एक के ऊपर एक रखना, पहिए वाली लकड़ी की गाड़ी को चलाना (जिसमें ध्वनि भी पैदा हो) शिशु के लिए विशेष मनोरंजन व लाभ देने वाले खेल हैं।

तीन-चार वर्ष के लड़के-लड़कियों के खेलों में विभिन्नता आ जाती है। लड़के भाग-दौड़ वाले खेल अधिक पसन्द करते हैं जैसे—गेद बल्ला, मिट्टी का घरौदा बनाना, ईंटों के मकान बनाना, रेत में रेखाओं से चित्र बनाना आदि। लड़कियाँ गुड़ियों के घर का खेल अधिक पसन्द करती हैं।

पाँच वर्ष की आयु से सामूहिक खेल, जिनमें नियम-पालन करना होता है रुचिकर लगते हैं। स्कूल प्रवेश के पश्चात् चित्रमय कहानी व बाल कविता युक्त पुस्तकें पढ़ना, वस्तु संग्रह करना, रेडियो सुनना, सिनेमा देखना व संगीत में रुचि लेना तथा रचनात्मक खेलों में विशेष आनन्द प्राप्त होता है।

खेल के साथी—दो वर्ष तक तो बच्चा अकेले खेलकर खुश होता है, अपनी धुन में रहता है, स्वयं मिट्टी का ढेर लगायेगा, बिगाड़ेगा, गायेगा और गुनगुनायेगा। परन्तु तीन वर्ष की आयु से बच्चे अपने खेल में किसी साथी को शरीक करके खुश होते हैं। इस आयु में बच्चे में सहकारिता का अभाव होता है, वह तो प्रत्येक खेल में अपनी धाँधली करता है, क्योंकि जिस खेल में उसकी प्रधानता न हो, उसे वह रुचिकर नहीं होता। इसीलिए छोटे बच्चों को उनका खेल जमाने के लिए किसी बड़े व्यक्ति का सहयोग आवश्यक है। परन्तु बड़ों का सहयोग ऐसा होना चाहिए कि वह बच्चों की रुचि तथा रफ्तार को समझकर दिया जाय। जिस बात से बच्चों का मनोरंजन हो आप भी उसमें सहयोग दें, उनकी ही रफ्तार से खेलें। मान लीजिए कि बच्चा आपको पकड़ रहा है, अगर आप इतना तेज भागते हैं कि उसके लिए पकड़ना असम्भव है तो वह आपके संग कभी नहीं खेलेगा। बच्चों के संग बच्चा बनकर खेलना पड़ता है। देखते हुए भी न देखना, पकड़ में आने की सम्भावना होते हुए भी न पकड़ना, अचानक चौककर पकड़ में आ जाना या दौड़ में पिछड़ जाना अथवा धम्म से गिर जाना, बड़ों के इसी प्रकार करने पर बच्चों को उनके साथ खेलने में आनन्द आता है।

बड़ों की दृष्टि में बच्चों का खेल एक खिलवाड़ है परन्तु वास्तव में खेल और खिलौनों के द्वारा बच्चों की स्पर्श-शक्ति, रंग-आकार परखने की योग्यता, स्मरणशक्ति तथा रचना-प्रवृत्ति का विकास होता है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि बचपन के ये खेल ही उसका कार्य हैं और खिलौने उस कार्य के साधन हैं। आपकी बच्ची जब एक गृहिणी का अभिनय करती है या सुई-धागा लेकर गुड़ियों के कपड़े सीती है या आपको बच्चा एक कील लेकर लकड़ी के घोड़े में ठोंकता है तो सम्भव है

कि बच्चों का यही खेल आने वाली युग की निपुण व्यवस्थाप्रिय गृहिणी या एक रचनात्मक इन्जीनियर के कार्यों का आरम्भ हो।

खेलों से बच्चों के सुझाव का पता लगता है—प्रायः देखने में आता है कि डाक्टर के बच्चे डाक्टर या नर्स का, अध्यापक तथा व्याख्यानदाता के बच्चे शिक्षक और उपदेशक का, फौजी अफसर के बच्चे अपने दल के मुखिया का अभिनय करते हैं। असल में वे खेल-खेल में अपनी छिपी हुई प्रवृत्तियाँ तथा आकांक्षाओं को प्रकट करने की चेष्टा करते हैं। कहते हैं नैपोलियन बोनापार्ट जब बालक था, साथियों के अभाव में खाली कुर्सियों को एक लाइन में लगाकर स्वयं एक ऊँचे स्टूल पर खड़ा होकर इस प्रकार से व्याख्यान देता था, मानो जनरल अपने सैनिकों को युद्धक्षेत्र पर जाने से पहले प्रेरणा दे रहा हो। उसके बाद अपने स्टूल पर बैठकर वह इस प्रकार उसकी सवारी करता था मानो घोड़े पर चढ़ा हुआ सेना के आगे-आगे भागा जा रहा हो। एक बेंत से स्टूल को पीटता हुआ 'बढ़े आओ, चले आओ, हमला कर दो, जीत लिया, मार दिया, फतह हमारी है' आदि नारे लगाता हुआ वह उत्तेजित हो जाता था। आगे चलकर यही व्यक्ति सारे योरोप का विजेता बना था, युद्ध इसका सर्वप्रिय खेल था।

इसी प्रकार लेडी नाइटिंगेल को नर्स बनने का बचपन से ही शौक था और वह अपने कुत्ते तथा गुड़ों-गुड़ियों को मरीज मानकर नर्स का अभिनय किया करती थी। अपनी बहिन द्वारा खेल-खेल में फेंकी गई गुड़िया को उठाकर बड़े प्रेम से उसके पट्टी बाँधती थी, सेवा-सुश्रूषा करती थी, दुलारती थी और पुचकारती थी। कहते हैं कि भक्त मीराबाई बचपन में ही कृष्ण की भक्ति के गीत गाती थी और भक्ति-अभिनय के खेल खेला करती थी। बचपन के इन संस्कारों और खेलों में बच्चों के भविष्य की झाँकी दीखती है। चतुर माता-पिता को चाहिए कि अपने बच्चे की रुचि का अध्ययन करके उन्हें इस प्रकार के खिलौने ला दें, जिनसे उनकी गति, वृत्ति तथा शक्ति का ठीक-ठीक विकास हो सके। बच्चों के खेल को समय की बरबादी समझना भूल है उल्टा इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वे खेल-खेल में ही सब कुछ सीख जायें। बच्चे के जीवन विकास के लिए खेल एक आवश्यक क्रिया है, सफलतापूर्वक किसी काम को करने की योग्यता प्राप्त करने का आरम्भिक पाठ है। खिलौने इस पाठ को पढ़ने के लिए एक साधन हैं। बच्चे के खेल की सुविधा जुटाने तथा तदनुकूल वातावरण पैदा करने के लिए माता-पिता को प्रयत्नशील होना चाहिए।

बच्चे आनन्दी हैं, वे दिन भर कुछ न कुछ करते ही रहते हैं, उनकी शक्ति का स्रोत भरपूर है। बड़ों के सदृश उन्हें आलस नहीं घेरता, वे अपने में मस्त प्रकृति

२.१०० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

का संगीत सुनते हुए, खेल में भूले रहते हैं। जब तक उन पर खेल का आकर्षण छाया रहता है, वे थकान अनुभव नहीं करते। जहाँ आपने अपने बच्चे का यह आकर्षण तोड़ने की चेष्टा की, वह बिगड़ जाता है, रोता है, चिड़चिड़ा हो जाता है और अन्त में मनोरंजन के अभाव में वह अस्वस्थ तथा सुस्त हो जाता है।

खेल में माता-पिता का सहयोग—आप जानवरों के बच्चों को देखें, बिल्ली, कुत्ता, शेर, हिरण आदि अपने बच्चे के साथ खेलकर, कलाबाजियाँ करके, उछल-कूद मचाकर उन्हें शिकार के सभी दाँव-पेंच सिखा देते हैं। परन्तु बच्चे की माँ बच्चे के साथ आँख-मिचौनी खेलने का चाव नहीं रखती, न उसके पिता ही पतंग उड़ाने या गेंद-बल्ला खेलने में उसका साथ देते हैं। इसके विपरीत अगर बच्चे खेल में लगे हुए हों और उत्तेजित होकर हल्ला मचा रहे हों तो माता-पिता उन्हें डाँट-डपटकर पढ़ने बिठा देते हैं। उन्हें बच्चों का खिलवाड़ समय की बरबादी और व्यर्थ-सा दीखता है। खिलौनों में पैसा खर्चना वे पसन्द नहीं करते और अगर खर्चते भी हैं, तो बच्चे की आयु, योग्यता तथा पसन्द की उपेक्षा कर देते हैं।

रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास—चढ़ने-उतरने में अगर बच्चा कभी गिर जाये तो उसे घबड़ाकर न उठाये। इससे बच्चे का आत्मविश्वास चला जाता है। लुढ़क-पुढ़ककर ही बच्चा ठीक से चलना सीखता है। आरम्भ में डगमग कदम रखते हुए ही वह अभ्यास से जमाकर कदम धरना सीखता है। सभी बच्चों को रेत, मिट्टी तथा पानी से खेलना आता है। माताएँ उनके इस खेल से बड़ी घबड़ाती हैं क्योंकि वह अपने कपड़े खराब कर लेते हैं। ऐसे समय में आप उन्हें पुराने कपड़े पहना दें। छोटी-छोटी डोलचियों में मिट्टी या रेत भरने तथा पानी से क्यारी सींचने में बच्चों को बड़ा आनन्द आता है। रेत के पहाड़ और गुफा तथा मिट्टी के खिलौने बनाकर बच्चे अपनी निर्माण भावना को सन्तुष्ट करते हैं। बच्चा जैसे-जैसे बड़ा हो, उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया जाये। लकड़ी के गुटके, रीतें, छोटे-बड़े आकारों के डण्डे, बड़े-बड़े मोती, सुई-डोर, रंग-बिरंगे, कागज, कैची, गोंद, कील-हथौड़ी, डोरी आदि वस्तुओं से बच्चे अपनी समझ तथा आयु के अनुसार कई चीजें बना लेते हैं। माँ-बाप को चाहिए कि बच्चों के इस प्रकार के खेलों में सहयोग देकर उन्हें बढ़ावा दें। इन वस्तुओं से उन्हें उपयोगी वस्तुएँ बनाना सिखायें। उन्हें भिन्न-भिन्न आकारों और रंगों से परिचित करायें, रंगदार गोलियों तथा मोतियों की पिरोकर गिनती तथा जोड़-घटाना सिखायें। इसी प्रकार रंगदार पेंसिल या चाक देकर श्यामपट पर भिन्न-भिन्न आकार बनाने में बड़ा आनन्द आता है। तीन वर्ष के बच्चे की कल्पना-शक्ति का तीव्रता के साथ विकास होने लगता है। वह रंगदार चाक से अपनी कल्पना को साकार रूप देने की चेष्टा करता है।

टेढ़ी-सीधी लकीरें खींचकर, टेढ़े-टेढ़े आकारों में चमकते रंग भरकर वह कहता है 'यह गुड़िया है, यह उसका घर के आगे बगीचा है और पीछे आसमान है, यह आसमान में सूरज है, बगीचे में माँ खड़ी है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगों और टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियों में वह अपनी कल्पना को सजीव देखता है। दूसरी बात इस प्रकार की चित्रकारी द्वारा बच्चे की आँख और हाथ की क्रियाओं में सामंजस्य पैदा होता है। बच्चों की चित्रकारी तथा कहानियों से मनोवैज्ञानिक उनके मानसिक विकास की थाह पा लेते हैं।

बच्चे चित्र बनाते हैं उन्हें फिर मिटाते हैं या पेंसिल से रद्द करके नया चित्र बनाते हैं। मिट्टी के खिलौने या रेत के घरोंदे बनाकर उन्हें तोड़-फोड़कर फिर नये सिरों से बनाना प्रारम्भ करते हैं। इससे उन्हें विशेष उन्नति करने का चाव होता है। दूसरी बात उनकी तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति की सन्तुष्टि होती है और बाद में वे अन्य वस्तुओं को नहीं तोड़ते। इसलिए इस आयु में उन्हें प्लास्टीसीन, मिट्टी, कागज, पेंसिल, रबड़ आदि के सामान ही दिये जायें ताकि वे चीजें बनायें और पसन्द न आने पर मिटाकर तोड़-फोड़कर फिर नये सिरों से बना सकें।

गुड़े-गुड़ियों का खेल—तीन-चार वर्ष की आयु से बच्चों को गुड़े-गुड़िया खेलना, उनकी गृहस्थी जमाना, भोजन का पकाना, झाड़ू देना आदि बहुत भाता है। न केवल लड़कियों के लिए ही किन्तु लड़कों के लिए भी गुड़े-गुड़ियों का खेल उपयोगी है। अगर अपनी माँ को आदर्श मानकर गृहिणी का अभिनय करने में बच्ची में मातृत्व का स्वस्थ विकास होता है, तो कोई कारण नहीं बच्चा भी हँसी-खेल में स्वस्थ पितृत्व का विकास नहीं कर पायेगा। उस खेल को खेलते समय बच्चों को बड़ों के सदृश व्यवहार करके एक विशेष सन्तुष्टि होती है। माँ जिस प्रकार बच्ची को डाँटती है, पिता जिस प्रकार बच्चे को धमकाते हैं या उस पर हुक्म चलाते हैं, उसी प्रकार बच्चे अपने गुड़े-गुड़ियों पर रुआब गाँठने का अभिनय करते हैं। गुड़ियों के कपड़े सीने उनका घर सजाने में बच्चे बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। घर में फटे-पुराने कपड़े, कतरन, पुराने डिब्बे, दियासलाई की डिब्बियाँ, छोटी-सी पिटारी आदि चीजों से बच्चों का खेल जम जाता है।

अभिनयात्मक खेल—पाँच-छह वर्ष की आयु में बच्चों को बड़ों की नकल करने तथा मिलकर गिरोह में खेलने का बड़ा चाव होता है। खेल की सामग्री से अधिक महत्त्व वह खेल के साथी को देने लगते हैं। अगर आठ-दस लड़के मिल गये हैं और उन्हें हाकी खेलने की धुन सवार हुई है तो डण्डों को हाँकी, स्टिक तथा रबड़ की पुरानी गेंद को हाँकी-बाल समझकर वह अपना खेल मजे से जमा लेंगे। इसी प्रकार उनकी अभिनयवृत्ति भी कल्पना का सहारा लेकर असम्भव को सम्भव बना लेती है। फेंसी इस तथा चेहरे लगाकर

पशु-पक्षी या हनुमान आदि का अभिनय करने में उन्हें विशेष आनन्द आता है। माता-पिता की पुरानी वस्तुएँ तथा फटी ओढ़नी, हैट, जूते, छड़ी, छाता, चश्मा आदि से वे अपने नाटक के पात्रों की वेष-भूषा संवार लेंगे, एक तख्त पर पुरानी दरी बिछाकर, सन्ने एक घोंटी का पर्दा लगाकर वह रंगमंच तैयार कर लेंगे और अभिनय शुरू हो जायेगा। अगर उनके खेल के कहीं आप भी दर्शक हुए, तब तो अभिनय करने में उन्हें ऐसी प्रेरणा मिलेगी कि बस पूछिए मत।

खिलौने बनाना सिखाएँ—एक मनोवैज्ञानिक का सुझाव है कि बच्चों को कल-पुर्ज वाली मोटरगाड़ी आदि देने से यह अधिक अच्छा होगा कि उन्हें कुछ ऐसी वस्तुएँ दी जायें, जिनसे वे स्वयं खिलौनों का निर्माण कर सकें। दो-चार पहिए, एक लकड़ी का डिब्बा, कुछ कीलें तथा रंग देकर उन्हें खुद गाड़ी बनाना सिखायें, चिकनी मिट्टी के सरल खिलौने बनाकर, उन्हें खुद रँगना सिखायें। फटे हुए चियड़ों से गुड़िया बनाना, कतरन में से टुकड़े छाँटकर उनके कपड़े सीना मोती और गोटा लगाकर गुड़िया को सजाना आदि लड़कियों को बड़े पसन्द हैं। पुट्टे के डिब्बों पर कागज मढ़कर गोंद और सरेस से त्रिपक्षक गुड़िया का मकान बनाना, तस्वीरों को काटकर एलबम बनाना, रंगदार कागज के फूल बनाना, टूटे हुए खिलौनों को जोड़ना आदि भी बच्चों को सिखाया जाय। अड़ौस-पड़ौस के बच्चों के स्वनिर्मित खिलौनों की प्रतियोगिता करने से बच्चे शीघ्र ही इस विषय में उन्नति कर जाते हैं। इससे दो लाभ होंगे—पैसों की बचत तथा बच्चों की निर्माण-शक्ति की उन्नति। अपने बनाए हुए खिलौनों की मित्रों के जन्म-दिवस पर उपहार देने में भी उन्हें विशेष गौरव होगा। वे अपने खिलौनों के टूटे हिस्से से नया खिलौना बनाने की कोशिश करेंगे।

खेल के साथी बनकर बच्चों को समझिए—यह तो तभी हो सकता है, जब माता-पिता अपने बच्चों के खेल में भाग लें, उनकी खिलौनों की दुनिया में दिलचस्पी दिखायें। इन्हीं खिलौनों द्वारा उनकी चीजों की सँभाल, सहयोग के साथ काम करना, वस्तुओं का ठीक उपयोग, नियमों का पालन तथा गृहव्यवस्था सिखाई जा सकती है, उनकी शारीरिक और मानसिक उन्नति की जा सकती है, साथ ही उनकी कल्पना, रुचि और निर्माण-शक्ति भी विकसित की जा सकती है। इसी आयु में बच्चे का रुझान तथा शारीरिक और मानसिक शक्तियों की सामर्थ्य का भी सही-सही तभी पता चल सकता है, जबकि आप भी उसके खेल के साथी बनें। अगर आप बच्चे की तोड़-फोड़ प्रवृत्ति को काबू में करना चाहते हैं, उसके ऊष्म मचाने में लगी हुई शक्ति को रचनात्मक कार्य की ओर मोड़ना चाहते हैं तो उसके मन में मनोरंजन, खेल-कूद के प्रति चाव पैदा करें। अगर आपने आरम्भ में ही अपने बच्चे की रुचि और झुकाव का अध्ययन करके

तदनु रूप उसके लिए खेल-खिलौने चुनाए हैं तो आगे जाकर आपको उसकी छिपी हुई प्रवृत्तियों तथा संस्कारों को सही रास्ते की ओर मोड़ने में बहुत सुविधा होगी और साथ ही आप उसकी योग्यता के सच्चे पारखी होंगे। बड़ा होकर बच्चा चाहे स्वयं को समझने में गलती कर जाय, पर आपके लिए वह हमेशा एक सुलझी हुई पहेली रहेगा। अपने बचपन के खेल के साथी माता-पिता में बड़ा होकर भी वह अपने सच्चे हितैषी और मित्र का रूप ही देखेगा और जिस प्रकार उनके सुझावों से अपना बचपन का खेल अधिक मनोरंजक तथा सफल बनाता रहा, उसी प्रकार उनके सांसारिक अनुभव का लाभ उठाकर अपने जीवन खेल को सफलतापूर्वक खेलने में वह माता-पिता का सहयोग प्राप्त करने में न भूलेगा। ऐसे सहयोगी माता-पिता को अपने खिलाड़ी बच्चों से यह शिंकायत नहीं होगी कि बड़े होकर बच्चे हमारी बात नहीं सुनते, उपेक्षा करते हैं, भूलें करके कुल का नाम डुबो रहे हैं या अपनी गलतियों से गृहस्थ जीवन को विफल बना रहे हैं।

सचित्र पुस्तकें—एक वर्ष से अधिक आयु के बच्चों को चित्र देखने का बहुत चाव होता है। कई बार, जब हम समाचार-पत्र या पत्रिका पढ़ रहे हों, बच्चे हमारे पास आ खड़े होते हैं और कहते हैं—“हम चित्र देखेंगे” किन्तु हम उन्हें धमककर दूर हटा देते हैं। बाजार में आजकल बच्चों के लिए बहुत प्रकार की सचित्र पुस्तकें उपलब्ध हैं। विभिन्न आयु के बच्चों को जन्मवर्षों के चित्र देखने का चाव होता है, किसी में मोटरों, रेलगाड़ियों, हवाईजहाजों आदि को और किसी में वे बच्चों को कई प्रकार के काम करते देखकर खुश होते हैं। इन सब प्रकार के चित्रों की पुस्तकें बाजार में प्राप्य हैं। ऐसी भी बहुत-सी पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें कोई कहानी चित्रों में दी हुई होती है। बच्चे मित्रों को देखकर पूरी कहानी समझने का प्रयत्न करते हैं और कहानी समझकर बड़े प्रसन्न होते हैं। इन पुस्तकों से बच्चों की बुद्धि तीव्र होती है। जिन बच्चों को चित्रकारी करने का शौक हो उनके लिए चित्रकारी की बहुत-सी पुस्तकें मिलती हैं। लड़कियों के लिए कसीदाकारी की भी बहुत-सी पुस्तकें मिल सकती हैं।

खिलौनों के साथ-साथ एक बात और है जिसका हमें सदा विशेष ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि बच्चे को खेल खेलने में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। आप यदि उनके किसी खेल को पसन्द न भी करते हों तो भी उन्हें उस खेल को खेलने से मना न करें। बच्चा जिस खेल को खेलना चाहता है, वह उसे ही खेलकर आनन्दित हो सकता है। खेलों के मामले में हमें अपनी पसन्द कभी उन पर नहीं लादनी चाहिए।

खिलौने ऐसे होने चाहिए जिनसे बच्चा कुछ न कुछ सीख सके। साथ ही इस बात का ध्यान रखने की

२.१०२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बड़ी आवश्यकता है कि खिलौने बच्चों की रुचि के अनुकूल हों। प्रगतिशील देशों में प्रत्येक नगर में बच्चों के लिए खिलौनों की अलग दुकानें होती हैं। अब हमारे देश के बड़े-बड़े नगरों में भी इसी प्रकार की दुकानें खुल गई हैं। यदि दुकानदार समझदार हों तो वे आपको बच्चों के लिए उपयुक्त खिलौनों का चुनाव करने में बड़ी सहायता दे सकते हैं।

बच्चों के महत्वपूर्ण पाँच वर्ष

(छह वर्ष से ग्यारह वर्ष तक)

छः वर्ष के बच्चों में शारीरिक और मानसिक रूप से कई आकस्मिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। बच्चा अपने विकास और कार्यों में माता-पिता पर पहले के सदृश्य निर्भर न रहना पसन्द करता ही है और अपनी जिम्मेदारी तथा कार्य-कारण सम्बन्ध को कुछ-कुछ समझने लगता है। बाहरी दुनिया से वह अधिक से अधिक परिचय बढ़ाने को उतावला रहता है। इससे पहले वह अधिकांश बातों में अपने माता-पिता का ही अनुकरण करता था। वे जो कुछ समझा देते थे, उसी से उसकी उत्सुकता शान्त हो जाती थी, परन्तु छह वर्ष का बच्चा अपने अध्यापक तथा संगी-साथियों का अनुकरण करने में चतुराई समझता है। उसमें सहयोग नियमों के प्रति सम्मान, स्वयं पर नियन्त्रण तथा दूसरों के अधिकारों और सम्मान की रक्षा की भावना का विकास होने लगता है।

इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि बच्चा समाज में अपना स्थान बनाने के चेष्टा कर रहा है। इससे पहले कि वह अपने पूरे आकार को प्राप्त हो, वह चाहता है कि मैं बड़ों के ढंग और तरीके सीख लूँ, उनकी-सी योग्यता और समझदारी प्राप्त कर लूँ ताकि बड़ा होकर मैं भी अपना जीवन सफलतापूर्वक बिता सकूँ।

माता-पिता के प्रति दृष्टिकोण—छह वर्ष का बच्चा अगर अपनी बाहरी दुनिया में अधिक दिलचस्पी लेने लगता है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने माता-पिता के प्रति उदासीन हो जाता है, परन्तु वह अपने प्रेम का अधिक प्रदर्शन नहीं करता सबके सामने माँ के द्वारा चुमे जाने पर वह लजा जाता है अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में वह गम्भीर रहता है। विशेषकर अपरिचितों के सामने तो बहुत संकोच प्रकट करता है। इस आयु में बच्चा यह अनुभव करने लगता है कि अब मैं बड़ा हो गया हूँ, एक नन्हे-मुन्हे के सदृश्य मुझे सबके सामने रोना, चिल्लाना, नंगे फिरना, माँ से चिपटना शोभा नहीं देता। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ इस बात को शीघ्र समझने लगती हैं। अगर उसका छोटा भाई किसी के घर जाकर शैतानी करता है या किसी वस्तु की प्राप्ति करने का दुराग्रह करता है, तो उन्हें बहुत संकोच होता है। ऐसे भाई को अपने साथ कहीं ले जाना वे पसन्द नहीं करतीं।

अशिष्ट व्यवहार और गुटबन्दी की प्रवृत्ति—सात-आठ वर्ष की आयु में लड़के तो विशेष रूप से कुछ असभ्य हो जाते हैं। वे संगी-साथियों से किसी प्रकार पीछे रहना नहीं चाहते, अगर उन्हें कोई मारता है तो वे भी उसे दो लगा देते हैं, अगर कोई गाली देकर उसका अपमान करता है तो वे भी उसे एक की दो सुनाते हैं या फिर उसे पीट-पाटकर शिक्षा देते हैं। इस उम्र में बच्चों को एक-दूसरों को मुँह चिढ़ाना, बनाने तथा पीटने-पाटने में विशेष आनन्द आता है। जहाँ संगी-साथियों में झगड़ा शुरू हुआ कि फौरन दो दल शुरू हो जाते हैं और प्रत्येक दल प्रतिरोधी दल को हराने में विशेष रुचि लेता है। अपने प्रति वफादारी तथा सच्चाई प्रकट करने की भावना उन्हें संगठन का बल देती है। अपने प्रतिद्वन्दी को हराना, परस्पर इच्छा कर अपने लीडर के नायकत्व में काम करने की इच्छा, उन्हें अपने दल की उन्नति करने की प्रेरणा देती है। हम अपना दल अलग बनायें, अपनी अलग क्लब खोलेंगे, अमुक लड़का खराब है, उससे कुट्टी कर देंगे, अपनी योजना तथा गुप्त रहस्य उन्हें क्यों बताएँ, अमुक लड़का चुगलखोर है, वह इधर की उधर लगाता है, उसने हमारा भण्डा-फोड़ कर दिया, हमारा भेद उन्हें बता दिया, उसे जरूर मजा चखाकर रहेंगे—आदि मन्त्रणा करने की प्रवृत्ति बच्चों की होती है।

यह बात नहीं कि केवल लड़के ही ऐसा करते हों, बल्कि लड़कियों में भी गुटबन्दी होती है, वे भी ऐसा सोचती और करती हैं कि 'हम अपनी गुड़िया का ब्याह करेंगे पर राधा को मत बताना। पिछली बार उसने हमारा बना-बनाया खेल बिगाड़ दिया था, अब हमने अपने गुट से उसे निकाल दिया है। बच्चे में गुटबन्दी की यह वृत्ति इस बात की द्योतक है कि बच्चा किसी दल का अंग बनकर उसे सफल बनाना चाहता है और इस प्रकार अपने समाज में स्वयं को उपयोगी और कर्तव्यपरायण बनाने की चेष्टा कर रहा है। वह अपने दल का अनुकरण न केवल वेश-भूषा में ही करने की चेष्टा कर रहा है, वरन् उसके तरीके, बातचीत करने का ढंग, लहजा, मुहावरे तथा रुचि पर भी उसके साथियों की छाप पड़ती रहती है।

कई माता-पिता इस आयु में अपने बच्चे में अवांछित परिवर्तन देखकर कहने लगते हैं कि पहले तो यह बड़ा अच्छा था, पर अब तो स्कूल जाकर यह बड़ा असभ्य और उद्दण्ड हो गया है। इसकी आदतें कितनी गन्दी हो गई हैं ? बचपन के संस्कार तो बच्चे में रहते ही हैं। पर अपने संगी-साथियों में बच्चा दबकर रहना नहीं चाहता। वह उनका अनुकरण इसलिए नहीं करता कि यह उन्हीं के गुट का एक सदस्य प्रतीत हो सके।

बच्चों द्वारा शिष्टाचार सम्बन्धी छोटी-मोटी बातों के उल्लंघन से माता-पिता को चिन्तित नहीं होना चाहिए। बच्चों की आयु तथा दिनचर्या में परिवर्तन होने तथा

दिलचस्पी का दायरा बढ़ जाने से ही बच्चा अपने व्यवहार, बातचीत और शिष्टाचार में कुछ स्वच्छन्द-सा हो जाता है। नियमों को कुछ ढीला करके वह अपना मानसिक सन्तुलन बनाकर रखने की सुविधा प्राप्त करना चाहता है। अगर बच्चे की संगति अच्छी है, उसके स्कूल का वातावरण स्वस्थ है, तो कुछ काल के बाद वह शिष्टाचार और सफाई का स्वयं ही तकाजा करने लगेगा।

एक अनुभवी व्यक्ति का कहना है कि प्रत्येक परिवार में बालक आकर्षण का केन्द्र होता है। कला, साहित्य, विज्ञान आदि की उसकी शिक्षा तो स्कूल में होती है, परन्तु शिष्टाचार जो उसे सभ्य और सुसंस्कृत बना सकता है, परिवार के वातावरण से ही सम्भव है।

आपने देखा ही होगा कि कभी-कभी आपके बच्चे में नहा-धोकर साफ-सुथरा होने की इच्छा प्रबल हो उठती है। वह अपनी छोटी मेज को सँवारता है, अपने सन्दूक में कपड़े बड़े करीने से सजाता है, अपनी पुस्तकों पर कवर चढ़ाता है, अपने होल्डर और दवात धोकर तथा पोतकर तैयार करता है। उसकी सफाई के प्रति यह रुचि चाहे एक-दो दिन ही बनी रहे पर इसका महत्व कम नहीं। आप अपने बच्चों को आठवें दिन सफाई करने की विशेष प्रेरणा दें, प्रत्येक रविवार को अपने बस्ते, कमरे, ओढ़ने-बिछाने के कपड़े, जूते, आलमारी आदि की सफाई करने का प्रोत्साहन दें और चेष्टा करने पर उनकी प्रशंसा करें।

रुचि में परिवर्तन—इस आयु में बच्चे की खेल विषयक रुचि में भी परिवर्तन हो जाता है। उसे अटकन-बटकन के खेल अब आकृष्ट नहीं करते। अब उनकी शारीरिक शक्ति बढ़ जाती है, उसके अंगों में चंचलता और लोच है, उसे दौड़-धूप और उछल-कूद के खेल अधिक भाते हैं। आँख-मिचौनी, कबड्डी, गेंद बल्ला, क्रिकेट, फुटबाल, पैग बढ़ाना आदि खेल उसे अधिक रुचिकर हैं। जिस घर में तले ऊपर के बहिन-भाई होते हैं, वे सब मिलकर ही खेल खेलते हैं। अगर लड़कियों को केवल लड़कियों की संगति ही प्राप्त हो, तो वे गुड़िया, गिट्टे, पऊआ, झूले पर गीत गाते हुए झूलना आदि खेल खेलती हैं।

खेल में नियमों के पालन पर बच्चे अधिक जोर देते हैं और उनके तोड़ने पर उनके हमजोलियों में, लड़ाई तक हो जाती है। इस आयु में बच्चे अपने बहिन-भाइयों और मित्रों से बात-बात में लड़ बैठते हैं। इसमें कुछ हानि नहीं बल्कि इनके मनोवेगों में उबाल आकर निकल जाने का मार्ग मिल जाता है और वह अधिक स्वस्थता का अनुभव करने लगते हैं। इससे उनके प्रेम में कोई अन्तर नहीं आता। जितनी जल्दी उनकी लड़ाई होती है, उतनी जल्दी मेल भी हो जाता है। अपने बचपन के उन संगी-साथियों के प्रति बड़े होकर जो एक सहज प्रेम और

ममता होती है, वैसा स्नेह और लगाव प्रौढ़ावस्था के मित्रों के प्रति नहीं होता।

बड़ों को बच्चों की लड़ाई में आवश्यकता से अधिक दखल नहीं देना चाहिए।

बच्चे के अपने संवेगों को प्रकट करने के कई ढंग होते हैं। हल्ला करके, चिल्लाकर, उछल-कूदकर, गीत गाकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं, लड़-झगड़कर, बहस करके, हाथ-पाँव पटककर, मुँह चिढ़ाकर वे अपना क्रोध और अनिच्छा प्रकट करते हैं। नृत्य, गान, अभिनय प्रतियोगिता के खेल आदि भी उनके संवेगों को प्रकट करने में सहयोग देते हैं।

बचपन में घर के बाद स्कूल के वातावरण की प्रधानता रहती है। इस आयु में बच्चा अपने संगी-साथियों और गुरु के द्वारा प्रदर्शित स्नेह और प्रशंसा को बहुत महत्व देने लगता है। इसलिए उसके शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक विकासों में इनका बड़ा हाथ रहता है। बच्चों को स्कूलों में नकारात्मक नियमों से नहीं अपितु अनुमोदनात्मक नियमों से बाँधना चाहिए। 'जाओ, यह काम कर लो,' 'यह खेल खेल लो,' 'अमुक पुस्तक पढ़ो' आदि। अपनी रुचि के अनुकूल ऐसे आदेश पर बच्चे प्रफुल्लता के साथ मिलकर काम करने को आगे बढ़ते हैं क्योंकि इस आयु में बच्चे 'टीमस्प्रिट' की भावना जाग्रत हो जाती है। अतएव वह अपने दल की विजय में अपनी विजय समझता है, अपने साथियों की सफलता में अपनी सफलता का अनुभव करता है और उसे सहयोग देने में उसे आनन्द प्राप्त होता है। उसके हृदय में अपने सहपाठियों के प्रति प्रेम, करुणा, दया, सहानुभूति आदि मानवीय गुणों का विकास हो जाता है।

कुछ विचित्र आदतें—इस आयु में कई बच्चों में विचित्र-विचित्र आदतें पाई गई हैं जैसे—चलते समय फर्श के प्रत्येक जोड़ को बचाकर पैर रखना, लम्बे बरामदे के प्रत्येक तीसरे खम्भे को छूकर चलना, मुँह में हर समय धागा चबाते रहना, किसी दरवाजे से निकलते समय कुछ शब्द विशेष कहना, अगर इसमें कुछ भूल हो जाये तो लौटकर फिर उसी क्रम को दोहराते हुए आगे बढ़ना आदि। बच्चों में इन आदतों का मतलब यह है कि इनके मनोवेगों के लिए स्वस्थ मार्ग नहीं मिल रहा है या वे अपने बड़ों के अधिक दबाव के पीछे बेचैन हो रहे हैं। जो व्यक्ति बच्चों पर कठोरता से शासन करता है, तो उसे कुचलने, मारने और उससे बदला लेने के लिए बच्चे का मन कुलबुलाता रहता है। अपने इन मनोवेगों को दबाने के लिए वह अपने ऊपर यह विचित्र बंधेज (Compulsion) लाद लेता है। अगर वह बंधेज साधारण है तथा उसके करने में बच्चों की अधिक शक्ति या समय नहीं लगता तो दस-ग्यारह वर्ष की आयु के बाद बच्चे की वह आदत स्वयं ही छूट जायेगी, पर यदि बच्चा उन्हें एक सनक के रूप में करता है जैसे दिन में

२.१०४ हमारी भाभी पीड़ी और उसका नवनिर्माण

पचास बार हाथ धोना, प्रत्येक ग्रास निगलने के बाद पानी पीना आदि तो वैज्ञानिक ढंग से उसकी यह आदत छुड़ाने की चेष्टा करनी चाहिए।

बच्चों के साथ बातचीत करते समय शिष्टाचार का विशेष ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो उनका बातचीत करने का ढंग भी दोषपूर्ण हो जाता है, वे बड़ों के तकिये कलामों का बहुत जल्द अनुकरण करने लगते हैं। इसके अतिरिक्त वे उठने-बैठने, चलने, कपड़े पहनने, हँसने तथा खाने-पीने में भी जिन लोगों के बीच में रहते हैं, उनके ढंगों का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अनुभव करते रहते हैं। इस आयु में बच्चों की अनुकरण प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है। अतएव बड़ों को उस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिए कि बच्चों के आगे अच्छा उदाहरण उपस्थित किया जाए।

बच्चों के खिलौने सस्ते, सुलभ तथा उपयोगी हों

बच्चों के लिए खिलौनों की आवश्यकता तीसरे माह से शुरू होती है। तीन महीने के बच्चे के लिए खिलौने चमकीले रंग के हों जिन्हें धोया जा सके। वे इतने बड़े हों कि बच्चे उन्हें निगल न सकें। खिलौने खुरदरे किनारों वाले न हों। उनसे पैदा होने वाली आवाज कर्कश नहीं, मधुर हो। हाथी-दाँत के छल्ले आदि भी उपयोगी होते हैं। गेंद, गुब्बारे, लट्टू, झुनझुने ही उनके खिलौने होते हैं।

महँगे खेल-खिलौने बच्चों के लिए अधिक उपयोगी नहीं होते। ऊँची कीमत के खिलौने खरीदकर फिर बच्चों से उन्हें छिपाकर रखना, कभी-कभार ही देना, बच्चों को तंग करना है। इससे उनकी मानसिक आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती और वे परेशान रहते हैं।

खिलौने बच्चों के लिए हैं, माँ-बाप के लिए नहीं। अतः उनकी तोड़-फोड़ के लिए बच्चों को स्वतन्त्र होना चाहिए। खिलौने नुकीले या अधिक खुरदरे न हों अन्यथा बच्चे को चोट पहुँच सकती है। वे अधिक भारी भी न हों।

जल्दी टूटने वाले खिलौनों से बच्चों में निराशा की भावना पनप सकती है। अतः धातु के बने हल्के खिलौने अधिक उपयोगी होते हैं। मिट्टी के खिलौने जल्दी टूट जाते हैं। खिलौने चटख और पक्के रंगों से रंगे हों।

एक साथ ढेर सारे खिलौने देने से बच्चा उनसे अपना सामंजस्य नहीं बैठा पाता और ऊब जाता है। खिलौने इतने हों, जिनसे वह अपने ढंग से प्रगाढ़ परिचय प्राप्त कर सके और भलीभाँति मन बहला सके। बच्चों के

लिए यान्त्रिक खिलौने उपयुक्त नहीं होते। उन्हें ऐसे खिलौने ही अधिक अच्छे लगते हैं, जिन्हें वे मनमाने ढंग से हिला-डुताकर, बिगाड़कर चित्र-विचित्र रूपाकार भी दे सकें। इससे उनकी कल्पना-शक्ति विकसित होती है।

चित्रकला के लिए भी उन्हें अलग-अलग शेडों के पोस्टर रंग, भिन्न-भिन्न साइज के कुछ मोटे ब्रुश और कागज की शीटें चाहिए। इन्हीं में वे रंगों की ऐसी आकृतियाँ बनायेंगे, जो पहचानी भी न जा सकें। धीरे-धीरे उन आकृतियों में एक खास सुझाव उभरने लगेगा, जिससे बच्चे की आँख और हाथ की क्रियाओं में उत्पन्न सामंजस्य का परिचय तो मिलेगा ही, उनकी मानसिक स्थिति एवं विकास की दिशा का भी इनसे पता चलता है।

ऐसी ही सुगमता से बच्चों को मूर्तियों के बनाने का भी अभ्यास कराया जा सकता है। इसके लिए प्लास्टिक कहीं भी खिलौने की दुकान पर मिल सकती है। घर पर मैदे की लुगदी भी तैयार की जा सकती है, जो सस्ती तो होती ही है, अधिक अच्छी भी होती है। तीन हिस्सा मैदा और एक हिस्सा नमक लें। उसमें पानी और थोड़ा-सा तेल मिलाएँ, लुगदी तैयार। उसे प्रयोग के बाद प्रतिदिन प्लास्टिक के हवा बन्द डिब्बे में रखा जाय। इससे एक सप्ताह तक उसका भलीभाँति इस्तेमाल किया जा सकता है। इस लुगदी से बच्चे को तरह-तरह की मूर्तियाँ बनाना सिखाएँ। वह घण्टों इसी में डूबा रहेगा। मिट्टी के द्वारा भी मूर्ति बनाना बच्चों को सिखाया जा सकता है।

किसी बड़ई की दुकान से भिन्न-भिन्न आकृतियों के लकड़ी के ठप्पे बनवाये, खरीदे जा सकते हैं। तीन, चार या पाँच इंच की अलग-अलग लम्बाई वाले गते के टुकड़े भी काटे जा सकते हैं। इन्हें आकर्षक रंगों में रंग लिया जाय। इस प्रकार लकड़ी के छकड़े, ट्रक, बैलगाड़ियाँ, गते के पुल, सड़कें, दीवारें आदि को बनाना सिखाया जा सकता है।

प्रारम्भ में बच्चों को खिलौने बनाना सिखाना होता है। धीरे-धीरे वे उसमें स्वयं गहरी रुचि और अभ्यास के कारण निपुण हो जाते हैं। उन्हें दो-चार पहिए, कीलें, लकड़ी का डिब्बा आदि देकर गाड़ी बनाना सिखाएँ। मिट्टी, लुगदी, प्लास्टिक आदि से सरल खिलौने बनाना सिखायें। फटे हुए चिथड़ों से गुड़िया बनाना, कतरनों से कपड़े सीना, गोटा लगाकर गुड़िया को सजाना, लड़कियों को बेहद भाता है। मकान, पुल, दीवार, नाव, जहाज, घर, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय-बैल आदि बनाना बच्चे बहुत जल्दी सीखते हैं। रंगदार कागज के रंग-बिरंगे फूल बनाकर उन्हें खुश होते देखा जा सकता है। बच्चों को

टूटे खिलौनों को जोड़ना भी सिखाया जाय और उनसे नये खिलौने बनाना भी।

उन्हें प्रेरणा-प्रोत्साहन दिया जाय कि अपने मित्रों के जन्म-दिवस पर वे अपने बनाये खिलौने ही उपहार में दें। परन्तु इस प्रचलन के लिए उदार मानवीय दृष्टि अपनानी होगी। अभी तो बच्चों के जन्म-दिन भी बड़ों की आपसी लेन-देन के हिसाब को निपटाने, आर्थिक हैसियत के आधार पर रिश्ते बनाने और झूठे प्रदर्शन के माध्यम के रूप में ही मनाये जाते हैं। इससे बच्चों में भी यही भावना घर कर जाती है कि जो धनी है, हमें अच्छे उपहार दे सकता है, वही अच्छा मित्र है, उसी की और उसी के घर वालों की हमारे घर में अधिक आवभगत होती है। इससे एक ओर वह पैसे को सब कुछ मानने लगता है। दूसरी ओर स्वयं की आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई तो हीनभावना का भी शिकार होने लगता है, क्योंकि वह अपने मित्र को उतने महँगे उपहार नहीं दे सकता। इस प्रकार माता-पिता अपनी संकीर्णता को बच्चों पर भी थोपते हैं। बच्चों के जन्म-दिन मुख्यतः बच्चों को उन्हीं के दैनन्दिन साधनों से मनाने दिये जायें, थोड़ी सहायता भर की जाये। उन्हें अपने बनाये खिलौने, उपहार में देने को कहा जाय। इससे बच्चों में रचनात्मकता की होड़ मचेगी, आत्म-गौरव भी होगा। रिशतों का आधार धन नहीं, सृजनात्मक प्रतिभा, उदारता एवं आत्मीयता की संवेदना बनेगी।

इस प्रकार बच्चों के लिए सदा सस्ते, सुलभ खिलौने ही जुटाये जाएँ और इस बात का ध्यान रखा जाये कि खिलौने उनकी खेलभावना और रचनात्मकता को विकसित करें। उनमें हीन-भावना या झूठी शान अथवा धनपरक होड़ न पैदा कर दें। न ही व्यर्थ का आर्थिक बोझ बन बैठें। इसी में बच्चों का भी हित है, परिवार का भी और समाज का भी।

खेल विधि से शिक्षण

स्टर्न नामक एक विद्वान ने खेल को स्वेच्छानुरूप आत्मसंयम की एक क्रिया बताया है। जिस प्रकार बुद्ध कार्य के लिए विविध कौशल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार स्टर्न ने जीवन के लिए खेल की अनिवार्यता समझी है। दूसरे शब्दों में खेल एक उत्साहपूर्ण स्वेच्छानुरूप और रचनात्मक क्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य को आत्मनिष्कामि का पूर्ण अवसर मिलता है। काम में गम्भीरता की कमी होती है, तब वह क्रिया खेल कही जा सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि बच्चों को जो कार्य खेल के सद्भाव सहज और मनोरंजक लगें उसमें उनका मन खूब

लगता है। बच्चे ही क्यों बड़ों का भी यही हाल है कि जब तक उन्हें काम में रस आता है, वे उसमें लीन रहते हैं। जो काम अरुचिकर हो उसे करने में मन नहीं लगता और उसे करता हुआ मनुष्य शीघ्र थक भी जाता है। चतुर माता या अध्यापक, अध्यापिका बच्चे को खेल की ओट में सीखने और खेलने की प्रेरणा देती है, वह बच्चे को सोद्देश्य खेल खिलाती है। इस प्रकार खेल के रूप में जो सिखाया जाता है, उसे बच्चा शीघ्र सीख भी जाता है और दूसरे दिन फिर उसी प्रकार के खेलों द्वारा अपने पाठ को दोहराने की रुचि भी बनी रहती है। खेल में सफलता प्राप्त करने के लिए वह पाठ को समझने और याद रखने की भी चेष्टा करता है। इस प्रकार खेल विधि से शिक्षण द्वारा बच्चे की रुचि, उद्देश्य और क्रियाशीलता तीनों का सुन्दर सहयोग होता है।

खेल विधि को अपनाते समय आप इस बात का अवश्य ध्यान रखें कि वह शिक्षण का साधन बने, साध्य नहीं। खेल विधि से भाषा, इतिहास, भूगोल तथा अन्य विषयों को सिखाने के तरीके हैं।

भाषा पढ़ाने में अभिनय द्वारा बड़े रोचक ढंग से बच्चे को भाषा ज्ञान कराया जा सकता है।

अभिनय—मान लें आप बच्चे को 'बन्दर और दो बिल्लियों का झगड़ा' की कहानी सुना रहे हैं। आप चाहते हैं कि इस कहानी का वे अभिनय करें। अभिनय के समय स्टेज आदि के आडम्बर की अधिक जरूरत नहीं है। बच्चों की कल्पना सभी अमावों की पूर्ति कर सकती है। एक डण्डे में ही पेड़ की डाल की कल्पना कर सकते हैं। तराजू के स्थान पर सिगरेट के डिब्बों में छेद करके पैसिल से बाँध देने से ही काम चल जायेगा। दोनों बिल्लियों की लड़ाई का एक बन्दर ने कैसा लाभ उठाया और रोटी का बँटवारा करते समय वह किस प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके सब हड़प गया तथा परस्पर के झगड़े में तीसरे की कैसी बन आई, इसी बात को अभिनय द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट करना आपका ध्येय होना चाहिए। बन्दर को अपनी रोटी खाते देख बिल्लियों को अपनी 'म्याऊँ-म्याऊँ' तथा अन्त में बन्दर का 'हप्प' करके रोटी खाकर बिल्लियों को अँगूठा दिखाकर पेड़ पर चढ़ जाना और बिल्लियों का पछताना, घटनाओं को ठीक से अभिनय करने से कहानी का प्रभाव बच्चों पर बहुत अच्छा पड़ता है। परस्पर झगड़े करने से क्या हानि होती है, इसको वे समझ सकेंगे, साद ही बन्दर के अभिनय से हास्यरस का पुट भी आ जावेगा।

बच्चों के इस नाटक के दर्शक भी बच्चे ही होने चाहिए। इससे यह लाभ है कि स्टेज तथा पोशाक सम्बन्धी बहुत-सी चीजों की कमी बच्चों को अखरती नहीं

२.१०६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

हैं। जब बच्चे दर्शक होंगे तो अभिनेता बच्चों का अभिनय बहुत स्वाभाविक होगा। बड़ों के आगे तो नुमायशी ढंग से अभिनय करेंगे। पंचतन्त्र की अधिकांश छोटी-मोटी कहानियाँ अभिनय की जा सकती हैं। अभिनय का आयोजन बच्चों को स्वयं करने दें। आप केवल उच्चारण और भाव-प्रदर्शन का ढंग बता दें। वेश-भूषा के लिए अधिक आडम्बर की जरूरत नहीं है। अगर शेर का पार्ट अदा करना है तो कार्ड-बोर्ड के मुकुट पर शेर का एक चित्र चिपका दिया जाय। अगर यह भी न हो तो एक कार्ड बोर्ड में उस पात्र का नाम लिखकर पिन से बच्चे की कमीज या बाँह पर लगा देने से भी काम चलाया जा सकता है।

उसी प्रकार के स्वास्थ्य, सफाई, प्राकृतिक भूगोल तथा दिन-रात, ऋतुएँ, ऐतिहासिक कहानियाँ आदि पर छोटी-छोटी कहानियाँ रची जा सकती हैं और उन्हें बच्चों को अभिनय करना सिखाया जा सकता है।

पत्रिका—बच्चों को लिखने, पढ़ने, चित्रकारी करने की प्रेरणा पत्रिका द्वारा ही मिलती है। प्रत्येक घर या मोहल्ले अथवा कक्षा या स्कूल के बच्चों की अपनी पत्रिका होनी चाहिए। जिस बालक की कहानी सुलेख में लिखी हो उसे पत्रिका में स्थान देना चाहिए। बाहर से रंग-बिरंगी तस्वीरें काटकर तथा ड्राइंग बनाकर बच्चे अपनी इस पत्रिका को सजा सकते हैं। इसमें महीने भर में स्कूल, मुहल्ले तथा अड़ौस-पड़ौस के बच्चों की कोई विशेष खबर तथा बच्चों की दिलचस्पी की अन्य घटनाओं का भी उल्लेख हो।

इस पत्रिका में कक्षा में सबसे अच्छे निबन्ध, कहानी तथा सुलेख स्थान पायें। पत्रिका से बच्चों को स्वयं कहानी और कविता रचने, चित्र बनाने तथा अपना लेख सुधारने की प्रेरणा मिलेगी। पत्रिका में अपना नाम लिखा देखकर उन्हें बहुत प्रसन्नता होगी। वे उन्नति करेंगे तथा उस पत्रिका को अपनी चीज समझेंगे और उसकी उन्नति के लिए उन्हें यह आवश्यक होगा कि वे स्वयं पढ़ने-लिखने में उन्नति करें।

३. **तस्वीर अध्ययन का खेल**—एक बड़ी-सी तस्वीर दीवार पर लटका दी जाय और प्रत्येक बच्चे को पूरी पारी से एक-एक वाक्य उस तस्वीर के विषय में कहने को कहें। बड़े बच्चों से उस तस्वीर पर कोई कहानी कहने को भी कहा जा सकता है। छोटे बच्चों को कुछ चुने हुए शब्द देकर उन्हें वाक्यों में प्रयोग करते हुए कहानी को पूर्ण करने की सरल विधि बता सकते हैं। आप तस्वीर के विषय में कुछ पूछें और बच्चे तस्वीर को देखकर उत्तर देते जाएँ।

प्रत्येक घर में महापुरुषों की अच्छी तस्वीरें टँगी होनी चाहिए। सिनेमा-पात्रों आदि की तस्वीरों को तो अपने बच्चों के कल्याण के लिए बायकाट करना ही चाहिए। अवकाश के समय में अपने बच्चे की अँगुली पकड़ लें उसे कमरे में टहलाते हुए एक-एक कर चित्रों को दिखाएँ। उससे सरल प्रश्न करते जायें। यह किसका चित्र है जानते हो ? यदि बच्चा ठीक उत्तर दे ले तो उस पर शाबाशी देते हुए अपनी स्वीकृति और मौहुर लगा दें, उससे बच्चे का आत्मविश्वास बढ़ेगा और उसकी रूचि पैदा होगी। यदि न बता सकें तो आप उसे सरल भाषा में प्रेमपूर्वक समझाएँ 'यह अमर महापुरुष का चित्र है। इसमें इतनी वीरता थी कि संसार भर में धाक बैठी हुई थी। यह पवनसुत हनुमानजी का चित्र है। यह अपने स्वामी भगवान राम की आज्ञानुसार लक्ष्मणजी को जिलाने हेतु हिमालय पहाड़ से संजीवनी बूटी लाने गये थे। जब इन्हें बूटी को पहचानने में सन्देह उत्पन्न हुआ तो सारा पहाड़ ही उखाड़कर ले आये।

वीरपूजा की आज देश को आवश्यकता है। राष्ट्र की नस-नस में अहिंसा का विकृत रूप इस प्रकार व्यापक हो गया कि हमारी नाड़ियों में अब गति नहीं है, उनमें उत्साह रूपी रक्त का संचार मन्द पड़ गया है। हम सचमुच अब कायर और भीरु बनते जाते हैं। यह स्थिति किसी राष्ट्र के उत्थान में बाधक और घातक दोनों सिद्ध होती है।

हमारी आगामी पीढ़ी को तो साहसी, बलवान, उत्साही एवं संयमी बनना है। सर्वांगीण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे साहस का परिचय देकर कमाल दिखाना है। इस दृष्टि से वीर पूजा—वीरों, सदाचारियों, पतिव्रताओं और परमार्थी जीवों के जीवन में अपने बच्चे को परिचित कराना है। उनके हृदय-पटल पर उन युग-पुरुषों के महत्त्व की छाप बिठानी है ताकि बचपन से वे उनके प्रति आस्था पैदा कर प्रेरणा प्राप्त करें और अपने जीवन को उन्हीं के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करें। इस कार्य में चित्रों द्वारा बच्चों को बड़े सरल ढंग से शिक्षा दी जा सकती है। ऐसा करने से उनका मनोरंजन भी होगा और आप उसी के अध्ययन से बड़ी-बड़ी बातें भी उन्हें बता देने में साथी हो जायेंगे।

४. **कार्ड दिखाकर पूछने के खेल**—बौद्धिक विकास के लिए यह खेल बड़े उपयोगी है। बच्चों को 'क' और 'ख' दो दलों में बाँट दें। प्रत्येक बच्चे के पास एक कार्ड हो, जिस प्रकार उनके पाठ में आया हुआ कोई शब्द हो। प्रत्येक बच्चा अपना-अपना कार्ड इस प्रकार उलटकर पकड़े कि लिखा हुआ शब्द दिखाई नहीं पड़े। 'क' दल का एक बच्चा 'ख' दल के दूसरे बच्चे

के पास जाकर कुछ क्षण के लिए अपना कार्ड उसे दिखाकर फिर अपने दल में लौट आये।

अब 'क' दल का नेता 'ख' के उस बालक के उस शब्द का अर्थ तथा स्पेलिंग पूछे। अगर वह बता देता है, तब तो 'क' दल का बालक 'ख' दल में शामिल हो जाता है और अगर वह नहीं बता पाता तो 'ख' दल का बालक 'क' दल में आ जायेगा। इस प्रकार अन्त में जिस दल में अधिक बच्चे होते हैं, वह जीता हुआ समझा जाय। बच्चों की आयु और योग्यता के अनुसार इस खेल को बदला भी जा सकता है। शब्द की जगह कविता के पद या मुहावरे भी लिखे जा सकते हैं। बाद में कविता का प्रसंग और अर्थ या मुहावरे का अर्थ और उन्हें वाक्यों में प्रयोग करने को कहा जा सकता है।

५. यह क्या है ?—कुछ बच्चे एक घेरा बनाकर बैठ जाते हैं और एक बालक बीच में बैठता है। घेरे का प्रत्येक बच्चा अपनी-अपनी स्लेट पर कुछ शब्द लिखता है और घेरे के अन्दर बच्चे की ओर सब अपनी-अपनी स्लेटें घुमा देते हैं। घेरे का बालक प्रत्येक की स्लेट का अर्थ क्रम से बताता है। जिसका अर्थ वह शीघ्र नहीं बता पाता वह बालक स्वयं अर्थ बताकर घेरे में आकर बैठ जाता है और घेरे वाले बालक को उसकी जगह आकर बैठना पड़ता है। ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थानों के नाम भी स्लेट पर लिखकर उनके विषय में कोई विशेष बात भी पूछी जा सकती है। गणित के छोटे-छोटे जोड़ या घटाना, गुणा और भाग की संख्या लिखकर उसका उत्तर भी इस खेल में पूछा जाय तो मुँह-जवानी प्रश्नों को हल करने का अभ्यास शीघ्र हो जायेगा। बच्चे अपनी स्लेटों पर कोई प्रश्न लिखकर उत्तर भी माँग सकते हैं। इस प्रकार बदल-बदलकर इस खेल को खेला जा सकता है।

६. आँख-मिचौनी—इस खेल के लिए जोड़ीदार कार्ड बनाए जा सकते हैं। आधा वाक्य एक कार्ड पर और आधा वाक्य दूसरे कार्ड पर या फिर प्रश्न एक कार्ड पर और उत्तर दूसरे कार्ड पर। बच्चों को दो दलों में बाँट दिया जाता है और दोनों दलों में कार्डों की वह जोड़ी बाँट दी जाती है, जिसमें आधे वाक्य या प्रश्न लिखे होते हैं और वे कार्ड जिनमें शेष वाक्य या प्रश्नों का उत्तर लिखा होता है, मेज पर उल्टे करके बिछा दिया जाता है। प्रत्येक बच्चे के पास एक कार्ड होता है, तब दोनों दलों के बच्चों को कहा जाता है कि अपने-अपने कार्डों का पूरक कार्ड ढूँढ़ो। जिस दल के बच्चे को पहले सफलता मिल जाती है वह जीत जाता है। आँख-मिचौनी का यह खेल इतिहास, भूगोल, स्वास्थ्य रक्षा, नागरिक ज्ञान आदि सभी विषयों पर कार्ड तैयार करके खेला जा सकता है। मेज पर जो कार्ड बिछे हों

उनमें से कुछ फलतू कार्ड ऐसे भी हों जो बच्चों को भ्रम में डाल दें।

७. स्पेलिंग मैच—यह भिन्न-भिन्न प्रकार से खेला जा सकता है। दो दलों में बच्चों को बाँट दिया जाय, एक दल दूसरे से शब्द पूछे। यदि वह न बता सके तो पूछने वाला बालक उसके हिज्जे बता देगा और तब विरोधी दल के बालक उस दल में आना पड़ेगा। दूसरी विधि यह है कि बच्चों की दोहरी लाइन बना दी जाय। उसके बाद आप बच्चों से स्वयं स्पेलिंग पूछें, जो बता दे उसे आगे खड़ा करें। जो नहीं बता सके, उन्हें पीछे खड़ा करें। स्पेलिंग मैच कार्ड पर लिखकर भी खेला जा सकता है।

एक लाइन का एक लड़का कोई शब्द कहे, फिर उसके अन्त में जो अक्षर पड़े उससे प्रारम्भ होने वाला कोई शब्द दूसरी पार्टी का लड़का कहे। यह मनोरंजक खेल कई घण्टों तक चल सकता है, इससे बच्चों का शब्द भण्डार बढ़ेगा और शब्दार्थ भी मालूम होगा।

८. अन्त्याक्षरी—इस खेल में बच्चों को 'क' और 'ख' दो दलों में विभाजित कर दें। 'क' दल का बालक एक चौपाई, दोहा या पद कहे, उस पद के अन्त में जो अक्षर आवे उससे प्रारम्भ होने वाला कोई पद दूसरे दल का बालक कहे। बच्चों को अच्छे-अच्छे दोहे, चौपाइयाँ, श्लोक, सवैया, छन्द आदि कण्ठस्थ हो जायेंगे। स्वर से पदों का कहना भी आयेगा।

९. प्रश्नोत्तर—आप कुछ कार्डों में प्रश्न लिखकर रख लें। प्रत्येक बच्चा एक-एक कार्ड उठा ले और अपने-अपने प्रश्न का उत्तर निश्चित समय के अन्दर लिख दें। इन कार्डों पर व्याकरण के प्रश्न भी लिखे जा सकते हैं तथा कुछ शब्द लिख दें और उनके विरोधी लिंग और वचन पूछें। अशुद्ध वाक्य लिख दिया और उसे सुधारने को कहा। परिभाषा पूछी दो परिभाषाओं का भेद पूछा, रिक्त स्थानों को पूर्ति करवाई इत्यादि।

१०. अपरिचित को ढूँढ़ो—प्रत्येक लाइन में चार-चार शब्द लिखे और इनमें जो अप्रासंगिक हो, उसे बताने को कहें, जैसे—कुत्ता, बिल्ली, तोता, गाय।

मैना, मँस, कंबूतर, मोरा, काली, पीला, भारी, हरा।

इस खेल को इतिहास और भूगोल सिखाते समय इस प्रकार भी खेला जा सकता है कि किसी राजा के बेटों या मुख्य दरबारियों की सूची में बाहरी नाम लिख दिया जाय या किसी ऋतु के फलों या किसी देश के प्रसिद्ध चीजों की सूची में एक-दो बाहरी नाम लिख दो फिर उन बाहरी नामों को बच्चों से छोटने को कहें।

११. तुम बुझो—बच्चों को दो दल में बाँट दिया जाय। पहले दल के बच्चे विरोधी दल के बच्चों से कोई पहेली बुझाते हैं या फिर कोई शब्द (यथा—लकड़हारा) सोच लेते हैं और पहले तो शब्द के प्रथम भाग 'लकड़'

२.१०८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

शब्द को बताने के लिए अभिनय करेंगे, जैसे लकड़ी की चीजों को छूएंगे, कुछ लकड़ियों के टुकड़ों को बण्डल में बांधेंगे, फिर हारे हुए या धके हुए का अभिनय करेंगे। इस खेल में पूरी कहानी भी मूक अभिनय करके बुझाई जा सकती है। जैसे दूध की मटकी और ग्वालिन की कहानी। किसी नगर या किसी ऐतिहासिक राजा का परिचय भी बूझने को कहा जा सकता है। संकेत रूप में उस नगर या राजा के विषय में तीन बातें बताई जा सकती हैं। जिस दल के बच्चे अधिक पहेलियाँ बूझ सकें वह जीत जाता है।

१२. गुप छोट्टे—बच्चों को तीन भिन्न-भिन्न प्रकार की तस्वीरें दिखाई जायें और प्रत्येक तस्वीर के उपयुक्त बारह-बारह विशेषण आपके द्वारा दी गई विशेषणों की सूची में छोट्टने को कहें। आप भी विशेषणों की सूची इस प्रकार से बनायें कि एक तस्वीर का विशेषण दूसरे के लिए ठीक न प्रतीत हो। कुछ घरेलू वस्तुओं की सूची बना ली जाय और बच्चों से कहा जाय कि कौन-से कमरे में कौन-सी वस्तु होनी चाहिए, यह बाकायदा लिख डालो। कुछ खेलों के शीर्षक बताकर तैयार की हुई शब्दों की सूची में से प्रत्येक खेल के उपयुक्त शब्द छोट्टकर उनको वाक्य में प्रयोग करने को कहें। संज्ञा और विशेषण की सूची तैयार करने को कहें तथा वाक्यों की प्रत्येक संज्ञा के उपयुक्त विशेषण छोट्टने को कहें। एक प्रश्न के आगे उत्तर लिखें कि उनमें से कौन-सा उत्तर ठीक है, उसके आगे बच्चे लाल पेंसिल से निशान लगा दें। रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए उपयुक्त शब्द बच्चों की ही हुई सूची में से छोट्टने को कहें। शब्दों की दो सूची तैयार करें। एक सूची के विरोधी शब्द दूसरी सूची में हों। बच्चों को दोनों सूची में से जोड़ मिलाकर शब्द छोट्टने को कहें। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ढंग से यह खेल खेला जा सकता है।

१३. ऐसे वाक्य जिनके कारक, वचन और लिंग गलत हों, बोर्ड पर लिख दिये जायें और बच्चों को उन्हें सुधारने को कहें या गलत विशेषण और क्रिया-विशेषण के बदले उपयुक्त विशेषण और क्रिया-विशेषण लगाने को कहें।

कई विषय ऐसे हैं कि उन्हें खेल-विधि से सिखाते समय वाक्यों की रचनात्मक वृत्ति का विकास होता है। जैसे गुड़िया का खेल। खेल ही खेल में बच्चों को घर संभालने, बच्चों की देख-भाल, कपड़े सीने, खाना परोसने आदि की शिक्षा दी जा सकती है। मुझे स्मरण है कि मेरे बचपन में मेरी बड़ी बहिन तथा उनकी सहेलियों ने मिलकर अपने गुड़े-गुड़ियों का विवाह रचाया था। बड़े धूमधाम का आयोजन था। घर के बड़े-बूढ़ों तक को निमन्त्रण दिए गये थे। पिता, चाचा और घर के सब बड़ों ने उसमें नेवता भी दिया था तथा इन्हीं बहिनों ने मिलकर खाना बनाया और घर भर को खिलाया था। ऐसा लग रहा था मानो सचमुच लड़के-लड़की का विवाह रचा हो।

विवाह के पूर्व के सभी कृत, मेरछुआ, रतजगा, तेल आदि विधिवत् सम्पन्न हुये थे।

इसी प्रकार चित्रकारी में ड्राइंग, एलबम सजाने, फुलवारी सँवाने, मिट्टी के खिलौने बनाने और रंगने के खेल भी बच्चों को कुछ करने और सीखने की प्रेरणा देते हैं। आप बड़े-से-बड़े कार्य में बच्चों का सहयोग ले सकते हैं अगर आप उसे करवाने में खेल-विधि अपना लें तो। यदि आप कहें कि देखेंगे गेहूँ कौन पहले बीनता है ? अपना कमरा कौन पहले साफ करता है ? जल्दी से नहाकर कौन तैयार हो जाता है ? तो उन्हें काम करने में बड़ा आनन्द आयेगा।

आयु और योग्यता के अनुरूप प्रत्येक विषय का ज्ञान बच्चों को खेल विधि से दिया जा सकता है। बच्चों को खेल विधि से सिखाते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखें कि सभी बच्चे उसमें भाग लें। प्रत्येक बच्चे को आत्म-प्रदर्शन का अवसर मिलना चाहिए। खेल द्वारा बच्चे अपनी मानसिक और शारीरिक स्वस्थता को प्राप्त करते हैं। इस विषय में एक शिक्षा विशारद का कथन है कि बालकों को एक ऐसे बाल समाज में रखा जाय जहाँ उनको कुछ करने के, कुछ आत्म-प्रदर्शन के खेल मिल सकें। खेल-चिकित्सा का भी बड़ा महत्त्व है। इन पर अनेक अन्वेषण किये गये हैं और बच्चों की विभिन्न प्रकार की मानसिक कठिनाइयों में विभिन्न प्रकार के खेल निकले गये हैं। इस प्रकार लड़कों की वृत्तियों के लिए हम उचित क्षेत्र तैयार करते हैं। उनकी कार्यधारा को हम समाजोपयोगी प्रणालियों में प्रवाहित करते हैं। इसी को शोधन कहते हैं। किस प्रवृत्ति के लिए कौन-कौन से मार्ग दिये जाएँ, यह भी जानने का विषय है।

खेल विधि से शिक्षण का कार्य अध्यापक-अध्यापिकाएँ तो अपना ही सकती हैं साथ ही कुशल माँ या पिता अपने बच्चों के साथ मोहल्ले या पास-पड़ोस के बच्चों की टोलियाँ बनाकर सफलतापूर्वक इन खेलों को खिला सकते हैं।

क्या अच्छा होता यदि इसी प्रकार के दो-एक लोग हर गाँव और नगरों के मोहल्ले में निकल आते जो दलगत राजनीति के कचड़े से बाहर रहकर बच्चों के विकास में अपने खाली समय का कुछ भाग निःस्वार्थ भाव से लगाने का शुभ कार्य करते।

खेल-खेल में बालकों को सदगुणों का प्रशिक्षण

बाल-मनोविज्ञान के ज्ञाताओं की यह सर्वसम्मत राय है कि बच्चों के व्यक्तित्व विकास में खेलों का स्थान सर्वोपरि है। खेलों से बच्चों के विद्यमान गुण विकसित होते, छिपी सम्भावनाएँ व्यक्त होतीं तथा पनप गईं

ग्रन्थियाँ सुलझ जाती हैं। आज हमारे समाज का जो औसत स्तर है, उसमें अधिकांश बच्चों की अनेक उचित इच्छाएँ भी दबी रह जाना आश्चर्यजनक नहीं। फिर, अनेक तीव्र आवेग होते हैं, जो एक बच्चे और दूसरे बच्चे के बीच टकराहट पैदा करते हैं। इस टकराहट में पराजित शिशु के मन में दमित आकांक्षाएँ ग्रन्थियों का रूप धारण कर सकती हैं। अपनी इच्छा के अनुरूप प्यार न मिल पाने, किसी कारण से कभी अपने समूह द्वारा, तो कभी पालकों-अभिभावकों द्वारा तिरस्कृत होने आदि कारणों से बच्चों में उदासीनता और चिड़चिड़ापन घर कर जाता है। घर या परिवेश के प्रभाव से भी क्रोध, चिड़चिड़ापन, लापरवाही, निषेधात्मकता आदि दोष पनप जाते हैं। सही ढंग के खेल बच्चों के ये दोष दूर कर उनके विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

लेकिन इसके लिए यह जरूरी है कि ये खेल बहुत महंगे गुड्डे-गुड्डियों, वस्तुओं वाले न हों, जिन्हें बच्चे द्वारा तोड़ दिये जाने पर हम खीझ और चिन्ता से भर उठें। ध्यान रखना चाहिए कि खेल हमारे लिए तो सिर्फ खेल हैं, लेकिन उनके लिए तो वह जीवन का अभिन्न अंश है और साथ ही अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुभव है।

वस्तुतः जिसे सृजनात्मक क्रीड़ा कहा जाता है, वही बच्चों को वास्तविक लाभ पहुँचाती है। सृजनात्मक क्रीड़ा सिर्फ उन उपकरणों द्वारा सम्भव है, जो बच्चों को नितान्त सुलभ प्रतीत हों और सिर्फ अपने लिए नहीं, पड़ोसी बच्चों के लिए सुलभ दीखे क्योंकि पड़ोसियों के लिए दुर्लभ खिलौने बच्चे के मन में अपने खिलौनों के प्रति अतिरिक्त सचेतन-भाव भर देते हैं और वह उनसे पूर्णतः उन्मुक्त छेड़छाड़ नहीं कर पाता। गुड्डे-गुड्डियाँ आदि ऐसे खिलौने, जिन्हें बच्चा दिन-रात अपने साथ लिए घूमना-फिरना, उठना-बैठना, सोना-जागना चाहता है, समर्थ अभिभावकों द्वारा अधिक सुन्दर व महंगे खरीद दिये जाएँ, तो उतना हर्ज नहीं, लेकिन वह सब होने पर भी प्रत्येक बच्चा पानी, मिट्टी तथा कागज और कपड़ों के टुकड़ों, बोतलों, लेस के टुकड़े, रिबन, बटन आदि दैनन्दिन उपयोग की सुपरिचित वस्तुओं के साथ ही सृजनात्मक क्रीड़ाएँ करता है। महंगे खिलौने खरीद लाने वाले अभिभावकों को अपने बच्चों को इन चीजों से खेलते देख टोकना उचित नहीं।

गीली मिट्टी से खिलौने और चित्र-विवित्र आकार-प्रकार बनाकर खेलना बच्चों के शिक्षण और अभिव्यक्ति का पथ प्रशस्त करता है। इसी तरह, अधिक ठण्ड या तपती दुपहरी के समय के अतिरिक्त, शेष समय में स्वस्थ बच्चों को पानी के साथ मुक्त रूप से खेलने के लिए छोड़ देना चाहिए। अधिक अच्छा तो यह

है कि बच्चे चाहे जैसी गन्दी मिट्टी से खेलें, इसके स्थान पर उन्हें या तो अच्छे स्थान पर खेलने भेजा जाय या फिर घर के आस-पास अथवा आँगन में कहीं अच्छी मिट्टी उन्हें उपलब्ध करा दी जाय। इसी प्रकार पानी से खेलने की सुविधा के लिए बच्चों को स्वच्छ पानी से भरी हुई एक बाल्टी या टब में मनचाहे ढंग से खेलने की छूट दे देनी चाहिए। साथ ही वहाँ कटोरी, गिलास, छोटा-सा साबुन का टुकड़ा, बुलबुले निकालने वाली नली, छोटे-छोटे रबड़ के खिलौने आदि भी रख सकें तो उत्तम। बच्चे को इनके द्वारा पूरी तरह मुक्त होकर खेलने देना चाहिए और उसे इस बात का अलग से ध्यान तो कदापि नहीं दिलाना चाहिए कि उसकी क्रीड़ाओं को बड़े लोग लगातार देख रहे हैं। ऐसे देखने की वैसे भी कतई जरूरत नहीं है। हाँ, पर्याप्त देर पानी से खेल चुकने के बाद बच्चे की गीली पोशाक उतारकर दूसरी सूखी पोशाक जरूर पहना देनी चाहिए। यों, इसी तरह कागज, कार्ड, बटन, रिबन आदि से भी बच्चों को मुक्त रूप से खेलने देना चाहिए। परन्तु साथ ही उन्हें इन चीजों का रचनात्मक उपयोग भी सिखाना चाहिए, कागज की नाव बनाना, पतंग बनाना, बटन, रिबन तरह-तरह से सजाना, उनसे फूल-पत्ते, बेल-बूटे आदि बनाने की कोशिश करना सिखाकर, फिर उन्हें टेढ़े-मेढ़े ढंग से वैसे ही अनुकरण या प्रयास करने को छोड़ दिया जाना चाहिए। ऐसे सृजनात्मक खेलों से बच्चों को अनेक लाभ हैं। उनकी कल्पना-शक्ति उर्वर और व्यवस्थित बनती है, साथ ही वे इन सभी वस्तुओं पर अपना एकदम अधिकार अनुभव करते हैं। इससे उनकी आधिपत्य की भावना तुष्ट-पुष्ट होती है।

पानी के साथ खेलने पर बच्चों को कुछ अन्य विशेष लाभ भी होते हैं जैसे कि शान्ति की अनुभूति। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अशान्त शिशु को पानी से स्वच्छन्द क्रीड़ा के बाद गहरी सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

कई बच्चों में तिरस्कार और अपमान या लताड़ व उपेक्षा की छोटी-छोटी बातों की आवृत्ति से समाज के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति बढ़ रही होती है। मिट्टी-पानी आदि से खेलने पर ऐसे बच्चों को सुख, आनन्द और सहभागिता का अनुभव होता है और उनमें उदासीनता वाली ग्रन्थि नहीं पनप पाती। कई बार अपने स्वभाव के ही कारण कुछ बच्चे क्रोधी होते हैं, तो कुछ अन्य बच्चे घर में विषम व्यवहार, किसी अन्य भाई-बहिन के प्रति अधिक ध्यान दिये जाने या माता-पिता की अपनी कलह देख-देखकर क्रोधी और चिड़चिड़े हो जाते हैं। पानी से खुलकर खेलने पर, बच्चे की क्रोध की भावना, खेल के बीच ही अभिव्यक्त हो जाती है—कभी वह तेजी से पानी को मुट्ठी में बाँधने की कोशिश करता है तो कभी

२.११० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

मुंह-दाँत भींचता है। पानी से इस प्रकार खेलकर या मिट्टी आदि के खिलौने तोड़-फोड़कर वह क्रोध की भावना अभिव्यक्त कर चुकता है तथा इसके बाद बड़े नाटकीय ढंग से वह सहज मनःस्थिति में आ जाता है। पानी और मिट्टी से खेलते समय या गुड्डे-गुडियों के साथ खेलते हुए बच्चे बात करते हैं, इससे उन्हें सन्तोष का अनुभव होता है। पानी से खेलते समय बच्चा अपने ही शरीर से तरह-तरह से खेलने की भी इच्छा की पूर्ति कर लेते हैं और इसी के द्वारा उन्हें अपने अंगों की लोच तथा सामर्थ्य और सीमाओं का भी ज्ञान हो जाता है।

बच्चे जिन खिलौनों से खेलते हैं, वे यदि उनके ही सामने घरेलू उपयोग की चीजों से बनाये जाएँ तो उन्हें यह सब देखकर बहुत अधिक आनन्द आता है। रंग-बिरंगे कपड़ों की कतरनों से जब घर में घोड़े, कुत्ते, खरगोश, बारहसिंघे, ऊँट, जिराफ, शेर, चूहा, बिल्ली, नेवला आदि ही नहीं, गुलाब, चम्पा आदि के फूलों की भी अनुकृति बनाई जाती है, तो शिशु चरम उत्साह का अनुभव करते हैं। रंग-बिरंगी गेंदें, पतंगें, नाव आदि भी इसी प्रकार बनाई जा सकती हैं। शिशु जहाँ इन्हें खुद भी बनाने की कोशिश कर प्रमुदित होते और रचनात्मकता का विकास करते हैं, वहीं अपनी सुपरिचित वस्तुओं के इन अनूठे संयोजनों से खेलने का आनन्द ही भिन्न है।

इस प्रकार सहज-सरल और सस्ते-सुलभ साधनों तथा विधियों से शिशु को उन्मुक्त क्रीड़ा का अवसर देकर हम उनमें सृजनशीलता, अनुभव क्षमता, मुक्त मानसिकता, अधिकार भावना, ताजगी, उत्साह, सामाजिक समायोजन, सहयोग, कोमलता, व्यावहारिक दक्षता आदि अनमोल गुणों का विकास करते हैं और क्रोध, खीझ, उदासीनता, कुण्ठा आदि की ग्रन्थियों से मुक्त होने में उनकी मदद करते हैं।

खेलों द्वारा पराक्रम उभारा जाय

साहस, शौर्य, पराक्रम बढ़ाने तथा मनोबल को उभारने की पुरातन परम्परा आखेट की थी। तब राजतन्त्र का, सामन्तवाद का युग था। वन क्षेत्रों का बाहुल्य होने से पशु-पक्षियों की अधिकता थी। प्रायः शिकार हिसक जीवों का ही किया जाता था। मल्ल युद्धों का, शस्त्र युद्धों का आयोजन भी इसी प्रयोजन के लिए होता था ताकि उपरोक्त लक्ष्य पूरा होता चले। शरीर की बलिष्ठता बढ़ाने के लिए आसन व्यायाम आदि की परम्परा चिरप्राचीन है। आखेटों, शस्त्र संचालन प्रतिस्पर्धाओं में शरीर को मजबूत बनाने लाभ तो मिलता ही था सबसे बड़ा लाभ मनोबल के विकास का प्राप्त होता था।

सभ्यता की उस अर्द्ध-विकसित स्थिति में शरीरबल बढ़ाने तथा मनोबल निखारने के आज जैसे स्वस्थ माध्यम

उपलब्ध नहीं थे। खेलों का स्वरूप व्यवस्थित न था। सीमित क्षेत्र की छुटपुट प्रतिस्पर्धाओं में सीमित व्यक्ति ही भाग लेते थे। व्यापक-राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर खेल प्रतियोगिताओं का आरम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद हुआ।

उन्नीसवीं सदी के उपरान्त औद्योगिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्रों में असाधारण प्रगति हुई। संचार एवं यातायात के सुविकसित साधन उपलब्ध हो जाने से विश्व का दायरा भी सिकुड़कर एक मुहल्ले जैसा हो गया। सुव्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाएँ आयोजित करने की परम्परा भी चल पड़ी। खेलों की अनेकानेक धाराओं का विकास भी इस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ होता चला गया।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वे समस्त साधन मौजूद हैं जिनसे न केवल शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास कर सकना सम्भव है, वरन् आरोग्य, सन्तुलन, उत्साह, उमंग एवं प्रसन्नता से युक्त मनःस्थिति को प्राप्त करना भी शक्य है। आदिमयुग के आखेट एवं युद्धों से शरीर एवं मन की बलिष्ठता तो बढ़ती थी पर मनुष्य की बर्बरता भी उसी अनुपात में बढ़ती जाती थी। इस दृष्टि से वे माध्यम सभ्य एवं सुसंस्कृत मनुष्य के अनुकूल नहीं हैं। पर खेलों ने उस समस्या का निदान प्रस्तुत किया है। हिंसा जैसी इनमें कोई बात नहीं है, जबकि इनके माध्यम से शौर्य, पराक्रम, मनोबल, शारीरिक बलिष्ठता अर्जित करने के वे सभी प्रयोजन पूरे हो सकते हैं, जो कभी आखेटों तथा बर्बर युद्धों से पूरे होते थे।

शारीरिक योग्यता एवं मानसिक दक्षता प्राप्ति में आहार-विहार, खेल-कूद, व्यायामादि शिक्षण आदि का भी महत्त्व है। व्यक्तिगत स्तर पर इन्हें उपलब्ध करने के लिए प्रयास भी किये जाते हैं। यहाँ उन व्यक्तिगत प्रयत्नों की महत्ता कम नहीं की जा रही है, वरन् यह कहा जा रहा है कि समस्त मानव समुदाय एवं जाति का विकास अभीष्ट हो तो अन्यान्य प्रयत्नों के साथ-साथ खेलों को भी उतना ही महत्त्व देना होगा। किसी जाति अथवा समाज का भविष्य जानना हो तो वर्तमान में उसके जीवनक्रम में यह देखना चाहिए कि उत्साह उमंग की मात्रा कितनी है? विशेषकर शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर उस जाति अथवा समुदाय के भविष्य का उद्घोष तो किया ही जा सकता है। स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन, सभ्य और प्रगतिशील समाज की संरचना के भी अन्ततः कारण बनते हैं।

मनःशास्त्रियों ने तो खेलों को मन के विकास का एक सुगम और सर्वोत्तम माध्यम माना है। मनोवैज्ञानिक खेलों को स्वेच्छापूर्वक आत्मसंयम एवं आत्मानुशासन की एक प्रक्रिया मानते और कहते हैं कि वह एक ऐसी

उत्साहपूर्ण रचनात्मक प्रक्रिया है, जिससे मनुष्य को आत्माभिमुख होने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। आत्माभिमुख वृत्ति का अभाव ही अनेकों प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों को जन्म देता तथा अनेक मनोरोगों का कारण बनता है। खेलों में प्रायः किसी प्रकार का बाह्य दबाव नहीं होता। हर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार खेलता है। श्रम युक्त काम सामान्यतया बोझिल मन से किया जाता है। श्रम करने वाला मनोवैज्ञानिक दबाव भी अनुभव करता है। खेल मनोरंजन तथा आन्तरिक प्रसन्नता के लिए खेले जाते हैं। शारीरिक श्रम तो उनमें भी करना पड़ता है पर उनका स्वरूप भिन्न स्तर का होता है। किसी प्रकार का मानसिक दबाव न होने तथा सदा उत्साह उमंग से भरे होने से वह श्रम थकान नहीं, विकास का माध्यम बन जाता है।

श्री स्पेन्सर के अनुसार अतिरिक्त शक्ति हर बालक किशोर तथा युवक के भीतर भरी होती है, खेलों द्वारा उसे उभरने का अवसर मिलता है। स्टैनली हाल का कहना है कि प्रायः किशोरावस्था में शारीरिक एवं मानसिक आवेग अत्यन्त प्रबल होते हैं। दिशा न मिलने पर वे अवांछनीय दिशा में बह चलते हैं। फलस्वरूप भटकाव शुरू हो जाता है। संवेगों, आवेशों को रचनात्मक दिशा में नियोजित रखने में खेल महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इससे मनोवृत्तियों पर अंकुश रखने तथा उनके परिष्कार का सुअवसर मिलता है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य के भीतर पशु-प्रवृत्तियाँ कूट-कूटकर भरी हैं। उनकी बुराइयों से छुटकारा पाना कठिन पड़ता है। खेल के द्वारा उनके परिमार्जन एवं सुनियोजन का लक्ष्य पूरा होता है। साथ ही मनुष्य के भीतर आत्म-प्रदर्शन की प्रसुप्त भावना विकृति के रूप में पायी जाती है, जो विकृत होकर अहंकार, द्वेष, ईर्ष्या आदि का रूप ले लेती है। यही अन्ततः सामाजिक कलह एवं विघटन का कारण बनती है। खेलों में आत्म-प्रदर्शन की खुली छूट रहती है। फलतः उन दुर्गुणों को पनपने का अवसर नहीं मिलता। खेल में प्रदर्शन से जो आत्मसन्तुष्टि होती है, उससे मानसिक विकास में भी सहयोग मिलता है।

खेलों की महत्ता एवं असाधारण लाभों को देखते हुए उन्हें प्राइमरी एवं माध्यमिक कक्षाओं में अनिवार्य रूप से सम्मिलित तो किया गया है पर उनमें प्रायः उतनी रुचि बालकों एवं किशोरों की नहीं दिखाई पड़ती, जितनी कि अन्य देशों की नयी पीढ़ी में है। इस सत्य का प्रमाण प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाली प्रतिस्पर्धाओं में मिलता है। छोटे-छोटे अल्पविकसित राष्ट्र प्रदर्शन में बाजी मार ले जाते हैं, जबकि भारत का प्रदर्शन कुछ खेलों को छोड़कर अत्यन्त निराशाजनक रहता है। पिछले दिनों हुए एशियाई खेलों के परिणाम सभी के सामने हैं।

यह उन देशों की खेलों में गहरी अभिरुचि समुचित प्रारम्भिक स्तर पर शिक्षण प्रक्रिया का ही परिणाम है कि प्रतिस्पर्धाओं में सिरमौर बने रहे, जबकि भारत का प्रदर्शन अपेक्षाकृत निराशाजनक एवं घटिया स्तर का रहा।

पदकों की बात छोड़ दें, तो भी उस उपेक्षा की मनोवृत्ति का परिचय मिलता ही है, जिसके कारण समुचित प्रवीणता हासिल न हो सकी और असफलता हाथ लगी। साथ ही इस बात की भी जानकारी मिलती है कि देश की युवा पीढ़ी में भी उस स्तर के उत्साह एवं उमंग की कमी है। इसे दूर करने के लिए शैक्षणिक एवं सामाजिक दोनों ही स्तरों पर प्रयास करने होंगे। शारीरिक बलिष्ठता एवं मानसिक प्रखरता के बिना भौतिक क्षेत्र में भी प्रगति सम्भव नहीं है। उपरोक्त लक्ष्य की प्राप्ति में एक छोटा-सा शुभारम्भ नयी पीढ़ी में खेलों के प्रति अभिरुचि जाग्रत करने तथा प्रशिक्षण की सही ढंग से विधि-व्यवस्था बनाने के रूप में हो सकता है।

बच्चों को पंगु मत बनाइए

युवक जो किसी भी नये स्थान पर जाने में परेशानी महसूस करते हैं, बचपन का लाड़-प्यार और तज्जनि आरामतलबी की आदत ही उसका कारण है। लाड़-प्यार बाल-विकास के लिए अनिवार्य भी है परन्तु वह विवेकपूर्ण होना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि बढ़ती उम्र के साथ कार्य करने का उत्साह जब कोई बालक दिखाता है तो बड़े और वयस्क सदस्य यह कहकर उसे रोकते हैं—‘रहने दें लल्लू तू तो खेला। यह काम हो जायेगा।’ नहाने के बाद कोई बालक अपनी अण्डरवियर भी धोने लगता है तो माता-पिता उसे मना कर देते हैं।

सोचा जाता है काम तो जिन्दगी भर करना है। खेलने, खाने-पीने और मौज-मजा करने का समय बचपन ही तो है। इस उम्र में भी बच्चों को काम में क्यों जोता जाय ? इस धारणा से बच्चों की कार्यक्षमता में अवरोध उत्पन्न होता है। आगे चलकर इस स्थिति में रहने वाले बालक हाथ-पैर होते हुए भी पंगु बन जाते हैं। हालांकि यह सच है कि बचपन खेलने, खाने की उमर है, मौज-मजे और मस्ती की जो सम्भावनाएँ तथा सुविधाएँ बाल्यावस्था में रहती हैं आगे चलकर वे नहीं मिल पातीं। परन्तु इसका मतलब यह तो नहीं कि बच्चों को निष्क्रिय, परमुखापेक्षी तथा दबू बना दिया जाय।

बड़े-बड़े वयस्क पुरुष अपने कपड़े भी ठीक से साफ नहीं कर पाते। सम्यता और शिष्टता से परिपूर्ण कई महिलाएँ अच्छी तरह खाना भी नहीं बना सकतीं। ऐसे लोगों को, जब बचपन में उनके माता-पिता ने कोई भी काम करने से रोका होगा—उसका कारण लाड़-प्यार ही हो सकता है—क्या उन्हें पंगु नहीं बनाया ?

२.११२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बच्चों को प्रायः स्कूल भेजा जाता है। उनका अधिकांश समय शिक्षा-दीक्षा और अध्ययन में बीतता है। बाकी समय खेल-कूद, खाने-पीने में बीतता है। उसके बाद भी शेष जो समय बचता है, वह प्रायः आराम करने में व्यतीत होता है। ऐसी स्थिति में उनमें कोई काम करने के लिए कहते वक्त माता-पिता सोचते हैं कि हम ज्यादाती कर रहे हैं।

जिन बच्चों को काम करने से रोका जाता है उनमें बहुत-सी अनर्थकारी प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं। वे समझते हैं साधारण काम करना निम्नस्तर का या हेय आदत है जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर उनकी यह आदत स्वभाव का अंग बन जाती है। वे पानी का एक गिलास भी भरकर नहीं पी सकते। बैठे-बैठे पत्नी या नौकर से पानी मँगवा लेते हैं और पी लेते हैं। यह तो उदाहरण मात्र है। ऐसी अनेकों बातें उन्हें बेकर और काम चोर बना देती हैं। किन्हीं-किन्हीं बालकों के मन में आत्महीनता भी घर करने लगती है। वे सोचते हैं कि शायद हम ठीक प्रकार से काम नहीं कर पाते हैं। इसी प्रकार माँ-बाप बड़े प्यार से उन्हें मना करते हैं।

कुछ बच्चे यह सोचने लगते हैं कि काम करना कोई बुरी बात है। साधियों से मार-पीट करते समय या स्कूल न जाने पर माँ-बाप उसी लाड़-दुलार और प्यार से मना करते हैं जैसे कि काम करते वक्त। फलस्वरूप वे काम के प्रति गलत धारणा बना लेते हैं। जो आगे चलकर नौकरों की आवश्यकता और परावलम्बिता की ओर प्रवृत्त करती है।

इसलिए आवश्यक है कि बच्चों को काम करने से रोकने की अपेक्षा कार्यों में भी उनमें सहयोग लेना चाहिए। ऐसे बच्चे आगे-आगे चलकर स्वावलम्बी और किसी पर आश्रित न रहने वाले बनते हैं। इसलिए घर के कामकाज में बच्चों से सहयोग लेते रहा जाय। यह आदत उनके भविष्य के लिए बहुत अच्छी है।

माता-पिता अपने बालक की मनोभूमि तथा स्थिति का ज्ञान तो रखें किन्तु यह न भूलें कि उन्हें भावी सभ्य, सुसंस्कृत, उत्तरदायी नागरिक भी बनाना है। वे सदा बच्चे बनकर नहीं रहते। उन पर व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक व मानवीय कर्तव्यों का भार भी पड़ने वाला है। उनमें उसे वहन करने की सामर्थ्य आये, ऐसे क्रमबद्ध प्रयास करते रहना चाहिए।

चाहे जो हो पर बालक आलसी न हो

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आर. एफ. थामसन ने बालकों की प्रवृत्तियों का लम्बे समय तक बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया। 'फाउण्डेशन ऑफ फिजियोलॉजिकल साइक्रेलॉजी' में उक्त अध्ययन के सार लिखते हुए उन्होंने

बताया—बालक में आगे चलकर जितनी भी बुराइयाँ पनपती हैं उनका प्रारम्भ आलस्य से होता है, यदि इस आलस्य की जड़ प्रारम्भ में ही काट दी जाये तो भले ही बालक अशिक्षित रह जाये, पर जीवन में कभी असफल नहीं रह सकता।

जीवन और सक्रियता वस्तुतः एक-दूसरे के पर्याय या यों कहें कि एक ही वस्तु के दो पहलू मात्र होते हैं, उसी तरह आलस्य और अन्धकार भी समानार्थी शब्द हैं, असफलता अन्धकार और दुर्गुणों का भवन आलस्य की नींव पर खड़ा होता है। इससे कुशल माता-पिता इस बात पर अधिक ध्यान रखते हैं कि उसकी सक्रियता नष्ट न होने पावे।

प्रकृति ने बालक को स्वभावतः ऐसा बनाया है कि वह कभी एक क्षण चुप और निष्क्रिय रह ही नहीं सकता। आग को छूना कष्टदायक है, पर उसे इससे क्या मतलब, वह स्पर्श किये बिना मानेगा नहीं, फर्श में पानी भरा है, शीत है, बच्चा पानी में खेलता है तो इसका अर्थ है उसे सर्दी लगे बिना मानेगी नहीं, पर वह भी बिना पानी में छप-छप किये मानेगा नहीं। अपनी इस चंचल प्रकृति के कारण वह बार-बार गिरता है, चोट खाता है, अखाद्य भक्षण करता है, तोड़-फोड़ करता है, सब कुछ करता है, पर वह चुप नहीं बैठ सकता। फिर उसके आलसी हो जाने की आशंका क्यों जन्मी ?

इसका उत्तर 'फाल्ट्स ऑफ चाइल्ड हुड एण्ड यूथ' पुस्तक में उसके लेखक अमरीका के प्रो. एम. वी. ओशिया ने यों दिया है—'बच्चों को आलसी बनाने का काम माता-पिता करते हैं, कुछ अभिभावक बच्चे की सक्रियता में बाधा उत्पन्न करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित मानते हैं। इसलिए वे यह समझते हैं कि बच्चा जो कर रहा है, उसे करने की पूरी छूट रहनी चाहिए। अपनी इसी मान्यता के कारण वे उसे कुछ भी करने देते रहते हैं, उदाहरण के लिए, वह आग की ओर बढ़ रहा है, उसे न रोकने से भी बच्चा जलेगा और रोकने से भी वह मानेगा नहीं, पर यदि रोका नहीं गया तो उसका साहस नष्ट होगा और भय की भावना पैदा होगी। फिर वह चाहे जो कुछ करने से हिचकिचायेगा, आलस्य की आत्महीनता का यही उद्गम है।

यदि बच्चे को रोकने की समझदारी की गई और बच्चा फिर भी न माना तो वह जलने के बाद भयभीत होने की अपेक्षा अपनी भूल अनुभव करेगा और माता-पिता के आदेशों को अधिक व्यावहारिक मानने का संस्कार विकसित करेगा। इसलिए उसे गलत कार्यों से रोका ही जाना चाहिए अन्यथा भय और अनुशासनविहीनता के विकार उगेगे, जबकि मना करने से वह अनुशासित होगा, माता-पिता की भावनाओं के पास आयेगा। इससे उसका विकास रचनात्मक दिशा में तेजी से किया जा सकेगा।

दूसरे प्रकार के अभिभावक वे होते हैं जो समझाने, सिखाने और भूल सुधारने की अपेक्षा बच्चे को निरन्तर कोसने और धमकाने में विश्वास करते हैं। इससे भी बालक में निष्क्रियता की ग्रन्थियाँ जड़ पकड़ने लगती हैं। दोनों ही परिस्थितियों में अभिभावकों का मानसिक सन्तुलन और उनकी निरीक्षण बुद्धि का स्थिर रहना आवश्यक है। बच्चों को कुछ भी कहें पर विल्लाकर न कहें अपितु हितैषी और मित्र के रूप में समझाएँ।

बच्चा अपनी बौद्धिक क्षमताओं और मान्यताओं का विकास भावनाओं के माध्यम से करता है, क्योंकि वह प्रारम्भ में बुद्धि को पकड़ने में जितना असमर्थ होता है उतना ही भावनाओं की दृष्टि से कुशल और संवेदनशील। अपनी भौयें चढ़ाये तो बालक में निराशा के हाव-भाव झलकने लगेंगे। फिर जब मुस्करा दें बालक के होंठ खिल पड़ेंगे। यह इस बात की साक्ष्य है कि उसकी प्रकृति भावनाओं की परख में प्रारम्भ से ही सक्षम होती है, यदि भावनाओं पर प्रहार किया गया तो उससे उसकी बौद्धिक क्षमताओं का नष्ट होना स्वाभाविक है। निष्क्रियता यहीं से पनपती है, यहीं से उसमें स्थायिक दुर्बलता के संस्कार जन्म लेते हैं, अतएव बालक को शिष्टाचार सिखाने से लेकर उसकी वर्जना तक में गहरी आत्मीयता का भाव प्रच्छन्न रहे, उभरा हुआ रहे, सीख, आदेश और आज्ञाएँ अनुवर्ती अर्थात् जो भी समझाया, सिखाया जाये उसे आगे बढ़ाने की शक्ति भावनाएँ हों, जो बच्चे में स्नेह, ममता और कल्याण का संचार करती हों।

प्रो. ओशियो के अनुसार इसका रचनात्मक उपाय यह है कि बच्चे में प्रारम्भ से ही छोटी-छोटी महत्वाकांक्षाएँ जाग्रत की जायें। जैसे—खिलौने क्रम से रखना, कुर्सी, मेजे क्रम से रखना, उसके कपड़े क्रम से सजाकर रखना इससे उसमें सुरुचि की महत्वाकांक्षा जगेगी। उसे बगीचे में ले जायें स्वयं क्यारी की गोड़ई करें और बच्चे को कहें वह पास रखी पौध उठा दे। इस बीच उसमें पौधों में लगने वाले फूलों की सुन्दरता के प्रति जिज्ञासा भरे, उनका गुणगान करें उससे घर की सुन्दरता और सजावट का स्मरण करायें।

पुस्तकों को अच्छी तरह रखना, वेष-विन्यास व्यवस्थित रखना इनसे बच्चे की रचनात्मक सक्रियता विकसित होती है। इसे आगे चलकर दूसरी भौतिक उन्नति की दिशाओं की ओर अग्रेंषित किया जाये। ऐसे बालकों की आलसी प्रवृत्ति अपने आप समाप्त हो जायेगी।

कई बार बालक बार-बार सिखाने और समझाने से भी नहीं मानता तो इसका अर्थ उसका बालहठ न माना जाये। प्रकृति संवेदनशील ही नहीं, सरल भी होती है, बच्चों की सरलता तो अभी रहे, अभी हँस देने जैसी विलक्षण होती है उसके 'हठ' को चरम स्थिति की संज्ञा देना मनोवैज्ञानिक त्रुटि या रूढ़िमात्र है। बच्चा हठ दो ही परिस्थितियों में करता है, एक तो तब जब उसे कुछ

कष्ट हो और उसे दी जा रही शिक्षा या दिशा उससे विपरीत हो। यह समय अपने लिए सबसे बड़ी परीक्षा का होता है, क्योंकि प्रायः अभिभावक यहीं फिसलकर उसे दण्ड दे बैठते हैं, जो क्रमशः भय और निष्क्रियता का साधक हो जाता है।

कई बार बालक के संस्कार उसके बिल्कुल ही अनुरूप नहीं होते। कई बच्चों को केले बहुत पसन्द होते हैं, कई को बिल्कुल नापसन्द। ऐसी स्थिति में बालक को हठी होने का दोष दे सकते हैं तो क्या यह अपना भी हठ न होगा कि हम उसे जबर्दस्ती वही चीज दें। ऐसी परिस्थिति में बालक की मनोभूमि के अनुरूप सहयोग प्रदान करना उचित रहता है। बच्चा डाक्टर ही बने इस पूर्वाग्रह की अपेक्षा यदि उसमें सैनिक के गुण हैं तो उसे उस तरह की परिस्थितियाँ देने में कंजूसी नहीं की जानी चाहिए। जब अभिभावक यही दिशा देने में पूर्वाग्रह दिखाते हैं, तभी बच्चे में निष्क्रियता की ग्रन्थि पनपती है। अतएव दोनों ही प्रकार से बच्चे को दबाव मुक्त रखकर सक्रियता जगायी जाये, यही उचित है, यही व्यावहारिक।

बच्चों को अनुशासन कैसे सिखाएँ?

अनुशासन में रहने का अर्थ है—मर्यादाओं में रहते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न करना। मर्यादाएँ इसलिए निर्धारित की जाती हैं कि मनुष्य अपनी शक्तियों का उपयोग दूसरों को हानि पहुँचाये बिना अपने लाभ के लिए करता रहे। नदी जब तक मर्यादा में रहती है, तब तक उसका सौन्दर्य दर्शनीय बना रहता है और प्रवाह भी लोगों को प्रेरणा देता है और जब नदी अपनी मर्यादा को तोड़कर मनमाने ढंग से आगे बढ़ती है तो उसका प्रवाह विध्वंस उत्पन्न करता है तथा उसकी सुन्दरता भी जाती रहती है। नदी के प्रवाह को मर्यादाओं में बाँधकर लाखों एकड़ जमीन सींच ली जाती है और मर्यादाओं को तोड़ता हुआ नदी का प्रवाह प्रलय की-सी स्थिति बना देता है। अनुशासन की, मर्यादाओं की आवश्यकता जीवन में इसीलिए पड़ती है कि अपने व्यक्तित्व को प्रवाहपूर्ण, प्रगतिगामी और दूसरों के हितों को अनाघाती बनाये रखा जा सके।

स्वयं ही जो अनुशासित रहते हैं, अपनी मर्यादाओं में बँधे रहकर जीवन व्यतीत करने का महत्त्व समझते हैं और आत्मानुशासन की कला जानते हैं वे दूसरों के भी श्रद्धा-पात्र बनते हैं तथा स्वयं भी अबोध रूप से प्रगति करते रहते हैं, और जो अनुशासन में नहीं रहते, उन्हें समाज दण्ड तथा दमन द्वारा दूसरों के हितों पर चोट करने से रोकता है। आत्मानुशासन जहाँ आदर्श है वहीं दूसरों के द्वारा किया गया, अनुशासन उतना सम्मानजनक नहीं है। मर्यादाओं में रहने और अनुशासनपूर्वक जीवन व्यतीत करने की कला बचपन से ही सिखानी चाहिए। माता-पिता बच्चों को योग्य बनाने के लिए हर सम्भव

२.११४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

प्रयत्न करते हैं, चाहते भी हैं कि उनके बच्चों का व्यक्तित्व विकसित और प्रगतिगामी बनें, पर उन्हें अनुशासन में रहने की कला सिखाने का दायित्व कुछ ही अभिभावक पूरा करते हैं।

बच्चों को अनुशासन न सिखा पाने के कारण उद्विग्नता, उच्छ्वलता, ढीठपन और अनगदता जैसी विकृतियाँ पनपने लगती हैं। दूसरे तो ऐसे बच्चों की शिकायत करते ही हैं, माँ-बाप भी उनकी हरकतों के कारण दुःखी रहा करते हैं। अतः यह उचित है कि बच्चों को आरम्भ से ही अनुशासन में रहना सिखाया जाये और इस ढंग से सिखाया जाये कि वे आत्मनुशासन की योग्यता अर्जित कर लें। इस तरह बच्चों को आत्मनुशासन में रहना सिखाने के लिए बच्चों के साथ बच्चों के स्तर का व्यवहार करना बहुत जरूरी है। इसका अर्थ यह है कि हमारा प्रयोजन भी पूरा हो जाय और बच्चों के चित्त पर उसकी गलत प्रतिक्रिया भी न हो।

उन्हें अनुशासन में रखने की प्रचलित पद्धति यह है कि या तो उन्हें आज्ञाकारी बनाने की चेष्टा की जाती है या फिर एकदम आवारा और उच्छ्वल बन जाने के लिए छोड़ दिया जाता है। महज आज्ञाकारी बनाने के ही प्रयत्न बच्चों को अनुशासन में रहना नहीं सिखाते, वरन् उन्हें पराधीन बनाने का कारण ही अधिक बनते हैं। अबोध और नासमझ बच्चों से हम यह आशा करें कि वह हमारी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करें और इस दिशा में हमारे प्रयत्न सफल भी हो जाएँ तो बच्चे आज्ञाकारी बन जायेंगे लेकिन उनमें स्वतन्त्र बुद्धि का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। जो जीवन भर एक अभिशाप की तरह उसके पीछे लगा रहेगा। ऐसे कई क्षण आते हैं जब स्वतन्त्र निर्णय लेने की आवश्यकता पड़ती है। केवल आज्ञाओं का ही पालन करते रहे तो बच्चे बड़े होकर ऐसे अवसरों पर अपने मित्रों तथा शुभचिन्तकों के मोहताज बन जायेंगे। उनके परामर्श से ही कोई कदम उठाएँगे अन्यथा जहाँ के तहाँ ही पड़े रहेंगे।

बच्चों को अवज्ञाकारी और उद्विग्न तो नहीं बनाया जाय पर मात्र आज्ञाकारी बनाये रखकर स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता को भी पंगु न बना दिया जाय। अक्सर लोग अपने बच्चों को आज्ञाकारी और सही राह पर लाने के लिए एक ही तरीका अपनाते हैं और वह तरीका है मारने, पीटने, डाँटने-डपटने तथा सजा देने और दण्डित करने का, मार-पीट और डाँट-डपटकर बच्चों को किसी काम से रोकने या किसी काम में लगाने का तरीका आम प्रचलित है। लेकिन यह तरीका अव्यावहारिक है और बच्चों में ढीठता उत्पन्न कर देता है। मार के डर से बच्चा शुरू-शुरू में लगाये गये बन्धनों और दिये गये निर्देशों का पालन करता है, पर जैसे-जैसे वह समझदार होता जाता है, वह गलती कर उसे छुपा लेने का रास्ता

ढूँढ़ लेता है या गलती करने पर पिटते-पिटते मार खाने का अभ्यस्त हो जाता है। फिर उसे पिटाई का भी कोई डर नहीं रहता। वह सोचता है, माँ-बाप थोड़ा-बहुत मार लेंगे, इससे ज्यादा कुछ होगा तो नहीं। प्रतिबन्धित काम को करने का। मजा इस रोज के क्रम से डरकर क्यों छोड़ा जाय ? मार-पीटकर या सजा देकर बच्चों को सुधारने, उन्हें अनुशासनप्रिय बनाने का नियम पुराना भी पड़ गया है और अव्यावहारिक भी सिद्ध हुआ है, क्योंकि इस तरह सुधारने के प्रयत्नों से बच्चों में सुधार तो आता नहीं, दूसरी कई बुराइयाँ आ जाती हैं और उसका व्यक्तित्व संकुचित तथा अविकसित रह जाता है सो अलग।

बाल-मनोविज्ञान का यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है कि बच्चा किसी भी बात को स्थायी रूप से तभी ग्रहण कर पाता है, जब वह उसके सम्बन्ध में सोचता है और इस निर्णय पर पहुँचता है कि ऐसा करना अच्छा है। उदाहरण के लिए, घर का कोई बच्चा आवारा घूमता है तो घर के लोग लाख मना करें पर वह मानता नहीं। खीझकर उसकी पिटाई भी हो जाती है, माँ चिल्लाती है, पर वह आवारा घूमना बन्द करने की अपेक्षा और बढ़ा देता है। न उसका घर में मन लगता है और न पढ़ने में जो लगता है। मारपीट से भयभीत होकर वह कुछ समय के लिए ऐसा करना छोड़ भी दे तो पिटाई की बात भूलते ही पुनः वह क्रम शुरू कर देता है। अर्थात् मार-पीट का उस पर कोई असर नहीं होता। इसके विपरीत उसके ध्यान में यह बात उतारी जाय कि ऐसा करना गलत है, आवारा घूमना खराब है, माँ का कहना न मानना बुरा है और वह इस बात को समझ ले तो तुरन्त उस पर अमल करना शुरू कर देता है। मार-पीट के द्वारा बच्चे की किसी भी बुरी प्रवृत्ति को स्थायी रूप से रोक पाना सम्भव नहीं है।

अतः बच्चे को अनुशासन में रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके साथ मार-पीट न की जाय और न ही उसे डाँटा-फटकारा जाय, बल्कि उसे जिस दिशा में लगाना है और जिस काम में प्रवृत्त करना है, उसकी उपयोगिता और महत्ता समझायी जाय। जब बालक किसी काम या आदत के सम्बन्ध में भली-भाँति समझ लेता है और उसके महत्त्व या हानिकारकता को जान लेता है, तो उसी के अनुसार उस दिशा में प्रवृत्त अथवा निवृत्त हो जाता है।

बालक को अनुशासन सिखाने के लिए यही सिद्धान्त आधार बनाकर चलना होगा। अगर हम चाहते हैं कि बच्चा हमारा आज्ञाकारी बने, जो बात हम कहें वह उसकी उपयोगिता को समझे, स्वीकार करे तथा उसी के अनुसार आचरण करे तो हमें पहले उसका श्रद्धास्पद बनना होगा। जोर-जबर्दस्ती से बच्चे आपके आदेश को मान लेंगे, उस समय वैसा आचरण भी कर लेंगे, पर जोर-जबर्दस्ती का जो

एहसास उन्हें रहेगा वह उसके मन में आपके प्रति विद्रोह के बीज बोयेगा। यह विद्रोह आगे चलकर बड़ा होने पर फूटेगा। यही कारण है कि बचपन में कठोर नियन्त्रण में रखे गये बच्चे जवान होने पर सबसे अधिक उपेक्षा और अवज्ञा अपने माता-पिता की ही करते हैं।

बालकों के लिए श्रद्धेय बनने का एकमात्र उपाय है—मधुर स्नेह की अभिव्यक्ति। प्रश्न उठता है कि कौन माता-पिता अपने बच्चों से घृणा करते हैं और उनका बुरा सोचते हैं ? सवाल इस बात का नहीं है। सवाल तो यह है कि बच्चा आपके स्नेह और शुभचिन्तन को अनुभव भी करते हैं या नहीं। बच्चों के प्रति हृदय में स्नेह रखते हुए बाहर से यदि कठोर ही बना जाय तो उसकी कोई अच्छी प्रतिक्रिया नहीं होती; पर अधिकांश माता-पिता इसकी परवाह किये बिना साधना-स्तर के इस मार्ग के झंझट में न पड़कर सजा देकर बच्चों को सबक सिखाने और सुधारने के प्रयत्न को सीधा और सरल मार्ग समझते हैं। इससे बच्चों में कोई सुधार तो होता नहीं, माता-पिता अपने प्रति बच्चों की श्रद्धा भी खो बैठते हैं।

प्रायः बच्चों को लेकर यह शिकायत की जाती है कि वे समय पर नहीं उठते, न समय पर पढ़ते हैं, अस्त-व्यस्त और फूहड़पन से रहते हैं। इन बातों को लेकर भी बच्चों से कठोर व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। बच्चों के लिए दिनभर का एक कार्यक्रम निश्चित कर उस पर चलने का अभ्यास कराया जाना चाहिए। इससे उनके जीवन में नियमितता और निश्चितता आती है। जब बच्चा थोड़ा-बहुत समझने लग जाय तो उसकी मोटी-सी दिनचर्या बनाकर तदनुसार ऐसे अपना दिन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। लेकिन स्मरण रहे दिनचर्या के इस निर्धारण में बालक को भी महत्त्व दिया जाय, उसकी राय ली जाय। इस प्रकार उन्हें अपने ही बनाये नियमों का पालन करने में और भी उत्साह का अनुभव होगा।

समझ और ज्ञान का अभाव सभी बच्चों में होता है। इससे वे गलतियाँ भी कर बैठते हैं। कई लोग यह सोचकर इस ओर ध्यान नहीं देते कि बच्चे ही तो हैं, आज नहीं तो कल सीख जायेंगे। यह नीति खतरनाक है। तुरन्त बालक की भूल को सुधार देना आवश्यक है, अन्यथा बच्चा अपनी गलती को कभी नहीं समझेगा और उसे बार-बार दुहराता रहेगा। अभ्यास पड़ जाने पर ऐसी त्रुटियों को सुधार पाना बड़ा कठिन और कष्ट-साध्य हो जाता है। अतः बालक जब पहली बार कोई गलती कर रहा हो या जब भी आपके ध्यान में उसकी गलती आ गयी है, तुरन्त उसके लिए प्रेमपूर्वक समझाना चाहिए। जैसे बच्चा माचिस से खेल रहा हो और उसे जलाने की चेष्टा कर रहा हो तो उसे तुरन्त समझाना चाहिए कि— “बेटा इससे आग लग जाती है। इससे नहीं खेलना चाहिए। खेलने के लिए तो खिलौने हैं। तुम खिलौने से खेला करो।” इसके बाद उसे खिलौने से

खेलने में लगाकर अलग हो जाना चाहिए। बच्चे ने माचिस से खेलने के परिणाम से अवगत होकर एक नयी जानकारी हासिल की तथा उसने अपनी एक गलती को भी सुधार लिया।

जिन वस्तुओं से बच्चों को खतरा है या बेकीमती है और उनसे खेलते हुए बच्चा उनका नुकसान कर सकता है, तो उन्हें बच्चों की निगाह चुकाकर ऐसे स्थान पर रख देना चाहिए, जहाँ उसकी निगाह न पहुँचे। एकदम सीधे-सीधे मना करने पर बच्चा मानता नहीं है। अतः वह चीज छुपाकर रखने से पहले बच्चे का ध्यान खिलौनों से खेलने या अन्य कार्यों में लगा देना चाहिए। वस्तुतः नकारात्मक आदेश बच्चे मान भी नहीं सकते। बड़े तक तो निषिद्ध स्थानों पर जाने के लिए ललक उठते हैं, मना करने पर उस विषय के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने लगते हैं, तो बच्चे तो फिर बच्चे ही हैं, उन्हें कैसे रोका जा सकता है ? इसलिए मना करने की नौबत आये इससे पहले ही उन कारणों को दूर कर देना चाहिए, जिनसे प्रेरित होकर बच्चा उस ओर प्रेरित होता है। बार-बार बात-बात में मना करने पर बालक की एकाग्रता और मनोयोग में बाधा आती है। उसका जीवन निराशाजनक विचारों से घिरने लगता है। अतः उस समय तक जब तक कि बच्चे से ‘न’ कहने के अलावा कोई चारा नहीं रहता, उसे मना नहीं करना चाहिए। हाँ, समझा-बुझाकर रोका जा सकता है।

बच्चों को अनुशासन सिखाने के लिए काफी सूझ-बूझ से काम लेना पड़ता है। लोग मिट्टी के बर्तन बनाने से लेकर उन्हें उठाने-धरने तक में बड़ी सावधानी बरतते हैं। पर यह आश्चर्यजनक है कि जीते-जागते व्यक्तित्वों का निर्माण करते समय, उतनी भी सावधानी की जरूरत महसूस नहीं करते और उन्हें ऊट-पटांग ढंग से नियन्त्रित करते तथा स्वच्छन्दतापूर्वक बनने-बिगड़ने के लिए छोड़ देते हैं। बच्चों को क्रोध, खिझ, झुंझलाहट और चिढ़कर भी कुछ नहीं सिखाया जा सकता, तो अपने आप सीखने के लिए छोड़कर भी उसके व्यक्तित्व की हत्या ही की जाती है। स्वयं अनुशासन में रहते हुए बच्चों को अनुशासन में रहना सिखाया जाय तो उनका व्यक्तित्व निर्मित करने में पूर्णतया सफल हुआ जा सकता है। इससे कोई दो मत नहीं हैं।

बच्चे सेवाभावी कैसे बनें ?

जिन बच्चों में प्रारम्भ से ही सेवा-भावना के विकास की ओर ध्यान दिया जाता है, वे आगे चलकर अपनी सेवा-भावना और सत्कार्यों द्वारा समाज में प्रतिष्ठा और लोगों का स्नेह अर्जित करते हैं। सेवा एक ऐसी वृत्ति है, जिसकी आवश्यकता हर किसी को जीवन में कभी न कभी पड़ती रहती है। बिना किसी का सहयोग प्राप्त किये जीवन में एक भी कदम आगे नहीं बढ़ाया जा सकता,

२.११६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

पर उस सहयोग का कुछ न कुछ प्रतिदान अवश्य चुका दिया जाता है। सेवा एक ऐसा सहयोग है, जिसके लिए न तो प्रतिदान की आवश्यकता पड़ती है और न उसमें सेव्य से कृतज्ञता व्यक्त करने, ऋणी मानने अथवा उसका कोई मूल्य चुकाने की आशा की जा सकती है।

किसी वृद्ध व्यक्ति को सड़क पार करवा देना, अपरिचित और अनजान आदमी को उसके गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देना, गिरे हुए को उठाना और चोट खाये को सहलाना ये ऐसे छोटे-छोटे काम हैं, जिनके लिए किन्हीं साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। उच्चस्तर पर व्यापक रूप से सेवा कार्य अपनाकर हजारों लोग महानता के शिखर पर पहुँचे हैं। इस प्रकार महानता के शिखर पर पहुँचने वाले व्यक्तियों में ऐसे महामानवों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनके पास साधन या सुविधा नाम की कोई वस्तु नहीं थी, वे शिक्षित और सम्पन्न परिवार के भी नहीं थे फिर भी उन्होंने सेवा और केवल सेवा द्वारा लोगों के हृदय में अपना स्थान बनाया।

महान बनने का लक्ष्य न भी रखा जाय तो भी सेवा का अपना महत्त्व और वह सामान्य जीवन में आश्चर्यजनक परिणाम प्रस्तुत करती है तथा सहयोगी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। तन, मन और वाणी द्वारा हर किसी को सेवा के लिए प्रस्तुत रहना अपने आप में एक इतना बड़ा साधन है कि उसके होते हुए अन्य किसी दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं रहती। साथ ही अन्य दूसरे साधन सेवा के अनुगामी बन जाते हैं। सेवा का महत्त्व समझ लेने के बाद वह जान-लेना आवश्यक है कि सेवा का स्वरूप है क्या ?

सामान्यतः सेवा के दो स्वरूप हैं—एक तो यह कि अपनी सुख, सुविधा और आराम के लिए बच्चों से सेवा ली जाय। जैसे लेटकर थकन दूर करने या नींद लेने के लिए हाथ-पैर दबाना, शरीर की मालिश करवाना, घरेलू कामों में बच्चों की मदद लेना। बच्चों से इस तरह की सेवा लेने का अधिकार माता-पिता को है, पर अभिभावकों को उनकी सेवा अधिकार समझकर नहीं लेनी चाहिए, वरन् इस उद्देश्य से उनको सेवा के लिए प्रेरित करना चाहिए कि उनमें परोपकार की भावना जाग्रत हो सके।

इसका प्रारम्भ घर की व्यवस्था ठीक करते समय उनसे छोटी-मोटी चीजें उठवाने, छोटे भाई-बहनों को पढ़ना-लिखना सिखाने, उन्हें स्कूल ले जाने के लिए सहयोग देने जैसे कामों से कराया जा सकता है। इस तरह के प्रारम्भ से बच्चों में सेवा की भावना का विकास तो होता ही है उनका प्रशिक्षण भी हो जाता है।

दूसरे प्रकार की सेवा में विपत्ति के समय सहायता करने, किसी काम में सहयोग देने और दुःख बँटाने के रूप में की गई सेवा आती है। असामान्य दुःखद

घटनाओं में दौड़ पड़ने, ब्याह-शादी जैसे उत्सवों में हाथ बँटाने, रोगादि कष्ट के समय औषधि उपचार का ध्यान रखने और कष्टप्रद प्रसंगों के आने पर शान्ति रखने तथा धीरज बँधाने के लिए किये गये प्रयास भी सेवा की श्रेणी में आ जाते हैं। स्वतः इस तरह का आचरण कर और यथासम्भव बच्चों को अपने साथ रखकर उन्हें सहयोग, सहानुभूति का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

इस प्रकार के प्रशिक्षण और अभ्यास कराने में बच्चों को उस तरह की प्रेरणा भी देनी चाहिए, जिससे वे परोपकार और सेवा का महत्त्व समझ सकें। इस तरह का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण कथा-कहानियाँ सुनाकर, महापुरुषों के जीवन की घटनाएँ सुनाकर भी किया जा सकता है। खोजने पर ऐसी सैकड़ों कहानियाँ और संस्मरण मिल सकते हैं, जिनके द्वारा बच्चों को सेवा, परोपकार की प्रेरणाएँ दी जा सकती हों। ऐसी पत्र-पत्रिकाएँ लाकर भी पढ़ाई जा सकती हैं, जो बच्चों के लिए निकलती हैं उनसे उनका पर्याप्त शिक्षण होता है। यूँ तो बच्चों को स्कूल में अध्यापकों तथा पाठ्य-पुस्तकों द्वारा सेवा, परोपकार की शिक्षा दी जाती है, पर उस शिक्षा का यथार्थ लाभ इसलिए नहीं मिल पाता कि वे नितान्त औपचारिक और रस्मी उपदेश भर होते हैं। उनके साथ हार्दिकता का पुट न होने के कारण वह बच्चों को ठीक ढंग से प्रभावित नहीं कर पाती। बच्चों को चरित्रवान और परोपकारी बनाने के लिए अभिभावकों को अपना दायित्व अनुभव करना चाहिए क्योंकि भावनात्मक रूप से वे ही बच्चों के अधिक निकट होते हैं।

कई अभिभावक बच्चों को प्रलोभन देकर उनसे अपना काम करवाने की नीति अपनाते हैं। जैसे वे कहते हैं—‘तुम एक घण्टे तक मेरे पैर दबाओ, मैं तुम्हें पच्चीस पैसे दूँगा।’ या ‘मेरा अमुक काम कर दो, तो तुम्हें वह चीज लाकर दूँगा।’ इस प्रकार प्रलोभन देकर काम कराने से बच्चों में स्वार्थ की भावना बढ़ती है और वे आगे चलकर किसी संकटग्रस्त की सहायता करते समय पहले अपना फायदा सोचते हैं। यद्यपि अभिभावकों में इस तरह की भावना नहीं होती कि वे बच्चों को स्वार्थी बनायें। इस तरह का प्रस्ताव करते समय वे यही सोचते हैं हम बच्चों के प्रति अपना स्नेह व्यक्त कर रहे हैं, पर उनकी प्रतिक्रिया होती उल्टी है और वे हर जगह, हर व्यक्ति से अपनी सेवा का मूल्य प्राप्त करने की अपेक्षा रखने लगते हैं।

बच्चों में हर तरह के संस्कार होते हैं, सामाजिक प्राणी होने के नाते उनमें सेवा और सहयोग के संस्कार भी सहज ही होते हैं। किन्तु उन्हें जाग्रत करने के लिए अभीष्ट प्रयास नहीं होते इसलिए वे दबे ही पड़े रहते हैं। अभिभावक यदि चाहें तो बच्चों में सेवा-भावना का अच्छी तरह विकास कर सकते हैं। इसलिए कि माता-पिता की बातों को बच्चा प्रामाणिक समझता है और उनका विश्वास

करता है। बच्चा यह भी सोचता और मानता है कि हमारे माता-पिता जो भी कुछ कर रहे हैं, उसमें हमारा हित ही निहित है। यहाँ माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चों में निःस्वार्थ भावना का विकास ही करें।

पुरस्कार या प्रोत्साहन स्वरूप कुछ दिया तो जा सकता है, पर वह प्रलोभन या मूल्य देने की तरह न हो। यदि पहले से देने की शर्त रखी जाती है तो बच्चा प्रलोभनवश सेवा करता है और नियमित रूप से कुछ दिया जाता है तो वह समझने लगता है कि बदले में कुछ न कुछ जरूर मिलता है। इसलिए उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए कभी प्रशंसा, कभी शाबाशी और कभी पुरस्कार देकर उन्हें प्रोत्साहित किया जा सकता है।

कोई पुरस्कार या मूल्य न चाहने वाले बच्चे सबको प्यारे लगते हैं। यह समझाते हुए बच्चों को बताना चाहिए कि हर घड़ी सेवा के लिए तत्पर रहने वाले बच्चों के प्रति सभी के हृदय में आशीर्वाद तथा स्नेह उमड़ता है। ज्यों-ज्यों सेवाकार्य का क्षेत्र बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसी अनुपात से सेवा द्वारा लाभान्वित होने वाले व्यक्तियों की सद्भावनाएँ बढ़ने लगती हैं। ये बातें शुद्ध सिद्धान्त की अपेक्षा कथा-कहानियों द्वारा ही अच्छी तरह समझी जा सकती हैं।

बच्चों का सेवा-भावी बनने का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ उनमें निःस्वार्थ भावना के संस्कार भी डाले जाने चाहिए। इस तरह सेवा करने से बच्चों का दिनोदिन उत्साह बढ़ता है। पूर्वोक्त प्रकार से प्रलोभन या मूल्यदान देने पर बच्चों में स्वार्थ की भावना बढ़ती है और आगे चलकर जब उनकी सेवा का मूल्य प्राप्त नहीं होता तो वह सेवा उनके लिए बोझ बन जाती है।

‘सेवा’ जैसे पवित्र गुण सभी के लिए आवश्यक एक दिव्य विशेषता है। क्या ही अच्छा हो यदि बच्चों में यह विशेषता विकसित करने के लिए आरम्भ से ही प्रयास किये जाएँ।

आज्ञाकारी ही नहीं, बच्चों को आत्म-विश्वासी बनाएँ

माता-पिता अपनी सन्तान से यह अपेक्षा करते हैं कि वह उनकी आज्ञाओं का पालन करें। आज्ञाकारी सन्तान की अपेक्षा सभी अभिभावक रखते हैं और बच्चे भी सहज श्रद्धावश अपने माता-पिता का कहना मानते हैं। बच्चों के लिए इस संसार के लगभग सभी अनुभव नये और पहले ही होते हैं। उनके कारण बच्चों को कोई हानि न हो, उसमें कोई ऐसे दोष-दुर्गुण न आ जाएँ जिनके कारण वह कुमार्गगामी बन जाय। इसके लिए अभिभावकों द्वारा बच्चों का मार्गदर्शन भी किया जाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यदि कतिपय सावधानियाँ और सतर्कताओं का ध्यान रखा जाय तो बच्चे में आज्ञाकारिता के साथ-साथ

अनुशासननिष्ठा, मर्यादा, परायणता और बड़ों के प्रति सम्मान की भावनाएँ विकसित होती हैं, किन्तु कई मर्तबा अभिभावक अपने बच्चों को बात-बात में आज्ञाएँ देकर उनके व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने में स्कूल के किसी कार्यक्रम में भाग लेना हो अथवा खेलकूद में प्रतियोगी बनकर हिस्सा लेना हो, तब भी वे अपने माता-पिता की अनुमति से ही कोई निर्णय ले पाते हैं। देखने-सुनने में यह एक छोटी-सी बात है, पर स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता का अभाव उनके व्यक्तित्व में एक कमजोरी बनकर पैठ चुका होता है और यह कमजोरी अभिभावकों द्वारा उन पर किये कठोर नियन्त्रण, कठोर शासन के फलस्वरूप ही आती है।

बच्चे उद्दण्ड तो न बनें, नहीं ऐसा कोई कार्य उनसे हो जिसको देखकर यह लगता हो कि वे बड़ों की अवहेलना करते हैं, उनके अनुभवों या परामर्शों से कुछ सीखना नहीं चाहते। परन्तु उन्हें बड़ों पर इतने ज्यादा आश्रित भी नहीं रहना चाहिए कि उनका कोई व्यक्तित्व ही न बन सके। स्पष्ट है कि बच्चों से इतनी समझदारी की अपेक्षा तो नहीं की जा सकती।

आज्ञाकारिता एक अच्छा गुण है। इसीलिए परिवार में उन्हीं बच्चों का सर्वाधिक लाड़-लड़ाया जाता है जो अपने से बड़ों की हर बात मान लेता है और उनके आदेशों की अवहेलना नहीं करता किन्तु यह अधिक लाड़-प्यार कई बार बच्चे को दबू भी बना देता है। ऐसे बच्चे लाड़-प्यार या उपहार के प्रलोभन में आकर हर काम माँ से पूछकर करने लगते हैं, उसी के पास बैठा रहता है, वह जो कपड़े पहनने को देती है, उन्हें ही पहनता और जो खाना वह खिलाती है, वही खा लेता है। कहने का अर्थ यह है कि बालमुलभ चपलताओं को छोड़कर इस प्रकार प्रलोभनों से आज्ञाकारी बनाये बच्चे अपने माता-पिता पर ही अवलम्बित रहने लगते हैं।

प्रलोभन के अतिरिक्त बच्चों को मार-पीटकर उन्हें डरा-धमकाकर भी आज्ञाकारी बनाया जाता है। स्वभाव में दबूपन इस कारण भी आ जाता है और ऐसे बच्चे की अपनी स्वतन्त्र बुद्धि विकसित नहीं हो पाती। कहा जा चुका है कि आज्ञाकारिता एक अच्छा गुण है, किन्तु उसमें अच्छाई तभी तक है जब तक कि उससे बच्चे का विकास होने में सहायता मिलती रहती हो, उनकी इच्छा और आवश्यकता को नजर-अन्दाज करते हुए जब उन्हें बात-बात में आदेश दिये जाने लगते हैं, तो उन पर शासन किया जाने लगता है, डाँट, फटकार या लाड़-प्यार से डरा-धमकाकर अथवा लालच देकर उन्हें अपने इच्छानुवर्ती बनाया जाने लगता है तो उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित होना बन्द कर देता है।

ऐसे कई युवक और कई किशोर हैं, जो उन विषयों में भी कोई निर्णय नहीं ले पाते, जिनके लिए वे स्वयं अच्छी तरह सोच-समझ सकते हैं और किसी निर्णय

२.११८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

पर पहुँच सकते हैं। कई बार तो ऐसे किशोरों को अपने साथियों के बीच में हास्यास्पद स्थिति का भी सामना करना पड़ता है। इसका कारण है, उन पर आवश्यकता और औचित्य की सीमा से बाहर का नियन्त्रण। बच्चों के व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए आवश्यक है कि अभिभावकों का मार्गदर्शन मिलता रहे, परन्तु यह होना चाहिए परामर्शपूर्ण। जिससे कि बच्चा केवल माता-पिता का कहना मानना ही पर्याप्त न समझने लगे वरन् किसी भी विषय के प्रत्येक पक्ष को अच्छी तरह समझने भी लगे। जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न करने के लिए बच्चों से छोटे-मोटे काम भी कराते रहा जा सकता है। प्रायः अभिभावक बच्चों से वह काम कराने की आशा भी करते हैं, जिन्हें करना उनके वश की बात नहीं है, उस समय बच्चों को आज्ञाकारी बनाने, उनमें जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न करने के स्थान पर यही भावना रहती है कि हम बच्चों का शासन करें।

आयु, स्थिति में छोटा होने पर बच्चों को अपना शासित समझना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं हो सकता है, यदि अभिभावक उनका भविष्य बनाना अपना कर्तव्य समझते हैं। बचपन में जो शिक्षा दी जाती है, बच्चों में जो संस्कार डाल दिये जाते हैं, वे सारे जीवन की धरोहर बनकर उन्हें प्रभावित करते हैं। केवल शासित, यत्र अथवा कठपुतली बनकर ही नहीं, उनमें कई और तरह से भी व्यक्तित्व की कमजोरियाँ उत्पन्न होती हैं।

उदाहरण के लिए, कई व्यक्ति हीनता की ग्रन्थि से जीवन भर मुक्त नहीं हो पाते। वह हीनता आर्थिक स्थिति को लेकर हो अथवा कुल और विद्या की स्थिति को लेकर हो। निम्न एवं मध्यवर्ग के माता-पिता प्रायः अपने बच्चों के सामने ही घर की आर्थिक स्थितियों का रोना रोते रहते हैं या घर पर आते ही दुकान अथवा दफ्तर की खीझ उतारते रहते हैं। कई बार तो पिता बाहर की ऊब या खीझ बच्चों पर भी उतारते हैं, जिसका प्रभाव बच्चों पर यह पड़ता है कि वे अपने घर की आर्थिक स्थिति को दुर्भाग्य, समाधान न की जा सकने वाली समस्या मानने लगते हैं। उस समय पड़े प्रभाव से वे जीवन भर मुक्त नहीं हो पाते।

बच्चे बड़ों की बातें बहुत ध्यान से सुनते हैं। उन बातों को तो विशेष रूप से जो कि उनके बारे में की जाती हैं। इसीलिए बच्चे के सामने न कभी निराशापूर्ण बातें करनी चाहिए और न ही उन्हें अनावश्यक रूप से डॉटना-फटकारना चाहिए। उनमें सुधार के उद्देश्य से कुछ सख्ती अवश्य की जाय, पर इस बात का ध्यान रखा जाय कि वह सख्ती बच्चे पर निषेधात्मक प्रभाव न डाले अर्थात् उसमें आत्महीनता, कमजोरी या अपने प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न न होने पाये। इस तरह की कमियाँ बच्चों की गलतियों को उनकी अयोग्यता या मूर्खता बताकर कोसने और दूसरे बच्चों से उनकी तुलना

करने के कारण आती हो, परिणाम यह होता है कि बच्चे में ऐसी कमजोरी आ जाती है, जिससे वे जीवन भर मुक्त नहीं हो पाते। मकान की दीवारों को कितने ही अच्छे ढंग से क्यों न चिना गया हो, यदि नींव कमजोर हो तो मजबूत दीवारें भी कमजोर हो जाती हैं। बच्चों से किया जाने वाला व्यवहार उनके भविष्य की नींव रखता है और उनसे किये जाने वाले व्यवहार में हुई असावधानियाँ उनके सारे जीवन को प्रभावित करती हैं। इसके लिए बच्चों को केवल आज्ञाकारी बनाने पर ही ध्यान केन्द्रित नहीं रखना चाहिए, वरन् उनमें स्वयं इतनी सूझ-बूझ उत्पन्न करनी चाहिए कि वे आत्मविश्वासपूर्वक कोई निर्णय कर सकें और न ही उनसे ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि उनमें किसी प्रकार की हीनता का भाव आये।

आत्म-विश्वास का उद्गम—स्वावलम्बन

भावी जीवन को प्रगति के पथ पर अग्रसर करते रहने में आत्मविश्वास का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मविश्वास की दृढ़ता और उत्कृष्टता जीवन के हर क्षेत्र में सफलता के लिए पथ-प्रशस्त करती है। जीवन का संघर्षमय पथ काफी कंटकाकीर्ण और अन्धकारमय होने के कारण इसमें अनेक व्यक्ति असफल होकर जैसे-तैसे जीवन के दिन काटते रहते हैं। पर अनेकों ऐसे भी व्यक्तित्व होते हैं जो सफलता के शिखर पर जा पहुँचते हैं। असफल होने वाले और सफलता प्राप्त करने वालों में केवल एक ही अन्तर होता है कि “अपनी मानव सुलभ शक्तियों एवं सम्पदाओं पर विश्वास होना या न होना।” जिसने भी इन शक्तियों पर विश्वास किया परिस्थितियाँ उसके मार्ग में बाधक नहीं बन सकीं। इस आत्मविश्वास का परिपोषण जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में ही हो जाता है। बाल्यावस्था में बच्चों के आत्मविश्वास के गुणों को सम्बर्द्धन करने का उचित प्रयास नहीं किया गया तो इसका दुष्परिणाम जीवन भर उसे भुगतना पड़ता है परावलम्बन के रूप में।

विचारणीय बात यह है कि क्या कारण है कि बच्चों में आत्मविश्वास का विकास नहीं हो पाता। सभी अभिभावक चाहते तो यही हैं कि उनका बच्चा जीवन में विकास करे, किन्तु ऐसा होता बहुत कम है। बल्कि इसके विपरीत बच्चे भार बन जाते हैं। इसका कारण है—बच्चों में आत्मविश्वास और स्वावलम्बन के गुणों का विकास स्वाभाविक क्रम से न होने देना। अभिभावक अन्धमोह के कारण बच्चों का सारा काम स्वयं अपने हाथों से करके तैयार करते तो हैं। जगाना, नहलाना, कपड़े पहनना, खिलाना, स्कूल जाने की तैयारी कर देना आदि ऐसे ही काम हैं किन्तु यह प्रेम का उत्कृष्ट रूप नहीं है, विकृत रूप है। इससे बच्चे उन छोटे-छोटे कामों को भी नहीं सीख पाते जो उसे बड़ा होने पर स्वयं करना ही पड़ता है। हमेशा ही बच्चों का काम करते रहने पर वे स्वयं

अपने आपको अयोग्य-अक्षम ही समझते रहते हैं। इससे बच्चों में हीनता की भावना का विकास हो जाता है।

हीन भावों के आने से बच्चे अपने आप के प्रति उदासीन रहने लगते हैं। इस विकृति का समावेश उनकी प्रकृति में हो जाने से बच्चे हमेशा ही इसी तरह आशा लगाये बैठे रहते हैं कि उनका सारा काम दूसरों के द्वारा ही होता रहे। तैयार काम मिलते रहने से बच्चे आलसी, कामचोर, बहानेबाज बन जाते हैं। उचित है कि बच्चे ज्यों-ज्यों बड़े होते जायें, उन्हें अपना काम स्वयं करने को प्रोत्साहित करते रहा जाय। यदि उनके द्वारा किये काम में कहीं गलती हो जाती है या कोई कमी रह जाती है तो सहायता देकर उसमें सुधार कर देने से अपनी गलती सुधार कर लेते हैं। इससे अपना काम स्वयं करने की आदत विकसित हो जाती है। इस प्रवृत्ति को विकसित कर देना ही बच्चों का सही और सच्चा प्यार है अन्यथा बच्चों के भावी जीवन के साथ खिलवाड़ करना है।

जब बच्चे कोई काम करने की इच्छा प्रगट करते हैं तब उन्हें रोकना या डाँटना बड़ा घातक होता है। ऐसे काम जिनसे संकट हो सकता है जैसे आग के काम, चाकू आदि हथियारों के उपयोग वाले काम, बच्चों को नहीं करने देना चाहिए। खतरनाक कामों को करने से रोकने का कारण स्पष्ट रूप से बच्चों को समझा देने से उससे होने वाली हानियों से परिचित भी हो जाते हैं। किन्तु प्रत्येक काम करने से रोकते रहने से बच्चों की जिज्ञासा और रचनात्मक प्रवृत्ति का दमन हो जाता है। इससे आत्मविश्वास दृढ़ नहीं हो पाता। एकदम बड़े काम बच्चों को सौंप देने से बच्चे कर नहीं पाते। स्वाभाविक है कि उन्हें असफलता मिलेगी। इससे उन पर उल्टा प्रभाव पड़ता है, वे अपने आपको अक्षम और अयोग्य समझने लगते हैं। बार-बार असफलता मिलते रहने से बच्चों का व्यक्तित्व संकुचित होने लगता है, फिर बच्चे सदा ही दूसरों का सहारा पाने की इच्छा रखते हैं तथा परावलम्बन के शिकार हो जाते हैं।

किसी कार्य में असफलता मिलने पर बच्चों के अभिभावक उन्हें डाँटते या मारते हैं तथा हतोत्साहित भी करते हैं। इस मार-पीट और हतोत्साह से बच्चों में भीरुता की भावना आ जाती है, वे भविष्य में किसी भी काम को हाथ में लेने के लिए डरते रहते हैं। उससे बचने के लिए बहाने करने का उन्हें एक अच्छा अवसर मिल जाता है। इसी तरह का क्रम चलाते रहने से बच्चे कोई काम सीख नहीं पाते। कार्यों की अनुभवहीनता के कारण छोटे-छोटे कार्यों को करने के लिए भी दूसरों का सहारा देखते रहते हैं। अपने कर्तव्यों का उन्हें ज्ञान नहीं हो पाता। वे कर्तव्यहीन होकर नकल करने की प्रवृत्ति वाले हो जाते हैं। अपनी जिम्मेदारी न समझकर लापरवाही करने लगते हैं।

ऐसे बच्चे सदा ही माता-पिता, बड़े भाई-बहिन या नौकरों से काम कराते रहने में ही आनन्द का अनुभव

करते हैं। काम न बन सकने का बहाना कर इसी तरह बेगार में काम निकालते रहने में उन्हें मजा आता है। यही प्रवृत्ति भविष्य में शोषण तथा बेगार कराते रहने की हिसाबवृत्ति में पनप जाती है। ऐसे समय में जब बच्चे किसी काम को करने में असफल होते हैं तो उन्हें डाँटना नहीं, प्रेम से समझाना चाहिए। जितना कुछ उन्होंने किया है उसी की सराहना कर बच्चों को सम्मान दिया जाना बच्चों के आत्मविश्वास को दृढ़ बनाने का सहज सरल तरीका है।

आत्मविश्वास की कमी के कारण बालक केवल अपने ही कार्यों को करने की रुचि लेने लगता है सामाजिक तथा दूसरों के कार्यों को करने में गलती हो जाने के डर से सहयोग देने में हिचकिचाता है। इस प्रवृत्ति से बच्चों में सामाजिकता का विकास नहीं हो पाता। आत्मकेन्द्रित होकर बच्चे स्वार्थी बन जाते हैं। ऐसे स्वार्थी तथा परावलम्बी बच्चों से भविष्य में सामाजिक हित तथा उसके स्वयं के विकास की आशा नहीं रहती। अतः बच्चों को आरम्भ से ही दूसरों के कार्यों में सहयोग देते रहने के लिए प्रोत्साहन करते रहना चाहिए।

घर के कार्यों में बच्चों की राय लेते रहना तथा उचित होने पर उसके अनुसार कार्य करना बच्चों के प्रोत्साहन के लिए उत्तम है। उनकी राय में कोई कमी रह जाय या वह गलत हो तो उसका सुधार करके बच्चों की राय के अनुसार कुछ कामों को कर लेने से उनमें आत्मविश्वास का विकास होता है। इससे भविष्य की योजना बनाने के लिए सोचने-समझने की उनमें क्षमता का विकास होता है। घर की सफाई, व्यवस्था आदि में बच्चों की राय लेना एवं उन्हीं के सहयोग से कार्य करना अति उत्तम तरीका है। इससे काम भी जल्दी होता है, बच्चे इसे भार भी नहीं समझते। कोई नये कामों को करने के लिए बच्चों को आज्ञा या निर्देश देकर ही नहीं सहयोग देकर प्रेमपूर्वक समझाएँ तथा प्रेरणा दें। इससे उनका अनुभव बढ़ता है। बच्चों के उचित निर्माण के लिए उचित वातावरण तथा शिक्षा का प्रबन्ध होना भी आवश्यक है। ऐसे आत्मविश्वासी बच्चे ही जीवन में कठिनाइयों का सामना करते हुए विकास के पथ पर बढ़ते जाते हैं। परावलम्बी, डरपोक तो जीवन का भार ढोते रहते हैं।

बच्चे को स्वावलम्बन और सन्तुलन की शिक्षा दें

शिक्षा विकास का आधार है किन्तु स्वयं विकास का स्वरूप क्या हो ? यह भी स्पष्ट रहना चाहिए।

विकास का चरम लक्ष्य है मुक्ति। इसका प्रारम्भ होता है—स्वावलम्बन और सन्तुलन की क्षमता की वृद्धि से। सन्तुलन के बिना तो अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है और विकास यदि स्वयं द्वारा न किया जाय, वरन्

२.१२० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

दूसरों के द्वारा थोपा जाय, तो इसे विकास मानने को ही बुद्धिमान लोग तैयार नहीं होंगे। इसलिए स्वावलम्बन तथा सन्तुलन ये दोनों ही विकास की प्राथमिक एवं आधारभूत शर्तें हैं। बच्चे को इन दोनों की शिक्षा देना—प्रत्येक अभिभावक का दायित्व है। मनोवैज्ञानिक बेंजामिन ब्लूम के अनुसार एक प्रौढ़ व्यक्ति में जितनी बुद्धि होती है उसका ५० फीसदी भाग चार वर्ष की उम्र तक और इसके बाद का ३० प्रतिशत भाग आठ वर्ष की उम्र तक विकसित हो जाता है। डा. एपियोका के अनुसार बच्चा जीवन के प्रारम्भिक ५ वर्षों में जो कुछ बन जाता है, अधिकांशतः वैसा ही बना रहता है। अतः एक सन्तुलित एवं स्वावलम्बी समाज के निर्माण के लिए बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जानी आवश्यक है, जो उनमें ये दोनों गुण निखारे।

दुर्भाग्यवश, हमारी परम्परा में जो विकृति आ गई है, वह प्रधानतः असन्तुलन और परावलम्बन को ही बढ़ाती है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद की हमारी प्रवृत्तियाँ भी इस विकृति को समाप्त करने वाली नहीं बढ़ाने वाली ही रही हैं।

जब भारत को स्वतन्त्रता मिली तब वह न केवल अपनी दासता की स्थिति से ही मुक्त हुआ, बल्कि उसने सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिवर्तनों से भरे एक विश्व में प्रवेश किया। व्यापक परिणामों वाले ये परिवर्तन मुख्यतः द्वितीय महायुद्ध द्वारा उद्घाटित हुए। यह स्थिति नवीन दृष्टिकोण, नवीन मूल्यों की, चीजों को एक नये नजरिये से देखने की माँग करती थी। विकास, लक्ष्य, शैक्षणिक नीतियाँ, सामाजिक परिस्थितियाँ सभी के नये सिरों से परीक्षण की आवश्यकता थी। यदि भारत ने अपनी स्वतन्त्रता एक लम्बे और कटु संघर्ष के माध्यम से प्राप्त की होती तो संघर्ष की दृढ़तात्मकता स्वयं ऐसे गुणों को पैदा करती और दृष्टिकोणों में एक परिवर्तन लाती, जिनकी स्वातन्त्र्यतर भारत में बेहद जरूरत थी। लेकिन यह नहीं हो पाया था। सत्ता ने हाथ बदले, लेकिन पुराने मूल्यों से चिपके पूर्वाग्रह और विकारोत्पादक संस्थाएँ असल में अक्षत एवं अछूती बनी रहीं। ये पूर्वाग्रह थे श्रम से अरुचि, परजीवीपन को गौरवपूर्ण समझना, बातों के जमा खर्च के प्रति आकर्षण, किसी भी कीमत पर रोटी और पैसा पा लेने की होड़ तथा मुक्ति की बड़ी-बड़ी बातें करते हुए भी, किसी भी तरह का साहस सँजो पाने में भय की प्रवृत्ति। विकारोत्पादक संस्थाएँ थीं, प्रतीक पूजन को आकाश-पाताल जैसा महत्त्व देने वाली सामाजिक धार्मिक व्यवस्थाएँ और प्रचलन।

जब तक यह वातावरण नहीं बदला जाता, तब तक बच्चों में सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन सम्भव नहीं और तब तक स्वस्थ समाज का निर्माण भी असम्भव है। अतः बच्चों के व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए वातावरण

में नई ऊष्मा, नये प्राणों का संचार किया जाना आवश्यक है।

शिशु विकास में सर्वोपरि महत्त्व उस शिक्षा का है, जो उसे वातावरण से प्रतिपल प्राप्त होती है। यही शिक्षा शिशु की नैतिक आस्था, सामाजिक मान्यता तथा व्यक्तिगत आदतों का स्वरूप सुदृढ़ करती है। वातावरण शिशु का प्रथम और महानतम शिक्षक है। यह वातावरण माँ की कोख से प्रारम्भ होकर समाज के क्षेत्र तक विस्तृत है।

शिशु अनगढ़ धातु है। वातावरण की ताप से बच्चे के संस्कारों, स्वभाव को उसी तरह चलाया, पिघलाया, मोड़ा, ठोस किया और मनोवांछित अलंकार के रूप में ढाला जा सकता है, जिस तरह सुनार आग की भट्टी में सोना को गलाता, तपाता और आभूषण बनाता है। महासती मदालसा महामानवी अनुसूइया, शैव्या, शकुन्तला और जीजाबाई के उदाहरण हमारे सामने हैं। अभिमन्यु के पूर्ववर्ती संस्कार क्या थे ? सुभद्रा ने तपरायण सुव्यवस्थित जीवन के आधार पर यह पता ही नहीं लगने दिया और उसे राजकुल परम्परा के सर्वथा अनुकूल ढाँचे में ढाल दिया। महारथी अर्जुन और साध्वी सुभद्रा के प्रयत्नों का यह पुण्य-फल का जो चौदह वर्षीय राजकुमार अभिमन्यु में साहस, शौर्य और युद्ध विद्या में, वयोवृद्ध नरेशों के से गुण विद्यमान थे। माता-पिता बालक के कुटुम्बीजन बस इतनी-सी परिधि भी यदि बच्चे को उपयुक्त मिल जाये तो वह श्रेष्ठ आचरण वाला संस्कारवान नागरिक बन सकता है।

अतः प्रबुद्ध माता-पिताओं को सर्वप्रथम तो घर का वातावरण ही स्वावलम्बन और सन्तुलन की शिक्षा देने वाला बनाना चाहिए। इतना वे कर सकें, तो स्वयं को भी एक सुयोग्य सन्तान प्राप्त होगी और समाज को भी एक उत्तम नागरिक मिल जाएगा। निस्सन्देह शिशु रूपी पौधे के विकास में समाजरूपी भूमि की भी संरचना, आधार में रहती है, तो भी अभिभावकरूपी मालियों की भूमिका कुछ कम नहीं होती।

माली पौधों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उनमें अच्छी प्रकार खाद-पानी तथा कट-छाँट करता रहता है। किसान खेत में बीज-बोने से लेकर फसल के बढ़ने तथा पकने तक की अवधि में देख-रेख में जितनी सतर्कता दिखाता है, इसी के अनुपात में फसल प्राप्त करता है। देख-रेख के अभाव में मूल्यवान पौधे भी सूख जाते हैं अथवा अविकसित रह जाते हैं। उनमें अच्छे फलों और फसलों की आशा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार बच्चों के पालन-पोषण में समुचित देख-रेख की जाय, उनकी आदतों क्रिया-कलापों एवं शिक्षा पर समुचित ध्यान रखा जाय, तो सामान्य परिस्थितियों में पलने वाले बच्चे भी महान व्यक्ति बन सकते हैं।

अतः प्रत्येक अभिभावक को माली तथा किसान की-सी तत्परता, कर्तव्यनिष्ठा और जागरूकता का परिचय शिशु-निर्माण में देना चाहिए। बच्चे के लिए, समाज की स्थापित संस्थाओं के द्वार खोल देने तथा सुविधाएँ जुटा देने को जितना महत्व दिया जाता है, उतना ही महत्व उसमें स्वावलम्बन और सन्तुलन की क्षमता के विकास को भी दिया जाना जरूरी है।

बच्चों की और सम्पूर्ण समाज की, सर्वांगीण रूप से समृद्ध देखने चाहने वाले लोगों को साधना-सम्पन्नता के साथ ही, संस्कार सम्पन्नता का यह महत्व भली-भाँति समझना ही चाहिए। हममें से हर एक को यह भूलना नहीं चाहिए कि अपने परिवार की सम्पन्नता बढ़ा लेना एक बात है, सुसंस्कारिता बढ़ाना दूसरी। इसके लिए सम्पर्क समुदाय को भी सुधारना आवश्यक है, अन्यथा उनकी कुसंस्कारिता छूट की बीमारी की तरह अपनी स्वच्छता का घेरा तोड़कर आक्रमण करेगी और किया कराया चौपट करके रख देंगी। अपने घर के लोगों को प्रभावित, प्रोत्साहित करने का एक तरीका यह भी है कि समीपवर्ती क्षेत्र में सुधार की एक लहर उत्पन्न की जाय। जिसका अनुकरण करने के लिए अपने लोगों में भी सहज उत्साह उभरे और किये जा रहे सुधार-प्रयत्नों को अनायास ही बल मिले। इस प्रकार वातावरण के निर्माण के अभ्यमुखी प्रयास साथ-साथ चलने चाहिए। परिवार के स्तर पर भी और सामाजिक परिवेश के स्तर पर भी। दोनों ही स्तरों पर इस तथ्य को समझा जाना आवश्यक है कि टिकाऊ प्रसन्नता तथा शान्ति एक स्वावलम्बी एवं संतुलित समाज में ही उपलब्ध हो सकती है। इस तथ्य को हृदयंगम करके, प्रत्येक अभिभावक को ऐसी शिक्षा देने की पहल करने के लिए आगे आना चाहिए, जो उनमें ये दोनों गुण अवश्य उत्पन्न करे। वातावरण में इन गुण-प्रवृत्तियों का उभार लाना प्रत्येक माता-पिता को अपना कर्तव्य समझना चाहिए।

बच्चों को आत्मनिर्भर बनने दें

संसार में बच्चे का जन्म सीखने और कुछ कर गुजरने की भावनाओं के साथ होता है। जिस प्रकार एक नन्हें-से पौधे में फलने-फूलने की समस्त सम्भावनाएँ छिपी रहती हैं, ठीक उसी तरह बच्चे में भी सभी मानवी गुण मूलरूप में समाविष्ट रहते हैं। घर में अनुकूल वातावरण मिलने पर उसकी सृजनात्मक प्रवृत्ति, स्वावलम्बी बनने की प्रबल आकांक्षा और स्वयं को उपयोगी सिद्ध करने की प्रयत्नशीलता सुविकसित होती और सक्रियता बढ़ती है। किन्तु माता-पिता द्वारा वैसी सतर्कता न बरतने और बच्चों की माँग के अनुरूप, सुविधा जुटाने तथा भरपूर सहयोग, सुरक्षा प्रदान करने की रीति-नीति यदि न अपनायी जाय तो बच्चों का आलसी और परावलम्बी होना सहज स्वाभाविक है। किसी भी राष्ट्र को समृद्ध, सम्पन्न और

उन्नतशील बनाने की कल्पना को साकार तभी किया जा सकता है, जब वहाँ के बालकों को, जो देश की भावी नागरिक हैं, आरम्भ से ही आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाया जाय। बच्चों का स्वावलम्बी और सुसंस्कारी बनाना देश की भावी, आर्थिक एवं नैतिक व्यवस्था को सुदृढ़-सशक्त करना है।

विश्वप्रसिद्ध मनोविज्ञानी वाटसन के अनुसार 'अभिप्रेरण का सिद्धान्त' इस तथ्य को उजागर करता है कि व्यक्ति के लिए जीवन के प्रथम पाँच वर्ष बड़े ही महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, क्योंकि मनुष्य को जो कुछ बनाना होता है प्रायः उसकी आधारशिला इसी समयावधि में रख जाती है, इसके उपरान्त तो विकासक्रम को बल मिलता रहता है। नींव कमजोर रहेगी तो इमारतें भी जल्दी ही खण्डहरों में परिवर्तित होती चली जाएंगी। यदि बालक को इन्हीं दिनों में आत्मनिर्भरता का अभ्यास करा दिया जाय तो उसका भविष्य सब प्रकार से सुन्दर और उज्ज्वल बन सकता है।

प्रायः देखा जाता है कि बच्चे को किसी खिलौने से खेलने की आवश्यकता होती है तो उसे लाने के लिए दूसरे कमरे में जाना नितान्त आवश्यक है। ऐसी स्थिति में वह अपनी माँ को पुकारने और खिलौना ले आने का आग्रह करने लगता है। माँ उसकी आकर्षक आवाज में फँसकर उसकी माँग को पूरा कर देती है। यही से बालक के अन्तर्मन में एक ग्रन्थि बन जाती है और वह अपना हर काम माता-पिता पर टालने की कोशिश में लग जाता है। यही मनोग्रन्थि जब आदत में शुमार हो जाती है तो बच्चा बड़ा होकर भी अपने छोटे-मोटे कार्य के लिए माता-पिता पर ही अवलम्बित रहने लगता है। परनिर्भरता उनके स्वभाव का अंग बन जाती है। फलतः ऐसे बच्चे क्रोध और चिड़चिड़ेपन के शिकार होते हैं और दूसरों के आश्रित रहकर अपनी सक्रियता खोते चले जाते हैं।

माता-पिता पर अत्यधिक निर्भर रहने वाले बच्चे प्रायः आलसी स्वभाव के बनते और अपने ऊपर सौंपे गये उत्तरदायित्वों से मुख मोड़ने लगते हैं। कुछ काम करेंगे भी तो विवशता अथवा हानि की आशंका को देखते हुए ही अन्यथा काम से बचने के लिए अनेकानेक तरह के बहाने गढ़ेंगे। अभिभावक भी बच्चों की इस कामचोर प्रवृत्ति को देखकर बड़े बेचैन होते और अपने दुर्भाग्य को कोसते रहते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि न तो उन्होंने बालविकास की जिम्मेदारी को निभाया और न बच्चों में स्वावलम्बन का गुण ही उत्पन्न कर सके।

वस्तुतः आत्मनिर्भरता की वृत्ति ऐसी है, जिसके फलस्वरूप छोटे-से बच्चे में नया उत्साह और उमंग भर देती है। उसकी मुखमुद्रा पर सदैव प्रसन्नता और प्रफुल्लता की ज्योति ही प्रकाशित होती रहती है। इतना

२.१२२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

ही नहीं वह दूसरे बच्चों के सम्मुख अपनी गौरव-गरिमा भी अनुभव करने लगता है। ऐसे बच्चे जीवन में हमेशा हँसमुख, फुर्तीले और सक्रिय बने रहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि बालकों में आत्मनिर्भरता का बीजारोपण कैसे किया जाय ? अभिभावक और माता-पिता उक्त प्रयोजन की आपूर्ति में बड़ी सराहनीय भूमिका निभाते हैं, क्योंकि जन्मदाता होने के कारण उसका प्रथम सम्पर्क उन्हीं से होता है। उन्हें इस तथ्य से भली-भाँति परिचित होना चाहिए कि बच्चे की सेवा-सहायता करना और दिशा-निर्देश देना एक बात है किन्तु बनना जैसा कर देना सर्वथा दूसरी। बच्चों से काम कराने और सहयोग लेने की कला का ज्ञान भी उन्हें होना चाहिए। सुगृहिणी की सुव्यवस्था का उपक्रम भी इसी आधार पर बैठता है। बच्चों का मनोबल बढ़ता और घर का काम सँभालने की वृत्ति का विकास भी होता है। सही, सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित तरीके से काम करने वाले बालक की सराहना करने, प्यार, दुलार भरे प्रोत्साहन देने, उपहार देने से उसका साहस और भी अधिक बढ़ जाता है। बच्चे में सहयोग-सहकार की प्रवृत्ति का विकास होता है। उसका व्यक्तित्व एक उद्यमी के रूप में ढलता जाता है। जिम्मेदारी और अनुशासन का भाव उत्पन्न होने से गम्भीरता आती और किसी भी काम को छोटा-बड़ा समझे बिना पूरा करने में मनोयोग और तत्परता का परिचय सतत देता रहता है।

स्मरण रहे, बच्चों को मारने-पीटने, धमकाने से नहीं वरन् सहानुभूतिपूर्वक सहयोग-सहायता की अपेक्षा करके उन्हें कामकाजी और आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है। उनसे कौन-सा और कैसा काम कराया जाय ? इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो घर के कामों की एक सूची तैयार कर लेनी चाहिए। घरेलू कार्यों की लिस्ट बनाते समय बच्चों की सलाह-परामर्श लेना ही आवश्यक है, जिससे उनमें काम को खोजने-ढूँढ़ने की बुद्धि का विकास होता है। कार्यों का विभाजन दैनिक, साप्ताहिक और मासिक व्यवस्था के अनुरूप किया जा सकता है। किसी कार्य को बाँटते समय लड़के-लड़की का भेद वाला दृष्टिकोण न अपनाया जाय। लड़की-लड़के दोनों से सभी तरह के कार्यों में हाथ बँटाने की अपेक्षा करनी चाहिए। कोई भी कार्य जब चुनौती के रूप में सौंपा जाता है तो बच्चे उसे बड़ी अभिरुचि के साथ खेलते-कूदते पूरा कर डालते हैं। इससे उनमें कर्तव्य भाव का उदय होने लगता है। उनके कामों में त्रुटियाँ भी हो सकती हैं, पर सुयोग्य माता-पिता का कर्तव्य है कि उसमें किसी भी प्रकार की मीन-मेख न निकालकर उसे सही कर दें। इससे बच्चों को सीखने का अवसर मिलता है।

बच्चों को उनकी अभिरुचि और क्षमता के अनुरूप ही कार्य सौंपा जाना चाहिए, हो सकता है कि बच्चों के स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में कुछ हानि भी हो जाय।

उनके साथ माता-पिता मिलकर काम करें तो काम करने का सही सार्थक तरीका सहज ही समझ में आता है। बच्चे यदि किसी काम को जल्दी और सही ढंग से निपटा लेते हैं तो उन्हें पुरस्कृत किये जाने का प्रावधान तो अवश्य रखा जाय, पर लोभ, लालच और प्रलोभन को प्रोत्साहित करने जैसा वातावरण न बनायें अन्यथा बच्चे में ऐसी बुरी आदत भी पड़ सकती है कि अगली बार काम करने से पूर्व ही अनौचित्यपूर्ण माँग करने लगे।

किसी बच्चे से काम करवाने का एक तरीका यह भी है कि उसे जिम्मेदारी सौंपी जाय और समय-समय पर उसे याद दिलाते रहा जाय। साथ मिलकर काम करने से वे और भी अच्छी तरह सीख जाते हैं।

बच्चों को अर्थ अनुशासन की शिक्षा दीजिए

आज के घोर आर्थिक युग में प्रायः यह देखने में आता है कि जिस प्रकार हर बात का मापदण्ड पैसा बन गया है, उसी प्रकार बच्चों के लाड़-प्यार का मापदण्ड भी पैसा बन गया है। जो व्यक्ति अपने बच्चों पर जितना अधिक खर्च करता है और जितना अधिक खर्च करने को देता है, मानो वह उन्हें उतना ही प्यार करता है।

जहाँ माता-पिता बच्चों के प्रति अपने प्यार को इस प्रकार आँकते और आँकवाते हैं, वहाँ बच्चों ने भी अपने माता-पिता के प्यार का मापदण्ड पैसा बना लिया है। बहुधा देखा जाता है कि जितने माता-पिता अपने बच्चों पर जिस अनुपात से खर्च करते हैं और उनको खर्च करने को देते हैं, बच्चे उसी अनुपात से उनकी ओर आकर्षित रहते हैं और दोनों पक्ष इस स्वायर्जन्य आकर्षण को प्यार समझने के भ्रम में भूले रहते हैं।

स्कूलों और कॉलजों के लड़के अपने माता-पिता को अच्छाई-बुराई की विवेचना अधिकतर आर्थिक आधार पर करते पाये जाते हैं। जो लड़के अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते और ज्यादा से ज्यादा पैसा खर्च करने को पाते हैं, वे तो बढ़-चढ़कर अपने माता-पिता की तारीफ करते हैं और जो बेचारे इससे वंचित रहते हैं, वे वास्तविक रूप से अच्छे होने पर भी अपने माता-पिता की प्रशंसा करने में शर्म महसूस करते हैं।

आज अर्थ-जन्य प्यार का इतना बोलबाला हो गया है कि वे माता-पिता अपने बच्चों की सहज श्रद्धा से भी वंचित रहने लगे हैं, जिनके पास एक अच्छा आर्थिक आधार नहीं होता, अपितु कभी-कभी उन्हें अपनी सन्तानों की तुरसी और तिरस्कार का पात्र बनना पड़ता है।

धनाढ्य माता-पिता आत्म-अध्ययन के अनुभव पर अपने आर्थिक आधार को जीवनभर बड़ी दृढ़ता से पकड़े हुए, आर्थिक-लोभ से उत्पन्न बच्चों की प्रतिस्पर्धा, श्रद्धा को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि

बसीयत करते समय “जब तक जिऊँ,” “मेरे मरने के बाद” वाक्यों की व्यवस्था बड़ी सावधानी से करा लेते हैं। उन्हें सन्तानों से अधिक अपने पैसे पर भरोसा रहता है। यह सब अर्थ के प्रति बच्चों का गलत दृष्टिकोण विकसित कर देने का ही फल है।

बच्चों के जरा रोने, रूठने अथवा नाराज होने पर तुरन्त पैसा देकर मनाने का अभ्यास उनके भविष्य के लिए एक भयानक भूमिका है। इस प्रकार वे पैसे के लोभी बन जाते हैं और बेबात पर रूठकर माँ-बाप का आर्थिक शोषण करने के आदी हो जाते हैं, जो आगे चलकर परिस्थितिवश उनके बीच नापसन्दगी का कारण बन सकता है।

जो माँ-बाप अपने बच्चों को बिना समझे-बूझे मनमाना पैसा खर्च करने को देते हैं, वे न केवल उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं, वरन् परोक्ष रूप से समाज में फैली बुराइयों को भी बढ़ावा देते हैं।

बच्चों को भोजन, वस्त्र, नाश्ता, पुस्तकें फीस आदि की प्रायः सारी आवश्यकताएँ जब घर पर ही पूरी हो जाती हैं, तब उन्हें अलग से पैसा देने की आवश्यकता समझ में नहीं आती। यह निश्चित है कि अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने के बाद जो धन उन्हें अलग से खर्च करने के लिए दिया जायेगा, उसको वे अनावश्यक चीजों पर ही खर्च करके अपनी आदत बिगाड़ लेंगे। वे उस पैसे से चाट खायेंगे, पतंग उड़ायेंगे, सिनेमा देखेंगे, पान, सिगरेट का प्रयोग करेंगे और होटल व रेस्टोरेन्टों में यार-दास्तों के साथ बैठकर चीजें खायेंगे, चाय पियेंगे और गप्प मारते हुए समय गँवायेंगे और न जाने इस प्रकार की कितनी बुरी बातों के आदी बन जायेंगे ?

हाथ में अनावश्यक पैसा होने से उनकी वृत्तियाँ चंचल हो उठेंगी और उनका मन पढ़ने-लिखने के बजाय घूमने-फिरने और सैर-सपाटे की ओर दौड़ेगा। अपने स्वार्थी मित्रों से घिरे रहने के कारण दुर्व्यसनी बन जावेंगे, जो आगे चलकर उनकी दुःखपूर्ण आर्थिक अस्त-व्यस्तता का कारण बनेगा।

किन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि मनुष्य के बच्चों की आवश्यकताएँ भी उतनी ही सीमित आवश्यकताएँ हैं जितनी कि एक गाय के बच्चे की—कि आवश्यकता भर दाना-पानी और रात को एक झूल बसा।

आज के समय में जिस प्रकार विविध वस्तुओं की बढ़ती हो गई है, उसी प्रकार सबकी आवश्यकताएँ भी बढ़ गई हैं। बच्चा खेलने के लिए गेंद-बल्ला चाह सकता है, स्कूल की प्रदर्शनी में लगे बाजार में क्रय-विक्रय करने की इच्छा रख सकता है। किसी आयोजित पिकनिक में जाते समय जेब में पैसा होना जरूरी हो सकता है, मेले में कोई सुन्दर वस्तु खरीदने के लिए लालायित हो

सकता है। कभी-कभी सिनेमा को जी कर सकता है। विद्यार्थी संघों अथवा समितियों में चन्दे की जरूरत पड़ सकती है। ऐसी बहुत-सी चीजें खाने की इच्छा कर सकता है, जो घर पर अच्छी प्रकार अथवा सुविधापूर्वक नहीं बनाई जा सकती। कोई अच्छी पुस्तक अथवा पत्रिका पढ़ने को मन हो सकता है अथवा जेब में पैसा रहने के सुखद-सन्तोष की कामना कर सकता है, इत्यादि बच्चे की ऐसी बहुत-सी अतिरिक्त एवं सामायिक आवश्यकताएँ हो सकती हैं।

बच्चे को पैसे के दर्शन न कराना अथवा सामायिक एवं अतिरिक्त आवश्यकताओं के लिए पैसा न देना भी उसके साथ अन्याय करना होगा। बच्चे को पैसे की बुराई से बचाने के लिए आर्थिक पाश को इतना न कसिये कि वह कसमसाकर दृढ़ भावना का शिकार हो जाये, पैसे-पैसे को तरस जाये और इस प्रकार तो वह अनुचित ढंग से पैसा पाने का प्रयत्न करने लगेगा।

आज बच्चे को पैसा दीजिए किन्तु एक निश्चित सीमा तक जिम्मेदारी के साथ। उसे “हर बात पर पैसा हर बात पर पैसा”—का आदी न बनाइये और न उसके बार-बार माँगने पर पैसा देकर पीछा छुड़ाने की कोशिश कीजिए और यह बात अपने मस्तिष्क से बिल्कुल ही निकाल दीजिए कि बच्चे को बहुत शान-शौकत से रखना अथवा खर्च के लिए अधिक से अधिक धन देना कोई आर्थिक गौरव या प्रतिष्ठा की बात है।

बच्चे की अतिरिक्त आवश्यकता के औचित्य, अनौचित्य का पता इस ढंग से लगाइये कि वह यह न समझने पावे कि उसकी माँग पर सन्देह किया जा रहा है अथवा उसकी जासूसी की जा रही है। बच्चा जब पैसा माँगे तब प्यार से उसकी जरूरत की बावत पूछिये, यदि उसकी आवश्यकता अनुचित होगी तो वह खुद अचकचा जायेगा, तब उसे न तो झिड़किये और न शर्मिन्दा कीजिए, वरन् प्यार से कहिये कि देखो तुम, जिस काम के लिए पैसा चाहते हो, उसको स्वयं बुरा समझते हो। बच्चे पर इसकी स्वस्थ प्रतिक्रिया होगी और शरमाकर फिर कभी दुरुपयोग के लिए पैसे की माँग नहीं करेगा और यदि आप देखें कि उसकी माँग उचित है तो अवश्य उसे पूरा करने का भरसक प्रयत्न कीजिए।

बच्चे को अपने साथ बाजार ले जाइये। कोई वस्तु खरीदने में इस ढंग से उसकी राय लीजिए कि उसकी राय आपकी राय से साम्य खा जाये और यदि कोई विशेष अड़चन न हो तो अपनी देख-रेख में पैसे उससे गिनाकर दिखाइये। इससे बच्चे में आर्थिक लेन-देन की चेतना का विकास होगा और वह अपने अन्दर एक जिम्मेदारी महसूस करेगा। कोई भी वस्तु जिसे आप अधिक मूल्य के कारण खरीदना न चाहें उसमें बच्चे की अस्वीकृति शामिल कीजिए। इससे उसमें मितव्ययता का भाव बढ़ेगा और पैसे का महत्व समझेगा।

२.१२४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बच्चे को पैसा दीजिए और माँ के पास जमा करने की आदत डालिये। कभी-कभी अपने पास पैसे की कमी बतलाकर, उससे उधार माँगिये और उसकी बचत की सरहना करते हुए कहिए—“वाह भाई ! तुम्हारी बचत ने हमारा अटकाव दूर कर दिया।” इस प्रकार उसमें आकस्मिक आवश्यकता के लिए बचत करने का उत्साह बढ़ेगा।

उसकी बचत से उसे स्थायी शोभा, स्थायी उपयोगिता अथवा स्थायी अभिरुचि की चीजें खरीदवाइये, जिससे उसमें उपयोगिता तथा सौन्दर्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होगी।

अधिकतर बच्चे के अतिरिक्त व्यय की मात्रा निश्चित धनराशि में रखिए और उसको घर का आय-व्यय बनाते समय पास बिठाइये, इस प्रकार उसमें अपने व्यय का बजट बनाने की अभिरुचि उत्पन्न होगी, जिससे वह पैसे के उपयोग की कला सीखेगा।

जहाँ तक हो सके उसे अतिरिक्त व्यय किसी ऐसे काम के लिए दीजिए, जिसे वह कर सके और उसके विकास के लिए उपयोगी भी हो। इस प्रकार उसमें श्रम की आदत तो पड़ेगी ही, साथ ही वह धनोपार्जन की कठिनाता को भी समझने लगेगा।

इस प्रकार यदि बच्चे में आर्थिक अनुशासन की प्रवृत्तियाँ बाल्यकाल से ही विकसित कर दी जाती हैं तो वे आगे चलकर उसके जीवन के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं। यदि बच्चे में आपने अर्थ-नियन्त्रण की क्षमता का विकास कर दिया तो समझिए आपने उसके आगामी जीवन की बहुत-सी कठिनाइयाँ प्रारम्भ में ही दूर कर दीं।

किन्तु इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि माता-पिता इस विषय में स्वयं भी पूर्णतया अनुशासित रहें। किसी क्षेत्र में पैसे का अपव्यय तो ही करें, अपितु, कोई ऐसी वस्तु भी न खरीदें जो एकमात्र उनकी एककी अभिरुचि की हो और यदि उसे खरीदते ही बने तो उसमें घुमा-फिरकर बच्चे की रुचि शामिल कर लीजिए।

किसी हद तक ठीक होने पर भी इस भावना से कदापि प्रेरित न होइये—“कि जो कुछ है या जो कुछ कमाते हैं, है तो सब बच्चों के लिए ही, खाने-उड़ाने दो।” आपकी यह असंस्कृत उदारता बच्चों के लिए हानिकारक सिद्ध होगी। वैसे तो समाज में जिसके पास जो कुछ है उसके कुछ न कुछ अंश पर, धर्म, देश, समाज एवं परोपकार का नैतिक अधिकार है, फिर भी यदि आप अपने प्रत्येक पैसे पर केवल अपने बच्चों का ही अधिकार मानते हैं, तो भी उसे खाने-उड़ाने की

स्वतन्त्रता देकर उनकी आर्थिक वहबूदी को कमजोर करते हैं।

अन्य दुर्व्यसनों की भाँति आर्थिक अपव्ययिता भी एक ऐसा व्यसन है, जो बचपन से लग जाने पर आजीवन पीछा नहीं छोड़ता। अतएव, अपने बच्चों को अर्थ-अनुशासन की स्वस्थ शिक्षा देकर उनका हित कीजिए। उन्हें न तो पैसे का दुश्मन ही बनाइये और न दास ही, अपितु एक सच्चा मित्र बनाकर अभिभावक का ठीक-ठीक कर्तव्यपालन कीजिए।

बच्चों को जेबखर्च दें—

सुधार के लिए, बिगाड़ के लिए नहीं

अर्थ का सम्बन्ध जीवनयापन से लेकर अन्यान्य क्षेत्रों में प्रगति व उन्नति के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है। पैसा प्राप्त करना या कमाना जितना श्रमसाध्य है, उससे अधिक कहीं उसका व्यय भी विवेकसाध्य है। विवेकहीन, अदूरदर्शितापूर्ण व्यय भविष्य में कष्टदायक ही सिद्ध होता है। परिवार की आवश्यकताओं को ध्यान रखे बिना अनैतिक कार्यों और विलासिता में खर्च करते रहना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं माना गया है। ऐसे व्यक्ति स्वार्थी या अनैतिक ही हो सकते हैं। उनकी अपनी दृष्टि में भले ही वे अच्छे हों। पारिवारिक, सामाजिक आदर्शों की दृष्टि से नहीं। पैसे की कीमत आर्थिक तंगी के समय ही जानी जा सकती है किन्तु प्रारम्भ से ही जिसने पैसे की कमी अनुभव नहीं की तब वह कैसे जान पायेगा कि पैसा भी इतना मूल्यवान होता है, जिसके बिना जीवन की गाड़ी लड़खड़ाने लगती है। बचपन से माता-पिता, बच्चों को खुले हाथ से खर्च करने की आदत सिखा देते हैं, बाद में उसका सुधार हो पाना सरल नहीं होता। शुरू से ही इस आदत को परिष्कृत दिशा में उभारा जाय।

बच्चों की कुछ अपनी इच्छाएँ एवं रुचि होती हैं। यदि उनकी पूर्ति न की जाय तो उनके मानसिक विकास पर व्याघात पहुँचता है। इनकी पूर्ति के लिए उनको पैसे की आवश्यकता होती है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पैसे देना अच्छा है, किन्तु सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करते रहने से हानियाँ भी अपेक्षित हैं। उद्देश्यहीन खर्च को बढ़ावा देते रहने से घर की आर्थिक व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चों की आदत भी खर्चीली बन जाती है। अभिभावक को चाहिए कि बच्चे के स्वभाव पर ध्यान रखें। इसकी उपेक्षा भविष्य में कष्टदायक हो सकती है। पारिवारिक बजट बनाते समय बच्चों की सलाह लेने से पारिवारिक खर्च का ज्ञान हो जाता है। बच्चे, सबके लिए पैसे की आवश्यकता समझने लगते हैं। तब वे केवल अपनी ही इच्छापूर्ति करने की हठ नहीं करते, वरन्

सबका ध्यान रखते हैं। दैनिक जीवन की आवश्यकताओं का महत्व खेल-कूद की चीजों से अधिक पाने लगते हैं और इनकी खरीद करने के लिए अधिक अपेक्ष्य नहीं करते। बजट पर विचार किये बिना ही बच्चों को खर्च के लिए मनमाने पैसे देते रहना भी बच्चों की इच्छाओं को विकृत करता है और पारिवारिक व्यवस्था को खराब भी। दिन-प्रतिदिन बच्चे नई-नई इच्छाएँ लेकर आते हैं। माँ प्रेमवश बच्चे को पैसे दे देती है। इससे बच्चे पर कुसंस्कार पड़ते हैं, उसकी इच्छाओं की पूर्ति करते रहने से सहकारिता और पारिवारिकता की भावना कुण्ठित होकर स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित हो जाती है। भविष्य में ऐसे बच्चों से किसी प्रकार के सहयोग और सेवा की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसे बच्चे परिवार और समाज के लिए कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सकते। बच्चों की इच्छापूर्ति के लिए दिया जाने वाला जेबखर्च उसके स्वभाव को न बिगाड़े यह ध्यान रखें, फिर पारिवारिक आय तो परिवार के समस्त सदस्यों के लिए होती है एक के लिए नहीं।

प्रायः बच्चों के अभिभावक विशेषकर माँ, ममता, मोह का प्रदर्शन बच्चों के अधिक जेबखर्च देने में करती है। उसका विकृत मोह बच्चों को इतना बिगाड़ देता है कि वे अनुशासनहीन होने लगते हैं। प्रारम्भ से ऐसे वातावरण में पले बच्चे भविष्य में अभिभावकों के लिए भी परेशानी के कारण बन जाते हैं। अभिभावकों की शिकायत बढ़ती ही रहती है चूँकि बड़े होने पर बालक का खर्च भी बढ़ जाता है और उद्दण्डता भी। आवश्यकता के अनुसार ही बच्चों को पैसा दिया जाना सर्वथा उचित है इससे मोह-ममत्व का कोई विकृत रूप न हो।

किसी काम को कराने के लिए लोग दिखाकर काम निकालना अभिभावक और बच्चे दोनों के लिए हानिकारक है। बच्चे की आदत बन जाती है कि पैसा मिलने पर ही कोई काम करे। पैसे न मिलने पर वह काम नहीं करता और पैसा देने हेतु अभिभावकों को बाध्य करता है। इससे कामचोर और आलसी स्वभाव बनता है। भविष्य में बड़े होने पर बच्चे कोई काम नहीं करते। माता-पिता की कमाई पर ही मौज उड़ाते रहते हैं और माता-पिता झिंकते रहते हैं। काम के बदले रिश्वत के रूप में पैसे मिलते रहने के कारण बच्चे भ्रष्ट बन जाते हैं। प्रारम्भ के खर्चिले हाथ एकदम खींचे नहीं जा सकते। बाद में इसकी पूर्ति के लिए अनैतिक व्यवहारों का आश्रय लेना पड़ता है। पिता की जेब से पैसे चुरा लेना बक्स का ताला तोड़कर रुपये आदि चुरा लेना, किसी से उधार माँगना या उधारी खाता लगा लेना आदि ऐसे ही काम हैं। इससे अभिभावकों को कर्जदार बनना पड़ता है। तिरस्कृत होना पड़ता है सो अलग। बच्चों को श्रम की महत्ता समझाकर काम कराया जाना चाहिए, रिश्वत देकर नहीं।

कोई आदमी गरीबी या कंजूसी के कारण अपने बच्चों को पैसा नहीं दे पाते। किन्तु बच्चे जब दूसरे बच्चों को पैसे द्वारा लेन-देन करते देखते हैं, तो उनमें हीनता की भावना पैदा होती है या फिर उन्हीं के समान लेन-देन करने के लिए चोरी आदि करके पैसा प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। ऐसी परिस्थिति में पाठकों को चाहिए कि बच्चों को खरीददारी की स्वस्थ आदत सिखायें। इसके लिए वे स्वयं अपने साथ बच्चों को ले आयें और लेन-देन का व्यावहारिक ज्ञान सिखायें। बाद में उसे स्वयं ही सामान खरीदने की जिम्मेदारियाँ सौंपें और यह देखें कि उसमें जिम्मेदारी की भावना आती है या नहीं।

पहले से ही बच्चों को पैसा कमाने की जानकारी दे देना और श्रम के प्रति निष्ठा जाग्रत करनी चाहिए। इससे बच्चों को परिश्रम और धन की कीमत समझ आ जाती है। वह पसीने की कमाई को अनावश्यक व्यर्थ के खेल-तमाशों की चीजों को खरीदने का दुराग्रह नहीं करता।

जेबखर्च देते समय बच्चों को बचत के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। बचत का महत्व तथा भावी जीवन में उसकी उपयोगिता बता देने से बच्चों को पैसे का दुरुपयोग करने से बचाया जा सकता है। भविष्य में संकट के समय इस बचत राशि के उपयोग से आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेना कितना लाभदायक होता है। इस बात को समझ लेने पर बचत के प्रति बच्चों का अपनत्व का बोध होने पर वे व्यर्थ में खर्च नहीं करते तथा जेबखर्च की भी कटौती कर राशि बचत करते हैं।

बच्चों को जेबखर्च की राशि देने और उसका समय निश्चित कर देना भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे बच्चे मिली हुई राशि को अग्रिम किस्त तक थोड़ी-थोड़ी खर्च करते हैं। किन्तु इसकी अनिश्चितता होने पर प्राप्त राशि को एक-दो ही दिनों में खर्च करके पुनः दूसरी किस्त माँगने लगते हैं। पुनः पैसे मिल जाने पर वे अधिक खर्चिले बन जाते हैं। अतः इस नियम का कठोरता से पालन किया जाना चाहिए। शीघ्र ही पैसे खर्च कर लेने का दण्ड बच्चों को भुगतने देना चाहिए ताकि वे पैसे का महत्व और खर्च का तरीका जान जायें।

बच्चों को जेबखर्च के लिए पैसे देना उनकी व्यावहारिकता को उपारने, क्रय-विक्रय करने की क्षमता का विकास करने, किसी वस्तु की उपयोगिता और आवश्यकतानुसार उसको महत्व देकर खरीदने, पैसे के महत्व को समझने आदि बातों का व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए दिया गया पैसा भविष्य के लिए लाभदायक होता है। व्यावहारिक ज्ञान के अभाव में जीवन में अनेकों बार ठगे जा सकने की सम्भावना रहती है। ऐसी सम्भावना से बचने के लिए इन सब बातों का प्रशिक्षण अभिभावकों द्वारा देना चाहिए। किसी विकृत दृष्टि से दिया गया जेबखर्च लाभ की जगह हानि करता है।

बच्चे क्यों झगड़ालू हो जाते हैं ?

जो माताएँ गर्भावस्था में खान-पान और आचार-विचार पर नियन्त्रण नहीं रखतीं अर्थात् चरपरे, कड़ुवे, खट्टे, गरिष्ठ व गर्म आदि, तामसी वस्तुएँ खाती-पीती और लड़ती-झगड़ती रहती हैं, उनके बच्चे बहुधा क्रोधी, चिढ़चिढ़े और झगड़ालू होते हैं क्योंकि उनके रक्त और स्वभाव का, बच्चे के निर्माण पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

बहुधा माताएँ उस दशा में अपनी स्थिति, सामान्य स्थिति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण और अधिकार पूर्ण समझने लगती हैं। ठीक होते हुए भी, इसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी कलह का कारण बन जाती है, क्योंकि परिवार के लोग उसे, उनका अभिमान समझकर, असहयोग को स्थान देने लगते हैं। उनको ज्ञान ही नहीं रहता, इस प्रकार के व्यवहार से आगामी सन्तान के स्वभाव पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

प्रायः गर्भावस्था में, माताएँ कुछ अलसाई और थकी-थकी-सी रहने के साथ, ऐसी मनोदशा के आश्रित हो जाती हैं, जो बड़ी चंचल और चटोर होती है। अपनी उस चंचलता की पूर्ति न होने से, उनके मन में एक कुढ़न, झल्लाहट और नाराजगी रहने लगती है, जिससे वे बात-बात पर लड़ने-झगड़ने और कलह करने लगती हैं, जिससे बच्चे के संस्कारों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

गर्भावस्था में माताओं को कैसे रहना चाहिए और उन्हें किस प्रकार रखना चाहिए, इस पर विचार करके व्यवहार करने की आवश्यकता तो एक प्रकार से भारतीय समाज से लोप हो गई है। बहुत शिक्षित परिवारों और माता-पिताओं की बात तो कही नहीं जा सकती, सामान्य परिवारों में तो इस बात पर विचार करने के भाव का जन्म ही नहीं होता। निदान ऐसे परिवारों में, जिनकी कि संख्या भी अधिक है, अधिकतर बच्चे जिद्दी और झगड़ालू होते हैं। जो आगे चलकर, क्या परिवार और क्या समाज सभी के लिए एक समस्या बन जाते हैं ?

गर्भावस्था की बात ही नहीं, बच्चे के जन्म के बाद भी उन बातों का ध्यान नहीं रखा जाता है, जिनसे उस पर अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। सौरकाल में माताएँ, कुछ समय के लिए एक स्थान पर बँधकर रहने को विवश होती हैं। एक स्थान पर उनकी आवश्यकताओं की और इच्छाओं की पूर्ति करने के कर्तव्य और कुछ अपने अनुभवजन्य निर्देशन के अधिकार से, सौरगृह की सहायिकाएँ, बड़ी बुद्धियाँ, माता को शान्तचित्त और प्रसन्न नहीं रहने देती, जिसका फल यह होता है कि सौरसमय में भी कभी-कभी कलह और कहा-सुनी हो जाती है, जिससे उस शिशु का चेतन अबोध अवस्था में भी अदृश्य रूप से वातावरण का प्रभाव ग्रहण करने लगता है।

पथ्यपूर्वक खान-पान के अभाव में दूध के माध्यम से जो तामस तत्त्व बच्चे के रक्त में संचित होते रहते हैं वे आगे चलकर उसके बुरे स्वभाव के रूप में प्रकट होते हैं। इसलिए गर्भ से लेकर पयपानपर्यन्त माता को स्वयं और समस्त घर वालों को ऐसे आहार-विहार एवं आचार-विचार की व्यवस्था रखने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे बच्चे के निर्माणोन्मुख संस्कार, तामसिक विकारों से सुरक्षित रहें।

बच्चे को कुछ पाने-पीने और हँसने-बोलने के समय से लेकर, जब तक वह स्वयं समझ की अवस्था में न पहुँच जाये, तब तक उससे जो व्यवहार किया जाता है, उसका प्रभाव पूर्वपिक्षा कुछ अधिक शीघ्र और स्थायी पड़ता है। अस्तु, उस काल में खूब समझ-बूझकर व्यवहार करने की आवश्यकता है।

जो माता-पिता हर तरह की अच्छी-बुरी चीजें हर समय प्रेमवश खाते रहने की छूट दे देते हैं, उनके बच्चों का मन और मस्तिष्क स्वस्थ रूप से विकसित नहीं होता और न उनका शारीरिक स्वास्थ्य ही ठीक रहने पाता है, जिससे उनके अन्दर, एक क्षोभ और क्रोध स्थायी रूप से घर कर लेता है, जो बात-बात पर लड़ने-झगड़ने और दुराग्रह के रूप में सामने आता है।

छोटे-बच्चों के सामने, परिवार में बड़ों के बीच कलह होने से, उसके कीटाणु उनके मस्तिष्क में भी प्रवेश कर जाते हैं क्योंकि क्रोध और कलह का प्रभाव रोग की तरह ही संक्रामक होता है। साथ ही बच्चों को कलहपूर्ण वातावरण पसन्द नहीं होता। उसमें उन्हें एक परेशानी और तकलीफ होती है। उसे रोक सकने में विवश होने के कारण, वे मजबूरन सहन करते हैं। जिसकी घुटन से उनमें एक आक्रोश-भावना उत्पन्न हो जाती है, जो कभी-कभी उनके रो पड़ने के रूप में प्रकट होती है। नित्यप्रति ऐसा वातावरण रहने से उसे सहन करते-करते वे अन्दर ही अन्दर और कर्कश हो जाते हैं, जो उनके झगड़ालू बनने में सहायक होता है।

इस प्रकार जो बच्चे शैशवकाल में ऐसे संस्कार लेकर बाल्यकाल में प्रवेश करते हैं, उनकी झगड़ालुवृत्ति जिद और दुराग्रह के रूप में माता-पिता एवं भाई-बहनों के साथ धीरे-धीरे उलझाव के रूप में मूर्त होने लगती है, जिससे एक प्रकार से स्थूल झगड़ों का सूत्रपात हो जाता है, जो आगे चलकर बड़ी खराब स्थिति प्राप्त कर लेता है।

बच्चों का हठी होना भी अच्छा नहीं होता, क्योंकि तीन हठों में बाल-हठ भी बहुत विकट होता है। इसलिए सदैव ही बच्चे का हठी स्वभाव ही सारे झगड़ों की जड़ होता है।

बच्चों के हठी बनने के प्रमुख कारण होते हैं—एक तो उनका लाड़-प्यार। तामसी स्वभाव के कारणों का संक्षिप्त

उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब रही लाड़-प्यार की बात। वैसे तो सभी माता-पिता अपने बच्चों को प्यार करते ही हैं किन्तु कुछ उनकी अनुचित जिद को पूरा करना प्यार मानते हैं। कदाचित् वे सोचते होंगे कि उचित बात तो उचित है ही उसका मानना क्या ? बात तो तब है, जब बच्चे की अनुचित बात भी मान ली जावे। इसका फल यह होता है कि वे जीवन भर के लिए दुराग्रही बन जाते हैं। अपनी गलत बात को मनवाने का प्रयत्न और दूसरे की सही बात को भी न मानना उनके मस्तिष्क की एक विशेषता बन जाती है, जिससे सामाजिक व्यवहार में हर समय विग्रह होने की आशंका रहती है।

बहुत-से अभिभावक एक बच्चे से दूसरे बच्चे को पिटाते हैं, जिससे वह मार-पीट करने का आदी हो जाता है और बाहर अपने साथियों से झगड़ा करने लगता है। अनेक अभिभावक मनोरंजन के लिए एक बच्चे को दूसरे बच्चे से भिड़ाने कराते हैं जिससे उनकी झगड़ालू प्रवृत्तियों को उत्साह मिलता है।

प्रायः अभिभावक बच्चों की उपस्थिति में पास-पड़ोसियों से विवाद करने लगते हैं, जिससे रक्त के सम्बन्ध में उन्हें भी जोश आने लगता है और वे अक्सर पाकर आपस में लड़ पड़ते हैं।

बहुत-से अभिभावकों की यह इच्छा रहती है कि उनके बच्चे अन्य बच्चों पर शेर होकर रहें। इसके लिए या तो वे उन्हें घुमा-फिराकर शिक्षा देते हैं या झगड़ा होने पर उनका अनुचित पक्षपात कर साहस बढ़ाते हैं।

कुछ अभिभावक बच्चे से यह शिकायत पाते ही, कि “अमुक बच्चे ने उसे मारा है या कुछ कहा है।” तत्काल उसके अभिभावक पर चढ़ दौड़ते हैं और बिना तथ्य तक पहुँचे ही विवाद करने लगते हैं। इसमें बच्चों को बड़ा मजा आता है और वे बार-बार ऐसी परिस्थिति पैदा करने का प्रयत्न करते हैं जिससे बड़े-बड़े झगड़े पैदा हो जाते हैं।

अनेक अभिभावक अवश्य यह चाहते हैं कि जिनसे उनका विवाद हो गया है, उनसे उनके बच्चे भी बुराई मानें और जहाँ तक हो सके उनके बच्चों को तंग करें। बहुत-से तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी शत्रुता की थाती देकर बच्चों को सौंप जाते हैं। कहना असत्य न होगा कि अभिभावकों की यह मनोवृत्ति, समाज के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है, जिससे समाज में बड़े-बड़े अपराधों की परम्परा-सी पड़ जाती है।

कुछ अभिभावक स्वयं भी बड़े हठी होते हैं। जब-तब अकारण ही छोटी-छोटी बातों में बच्चों के आड़े आ जाते हैं। जैसे, वे प्रायः बच्चों को खेलने और घूमने से यों तो मना ही नहीं करते, किन्तु कभी यदि वे विशेषतौर पर ऐसा करना चाहते हैं, तो उन्हें न करने

देने के लिए अड़ जाते हैं और किसी प्रकार अपने हठ का जवाब हठ से देने लगते हैं।

कुछ अभिभावकों का अजीब उल्टा स्वभाव होता है। वे “अब तो ऐसा नहीं करेगा” के स्थान पर “ऐसा और करेगा” पर ज्यादा जोर देते हैं, जिससे बच्चों के मस्तिष्क में उल्टे उत्तरों की प्रतिक्रिया होती है।

बहुत-से अभिभावक किसी बात को लेकर इतने अधिक सवाल-जवाब करते हैं कि विवाद जैसा वातावरण पैदा हो जाता है। कभी-कभी तो वे दोनों ओर के सवाल-जवाब स्वयं कर लेते हैं। जैसे—“आप वहाँ क्यों गये ?” “कहो न कि मैं आपकी कोई बात नहीं मानना चाहता,” “आपको मेरा डर तो बिल्कुल है ही नहीं।” “हे न यही बात।” “कहते क्यों नहीं कि हाँ, यही बात है।” और यदि वह इसके विपरीत उत्तर देता है—“कि नहीं मैं आपकी बात मानना चाहता हूँ” तो उसे यह कहकर पीटते हैं—कि “आप झूठ बोलते हैं, न आप मेरी बात मानना चाहते हैं और न मुझसे डरते हैं।” और जब तक उससे उल्टी बात का समर्थन नहीं करा लेते तब तक पीछा नहीं छोड़ते। इससे बच्चे में उनकी बात न मानने और न डरने की प्रवृत्ति जाग उठती है, जिससे वे उच्छ्वल और निरंकुश हो जाते हैं।

बहुत-से अभिभावक बच्चे को अपने सामने झगड़ते हुए देखकर भी आँख बचा जाते हैं और जब उनका बच्चा निर्बल पड़ता है तो झट दौड़कर दूसरे बच्चे को झटक देते हैं। इससे बच्चा झगड़ा करने के लिए शह पाता है।

कुछ अभिभावक बच्चे को खूब खाने-पीने को उत्साहित करते हुए कहा करते हैं—“जो चाहे खूब खाओ-पिओ मगर यह खाया-पिया को लजा मत देना”—इससे बच्चा खाये-पिये की शक्ति आजमायी के लिए जब-तब साथियों से भिड़ा करता है।

कुछ अभिभावक अपने बच्चे के बल-विक्रम की प्रशंसा उसके मुँह पर ही करने लगते हैं, जिससे वह उसे चरितार्थ करने का अवसर खोजा करता है।

कभी-कभी अभिभावक बच्चे को साहसी और निर्भीक बनाने के लिए ऐसी उत्तेजक उपाधियों से विभूषित करते हैं, जिनसे स्वभावतः उसके मन पर झगड़े की प्रतिक्रिया होती है। सामान्यतः इस प्रकार के उद्बोधक वाक्य जैसे “बड़ा शेर है, बड़ा दवंग है” अथवा “किसी से दबना तो जानता ही नहीं” बच्चे को झगड़े की ओर अप्रसर करते हैं।

बच्चे की, झगड़ा करने की शिकायत आने पर कोई-कोई अभिभावक या तो शिकायत करने वाले की बात ही नहीं लगने देते अथवा उस समय बच्चे को यों ही डॉट-फटकार देते हैं और बाद में उससे कह देते हैं कि मैंने तो यों ही उसे दिखाने के लिए डॉट दिया था, उसका लड़का खुद बहुत लड़ाका है। इससे बच्चे के मन

२.१२८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

से शिकायत का भय भी निकल जाता है और कभी-कभी वास्तविक डॉट को भी दिखावा समझ लेता है।

इस प्रकार बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो देखने में तो बड़ी साधारण-सी लगती हैं किन्तु बच्चे पर उनका दूषित प्रभाव बहुत दूर तक पड़ता है। इसलिए अभिभावकों को चाहिए कि सुश्रुता से लेकर बच्चों के बाल्य-काल तक उनके सम्बन्ध में जो भी व्यवहार करें, सावधानी के साथ करें। यदि उन्होंने इस अवधि में बच्चों को इस प्रकार के दोषों से बचा लिया तो मानो उन्होंने बच्चे का, अपना स्वयं और समाज, तीनों का बड़ा हित किया, अन्यथा उनके बच्चे उत्तरोत्तर झगड़ालू होकर असाध्य हो जाते हैं जिससे फिर वे उनसे जीवन भर दुःखी ही रहते हैं।

बच्चों की लड़ाई में आप न उलझें

टाल्स्टाय ने एक कहानी लिखी है—द क्वाटेल। कहानी दो छोटी बच्चियों की है, जो खेलते-खेलते आपस में झगड़ पड़ती हैं और मार-पीट भी कर बैठती हैं। दोनों एक-दूसरे की शिकायत लेकर अपने माता-पिता के पास जाती हैं। उनके अभिभावकों को यह बात बुरी लगती है कि उनकी बच्ची को दूसरी बच्चों ने पीटा क्यों ? इस बात को लेकर दोनों बच्चियों के अभिभावक एक-दूसरे से शिकायत करते हैं। शिकायत से बढ़कर एक-दूसरे के प्रति अभद्र और अपशब्दों का भी व्यवहार होने लगता है। तू-तू, मैं-मैं से लेकर बात मार-पीट तक पहुँच जाती है। बच्चियों की आपसी लड़ाई को लेकर उत्पन्न हुआ यह विवाद मार-पीट और लड़बाजी तक पहुँच जाता है। इस लड़ाई में चोटें खाकर जब दोनों परिवार के बड़े सदस्य थक जाते हैं तो वे देखते क्या है कि दोनों बच्चियाँ वापस एक साथ खेल रही हैं।

कहानी क्या है एक तमाचा है उन अभिभावकों के गाल पर, जो बच्चों के कारण एक-दूसरे से बैर गाँठ लेते हैं और लड़ाई-झगड़े, मार-पीट, मुकदमेबाजी तथा बैर-प्रतिशोध में अपनी शान्ति, सौहार्द और स्वरूप को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। आये दिनों ऐसी घटनाएँ घटती रहती हैं, जब माता-पिता बच्चों की लड़ाई में स्वयं उलझकर भारी मुसीबतें मोल लेते हैं। कई स्थानों पर इन छोटी-सी बातों को लेकर हत्या और हिंसा की नृशंस घटनाएँ भी घट जाती हैं। एक-दूसरे की चोट आ जाना और मुकदमेबाजी में समय व धन बर्बाद करते रहना तो सामान्य बातें हैं।

बच्चों की लड़ाई को लेकर जब बड़े भी आपस में झगड़ने लगते हैं तो देखने वाले उन्हें झगड़ते देखकर हँसते ही हैं। लेकिन वैसी ही स्थिति हँसने वालों के सामने आती है तो वे भी बाँह चढ़ाने से बाज नहीं आते। 'क्या कारण है कि बच्चों की लड़ाई में स्वयं उलझ गये अभिभावकों को देखकर हँसने वाले लोग भी वैसी स्थिति आने पर स्वयं ही उसी तरह बरतने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियों को लगता है जिस बात को लेकर दूसरे लोग झगड़ रहे थे

और हम हँस रहे थे वह घटना सामान्य थी, जबकि हमारे सम्बन्ध में कारण भिन्न है और गम्भीर भी है। हो सकता है यह भी एक तथ्य हो, परन्तु निष्पक्षता से विचार करने पर यही प्रतीत होगा कि बच्चों की लड़ाई के कारण अभिभावकों द्वारा एक-दूसरे के प्रति मन में बैर की गाँठ बाँध लेना अनुचित है, गलत और अनावश्यक भी।

आपस में खेलते हुए बच्चे किसी भी बात को लेकर आपस में झगड़ भी उठते हैं, परन्तु उनका यह झगड़ना भी खेल का ही एक अंग होता है क्योंकि इससे न उनके मन में अपने साथी के प्रति बैर-भाव आता है और न प्रतिशोध ही। आठ-दस साल से अधिक आयु के बच्चे जो थोड़े समझदार होने लगते हैं बैर रखना और प्रतिशोध लेना सीख भी जाते हैं, परन्तु गाँठ उनके मन में भी नहीं रहती। इससे छोटी उम्र के बच्चे तो लड़ने के क्षण भर बाद ही फिर खेलने लगते हैं। यानी कि जिस तरह उनमें विवाद पैदा हुआ था, वह अपने आप ही सुलझ जाता है। जैसे खेलते-खेलते बच्चे आपस में लड़ लेते हैं वैसे ही स्वयं मित्रता भी कर लेते हैं और अपने स्तर पर ही विवाद को सुलझा लेते हैं।

ऐसी स्थिति में वयस्क व्यक्तियों का आपस में उलझना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है ? यह भी सम्भव है कि बच्चों की लड़ाई में हस्तक्षेप करते समय अभिभावकों के मन में यह बात रही हो कि बच्चे लड़ते-लड़ते एक-दूसरे को गम्भीर चोटें न पहुँचा दें। यह सोचकर बच्चों के विवाद में हस्तक्षेप करना सही भी लगता है परन्तु दूसरा पक्ष इस दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता और साधारण विवाद से उत्पन्न होकर झगड़ा बड़ों के बीच मारपीट तक पहुँचा देता है।

एक-दूसरे को गम्भीर हानि पहुँचाने की आशंका से बच्चों की लड़ाई में हस्तक्षेप करना एक सीमा तक ही उचित रहता है, आमतौर पर छोटे बच्चों की लड़ाई हल्की मार-पीट तक ही सीमित रहती है। आठ-दस वर्ष से अधिक उम्र के बच्चे ही एक-दूसरे को ज्यादा चोट पहुँचा सकते हैं। इतनी बड़ी उम्र के बच्चे की लड़ाई में हस्तक्षेप करना उचित हो सकता है। लेकिन औचित्य का प्रश्न भी 'किस प्रकार' के उत्तर के साथ जुड़ा रहता है।

सामान्यतः अभिभावकों को अपने उहण्ड और शरारती बच्चे निर्दोष और सीधे-सादे ही लगते हैं तथा उनके दोष भी गुण लगते हैं। जैसे बच्चा हर किसी से तू-तड़ाक करने लगता है तो माँ-बाप समझते हैं हमारा बेटा बहादुर है। इस तरह के और भी दोषों को गुण दृष्टि से देखा जाता है और अपना बच्चा जब गुणवान है तो वह गलत कैसे हो सकता है ? इस आत्यन्तिक मोह के कारण अभिभावक बच्चों को झगड़ते देखकर पहले से ही यह मान लेते हैं कि दोषी दूसरा बच्चा है। ऐसी स्थिति में दूसरे बच्चे की ज्यादा कड़ाई के साथ डॉट दिया जाता है या एकाध थप्पड़ लगा दिया जाता है।

बच्चे के प्रति यह आत्यन्तिक मोह और पूर्वाग्रह दृष्टिकोण शरारती बच्चे को शह देने का कारण बनता है तथा लड़ाई-झगड़े की जड़ भी यहीं से पैदा हो जाती है।

लड़ाई-झगड़ा न भी हो तो भी बच्चे की उदण्डता को शह मिल जाती है तथा वह और ज्यादा उदण्ड बनता जाता है। अपराधी, डाकू, लुटेरे, हत्यारे और असामाजिक तत्वों में जितने भी व्यक्ति आते हैं लगभग सभी का प्रारम्भिक जीवन इसी प्रकार का रहा है। खेल-खेल में लड़ाई हो जाना तो बच्चों के लिए स्वाभाविक है परन्तु अभिभावकों का जब उन्हें समर्थन मिल जाता है तो वे समझ लेते हैं कि अवश्य ही हमने यह प्रशंसनीय कार्य किया है। उचित-अनुचित का विवेक तो उनमें रहता नहीं और जब उचित-अनुचित का विवेक आता है, तब तक बात इतनी आगे बढ़ चुकी होती है कि वहाँ से पीछे लौट पाना सम्भव नहीं रहता।

बच्चों को लड़ते देखकर इस प्रकार का पक्षपातपूर्ण रवैया नहीं ही अपनाना चाहिए। कई बार वस्तुतः ऐसा भी होता है कि एक बच्चा स्वभाव से ही सीधा-सादा रहता है और बाहर दूसरे बच्चों से पिट जाने पर भी कुछ नहीं कर पाता। माता-पिता ऐसे बच्चों का विशेष ध्यान रखते हैं और उसकी ओर से दूसरे बच्चे को डाँटने पहुँच जाते हैं। बच्चों की ओर इस प्रकार बड़ों द्वारा पैरवी करने पर बच्चा तत्काल भले ही यह समझ ले कि उसका कोई संरक्षक है परन्तु इस अनावश्यक संरक्षण के कारण बच्चे में दुर्बलता, हीनता की भावना तथा भीरुता आने लगती है। अभिभावक कोई चौबीस घण्टे तो बच्चों के साथ नहीं रह सकते। ऐसी स्थिति में बच्चा अपने आपको नितान्त असहाय और असुरक्षित समझने लगता है। असुरक्षा, भीरुता और दुर्बलता की यह भावना उसके व्यक्तित्व में इस तरह जड़ें जमा लेती हैं कि वह जीवन भर उनसे भी छुटकारा नहीं पा सकता और उसके जीवन में साहस, जीवटता तथा परिस्थितियों से संघर्ष करने की क्षमता अविकसित ही रह जाती है।

अब तक के प्रतिपादन का यह अर्थ नहीं है कि बच्चों की लड़ाई में अभिभावक किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप ही न करें। बच्चों की लड़ाई को तटस्थ बनकर भी नहीं देखते रहना चाहिए। उनके लड़ाई-झगड़े में स्वयं न उलझने का अर्थ यह तो है ही कि उनकी लड़ाई को अभिभावकों के स्तर पर न पहुँचने दिया जाय। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि उनके विवादों का निपटारा समाधान के ढंग से किया जाय।

यद्यपि बच्चे बहुत छोटी-छोटी बातों पर झगड़ लेते हैं और स्वयं ही अपने झगड़ों को सुलझा भी लेते हैं। अधिकांश मामलों में अभिभावकों तक पहुँचते भी नहीं, फिर भी उन कारणों को समझ लेना चाहिए कि बच्चे किन कारणों से झगड़ पड़ते हैं ? बच्चों के झगड़े प्रायः खेल-खेल में हुआ करते हैं। खेलते समय विजय प्राप्त

करने की आकांक्षा स्वाभाविक ही है। इससे स्वाभिमान बढ़ता है और आत्मविश्वास की भावना का उदय होता है। इसलिए जीतने की इच्छा दोनों ही पक्षों में रहती है यह स्वाभाविक भी है और यह भी स्वाभाविक है कि दो बच्चे खेल रहे हैं तो एक उसमें जीतेगा और एक हारने वाला बच्चा अपनी आशा-आकांक्षा पूरी न होते देखकर खिसिया जाता है और कोई न कोई ऐसी हरकत कर बैठता है, जिससे लड़ाई पैदा हो जाती है।

अभिभावकों को जब यह पता चले कि लड़ाई खेल में हार-जीत के कारण हो गई है, तो वहाँ अपने-पराये का भेद भूलकर बच्चों को समझाना चाहिए कि खेल-कूद में हार-जीत, कोई बहुत बड़ा महत्त्व नहीं रखती है। जीतने वाला प्रशंसा का पात्र है, परन्तु इसी कारण हारने वाला छोटा नहीं हो जाता, बल्कि उसे और अधिक मेहनत करनी चाहिए और अधिक श्रम करना चाहिए तथा अगली बार खेल में जीतने का लक्ष्य रखकर अभ्यास करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

कुछ बच्चों में एक-दूसरे को छेड़ने, परेशान करने की भी आदत होती है। उनकी शिकायतें जब घर पर पहुँचती हैं तो अभिभावकों को उस ओर से उदासीन नहीं रहना चाहिए। दूसरे पक्ष को सन्तुष्ट रखने के लिए तत्काल तो उसे थोड़ा धमका दिया जाय, परन्तु देखना यह चाहिए कि बच्चे में यह प्रवृत्ति क्यों बढ़ रही है ? दूसरों को परेशान करने का एकमात्र कारण है—स्वयं की कोई कमजोरी तथा दूसरे से ईर्ष्या। कई बच्चे ऐसे होते हैं जो अपने घर से जरूरत की चीजें नहीं लाते और दूसरों की उठा लेते हैं अथवा दूसरों से माँग लेते हैं। उठाने की बात पता चल जाने या माँगने से न मिलने पर भी अक्सर मनमुटाव हो जाता है और लड़ाई-झगड़ा होने लगता है। इसके अतिरिक्त पढ़ाई-लिखाई में कमजोर बच्चे भी अपने से निपुण बच्चों के साथ लड़ने-झगड़ने लगते हैं।

इन दोनों की बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, बच्चों को स्कूल जाने से पूर्व अपना सारा सामान ठीक से सँभालने की आदत सिखा दी जाय, ताकि उसे स्कूल में किसी चीज की कमी महसूस न हो। बच्चे की शिक्षा पर भी इसी प्रकार ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि वे कक्षा में पिछड़ न जायें।

कभी-कभी बच्चे दूसरे बच्चों द्वारा उकसाने पर भी लड़ बैठते हैं। परिवार में सदैव बना रहने वाला क्लेश भी उन्हें कलहप्रिय बना देता है। इसलिए परिवार का वातावरण शान्त-सन्तुलित और स्नेहपूर्ण तो रखना ही चाहिए। यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि बच्चे सहिष्णु और शान्त स्वभाव के बनें। छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित होने से वे स्वयं को बचा सकें। स्वयं अपने माध्यम से इस प्रकार के संस्कार देने के अलावा बच्चों को यह शिक्षा कहानियों, घटनाओं और अन्यान्य विवरणों को सुनाकर भी दी जा सकती है।

२.१३० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

वैसी स्थिति में जब बच्चे आपस में लड़ रहे हों और अभिभावक घटना-स्थल पर पहुँच जाएँ तब क्या किया जाना चाहिए ? यदि बच्चों की लड़ाई के दौरान माता-पिता भी घटना-स्थल पर पहुँच जाएँ तो सबसे पहले उन्हें लड़ते हुए बच्चों को तुरन्त अलग करना चाहिए और इसके बाद लड़ाई का कारण जानना चाहिए। यदि अपने बच्चे का दोष दिखाई दे तो उसे डाँट देने में कोई हर्ज नहीं है, साथ ही उसकी गलती का अहसास कराकर आगे से ऐसा न करने का वचन दिलाया जाये। यदि दूसरा बच्चा दोषी है, तो उसे भी स्नेहपूर्ण डाँट देने के साथ उसके माता-पिता से शिकायत करने की धमकी दी जा सकती है। यदि उसका दोष अधिक और उद्घण्टापूर्ण है तो उसके माता-पिता से शिकायत की भी जा सकती है, परन्तु ऐसी स्थिति में कभी भी उत्तेजित नहीं होना चाहिए। बच्चों को लड़ाई में दूसरे के बच्चों के दोषी होने पर भी पीटें नहीं क्योंकि प्रायः इसी कारण लड़ाई पैदा होती तथा बढ़ती है।

इस प्रकार कुछ सावधानियाँ बरतने पर बच्चों के विवाद भी सुलझाये जा सकते हैं और स्वयं उनमें उलझने के दुष्परिणामों से भी बचा जा सकता है।

बालकों का पोषण करें, उत्पीड़न नहीं

व्यक्ति के चरित्र निर्माण में माता-पिता, अध्यापक, मित्र, परिवार, वातावरण एवं समाज सभी का उत्तरदायित्व रहता है। पर इन सबमें माँ की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण, अहम् और दायित्वशील होती है।

भारत एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ दुनिया की सबसे अधिक बाल आबादी अर्थात् पच्चीस करोड़ से भी अधिक बच्चे निवास करते हैं। प्रतिवर्ष करोड़ों की संख्या में नवजात शिशु इस बाल मण्डली में आ जुड़ते हैं। जिनका विकास, स्वास्थ्य, शैक्षणिक, चारित्रिक, नैतिक, बौद्धिक भविष्य, पारिवारिक वातावरण माता-पिताओं पर निर्भर करता है। सामाजिक परिकर से भी बालक बहुत कुछ सीखते हैं।

बालमनोविज्ञान अनुकरण प्रधान होता है। अपने से बड़ों को जो कुछ करते हुए देखते हैं, उसी का अनुकरण वे करने लग जाते हैं एवं उसी राह पर चलते हैं। बचपन की छोटी-मोटी सीखी हुई बातों से ही आगे चलकर उनका चरित्र विनिर्मित होता है।

चरित्र शब्द 'चर' धातु से बना है। "चर्यते अनेक इति चारितम्" अर्थात् चलना। इसके साथ ही प्रश्न उठता है कि किधर चलना ? इसकी पुष्टि करते हुए महावीर स्वामी ने कहा है कि—अशुभ कर्मों से निवृत्त होना ही चरित्र कहलाता है। मानव जीवन को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

गर्भावस्था से ही बालक माँ के आचरणों, संस्कारों को ओज आहार रूप में अर्जन करता है और जन्म के

बाद भी काफी समय तक उसी के आश्रित रहता, गोद में खेलता, पयपान करता एवं विकास की ओर अग्रसर होता है। इसलिए माँ को सजग रहना चाहिए। वह वात्सल्य, ममता एवं स्नेह की देवी है। उसके इन दैवी अनुदानों, जादुई शक्ति की तुलना दुनिया की किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती। प्राचीनकाल में जब महिलाएँ पढ़ी-लिखी नहीं होती थीं फिर भी वे अपने बच्चों को गीता, रामायण, महाभारत, पुराणों की प्रेरणाप्रद कथा-कहानियाँ सुनाकर उनमें सुसंस्कारों का बीजारोपण करती थीं; जिनके परिणामस्वरूप उनकी संतति वीर, धीर और कर्तव्यपरायण एवं सुसंस्कारित होती थी।

परन्तु सभ्यता की इस आधुनिक अंधी दौड़ में अब बहुत-सी माताएँ बच्चे को जन्म देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेती हैं। जिन बच्चों का लालन-पालन आया, नौकर करते हैं, वे संस्कारी नहीं बन पाते क्योंकि बच्चों की भी कुछ भावनाएँ होती हैं। उस समय उनके चित्त की एकाग्रता नैसर्गिक होने के कारण उनमें अमिट संस्कार पड़ते हैं। यदि इसी समय बीजारोपण हो गया तो समय पाकर वह अवश्य पुष्पित, पल्लवित होते देखा जा सकेगा। वह कार्य केवल 'माँ' ही कर सकती है।

जिस तरह शिल्पकारों, कुम्भकारों द्वारा पत्थर और कच्ची मिट्टी को मनचाहा आकार देकर खिलौना, मूर्ति एवं नाना भौतिक के बर्तन गढ़े जा सकते हैं, ठीक उसी तरह माता-पिता शिशु को शूरमा, कायर एवं महामानव बना सकते हैं। अब तक जितने भी ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं उन सभी को श्रेष्ठ बनाने का श्रेय उनकी माताओं को जाता है। मदालसा ने अपने बच्चों को ब्रह्मज्ञानी बनाया। महाभारत का प्रसिद्ध 'विदुलोपाख्यान' सर्वविदित है, जिसमें रानी विदुला ने युद्ध से भागे अपने बेटे संजय को प्रेरणा देकर विजयी बनाया।

एक कहावत है कि चोर को नहीं, चोर की माँ को सजा दो। इससे उस कहानी का स्मरण हो आता है जिसमें एक डकैत को फाँसी की सजा हुई। जब उससे एक उसकी अन्तिम इच्छा पूछी गयी, तो उसने अपनी माँ से मिलना चाहा। माँ को बुलाया गया। उसने कान में बात कहने को कहा। माँ का कान पास आते ही उसने कान काट लिया और कहा—“यदि तू बचपन में ही मुझे चोरी करने पर प्रोत्साहन न देकर प्रताड़ना देती तो आज ये नौबत न आती।”

विगत दिनों एक मूर्धन्य मनोवैज्ञानिक ने दावे के साथ कहा कि पैदा होने के कुछ दिन बाद कोई भी बच्चा मुझे दे दीजिए। आप उस बच्चे को इन्जीनियर, वकील, डॉक्टर, अभिनेता, राजनेता, चोर-उच्चका जो भी कुछ बनाना चाहें मैं उसे वही बना दूँगा।

वस्तुतः माँ की कोख से ही बच्चे का चरित्र निर्माण शुरू हो जाता है। बच्चा ही ममता का वह निर्माण है, जिससे माँ को परिवार, समाज और राष्ट्र में

श्रेय और सम्मान प्राप्त होता है। माँ उसकी बाल-क्रीड़ाओं को देखकर गौरवान्वित होती है, किन्तु यदि ये बच्चे उच्छृंखल बन गये तो उसका गौरव, ममत्व सभी समाप्त हो जाता है शेष रह जाती है केवल खिड़। अतः बच्चे को उतना ही दुलारें जिससे वह जिदी एवं अहंकारी न बन पाये।

बच्चे को बचपन से ही मिल-बाँटकर खाने की प्रेरणा दें। अकेले या छुपकर खाने, कार्य करवाने की शिक्षा उन्हें चोरी करना ही सिखाती है। जहाँ तक बने बच्चे को सब बोलना ही सिखायें, टिप्पणी करने से उनमें अहंभाव पनपता है। अपने बच्चे की हर अच्छी-बुरी आदत की प्रशंसा करना और दूसरे बच्चों की अच्छी से अच्छी बात को नजरन्दाज करना अपने अन्तर्मन में छिपी हीनता का ही द्योतक है। ये बातें शुरू में तो अच्छी लगती हैं, पर इनसे बाल-मस्तिष्क में अहंभावना जन्मने से वह सदैव दूसरों को नीचा दिखाने का प्रयत्न करेगा।

घर के पूज्यनीय बड़े-बूढ़ों परिजनों का यदि अभिभावक स्वयं सम्मान करते हैं तो बच्चे स्वतः ही उनसे प्रेरणा ग्रहण कर लेते हैं। अपने पूज्यनीयों को प्रणाम करने, उनका सम्मान करने से ही उसकी शिष्टाचार की पुस्तक का अध्याय शुरू होता है। अपने बच्चों को शिष्टाचार से विमुख न करें।

बच्चे का भविष्य बनाना, बिगाड़ना अभिभावकों के हाथ में है। इसमें थोड़ी सावधानी बरतें ताकि उसका भविष्य उज्ज्वल बन सके। वह आदर्श भारतीय नागरिक की श्रेणी में आ सके।

सद्गुणों की सच्ची विरासत का

चमत्कार

बाम्बे आर्ट सोसायटी १९३५ में बम्बई में कला प्रदर्शनी का आयोजन करती है। एक इक्कीस वर्ष का अनचिह्ना युवा कलाकार भी अपने मित्रों के आग्रह पर उसके लिए तस्वीर देने जाता है। चित्र की विषय-वस्तु धार्मिक है, भगवान कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित। उसे विश्वास है कि इस प्रदर्शनी में सफलता मिलेगी।

आज उसने बैंक की ड्यूटी से छुट्टी ली है। सबरे जल्दी उठकर सबसे पहले म्युनिसिपैल्टी के नल से पानी भर लाया है। नित्य की तरह नहा-धोकर उसने कुछ अधिक देर तक भगवान की तस्वीर के आगे बैठ उपासना की है। सफलता देने के लिए प्रार्थना की है। बड़ी आशाओं के साथ उसने तस्वीर मढ़वायी, उस पर कपड़ा चढ़वाया। सवा सेर पेड़े, हार, अगरबत्ती आदि श्रद्धा के पत्र पुष्प, अपने क्रमना वृत्त में लपेटकर वह मन्दिर में चढ़ा आया है। उस दिन उसने उपवास भी रखा है। अपने घर से आठ मील दूर टाउन हाल तक तस्वीर देने वह पैदल ही गया है। वहाँ उसकी तस्वीर लेते समय

बताया गया है—‘सेलेक्शन हो जाने पर आपके पते पर सूचना भेज दी जायेगी। ‘रिजेक्ट’ हो जाने पर प्रदर्शनी समाप्त होने पर गोदाम से तस्वीर ले जाना।’

इतनी तैयारी, उपवास, मनौती के बाद भी उसका चित्र प्रदर्शन योग्य नहीं समझा जाता। प्रदर्शनी की समाप्ति पर वह भारी मन से तस्वीर लेने जाता है। उसे तस्वीर लौटा दी जाती है। तस्वीर की हालत देखकर उसकी जी भर आता है। इतनी सहेजकर रखी हुई उसकी वह पेंटिंग वहाँ लावारिस-सी फेंकी पड़ी थी। उसका कपड़ा ही गायब था, फ्रेम भी खुरच गयी थी। उसका उत्साह मर-सा जाता है। हो गयी पेंटिंग जिन्दगी भर ‘क्लीनर’ ही बने रहना भाग्य में लिखा है तो फिर ऐसे सपने देखने से क्या लाभ ? वह भारी कदमों से अपनी खोली पर लौट आता है और कमान हुई-सी खटिया पर गिर पड़ता है।

घोर निराशा और अवसाद के क्षणों में उसे लगता है कोई अदृश्य-सी अँगुलियाँ उसके उत्पन्न मस्तिष्क को सहला रही हैं। वह अपनी आयु से पन्द्रह वर्ष छोटा हो गया है। उसकी स्नेहमयी माँ उसे अन्तिम सीख दे रही है—‘बेटा सच्चाई और ईमानदारी को कभी बिसारना मत, सदा बड़ा आदमी नहीं, भला आदमी बनने की कोशिश करना। पश्चिम में बहुत बड़ी शक्ति है। इसी को तप कहते हैं। जो तप कर सकता है, उसे कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होती। बस ! यही अनुभवों की सम्पदा मेरे पास है जो तुम्हें दिये जा रही हैं। भगवान तेरा कल्याण करें।’ बस यह सीख देकर उसकी माँ सदा के लिए उसे अकेला छोड़कर चल देती है, किसी ऐसे लोक में जहाँ से वापस नहीं होता।

जब भी वह हारने लगता है उसकी माँ के ये शब्द जैसे जीवन साकार होकर उसे अपने स्नेहपाश में बाँध उसकी सारी निराशा को धो देते हैं। पिछले इक्कीस वर्षों में उसे ये शब्द सहारा देते आये हैं। आज भी उसकी अवसाद धीरे-धीरे घुलने लगता है। नैराश्य का अन्धकार तिरोहित होने लगता है, वहाँ आशा का बाल रवि मुस्कराकर कह उठता है—‘पगले सवा रुपये के पेड़े, अगरबत्ती, पत्र-पुष्प और उपवास, उपासना से ही तू सफलता पाने चला था। तप कर, तप ही तो सफलता का उदगम है। इसी तप के बल पर यह युवा चित्रकार भारत में ही नहीं विदेशों में भी विख्यात होता है। अपनी इस सफलता का श्रेय वह अपनी माँ की उस विरासत को ही मानता है, जो पाँच वर्ष की आयु में वे सहारा छोड़ते समय उसकी माँ दे गयी थी और नानी जब तक जीवित रही उन शब्दों को दोहराती रही जो आगे चलकर उसके मार्गदर्शक ही हो गये। यह चित्रकार है—कृष्ण हवला जी आरा। उनकी इस सफलता उस सत्य का परिचायक है कि माता-पिता अपने बालकों के लिए विरासत में धन-सम्पदा, जमीन-जायदाद आदि छोड़ जाने की अपेक्षा उन्हें वसीयत के रूप में सद्गुणों की सम्पदा

२.१३२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

दे जायें तो भी वे अपने पाँवों पर खड़े होकर सफल जीवन जी सकने में पूर्ण समर्थ हो सकते हैं।

श्रीकृष्ण हवला जी आरा जिन परिस्थितियों से गुजरते हुए सफलता के शिखर पर चढ़े वे बड़ी ही विकट थीं। १९१४ में आन्ध्र प्रदेश के सिकंदराबाद के उप-नगर बोलारम में जन्मे किशन (उनके घर का नाम) को कृष्ण हवला जी आरा बनने के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा। माँ पाँच वर्ष का छोड़कर मरी। पिता पेशे से ड्राइवर थे, बम्बई में किशन सौतेली माँ के पास रहते थे। सगी माँ नानी के पास रहती थी। नानी भी नदी किनारे का पका पेड़ था उसे कब तक संरक्षण दे पाती। दस का होते-होते वह भी उसे अनाथ छोड़ गयी। पिता सौतेली माँ के कहने में थे, वे उसे अपने पास नहीं रख सके किन्तु किशन के पास बहुत सम्पदा थी अपनी माँ के वे अन्तिम शब्द जिन्होंने उसे अपने आप प्रगति करने का धैर्य, साहस व मार्गदर्शन दिया।

भोजन और आश्रय के लिए वह लोगों के घर काम करते हुए बोलारम में ही वह पाँच जमात हिन्दी, दो उर्दू और दो अंग्रेजी के पढ़ता है। स्कूल के अध्यापक महादेवसिंह उसकी इस लगन और पात्रता को देखकर अपने दो पुत्रों के साथ तीसरा उसे मान घर रख लेते हैं। उन्हीं की बजह से स्कूल में फीस भी माफ होती है और उन्हीं से चित्रकला का शौक भी जागता है।

फिर वह बम्बई आता है। पिता उसे अपने पास नहीं रख सकते, वह भी बम्बई में ही रहने की कसम खाकर आया है। पिता के पास कर्नल यंग की नजर उस पर पड़ती है और वे उसे अपने पास रखते हैं। घर का काम करना और पढ़ने जाना यही उसका काम है। यंग दम्पति पैसे देते हैं तो वह नहीं लेता। मेहमान उसके काम और उसकी व्यवहारकुशलता पर रीझकर उसे कुछ देते ही रहते हैं। वह ये सब उपहारों की श्रमिती यंग को सौंप देता है। तीन वर्ष बाद वे लोग इंग्लैण्ड लौटने को होते हैं, तब तक श्रीमती यंग उसे बेटे की तरह चाहने लगती है। वह उसके समस्त उपहार व टीन के तीन डिब्बे भर पैसे के साथ अपनी तरफ से बहुत कुछ देकर उसे अपने बूढ़े नौकर के संरक्षण में छोड़ जाती है।

किशन की ईमानदारी व सच्चाई पर प्रसन्न हो यंग दम्पति उसे जो प्रमाण-पत्र दे जाते हैं, उसे देखते ही कर्नल ग्वालीलैण्ड उसे अपने यहाँ बारह रुपये महीना पर रख लेते हैं। बच्चों को खिलाने-धुमाने के लिए। उसकी ड्राइंग में रुचि देखकर वे केतकर इन्स्टीट्यूट में पढ़ने भेजते हैं, जहाँ से वह इण्टरमीडियेट करता है।

अंग्रेज परिवारों में रहता हुआ भी वह भारतीय संस्कृति, स्वदेश प्रेम और अपनी माँ की सीख नहीं भूलता। उसका नियमित उपासनादि क्रम यथावत् चलता रहता है। दुनिया की सब बुराइयों से वह सदा दूर रहता है और अच्छे कामों में सदा आगे। यह उसकी माँ की

अन्तिम सीख का परिणाम है कि वह बड़ा नहीं भला आदमी बनना चाहता है। अपने मालिक की नजर बचाकर वह १९२८ के स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेता है। १९३० में वह मात्र १५ रुपये नगद व दो जोड़ी कापड़े लेकर काँग्रेस हाउस आ जाता है, अपनी नौकरी छोड़कर क्योंकि अब वह स्वयंसेवकों का कप्तान बन गया है। गरीब व अनाथ होते हुए भी वह पैसे का मोह नहीं रखता तभी तो अपने रुपये-पैसे व सामान कर्नल के घर ही छोड़ आता है।

सत्याग्रह में भाग लेने के कारण उसे पाँच माह की जेल होती है। जेल से छूटकर आने पर उसका जोरदार स्वागत होता है। फूल-मालाएँ पहनायी जाती हैं, स्वागत समारोह होता है किन्तु इन सबकी समाप्ति पर वह अकेला रह जाता है क्योंकि उसका अपना घर नहीं, परिवार नहीं। घर-परिवार है भी तो उसमें उसके लिए स्थान नहीं। लगता है अकेलेपन का यह अहसास उसके समूचे अस्तित्व को निगल जायेगा किन्तु उसी समय पन्द्रह वर्ष पहले अवतरित हुए वे अशरीरी शब्द उस पर जननी का स्नेह-दुलार और आशीष बरसा जाते हैं। उस अमृतवर्षा से उसकी सूखती जीवन लता पुनः लहलहा उठती है। वह जापानी बैंक 'याकोहामा बैंक' के अपने पिता के मित्र ड्राइवर की मदद से वहाँ 'क्लीनर' बन जाता है। दस वर्ष तक वह नौकरी और कला-साधना साथ-साथ करता रहता है।

सबरे पाँच बजे उठकर तीनों गाड़ियों को चमाचम धोना, फिर नहाना, पूजा करना और जापानी बॉस के दफ्तर चले जाने पर खाना बनाकर खाना और फिर चित्र बनाना। अठारह रुपये वेतन में दस रुपये फीस के देता और आठ में घर खर्च चलाता। यह दस वर्षों की तपस्या उसे बहुत कुछ बना जाती है। १९३५ की बाम्बे आर्ट सोसायटी की प्रदर्शनी में उसका चित्र 'रिजेक्ट' हो जाने पर भी वह उसी वर्ष 'आर्ट सोसायटी ऑफ इण्डिया' की कला प्रदर्शनी में पाँच तस्वीरें भिजवा देता है। उसमें किशन को सिल्वर मेडल और अन्य पुरस्कार मिले हैं। प्रदर्शनी देखने की लालसा उसके मन में भी है किन्तु टिकिट के रुपये नहीं हैं। बॉस उसे बधाई देते हैं, पूछते हैं—“देखने गये।”

“नहीं”

“भाई जाना चाहिए, तुम्हें पुरस्कार मिला है।”

“टिकिट के पैसे नहीं हैं।” वह सकुचाते हुए अपनी विवशता प्रकट करता है। तब जापानी बॉस उसे पाँच रुपये देता है। दो रुपये टिकिट के और तीन अपनी तरफ से इनाम के। वह खुशी-खुशी प्रदर्शनी देखता है। उसके पाँचों चित्र 'सेलेक्ट' हुए हैं। पुरस्कार भी घोषित हुआ है। अपने चित्रों में उसे अपनी दिवंगत माँ झाँकती हुई लगती है मानो कह रही हो—“बेटा सफलता का राजमार्ग वही है जो मैंने तुम्हें बताया था।”

अब वह क्लीनर 'किशन' से चित्रकार कृष्ण हवला जी आरा हो गया है किन्तु गर्व उसे नहीं छू पाता। वहीं नौकरी करते हुए वह और भी चित्र बनाता है—प्रेरक घटनाओं के, इतिहास के, इतिहास प्रसिद्ध महापुरुषों के, देवताओं के, ईश्वर के। १९३९ में 'बाम्बे आर्ट सोसायटी' का पुरस्कार भी उन्हें मिलता है। उन्हें प्रसन्नता है कि जहाँ भी वे रहे सम्मानित रहे और उच्चादर्शों के कारण, जहाँ भी जो कुछ अच्छा लगा उसे अपनाया। १९४० में जापान के दूसरे विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ने के कारण जापानी बैंक बन्द हो गया और आरा बेकार। वे लैंग हेमर के पास बाण गंगा चले जाते हैं, वहाँ उनके चित्रकला विषयक मार्गदर्शन में कला साधना करते हैं। १९४४ में उन्हें 'मराठा बेटिल' नामक बड़े चित्र पर गवर्नर का पुरस्कार मिलता है, फिर तो वे 'वन-मेन-शो' की स्थिति तक पहुँच जाते हैं।

एक दिन जो अनाथ था। जिसके पास न रहने को घर था न खाने को रोटी वही व्यक्ति अब बम्बई जैसे महानगर के मलाबार हिल जैसे प्रसिद्ध स्थान पर अपने 'शीतल बाग' नामक सुन्दर से बंगले में रहकर कला साधना करता है। १९५२ में 'जहाँगीर आर्ट गैलरी' के उद्घाटन के अवसर पर आयोजित चित्र प्रतियोगिता में स्वर्णपदक और दो हजार रुपये का नगद पुरस्कार मिलता है। अपना 'प्रगतिशील कलाकर संघ' बनाकर वह अपने साथियों सहित चित्रकला जगत में नाम कमाता है। विदेश यात्रा के प्रसंग भी बनते हैं। प्रशंसा और पुरस्कारों का अम्बार लगता है। इस सबका श्रेय उसी विरासत का चमत्कार है, जो उन्हें अपनी माँ से मिली थी। विवेकशील माता-पिता अपनी सन्तान को वैसी ही विरासत देना क्यों न चाहेंगे ?

उत्तराधिकार में बालकों को पाँच रत्न दीजिए

धन-दौलत, खेती, जमीन-जायदाद, सोना-चाँदी, रुपया, व्यापार आदि अनेक माँ-बाप अपने बच्चों को उत्तराधिकार में देकर जाते हैं। इससे उनका कुछ काम भी चलता है पर व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से यह सभी चीजें अपर्याप्त हैं। निम्न श्रेणी का व्यक्तित्व होने पर आलस्य और प्रमाद से ग्रसित व्यक्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सम्पदाओं को भी सुरक्षित नहीं रख सकता। वह दुर्गुणों के कारण इन चीजों को बर्बाद कर देता है या उसे अज्ञानी और अव्यवस्थित पाकर लक्ष्मी स्वयं ही छोड़कर चली जाती है। बड़े पश्चिम और लगन के साथ संचय करके माँ-बाप अपने बच्चों के लिए कुछ इसलिए छोड़ते हैं कि हमारे पीछे भी बच्चे सुखपूर्वक रहेंगे, पर वे यह भूल जाते हैं कि सदगुणों के अभाव में किसी की भी, कितनी भी सम्पत्ति देर तक नहीं ठहर सकती। यदि

उनमें सदगुणों का समुचित विकास नहीं हुआ है तो उत्तराधिकार की सम्पत्ति उन्हें लाभ पहुँचाना तो दूर उल्टे अनेक दुर्गुणों को बढ़ावा देने वाली सिद्ध होगी। गरीब बच्चे उतने नहीं बिगड़ते जितने अमीरों के। गरीब को रोज कमाना और रोज खाना पड़ता है। फलतः कामों के लिए उनके पास पैसा भी नहीं आता। इसलिए ये ऐय्याशी, विलासिता, व्यसन और बदमाशी के फेर में पड़ने से सहज ही बच जाते हैं, पर जिनके घर में सुविधा है, उनमें दुर्गुणों को पनपने में भी सुविधा रहती है। वे दुःखदायक परिस्थितियों में आसानी से कुछ ही दिनों में फँस जाते हैं।

अभिभावकों का कर्तव्य है कि अपने बच्चों के लालन-पालन का, खिलाने-पिलाने का, लाड़-चाव का, सुख-सुविधा का, पढ़ाई-लिखाई का, ब्याह-शादी का और आजीविका से लगाने का समुचित ध्यान रखें। पर इतने तक ही सीमित हो जाने से उनका कर्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता। इन सब बातों से अधिक उत्तरदायित्व उन पर इस बात का है कि अपने बच्चों को सभ्य और सदगुणी बनाकर जावें। शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक विकास को महत्वपूर्ण माना जाता है सो ठीक है, पर यह न भूलना चाहिए कि यदि बालकों में अच्छी आदतों का, सत्प्रवृत्तियों का, सद्भावनाओं का समुचित विकास नहीं किया गया है तो वह बलवान, विद्वान, धनवान कुछ भी क्यों न रहे मानसिक दृष्टि से सदा दुःखी ही रहेगा। सुख-सुविधा जुटा लेने से ही कोई व्यक्ति सुखी नहीं बन सकता है। साधनों के आधार पर सुविधा बढ़ सकती है पर शान्ति और सन्तोष तो अच्छी मनोवृत्तियों के ही प्रतिफल हैं। कुसंस्कारी व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं रह सकते, जीवन में कभी उन्हें शान्ति नहीं मिल सकती। वैभव के कारण दूसरों में अपने सुखी होने का भ्रम पैदा किया जा सकता है पर वस्तुस्थिति सदा यही रहती है कि जिसका दृष्टिकोण ऊँचा है, सच्चा सुख केवल उन्हीं तक सीमित रहेगा।

जो अभिभावक अपने बच्चों को सचमुच सुखी बनाना चाहते हों, उनके भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहते हों, उनके लिए उचित है कि सदगुणों की दैवी सम्पदा अपनी संतति को अधिकाधिक मात्रा में देने का प्रयत्न करें। पर यह दे सकना उन्हीं के लिए सम्भव है, जिनके पास स्वतः कुछ हो। धनी व्यक्ति ही अपने बच्चों के लिए धन छोड़ सकते हैं। सदगुणी व्यक्ति ही उत्तराधिकार में अपनी संतति को निखरा हुआ व्यक्तित्व प्रदान कर सकते हैं। बच्चों को कुछ देने या छोड़ जाने की प्रसन्नता प्राप्त करने से पूर्व अभिभावकों को पहले कठोर श्रम करके स्वयं कमाई करनी पड़ती है, तब उस संग्रह को किसी के लिए दे सकना सम्भव होता है। सदगुणों की पूँजी पहले हमें अपने स्वभाव में संचित करनी पड़ेगी।

२.१३४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

उसके बिना बच्चों को अच्छा बनाने की बात सोचना व्यर्थ है। दपोलशंख की कथा है कि वह कहता बहुत था और करता कुछ नहीं था। हम बालकों को सज्जन बनने की शिक्षा दें और स्वयं दुर्जन बनें, तो अभीष्ट उद्देश्य किसी भी प्रकार पूरा न हो सकेगा। बच्चों को सुधारने से पूर्व हमें अपने आपको सुधारना होगा। बालकों की समझ अविकसित होती है, वे उपदेशों को अच्छी तरह समझ नहीं पाते। पर उनकी अनुकरण शक्ति प्रबल रहती है, जो कुछ देखते हैं, उसे आसानी से सीख लेते हैं, उसकी नकल तुरन्त करने लगते हैं।

१. **श्रमशीलता की शिक्षा**—यदि हम चाहते हैं कि हमारे बालक आलसी और अकर्मण्य न बनें तो हमें उनके सामने श्रमशीलता एवं कार्यसंलग्नता का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए और अपनी ही भाँति उन्हें भी किसी न किसी उपयुक्त कार्यक्रम में लगे रहने की दिनचर्या बना देनी चाहिए। व्यवस्था ऐसी करनी चाहिए कि बालक खिन्न होकर नहीं वरन् मनोरंजन समझकर बताये हुए कार्यों में लगा रहे। उसका मन न लगता हो तो किसी दूसरे प्रकार से हेर-फेर कर देना चाहिए। खेलना भी एक काम है, यदि वह नियत समय और उचित वातावरण में सम्पन्न किया जाय। खेलों में जहाँ मनोरंजन के लिए स्थान रहे, वहाँ बुद्धि-विकास एवं सामाजिक प्रवृत्तियों की भी गुंजायश रहनी चाहिए। घर के कई उपयोगी कामों में बच्चों को लगाये रहने और साथ ही उनका मनोरंजन होते रहने की अपनी परिस्थितियों के अनुरूप व्यवस्था कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति आसानी से बना सकता है। पुरस्कार और प्रशंसा के द्वारा भी बच्चों को उपयोगी कामों में लगे रहने की प्रेरणा दी जा सकती है। समय को व्यर्थ न जाने देना और उसे किसी न किसी उपयोगी कार्य में निरन्तर लगाये रहने की आदत मानव-जीवन की सबसे बड़ी श्रेष्ठता एवं विशेषता है, जिसने अपने बच्चों को यह आदत सिखा दी उसने उनके लिए अपार सम्पत्ति उत्तराधिकार में छोड़ने की अपेक्षा कहीं अधिक उपकार किया है यह मानना चाहिए।

२. **उदारता एक दिव्य गुण**—उदारता दूसरा गुण है। बच्चे अपने भाई-बहनों से अक्सर लड़ते-झगड़ते रहते हैं। खाने-पीने की वस्तुओं के लिए, खिलौनों के लिए या और किन्हीं वस्तुओं के लिए आपस में छीना-झपटी करते रहते हैं। इस आदत को जरा भी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, वरन् उन्हें यह सिखाना चाहिए कि मिठाई आदि कोई स्वादिष्ट चीज पहले अपने दूसरे बहिन-भाइयों को बाँटें तब खुद खावें। जो बच्चा अधिक स्वार्थी हो उसी से यह बँटवारे का काम कराना चाहिए और उसे उचित बँटवारा करने पर, स्वयं सबसे पीछे और कम लेने की सज्जनता पर जो खोलकर बधाई देनी चाहिए तथा इस कार्य की उपयोगिता भी समझनी चाहिए। ईर्ष्यावश दूसरे बच्चों की चीजों को तोड़ने-फोड़ने या खराब करने की

आदत किसी बच्चे में पढ़ने लगी हो तो उसे इसकी बुराई समझानी चाहिए और उपकार एवं स्नेह-बुद्धि जगाकर दूसरों की वस्तुओं को सँभालकर रखने एवं सहायता करने की प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए। एक-दूसरे के कटु व्यवहार को सहना, भिन्नता में भी समन्वय उत्पन्न करना, भूलने और क्षमा करने की नीति रखना, अपने कर्तव्य को स्मरण रखना और अधिकार को भूल जाना जहाँ भी स्वीकार किया जायेगा वहाँ की शान्ति और प्रेम-भावना को कोई भी कारण नष्ट न कर सकेगा। उदारता परिवार-शान्ति की सबसे बड़ी गारण्टी है।

३. **सफाई और सादगी**—सफाई तीसरा गुण है, जो बच्चों में आरम्भ से ही उत्पन्न करना चाहिए। सफाई से प्रेम होने का अर्थ, मैल से घृणा। धोबी के धुले कपड़े चटपट पहन लेना और पुराने कपड़े उतारकर फेंक देना सफाई नहीं है, यह तो सौन्दर्य के प्रति आकर्षण मात्र है। शरीर के किसी अंग पर मैल जमा न होने देना, रगड़-रगड़कर भली प्रकार स्नान करना, दाँत और जीभ ठीक तरह साफ करना, धुले कपड़े पहनना, अपने उपयोग की सभी चीजें ठीक रखना, यह सभी आदतें आवश्यक हैं। पर सबसे बड़ी बात यह है कि अपनी कोई वस्तु अव्यवस्थित पड़ी न रहने दी जाय। कपड़े, जूते, बर्तन, पुस्तकें, कलम आदि वस्तुओं को बच्चे जहाँ-तहाँ पटककर दूसरे काम में लग जाते हैं। उन्हें सिखाया जाना चाहिए कि एक काम पूरा करके तब दूसरा आरम्भ करना चाहिए और गन्दगी से घृणा करनी चाहिए। गन्दगी के उत्पन्न होते ही साफ करना चाहिए। हर वस्तु स्वच्छ और सलीके से रखनी चाहिए। गन्दगी से घृणा न होना, उसे सहन करना, मानव स्वभाव का एक बहुत बड़ा दूषण है।

तड़क-भड़क, शौकीनी, फैशनपरस्ती सफाई जैसी दीखते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न है। सादगी ही सज्जनता की पोशाक है। जो लोग फैशन बनाकर अपने आपको गुड्डे-गुडियों जैसा सजाते हैं, वे मानसिक दृष्टि से ओछे ही कहे जा सकते हैं। शालीनता का प्रधान चिह्न सादगी ही माना गया है और सभी सम्मान्य व्यक्ति उसी को महत्त्व देते हैं। चीजों को व्यवस्थित एवं सुसज्जित रूप से रखने की आदत आरम्भ में छोटी ही क्यों न लगती हो, आगे चलकर व्यक्ति को एक सुयोग्य व्यवस्थापक एवं सुरुचिसम्पन्न व्यक्ति बना देती है। इसलिए बच्चों को बार-बार टोकते रहकर, उन्हें बराबर समझाते रहकर सँभालने और साफ रखने की आदत का अभ्यास बनाना चाहिए। एक काम को पूरा करके दूसरे को हाथ लगाया जाय। यह आदत धैर्य और व्यवस्था का पूर्ण रूप है। कपड़े, पुस्तकें, बर्तन, जूते आदि यथास्थान रखे बिना वे आगे का काम न करें, यह आदत डाली जा सके तो एक काम अधूरा छोड़कर दूसरे में लगने की, दूसरा छोड़कर तीसरे में संलग्न हो जाने की

बालबुद्धि से बचा जा सकता है और बच्चा आगे चलकर इस आदत के कारण ही जीवन के हर क्षेत्र में सफलता का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। पूरा मन लगाकर जो भी काम किया जायेगा उसमें जादू जैसी विशेषता होती है और हमारे अधूरे मन से किये हुए काम आमतौर से फूहड़पन लिए होते हैं।

४. समय का सदुपयोग—समय का पालन, नियत दिनचर्या के आधार पर यथासमय अपने सब काम करने की आदतें मानव-जीवन के सदुपयोग का महत्वपूर्ण गुण हैं। अधिकांश व्यक्ति समय का मूल्य नहीं समझते। ईश्वर ने सम्पत्ति के रूप में मानव-प्राणी को यही सबसे बड़ी, सबसे मूल्यवान वस्तु दी है। वह जो कुछ भी विभूति चाहे अपने समय का पूरा उपयोग करके उससे प्राप्त कर सकता है। समय के सदुपयोग का नाम ही पुरुषार्थ है। नियमित रूप से व्यवस्थित गति से चलती रहने वाली चींटी भी योजनाओं लम्बी मंजिल पार कर लेती है, पर निठल्ला बैठने वाला गरुड़ भी जहाँ का तहाँ रहता है। फुरसत न मिलने की शिकायत तो हर आदमी करता है और अपने को कार्य-व्यस्त भी मानता है पर सच बात यह है कि कोई बिरला ही अपने आधे समय का भी ठीक उपयोग कर पाता है। धीरे-धीरे अधूरे, अव्यवस्थित प्रकार से, आवश्यकता से अधिक समय मामूली बातों में लगाकर अनुपयोगी कामों में लगे रहकर आमतौर से लोग अपनी आधी जिन्दगी नष्ट कर लेते हैं। लिखित दिनचर्या बनाये बिना यह पता ही नहीं लगता कि आवश्यक और अनावश्यक कार्य कौन-कौन-से हैं और कब कौन-सा कार्य, कितने समय में करना है ? इसलिए बच्चों को समय का महत्व समझाना चाहिए, व्यस्तता का महत्व बताना चाहिए और समय की बर्बादी की हानि से उन्हें परिचित रखना चाहिए। जल्दी सोना और जल्दी उठना किसी भी प्रगतिशील जीवन में रुचि रखने वाले के लिए नितान्त आवश्यक है। जिसके सामने कोई अनिवार्य कारण न हो उन्हें सूर्य अस्त होने के तीन घण्टे के बाद तक अवश्य सो जाना चाहिए और प्रातःकाल सूर्य उदय होने से दो घण्टे पहले उठ-बैठना चाहिए। यह सोने और उठने की आदत जिन्होंने ठीक कर ली वे बच्चे निश्चित रूप से पढ़ाई में अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होते रहेंगे। इस आदत के कारण प्रतिदिन कई महत्वपूर्ण घण्टे अधिक कार्य करने के लिए मिल जाते हैं और उसको जिस भी कार्य में लगाया जाय उसी में मनुष्य आशाजनक उन्नति कर सकता है। जिसने अपने समय का मूल्य समझ लिया और उसके सदुपयोग की ठान ठान ली, समझना चाहिए कि उसने अपने जीवन को सफल बनाने की आधी मंजिल पार कर ली।

५. शिष्टाचार और सज्जनता—पॉंचवाँ गुण जो बच्चों को सिखाया जाना चाहिए वह है—नम्रता। सज्जनता, शिष्टाचार, मुधर भाषण, भलमनसाहत—यही तो

वह विशेषताएँ हैं, जिनसे आकर्षित होकर दूसरे लोग अपने ऊपर अनुकंपा करते, प्रशंसक बनते और समीपता में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। पराये को अपना बनाने का गुण केवल मात्र सज्जनता के व्यवहार में ही सन्निहित है। अनुदार, रूखे, कर्कश, अशिष्ट, कटुभाषी व्यक्ति अपनों को भी पराया बना देते हैं और मित्रों से शत्रुता उत्पन्न कर लेते हैं। उसके विपरीत जिनकी वाणी में प्रेरणा घुली रहती है, आदर के साथ बोलते हैं और नम्रता और सज्जनता का परिचय देते हैं, उनके शत्रु भी देर तक शत्रु नहीं रह सकते, उन्हें प्रतिकूलता छोड़कर अनुकूल बनने के लिए विवश होना पड़ता है।

परिवार के विद्यालय में सज्जनता एवं मधुरता का अभ्यास छोटी आयु से ही बालकों को कराया जाना चाहिए। बड़े-छोटों के साथ आप या तुम कहते हुए सम्मानसूचक शब्दों में ही बात करें। प्रताड़ना एवं भर्त्सना भरी बात भी कोई गलती करने पर कही जा सकती है। पर वह होनी नम्र और शिष्ट शब्दों में ही चाहिए। गाली-गलौज भरे, मर्मभेदी, व्यंग्यात्मक, तिरस्कारपूर्ण कटु शब्द हर किसी को बुरे लगते हैं। छोटों पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। जिह्वा पर इतना काबू होना चाहिए कि वह आवेश भरे दुष्ट शब्दों को बोलने न पाये। दुष्ट शब्दों की प्रतिक्रिया दुष्टतापूर्ण ही होती है, उससे केवल द्वेष बढ़ता है। कभी इन्कार का अवसर आवे तो उसमें भी अपनी असमर्थता नम्र शब्दों में प्रकट करनी चाहिए। कटु शब्दों में इन्कार करने से सामने वाले पर दुहरा प्रहार होता है और वह भी तिलमिलाकर दुहरी दुष्टता धारण कर लेता है। विवाद, इन्कारी एवं प्रतिद्वन्द्विता में भी शिष्ट भाषा और सामने वाले के सम्मान का ध्यान रखा जाना चाहिए।

चरण-स्पर्शपूर्वक अभिवंदन

घर का प्रत्येक व्यक्ति अपने से बड़ों का विशेषतया माता-पिता एवं वयोवृद्धों का नित्य चरण-स्पर्श के साथ अभिवादन किया करें। यह परम्परा हमारे हर घर में आरम्भ की जानी चाहिए। इसका प्रभाव परिवार के स्नेह-सम्बन्धों पर बहुत अधिक पड़ता है। कोई कटुता उत्पन्न होती है तो इस प्रक्रिया के द्वारा उसका बहुत कुछ समाधान नित्य ही होता रहता है। छोटे बच्चे अपने बड़े भाई-बहनों को तथा बुजुर्गों को प्रातःकाल उठते ही प्रणाम किया करें। बड़े अपने बड़ों को प्रणाम करें और सबसे बड़े अपने स्वर्गीय पूर्वजों के चित्र अथवा चरण-प्रतीक का अभिवंदन किया करें। स्वर्गीय पूर्वजों के चित्र अथवा चरण-प्रतीक हर घर में रहने चाहिए और उनके अभिवंदन की धर्म-प्रक्रिया परिवार के प्रत्येक सदस्य को नित्यकर्म की तरह पूर्ण करनी चाहिए। बहुएँ अपने पति के, सास-ससुर के, बड़ी ननद के, जेठ-जिठानी के तथा घर में जो और वयोवृद्ध हों उनका चरण-स्पर्श

२.१३६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

अभिवंदन किया करें। सज्जनता, नम्रता और धार्मिकता की यह पुनीत परिपाटी जिन घरों में चल पड़ेगी वहाँ पारिवारिक-कलह का एक बहुत बड़ा भाग स्वयंमेव समाप्त हो जायेगा। आरम्भ में संकोचवश, इस नई प्रथा को अपनाने में घर के सदस्य आना-कानी कर सकते हैं, पर यदि साहसपूर्वक एक-दो व्यक्ति भी इसे अपना लें तो कुछ दिन में और सब लोग भी इस श्रेष्ठ परम्परा को अवश्य अपना लेंगे।

परिवार के सत्शिक्षण के लिए यह अत्यन्त सरल कार्यक्रम है, पर इसकी महत्ता अत्यधिक है—(१) श्रमशीलता, (२) उदारता, (३) सफाई, (४) समय का सदुपयोग, (५) शिष्टाचार के पाँच नियम जिस परिवार में जड़ जमा लेंगे वहाँ स्वर्ण के लक्षण कुछ ही दिन में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगेंगे। यह पाँचों गुण छोटों को सिखाने से पूर्व बड़ों को पहले अपने में उत्पन्न करने चाहिए और वाणी से ही नहीं, क्रिया से भी छोटों को इनकी शिक्षा देनी चाहिए। यों सदगुण अनेक हैं पर इन पाँच की महत्ता सर्वोपरि है। गृहपति का तथा परिवार के प्रत्येक उत्तरदायी व्यक्ति का कर्तव्य है कि इन्हें अपने स्वभाव का अंग बनावें। यह गुण जितने-जितने अंशों में बढ़ेंगे, परिवार में पारस्परिक सम्बन्ध मधुर होने के साथ-साथ आर्थिक तथा अन्य प्रकार की प्रगति के साधन जुटने लगेंगे, जिन्हें अपना परिवार देव-परिवार के रूप में देखने की इच्छा हो वे इन पाँच गुणों का प्रवेश परिजनों में कराते रहने के लिए कटिबद्ध हों और देखें कि उनका वृहत् परिवार-शरीर कितना स्वस्थ, समर्थ एवं सुविकसित बनता चला जाता है।

बच्चों की जिज्ञासा

बच्चे किस प्रकार के प्रश्न किसी अवस्था में पूछते हैं, इससे यह पता चलता है कि उनमें विचारों का विकास कैसे होता है ? प्रायः तीसरे वर्ष की अवस्था से ही बच्चे अपने निकट की वस्तुओं और घटनाओं के सम्बन्ध में भाँति-भाँति के प्रश्न पूछने लगते हैं। कुछ प्रश्न तो बच्चे अपनी ओर केवल दूसरों के ध्यान को आकर्षित करने के लिए करते हैं। उनके कुछ प्रश्न सच्ची जिज्ञासा को शान्त करने के लिए होते हैं, जिससे वे अपने अनुभवों के अर्थ को ठीक-ठीक समझ सकें। जब तक इन प्रश्नों द्वारा उसकी जिज्ञासा शान्त न होगी, तब तक वह विभिन्न प्रश्नों को पूछता रहेगा। 'हरलाक' कहता है कि प्रश्न करने का काल तीसरे वर्ष से प्रारम्भ होकर प्रायः छठे वर्ष तक चलता है।

बच्चों के भाषा-विकास के अध्ययन से उनके प्रश्नों के स्वरूप अथवा प्रत्यय का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। 'रग' ने अपने अध्ययन में देखा कि किण्डर गार्टन के बच्चों की बातों का दस प्रतिशत प्रश्न थे। 'फिशर' ने नर्सरी स्कूल के बच्चों के अपने अध्ययन में

देखा कि १॥ से २ वर्ष के लगभग उनकी बातों में दो प्रतिशत प्रश्न थे, परन्तु तीसरे वर्ष की अवस्था पर उनका प्रतिशत १५ हो गया।

मनोवैज्ञानिकों के लिए अभी तक यह जानना सम्भव नहीं हो सका है कि विभिन्न विकासवस्था पर बच्चों को किन-किन साधारण बातों का ज्ञान रहता है। अतः किसी भी उम्र के लिए अभी तक इस सम्बन्ध में कोई प्रतिमान नहीं निश्चित किया जा सका है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि बच्चे विभिन्न वातावरण से आते हैं और उनके अनुभवों में बड़ा अन्तर होता है।

दिशा और दूरी का ज्ञान बच्चे अपने आप नहीं सीख पाते। किसी दूरी का अनुमान करने के लिए वह उसकी उस परिचित वस्तु और व्यक्ति से तुलना करते हैं जिसे बहुधा तय किया करते हैं। स्थान, दिशा और दूरी के अनुमान के लिए वे दृष्टि सम्बन्धी तथा गति सम्बन्धी संवेदनाओं का सहारा लेते हैं। जब बच्चा रेंगना प्रारम्भ करता है, तभी से वह इन संवेदनाओं का अनुभव करने लगता है। जब वह गाड़ी, तीन पहिये की साइकिल तथा गेंद इत्यादि से खेलना प्रारम्भ कर देता है तो दूरी और दिशा का उसका ज्ञान कुछ शुद्धतर होने लगता है। जिस लम्बी दूरी को बालक तय नहीं कर सकता उसके सम्बन्ध में वह अन्धकार में ही रहता है। स्कूल में स्केल, गज, फीट और इंच से दूरी और बॉट से तौल नापने से उसे स्थान और दूरी को समझने में अथवा प्रत्यय पाने में बड़ी सहायता मिलती है।

बच्चे ज्यों ही बातचीत करने की कुछ योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, वे कुछ संख्याओं को भी गिनने लगते हैं। यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि संख्या के प्रयोग की योग्यता उनमें कब प्रारम्भ होती है, परन्तु दूसरे या तीसरे वर्ष से वे कुछ संख्याओं के नाम अवश्य लेते हैं। किण्डर गार्टन के साढ़े चार वर्ष की अवस्था के बच्चों के अध्ययन से 'इगलस' को ज्ञात हुआ कि उनमें कुछ में संख्याओं के प्रयोग करने की योग्यता है। एक कार्ड पर कुछ बिन्दुओं को बनाकर उनसे उनकी संख्या पूछी गई। यह देखा गया कि इस उम्र से बच्चों का १ और २ का ठीक-ठीक ज्ञान है, ३ का ज्ञान बहुत अच्छा नहीं है, ४ का ज्ञान कामचलाऊ है और ५ से १० तक की संख्या का उनका ज्ञान बहुत ही अस्पष्ट था। बड़े बच्चे बड़ी संख्याओं का प्रयोग अधिक कुशलता से करते थे और छोटों को इसमें कुछ कठिनाई होती थी। इगलस ने निष्कर्ष निकाला है कि बच्चों का संख्या प्रत्यय उनकी उम्र तथा शिक्षण के अनुसार बढ़ता है।

छोटे बच्चों में समय की अवधि को समझने की योग्यता बड़े ही धीरे-धीरे विकसित होती है। यदि वह कुछ काम करता है तो उसके लिए यह कहना बड़ा ही कठिन होता है कि वह कितने समय तक काम करता रहा। जब किसी काम को वह बड़े मन से करता है तो

उसे जान पड़ता है कि समय बड़ी जल्दी बीत गया और जब बेकार रहता है, तो समय जल्दी बीतते नहीं जान पड़ता। स्कूल में पहुँचने में देर करना तथा किसी पूर्व निश्चय के अनुसार किसी स्थान पर ठीक समय से न पहुँचना उसके समय की अवधि को समझने की असमर्थता का द्योतक है। सुबह की क्रियाशीलताएँ शाम से भिन्न होती हैं। दिन में कुछ और काम किया जाता है और रात को कुछ और ही, इसलिये लगभग २॥ या ३ वर्ष का बच्चा सुबह और शाम अथवा दिन और रात के भेद को समझ सकता है। चार वर्ष के बच्चे प्रायः यह बतला सकते हैं कि आज मंगल है या बुधवार परन्तु महीने या ऋतु का ज्ञान उन्हें एक साल बाद ही आता है।

बच्चों को आकार और स्वरूप का ज्ञान जल्दी होता है क्योंकि सन्दूक, खिलौना, बिस्तर, मेज तथा कुर्सी इत्यादि वस्तुओं के अन्तर को समझने में उन्हें देर नहीं लगती। तीसरे वर्ष की उम्र में बच्चे इन सबके अन्तर को समझने लगते हैं। विभिन्न परीक्षणों से यह स्पष्ट है कि उम्र और अनुभव के बढ़ने के साथ आकार और स्वरूप को समझ सकने की योग्यता बच्चों में बढ़ती रहती है।

दूसरों को समझने के पूर्व बच्चा अपने को कुछ समझ लेता है। अपने विषय में जो वह प्रत्यक्ष बनाता है उसी के अनुसार वह दूसरों को समझने का प्रयत्न करता है। दर्पण में देखने तथा अपने हाथ से विभिन्न अंगों को छूने से वह अपने शरीर के विभिन्न अंगों को समझता है। उसकी यह क्रिया चौथे या पाँचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाती है।

बच्चे को अपने में बड़ी रुचि होती है। इसलिए अपने विषय में उसके प्रत्यक्ष का विकास बड़े शीघ्र आरम्भ हो जाता है।

बच्चे प्रायः अपने आत्मप्रत्यक्ष के विकास में दो प्रकार के प्रत्यक्षों का विकास करते हैं। एक प्रकार का प्रत्यक्ष तो बाह्य व्यक्तियों के सम्पर्क के प्रभावस्वरूप विकसित होता है। जब बालक स्कूल जाना प्रारम्भ करता है तो उसके 'आत्म' का दूसरा स्वरूप विकसित होता है। यह स्वरूप उसके विचारों, भावनाओं और संवेगात्मक अनुभवों पर आधारित रहता है। इन दोनों प्रकार के 'आत्म' का वह एकीकरण नहीं कर पाता। अतः वह अपने को बहुधा दो व्यक्तित्व वाला व्यक्ति समझता है। किशोर अवस्था में पहुँचने में उसके 'आत्म' के ये दोनों स्वरूप आपस में मिल जाते हैं। तब बच्चा एक समन्वित व्यक्ति की तरह व्यवहार दिखलाने में समर्थ होते हैं।

दूसरों के व्यवहार तथा संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण से व्यक्ति में सामाजिक प्रत्यक्ष आता है। ध्वनि का प्रत्यक्ष बच्चा बहुत पहले ही कर लेता है। आवाज से ही वह परिचित अथवा अपरिचित अथवा प्रेम भरी आवाज

की पहचान वह एक वर्ष की उम्र में प्रायः करने लगता है।

अन्वेषणों के आधार पर 'व्यूहलर' का कहना है कि तीन महीने की उम्र में बच्चे को क्रोध अथवा प्रेम भरे शब्दों की पहचान नहीं रहती। वह दोनों को समान समझता है। पाँच महीने की अवस्था पर वह क्रोध के भाव को समझने लगता है। जब कोई व्यक्ति उससे क्रोध दिखलाता है तो वह रोने लगता है। उसकी धारणा है कि आठवें महीने पर बच्चा दूसरों के चेहरे के भाव को समझने में असमर्थ होता है।

अच्छे वातावरण के बच्चों का साधारण वातावरण के बच्चों की अपेक्षा सामाजिक प्रत्यक्ष अच्छा होता है। व्यक्ति के सौन्दर्य की भावना उसके विभिन्न सम्बन्धों पर निर्भर करती है। सुखद भावना के पाने पर वह सोचता है कि सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तुएँ सुन्दर हैं और दुःखद भावना पाने पर उन्हें वह असुन्दर मानता है। वस्तुतः न कोई वस्तु अपने में सुन्दर है और न असुन्दर, उसे सुन्दर अथवा असुन्दर मानता तो अनुभव करने वाले व्यक्ति के तात्कालिक भाव पर निर्भर करता है। बच्चे जिसे पसन्द करता है, उसे वह सुन्दर मानता है और जिसे वह पसन्द नहीं करता उसे वह असुन्दर कहता है। जिन व्यक्तियों को वह चाहता है, उसे वह सुन्दर ही समझता है, चाहे वह दूसरों की दृष्टि में असुन्दर ही क्यों न हों। इस बात की पुष्टि 'हरमन' द्वारा निर्धारित प्रश्नावली से होती है। जब पाँच वर्ष के बच्चे को कुछ स्त्रियों के चित्र दिखलाये गये तो उन्होंने सुन्दरतम के स्थान पर सबसे भेदे चित्रों को पसन्द किया। पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि ये चित्र उसकी 'दादी' की तरह लगते हैं अथवा 'आया' के समान हैं।

गहरे रंग के चित्र जिनमें व्यक्तियों अथवा मशीन की गतियों का चित्रण रहता है, बच्चों को अच्छे लगते हैं। कोई चित्र जिसमें लोग कुछ काम करते हुए चित्रित रहते हैं, बच्चों को बड़े ही अच्छे लगते हैं। प्राकृतिक दृश्य बच्चों को तब तक अच्छे नहीं लगते जब तक उनमें कुछ क्रियाशील व्यक्तियों का अथवा पशुओं का चित्रण न हो।

बच्चा किस वस्तु को सुन्दर मानेगा और किसे असुन्दर यह उसके सांस्कृतिक वातावरण पर भी कुछ हद तक निर्भर करता है। प्रौढ़ व्यक्तियों के साथ रहने के कारण बच्चे प्रायः सौन्दर्य सम्बन्धी उन्हीं की भावनाओं को अपना लेते हैं। अपने लिए अच्छा न समझते हुए ऐसी स्थिति में बालक उन वस्तुओं को सुन्दर मान बैठता है, जिन्हें प्रौढ़ लोग सुन्दर मानते हैं। जिसे माता-पिता या शिक्षक सुन्दर मानते हैं, उन्हें बच्चे भी सुन्दर मान बैठते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते हैं वे प्रौढ़ों के सौन्दर्य सम्बन्धी मापदण्ड को स्वीकार करने लगते हैं।

२.१३८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

प्रायः यह सबका अनुभव है कि एक छोटा शिशु भी संगीत को पसन्द करता है। जब धीरे-धीरे गाया या गुनगुनाया जाता है तो उसे नींद आ जाती है। एक वर्ष की अवस्था के पूर्व संगीत सुनने की रुचि बच्चों में स्पष्टतः देखी जाती है। यदि बच्चे को कहीं कुछ कष्ट हो रहा है तो संगीत की ध्वनि से उसे कुछ शान्त किया जा सकता है। बच्चे को लय बड़ी अच्छी लगती है और वातावरण के अनुसार उसमें एक विशिष्ट प्रकार के स्वर के लिए रुचि भी उत्पन्न हो जाती है। तीन वर्ष की अवस्था पर बच्चा प्रायः यह कह देता है कि वह कौन-सा गाना या ग्रामोफोन का रिकार्ड सुनना पसन्द करेगा। अपने प्रिय गाने को बच्चा जितनी बार सुनता है वह गाना उसके लिए उतना ही प्रिय हो जाता है। संगीत की रसानुभूति के लिए उसके अर्थ को भी समझना आवश्यक है। छह या सात वर्ष की अवस्था में बच्चे स्वर की गहनता और ऊँचाई को कुछ-कुछ समझ सकते हैं। दूसरों के स्वर को सुनने से उनकी गहनता और ऊँचाई का वे कुछ हद तक अनुकरण भी करते हैं।

बच्चों की जिज्ञासा का विकास हो

भूख बुझाने के लिए आहार की और क्रतु प्रभावों से बचने के लिए कपड़ों की आवश्यकता पड़ती है। यह हमें रोज नये सिरे से बनाने या धोने-साफ करने पड़ते हैं। बासी-बुसी रोटियों और मैले-कुचैले कपड़ों से काम नहीं चल सकता। उनमें नवीनता लानी आवश्यक है। छोटे बच्चे को नया खिलौना लाकर दिया जाय तो वह उसमें एक-दो दिन ही रुचि लेगा, इसके बाद नये की माँग करेगा। यह बाल प्रवृत्ति है, यह सोचकर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

बड़ों को भी एक ही तरह की दाल सदा खाने के लिए दी जाती रहे तो खाने वाले का जी भर जाता है और नयी वस्तु की माँग करने लगता है। घर में कपड़े होने पर भी शादी-बारात में जाते समय नये कपड़े पहनने की इच्छा होती है। छोटे तो क्या काम-काजी और व्यवसायी भी पर्यटन, पिकनिक के लिए मन चलाने लगते हैं और काम में हर्ज करके भी उसके लिए जाने का संरंजाम जुटाने लगते हैं।

ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही बात है। पाठ्य पुस्तकों के बारे में आवश्यक नहीं कि उनका एक-एक पन्ना ही रोज पढ़ा जाय। जब नई पुस्तकें खरीदकर बाजार से लायी जाती हैं तो बच्चों में इतनी उतावली होती है कि वे दो-चार दिन में ही सबको सरसरी निगाह से पढ़ जाते हैं। जब स्कूल के पाठ्यक्रम में पढ़ी-पढ़ाई बातों को रटने के लिए कहा जाता है, तो उनका मन नहीं लगता। भार वहन करने की दृष्टि से उन्हें पढ़ते रहें तो बात दूसरी है। पाठ्य-पुस्तकों को रट लेना एक बात है और उनमें दिलचस्पी लेना दूसरी। मस्तिष्क में कोई बात बैठती तब

है जब उसकी बारीकियाँ उसे समझायी जायें और यह प्रतीत हो कि इस आधार पर उसकी विशेषज्ञता में क्या वृद्धि हुई।

इसके लिए स्कूली पाठ्यक्रम को भार समझकर उसे बच्चे पर नहीं लादना चाहिए कि उन्हें किसी प्रकार अपना कोर्स पूरा करना है। अच्छे नम्बर से पास होना है, इतना भर हो जाय तो बहुत। यह मान्यता आंशिक रूप से सही भी हो तो सार्थक नहीं है। बच्चा कक्षा में अच्छे नम्बरों से पास हो जाये तो उसका मनोबल बढ़ता है, यह सही, पर यह उससे भी ज्यादा सही है कि यदि बच्चे के बौद्धिक व्यक्तित्व का विकास नहीं हुआ तो वह तोता रटत भर में प्रवीणता प्राप्त कर लेगा, जहाँ तक उसकी बौद्धिकता प्रखरता का सम्बन्ध है, वहाँ तक वह एक प्रकार से पिछड़ा ही बना रहेगा।

बच्चों को स्कूल भेजते समय अभिभावकों का दृष्टिकोण यही नहीं होना चाहिए कि वे घर में दंगल मचाते हैं इसलिए उनके कोलाहल से पीछा छुड़ाने के लिए उन्हें किसी बाड़े में बन्द कर दिया जाय। यदि यही दृष्टिकोण हो तो स्कूल से लौटते ही उनके लिए एक द्यूटर रखा जा सकता है। जैसे कि ग्वाला बदल लेने पर भेड़ों की रखवाली का प्रयोजन पूरा होता रहता है। बहुत अधिक रटने पर बच्चा किसी प्रकार पास तो हो ही जायेगा। दिन भर पिंजड़े में बैठे तोते को सीताराम रटाते रहा जाय तो वह भी उन शब्दों को दुहराने लगता है और बिना परीक्षा की बात कहे ही जब चाहो तभी वह उन शब्दों की पुनरावृत्ति करने लगता है। इस तरह पास करा लेने से उस अवधि का सदुपयोग नहीं होता जो उसके समूचे जीवन में सबसे बहुमूल्य है और उसी में जिज्ञासा और प्रतिभा निखारी जा सकती है।

प्रश्न मन में से उपजना और उसका सही समाधान मिलना-ज्ञान वृद्धि का यह सबसे अच्छा तरीका है। पाठ्य-पुस्तकों में से निर्धारित विषय के अन्तर्गत जो जानकारीयें समाई हुई हैं या समा सकती हैं, उन्हें बच्चे से पूछकर उत्तर माँगना चाहिए और यदि वह न बता सके तो उसे स्वयं बताना चाहिए। इस प्रकार उसकी जिज्ञासा भी बढ़ेगी और उसमें समाधान खोजने या पूछने की जिज्ञासा बढ़ेगी। मस्तिष्कीय तीक्ष्णता इसी आधार पर विकसित होती है।

इसके लिए यह आवश्यक है कि बच्चे को कोई ऐसा समझदार साथी मिले, जिसकी प्रकृति में नया कुछ पूछने और बताने की स्वविकसित बुद्धि हो, पर कठिनाई यह है कि न इस प्रकार की आशा अध्यापकों से की जा सकती है और न द्यूटरों से। वे स्वयं तोतारटत की विद्या अपनाकर उतीर्ण हुए हैं और इसी आधार पर बच्चों को पास होने की स्थिति तक पहुँचाते रहे हैं। लीक से हटकर वे चले ही नहीं तो दूसरों को चलायें कैसे ?

शिक्षा का उद्देश्य बालक को जिज्ञासु प्रकृति का बनाना है और इतना तार्किक बनाना है कि सही बात समझाये जाने का अनुमान लगा सके। अक्सर बड़े लोग बच्चों से मजाक करने में रस लेते रहते हैं और ऐसे उत्तर देकर पीछा छुड़ाते हैं, जिसे समझाने में भी देर न लगे और बच्चे के साथ सिरफोड़ी का भी पीछा छूट जाय। होना यह चाहिए कि बच्चे को बहुज्ञ बनाया जाय। इसके लिए एक ही तरीका है वह 'बहुश्रुति' हो।

यह कार्य अभिभावकों का है, जो अपने निजी विनोद के लिए बच्चों के साथ खेलना पसन्द करें और इसके लिए उनकी जिज्ञासाओं को उभारना तथा उनका समाधान करना अच्छा मनोरंजन समझे।

प्रश्नोत्तरी की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए जो संसार के सामान्य ज्ञान की वृद्धि करने के साथ-साथ निज के जीवन में सतर्कता बरतने की जानकारी भी दें। बच्चे के मन में ऐसे प्रश्न स्वयं न उठें तो उनसे पूछकर वह चर्चा आरम्भ करनी चाहिए, जो जीवनोपयोगी एवं सांसारिक जानकारीयों से मिश्रित हों।

आठ-दस वर्ष की आयु तक के बच्चों को निजी जानकारी कम होती है। उन्हें वे बातें बतानी चाहिए जो उसकी छोटी परिधि में काम आती हों और देखने को मिलती हों। भोजन, वस्त्र, खिलौने, सफाई व्यवस्था आदि में रहने वाली भूलों की हानियाँ और सतर्कता न बरतने की हानियाँ हल्की-फुल्की प्रश्नोत्तरी से समझाई जा सकती हैं। शिष्टाचार के सही-गलत होने की बात, उपयोग में आने वाली वस्तुओं की टूट-फूट समय की पाद-दी आदि से सम्बन्धित कितने ही प्रश्न पूछे और उनके उत्तर पूछे-बताये जा सकते हैं। इसी प्रकार पुस्तकों में आने वाले प्रसंगों से सम्बन्धित जानकारीयों की चर्चा का विषय बनाया जा सकता है। इसी प्रकार किन्हीं इतिहासों में नैतिक दृष्टि से जो उचित या अनुचित हुआ हो, उसका विश्लेषण उनसे कराना चाहिए या स्वयं करना चाहिए।

दस से अठारह वर्ष की आयु ऐसी होती है, जिसमें दृष्टिकोण निखरता है और स्वभाव बनता है। इस आयु में यदि बुरे बच्चे की संगति और बुरी चर्चाओं का सिलसिला चल पड़े तो उनके कोमल स्वभाव पर ऐसी छाप पड़ती है जो युवावस्था या प्रौढ़ावस्था तक बनी रहती है। इसलिए यह समय सबसे अधिक सतर्कता का है। अच्छा हो यह अवधि अभिभावक अपने साथ व्यतीत करने का सुयोग्य बनायें या ऐसे व्यक्ति चुनें, जो सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त चरित्र निर्माण की शिक्षा देने में भी समर्थ हों।

बाल जिज्ञासाओं का समाधान सृजनात्मक हो

अधिक जानने की इच्छा मनुष्य में बचपन से लेकर मरणकाल तक बनी रहती है। इच्छा की तरह जिज्ञासा भी है जो मनुष्य को सम्पन्न एवं बुद्धिमान बनाती है। बचपन में जिज्ञासा का बाहुल्य इसलिए होता है कि वह अपने चारों ओर जो फैला हुआ देखता है, उसके सम्बन्ध में अधिक जानना चाहता है ताकि उसका उपयोग कर सके या बच सके। यह स्वाभाविक, मानसिक आवश्यकता है जिसकी तुलना शारीरिक भूख-प्यास से की जा सकती है।

शैशवकाल में वह वाणी की असमर्थता के कारण प्रश्न तो नहीं कर सकता, पर अभिभावकों के आचरण की नकल करके वह शिक्षा की आवश्यकता एक सीमा तक पूरी करता है। जिज्ञा विकसित होने से पूर्व भी वह बहुत-सी जानकारीयों प्राप्त कर चुका होता है। पूछने पर वह शरीर के अंगों के नाम अँगुली रखकर बता देता है। इसी प्रकार वस्तुओं, जीव-जन्तुओं, सम्बन्धियों को भी पूछने पर वह बता देता है। यद्यपि वाणी का विकास न होने के कारण वह उच्चारणपूर्वक उनका परिचय नहीं दे पाता। बोलना आरम्भ करने से पूर्व वह मस्तिष्क में अनेक पहचानें जमा लेता है। इसी आधार पर वह एक वर्ष का होने के उपरान्त मातृभाषा के कितने ही शब्द जान लेता है और समयानुसार उन्हें बोलने, समझने भी लगता है। जिज्ञासाओं के समाधान में उसे कम बुद्धि नहीं लड़ानी पड़ती, यद्यपि दूसरों द्वारा भी इसकी पूर्ति में सहायता मिलती रहती है।

तीन वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते बालक की जिज्ञासाएँ भी अधिक जग जाती हैं और वह सम्बद्ध क्षेत्रों में पाये जाने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में उनके नाम जान लेने भर से सन्तुष्ट नहीं होता वरन् अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहता है। बुद्धिमान अभिभावक उसकी इस बौद्धिक आवश्यकता को समझते हैं और उसे यथार्थता समझाने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि कल्पनाशक्ति की दुर्बलता होने से उसे बातों को प्रतीक रूप में ही समझना पड़ता है। स्कूल प्रवेश में उससे सम्बद्ध वस्तुओं तक ही सीमित रहने से काम नहीं चलता वरन् और भी बहुत कुछ जानने का नया क्षेत्र पुस्तकों के साथ ही आरम्भ होता है। वर्णमाला और गिनती सीखते समय अक्षरों के साथ कुछ प्रतीक चित्र प्रस्तुत करने पड़ते हैं। ऐसे चित्र जिन्हें या तो उसने देखा हो या कल्पना के आधार पर उनका अनुमान लग सकता हो, छोटी आयु के बच्चों की शिक्षा में जितना उच्चारण या स्मरण का सम्बन्ध होता है, उतना ही चित्रों का भी। चित्रों की एक शाखा रंग भी है। इस भेद को समझने पर वह दृश्य जगत् के एक और रहस्य को समझने लगता है। यह सिलसिला बराबर चलता रहता है। दस वर्ष की आयु तक वह इतना अधिक, इतनी तीव्र

२.१४० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

गति से सीखता है कि इस आयु तक संग्रह किये ज्ञान के आधार पर उसके व्यक्तित्व का ढाँचा ही बन जाता है। ज्ञान-सम्पदा की दृष्टि से जितनी गति अपनाई होती है उतनी कदाचित् ही जीवन भर में बना पाता है। बड़ों की दृष्टि में छोटे बच्चे अनेक विषयों में अनजान या अल्पज्ञ ही समझे जाते हैं तो भी जन्मकाल से लेकर दस वर्ष का होते-होते वह इतना अधिक ज्ञान लेता है कि उसे शैशव की तुलना में ज्ञानवृद्ध कहा जा सके।

जिज्ञासाओं का उभार इसके बाद न तो समाप्त होता है और न शिथिल पड़ता है वरन् वह समीपवर्ती वस्तुओं से कहीं आगे बढ़कर वनस्पति-जगत प्राणिजगत शरीर-विज्ञान, पदार्थ-ज्ञान आदि के क्षेत्र में हाथ-पैर मारता रहता है।

लिखने-बाँचने जितना ज्ञान बच्चे आमतौर से ६-७ वर्ष का होने तक प्राप्त कर लेते हैं। इससे ज्ञान का एक नया द्वार खुलता है। जब तक बच्चा अभिभावकों पर आश्रित रहता है, तब तक उन्हें हँसाने, खिलाने या खिलौने के द्वारा कुछ जानकारी बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। कुछ समझदार होने पर वे उससे पीछा छुड़ाना चाहते हैं ताकि अपने निजी अन्य काम कर सकें। बड़े लोग पब्लिक स्कूलों में भेज देते हैं। उनमें खर्च तो बहुत पड़ता है पर वह उनकी वहन शक्ति से बाहर नहीं होता। न भेजें तो भी उनके सहचरों का काम पुस्तकें देती हैं, गम्भीर विषय तो वे समझ नहीं पाते पर कहानियों के रूप में यह आवश्यकता पूरी होने लगती है। बच्चे चावपूर्वक पुस्तकें पढ़ने लगते हैं। पर वे होनी चाहिए सचित्र तथा कथानक ढंग से लिखी हुई। बालकों की कहानीप्रियता की अभिरुचि इससे भी विदित होती है कि घर में जो कोई कहानी सुनाता है, उन्हीं के पीछे वे लगे रहते हैं। नानी, दादी प्रायः बेकार रहती हैं, उन्हें कहानियाँ भी बहुत याद होती हैं। ऐसी दशा में दोनों की पटरी ठीक बैठ जाती है। वक्ता, सोता दोनों का ही समय कटता और मनोरंजन होता है। अध्यापक स्कूलों में रूखे विषय पढ़ाते हैं। उनकी पढ़ाने की शैली में भी रस नहीं होता। घर पर मौखिक कहानियाँ सुनने पर भी जिज्ञासा का समाधान नहीं होता। ऐसी दशा में उन्हें सचित्र कहानी की पुस्तकों का ही सहारा लेना पड़ता है। खिलौने के स्थान पर बच्चों की प्रिय पुस्तकें खरीद देना अभिभावकों को भी कठिन नहीं पड़ता।

प्रश्नों की झड़ी लगाना

लगभग तीन वर्ष की आयु तक बच्चा भली प्रकार बोलना सीख जाता है। संसार के विषय में उसको जो अनुभव होता है, उससे उसके मन में कौतूहल जाग्रत होता है। फलस्वरूप उसकी जिज्ञासा प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है, वह हर चीज के बारे में जानना चाहता है, फिर अपने लोगों से वह प्रश्नों की झड़ी लगा देता है।

ऐसा कब हुआ ? कैसे हुआ ? कहाँ हुआ ? तब क्यों नहीं था, अब क्यों है ? फिर क्या होगा ? ऐसे अनेक प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना माता-पिता अथवा अन्य व्यक्तियों के लिए एक समस्या हो जाती है। अगर माँ बच्चे के प्रश्नों के उत्तर ठीक से नहीं देती, तो वह इधर-उधर से सुनकर, कुछ देखकर और अपनी कल्पना के सहारे एक असन्तोषजनक ढंग से उनको हल करने की चेष्टा करते हैं। अगर बच्चे का हल भयानक या विकृत होगा तो सम्भव है, उनके मन में डर या निराशा छा जाय, जिसका उस पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

बच्चे के प्रश्नों का उचित उत्तर दें—बच्चे ने कोई मुर्दा जाते देखा। यह भी सुना कि अमुक व्यक्ति मर गया है, अब उसे जलाने ले जा रहे हैं। मृत्यु के पश्चात् आग में जला देते हैं, यह बात उसे बहुत भयानक और कठोर लगी। वह उलझन में पड़ा हुआ माँ से पूछता है ‘माँ, लोग कैसे मर जाते हैं ?’

बच्चे की आँखों में एक उलझन और भय का भाव देख बुद्धिमती माँ बड़ी चतुराई से कहती है—‘बेटे संसार में सभी प्राणी लम्बी उमर पाकर आते हैं। बचपन में वह खाते-पीते, खेलते और खुश रहते हैं। बड़े होकर विद्या पढ़ते हैं, बड़े-बड़े काम करके नाम करते हैं। फिर बुढ़ापे में जब काम करते-करते वह थक जाते हैं, भगवान उन्हें अपने पास बुला लेते हैं। जब थककर कोई आँखें बन्द करके हमेशा के लिए सो जाता है, तभी लोग कहते हैं कि वह मर गया।’

तुमने देखा है, कि जब नई मोटर बहुत मील चलकर पुरानी हो जाती है, तब हम उसे बेकार समझकर छुट्टी दे देते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी बेकार होकर छुट्टी पा लेता है।

बच्चा—‘मेरे हुए को जलाते क्यों हैं ? उसे तकलीफ नहीं होती ?’

माँ—‘जब वह हमेशा के लिए सो जाता है, उसे तकलीफ मालूम नहीं होती, आग की लपटों में छिपकर वह भगवान के पास चला जाता है।’

घर में जब छोटे भाई-बहिन का जन्म होता है, अधिकांश माता बच्चे को कुछ इसी प्रकार कहकर बहका देती हैं कि उसे मैंने पड़ा पाया था। सूप में लेटा, नदी में बहता आ रहा था, मन्दिर में गई थी तो भगवान जी ने दिया, कमल के फूल में लेटा था इत्यादि। इन बातों पर वह कुछ दिन तो विश्वास कर लेता है, बाद में सुनकर, देखकर और समझकर कि गाय, भैंस आदि पशुओं के तो पेट में बच्चा रहता है, हमारे भाई-बहिन इधर-उधर क्यों पड़े हुए मिलते हैं ? बच्चा एक दिन माँ से कह ही देता है, माँ तुम झूठ बोलती हो, बच्चा तो पेट में होता है। माँ बच्चे की बात सुनकर दुविधा में पड़ जाती है। उसे यह पता लगने पर कि बच्चा ऐसा भोला

नहीं है जैसा मैं समझती हूँ, भगवान ने उसे भी बुद्धि दी है, वह हैरान रह जाती है। प्रत्येक ऐसी माता अपने बच्चे की दृष्टि में इसी प्रकार झूठी प्रमाणित होती है। बच्चों में अश्लीलता की भावना या झूठी लज्जा नहीं होती। एक मनोवैज्ञानिक माता ने अपने बच्चे के प्रश्नों का देखिये कैसा सुन्दर उत्तर दिया ?

बच्चा—‘माँ जब तुम्हारा विवाह हुआ था हम सब भाई-बहिन कहाँ थे ?’

माँ—‘भगवान के यहाँ ?’

बच्चा—‘फिर तुम मुझे कैसे लाई, मैं कैसे पैदा हुआ ?’

माँ—‘बेटा, मैं और तुम्हारे पिता दोनों ने मिलकर घर जमाया। हम आपस में बड़े प्यार से रहते थे, भगवान ने प्रसन्न होकर हमें तुम्हारा माँ और पिता बनाया।’

बच्चा—‘माँ, पेट में बच्चा कहाँ रहता है और वहाँ से कैसे बाहर आता है ?’

माँ—‘जैसे हमारे सबके पेट में भोजन की थैली है, उसी प्रकार माँ के पेट में बच्चे की थैली भी होती है। उसी में एक बीज के रूप में बच्चा होता है। धीरे-धीरे वह वहाँ बढ़ता है, जब तक बच्चे के हाथ-पाँव पूरे नहीं बनते, वह माँ के पेट में पलता है, फिर भगवान उसे एक विशेष रास्ते से बाहर निकाल देते हैं।’

बच्चा—‘माँ के पेट में ही बच्चा रहता है, बाप के पेट में क्यों नहीं रहता ?’

माँ—‘बाप के पास बच्चे को पिलाने के लिए दूध नहीं है।’ बच्चे ने यह सुना और एक प्यार भरी दृष्टि से माँ की ओर दुलार से माँ के कक्षस्थल पर हाथ फेरा और हँसता हुआ तुरन्त बाहर खेलने दौड़ गया। बुद्धिमती माँ के इन उत्तरों से बच्चे का भली प्रकार समाधान हो गया। उसने फिर कभी किसी से इन बातों को पूछने की चेष्टा नहीं की। अपनी आयु के साथ जब उसकी जानकारी बढ़ती गई तब भी उसे अपनी माँ की बात झूठी प्रतीत नहीं हुई।

छोटे बच्चों के लिए लिंग-भेद भी एक समस्या है। अतएव उन्हें समझाना चाहिए कि लड़के और लड़कियों के शारीरिक बनावट में फर्क होता है। लड़के अपने पिता, चाचा, मामू तथा भाई के सदृश्य होते हैं। बड़े होकर उनके भी दाढ़ी-मूँछ निकल आती है; वह ऊँचे, लम्बे और मजबूत होते हैं जबकि कन्याएँ अपनी माँ, मौसी, चाची तथा बहिनों के सदृश्य होती हैं। बड़ी होकर वह भी लड़की से स्त्री बन जाती है।

बच्चे के प्रश्न को समझकर, संक्षेप में उतना ही उत्तर देना चाहिए जिससे वह समझ सके। उदाहरण द्वारा बच्चा शीघ्र बात समझ जाता है। बच्चे जब परस्पर मिलते और खेलते हैं, उनके विचार बहुत स्वस्थ रहते हैं।

अनावश्यक कौतूहल उनमें नहीं होता। अगर उनको जताकर कोई बात विशेष रूप से न छिपाई गई हो तो वह उस विषय को शीघ्र ही भूल भी जाते हैं। इसलिए जब बच्चा किसी बात के विषय में कुछ पूछे, तो उसे डाँटकर चुप न करायें। बेहतर यह है कि आप स्वयं ही उसका समाधान कर दें। फिर वह मौका पाकर नौकर अथवा अपने बड़े साथियों से खोद-खोदकर प्रश्न नहीं करेगा।

कभी-कभी छोटे लड़के अपनी भूरेन्द्रिय को बार-बार पकड़ते या खुजाते हैं। ‘तू बीमार हो जायेगा या यह गिर जायेगा’ इस प्रकार डराकर उसे छूने से वर्जित न करें। जिस प्रकार मुँह में अँगुली डालने पर आप उसे ‘यह हानिकारक गन्दी आदत है’ कहकर उसका हाथ हटा देते हैं अथवा कोई काम देकर उसका ध्यान बँटा देती हैं उसी ढंग से भूरेन्द्रिय को छूने से रोकें।

शनैः-शनैः जब बच्चे बड़े होते हैं और शरीर विज्ञान के विषय में पढ़ते हैं, तब उन्हें भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के कार्यों का पता चल जाता है।

मनोवैज्ञानिक ढंग से पाले हुए बच्चे अपने बड़प्पन के इस ज्ञान को बचपन में प्राप्त ज्ञान की प्रथम कड़ी के साथ जोड़ लेते हैं। उनको यह कहने का कभी अवसर नहीं आता कि हमारे माँ-बाप झूठ बोलते थे। इसके विपरीत अपने बचपन की जानकारी में सुन्दर सत्य का अस्तित्व पाकर अपने माता-पिता की बुद्धि की सराहना करते हैं। बच्चों के सामने बड़ों को कोई ऐसा व्यवहार या चर्चा नहीं करनी चाहिए कि अगर उसका मतलब पूछे तो बताने में हिचक हो। स्त्रियाँ अपनी सखी-सहेलियों से अनेक ऐसी गोपनीय बातें तथा निर्लज्ज मजाक करने लगती हैं कि पास बैठे बच्चे इतना तो समझ ही जाते हैं कि कोई गन्दी बात की चर्चा हो रही है। बाद में अपने संगी-साथियों में जाकर जब अपनी उत्सुकता निवारण के लिए वह उस बात का जिक्र करते हैं तो वहाँ उन्हें जो जानकारी प्राप्त होती है, उससे वह बड़ों को निर्लज्ज समझने लगता है। उसका उनके चरित्र पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। वे बड़ों के उपदेश और व्यवहार में समता नहीं पाते। उनकी बाल-बुद्धि में यह बात समझ में नहीं आती कि कोई कार्य या स्वतन्त्रता बड़ों के लिए तो ठीक है, बच्चों के लिए ठीक क्यों नहीं है ? उन्हें तो बस एक ही बात सरल लगती है, जैसा माता-पिता करें वैसा हम भी करें।

जिज्ञासावृत्ति स्वाभाविक है—बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, उसको आस-पास की वस्तु आकृष्ट करती है। उनके विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए उसकी इच्छा बलवती हो उठती है। ‘यह सुन्दर इन्द्र-धनुष कहाँ से निकलता है ?’ यह नीला आकाश किसने बनाया है ? ‘सूरज गर्म क्यों है ?’ चाँद शीतल क्यों है ? दिन-रात कैसे होते हैं ? इन घरों में कौन रहता है ? इत्यादि प्रश्नों के रूप में उनकी उत्सुकता जाग्रत होती है।

२.१४२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

प्रकृति के रहस्य को समझाते समय उन्हें उसके रचने वाले परमात्मा की महत्ता भी समझाई जा सकती है। इन वस्तुओं को रचने वाला ईश्वर है। जब इनकी समझ में यह बात आ जाती है तब वे पूछते हैं 'ईश्वर कहीं है ?' ध्रुव और प्रह्लाद को वह दिखाई दे गया था, तो हमें क्यों नहीं दिखाई देता ? माता-पिता उन्हें समझाते हैं 'जब तुम पढ़-लिखकर ज्ञान वाले बन जाओगे, अच्छे कर्म करोगे तब भगवान तुम्हें भी दिखाई देगा।' यह सुनकर उनका दूसरा प्रश्न होता है 'तो क्या आपको दिखाई देता है ?' हँसकर माँ कहती है 'बेटा ईश्वर शरीर धरकर सामने नहीं आता, उसके दर्शन तो मन में होते हैं, जो कोई भी सच्चे मन से उनकी भक्ति करता है, उसे अन्दर से एक प्रकाश दिखाई देता है।'

प्रेम से बच्चे की आँखों में आँसू आ जाते हैं और एक प्रकार की शान्ति मिलती है, वह अच्छे काम करने का निश्चय करता है, उसका मन अच्छी बातों में लगता है।

भूखों को भोजन कराने पर, किसी निर्बल की सहायता करने पर, किसी घायल पक्षी या जानवर की रक्षा करने पर, बच्चे का हृदय आनन्द से गदगद हो जाता है, उसके मुख पर सन्तोष झलकने लगता है। माँ तुम दुलार से उसके सिर पर हाथ फेरकर शाबाशी देती है। वह कहती है 'बेटा जब हम कोई काम करते हैं अगर वह अच्छा काम होता है तो हमारी आत्मा को प्रसन्नता होती है, अगर कोई बुरा काम करते हैं तो हमारी आत्मा चेतावनी देती है, ऐसा मत करो यह बुरा काम है, इससे दूसरों को तथा तुमको नुकसान होगा। जो समझदार बच्चे हैं, वह इस आवाज को सुनकर बुरे काम से बरी हो जाते हैं। जो बुरे होते हैं वह इसे अनुसुनी कर देते हैं।'

माँ का यह उत्तर सुनकर बच्चा इसे अपने अनुभवों पर तौलता है और उसे याद आता है कि जब मैं अन्य लड़कों के साथ चिड़ियों का घोंसला उड़ा देने या बगीचे में आम चुराने जाने लगा था तो अन्दर से ऐसी ही आवाज मुझे भी सुनाई पड़ी थी कि यह बुरा काम है और मैं आधे रास्ते से ही लौट आया था। माँ ठीक कहती है कि अन्दर से ऐसी आवाज आती है।

समझदार माता-पिता अपनी सन्तान की जिज्ञासा-वृत्ति को प्रोत्साहन देते हुए उनकी बुद्धि और चरित्र का विकास करते हैं। जो माता-पिता-बच्चों की कौतूहलता का दमन करना चाहते हैं, वह उनके बुद्धि विकास में बाधा डालते हैं।

बच्चे अधिक काल्पनिक होते हैं। वह अपनी कल्पना की दुनिया में मस्त रहता है। शीतल मन्द पवन, आँधी, वर्षा, गर्मी, सर्दी सभी में बच्चे मस्त रहते हैं। ऋतुओं का परिवर्तन, चिड़ियों का चहकना, फूलों का खिलना, इन्द्र-धनुष, चाँद-सूरज, आकाश में शरद ऋतु के

हल्के-फुल्के सफेद बादल आदि वस्तुएँ उन्हें आकृष्ट करती हैं। वे उमंग में नाचने लगते हैं। वर्षा ऋतु में घोर वर्षा होते समय अपने मुहल्ले या गाँव के बच्चों की प्रसन्नता देखिये। एकदम खिल उठेंगे। सारे पानी में इधर से उधर, उधर से इधर, छप-छप करते, किलकारियाँ भरते दौड़ेंगे। पानी क्या बरस रहा है मानो उन्हें कोई निधि मिल गई है। हजार मना करो, मगर मानने वाले नहीं। सायंकाल इन्द्र-धनुष देखकर तो वे उछल पड़ते हैं। आह ! कितना सुन्दर ! वह देखो इन्द्र-धनुष निकला है ! उसकी रंगीनियों पर कूद-कूदकर आश्चर्य प्रकट करेंगे। फिर प्रश्नों की झड़ी लग जायेगी। यह क्या है ? कैसे निकला है ? क्या इन्द्रदेव का धनुष इतना बड़ा है ? वह इसे कैसे उठाते होंगे ? फिर उनका शरीर तो बहुत बड़ा होगा ?

बच्चों के प्रश्नों का उत्तर देना कोई सरल कार्य नहीं है और न सबके बस की बात है। वे तो टेढ़े-मेढ़े और हर विषय के प्रश्न करते हैं। अतः वही माता-पिता बच्चों की जिज्ञासा प्रवृत्ति को उचित मार्ग पर लगा सकते हैं कि जिनमें यह क्षमता हो। इसीलिए तो कहा गया है कि बच्चा अपने पालक का प्रतिबिम्ब होता है। अच्छे और शिक्षित माता-पिता ही अच्छी सन्तान पैदा करने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

बच्चों के प्रश्नों का उत्तर देते समय उनकी सुन्दर कल्पना को तोड़ने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। हमारे उत्तर ऐसे हों जो उन्हें आगे विचारने, कुछ करने तथा अपने अनुभव परखने का प्रोत्साहन दें, ऐसे उत्तर न हों जो उनकी कल्पना को झकझोर दें।

विचित्र-विचित्र बातों की कल्पना करके बच्चों को बड़ा आनन्द आता है। जैसे 'अगर हमारे पंख हों, तो हम क्या करेंगे ?' 'अगर मेरे पास भी एक जादू का डण्डा हो तो मैं क्या कर दिखाऊँ ?' 'मैं जब बड़ा होऊँगा और कमाऊँगा तब कैसी शान से रहूँगा ?' इत्यादि बातें सोचने में बच्चों को एक प्रकार का सुख होता है।

जब वे अपने माता-पिता से उनके बचपन की घटनाएँ सुनते हैं तो उनके हृदय में यह जानकर कि वे भी हमारे सदृश्य व्यवहार करते थे, बहुत सन्तोष होता है। वे खोद-खोदकर पूछते हैं 'अच्छा माँ तुम्हारी माँ कैसी थी ? क्या तुम्हें प्यार करती थी ? पिताजी भी क्या बचपन में शैतान थे ? क्या वे भी अपने पिता से कभी पिटे थे ? बच्चों को उत्सुक देखकर, जब माता-पिता अपने बचपन की कहानियाँ विस्तारपूर्वक बताने लगते हैं, तो बच्चे बड़ी उत्सुकता से उनकी बातें सुनते हैं, उनके साहस, परिश्रम, प्रतियोगिता और अपावों से संघर्ष आदि की कहानियों को सुनकर उनके प्रति बच्चों की श्रद्धा और भी बढ़ जाती है।

अतएव बच्चे जब प्रश्न करें तो उचित उत्तर दें। मेरा तो सिर चाट गया, हर दम कुछ न कुछ उल्टी-सीधी बातें करता रहता है, तेरी बकवास ही नहीं बन्द होती है, ऐसा कहकर उन्हें चुप करना उचित नहीं है। आप उनकी बातचीत में दिलचस्पी अवश्य लें। उनके दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा करें। वे बच्चे हैं, अबोध हैं, इसलिए उनकी बात में कुछ सार नहीं, आपका ऐसा सोचना ठीक नहीं।

बच्चों की बातचीत बड़ी मनोरंजक और कल्पना से भरपूर होती है। वह तर्कसंगत चाहे न हो, पर सजीव और स्वाभाविक अधिक होती है।

बच्चों को सुसंस्कारी इस प्रकार बनाएँ

मानवीय शिशु के संस्कार क्षेत्र मुख्यतः तीन होते हैं—व्यक्ति के रूप में माँ। माँ का गर्भ और माता-पिता की गोद, दोनों ही संस्कार-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरा संस्कार-निर्माण केन्द्र है, उसका क्रीडास्थल, जिसमें परिवार एवं समाज दोनों ही आ जाते हैं और तीसरा है गुरुकुल या विद्यालय।

माता-पिता की गोद में शिशु सचमुच बहुत कुछ सीखता व प्रभाव ग्रहण करता है। माता-पिता व परिजनों के आचरण का अनुकरण शिशु बहुत सुक्ष्मता से करता है। वे बच्चे के लिए दर्पण का काम करते हैं, आधुनिक मनोवैज्ञानिक परीक्षण-निरिक्षणों से यह स्पष्ट हो गया है कि व्यक्तित्व के मूल ढाँचे का अधिकांश प्रारम्भिक तीन वर्षों में तैयार हो जाता है, शेष जीवन में प्रधानतः उसी का विकास होता रहता है।

गर्भ व गोद के बाद अगला संस्कार सृजन-क्षेत्र है—क्रीडास्थल। कहा जाता है कि बच्चा खेल के मैदान में जो कुछ सीखता है, वह उसके चित्त-पटल में अमिट रूप से अंकित हो जाता है। छोटे बच्चे घर से बाहर जो कुछ भी क्रियाएँ करते हैं, वे वस्तुतः उनके लिए खेल का ही अंग होती हैं। अतः इस खेल-प्रक्रिया में उनके साथी-संगाती किस प्रकार के हैं, वे खेल में किन नियमों का पालन करते हैं, नीति-अनीति, पक्षपात, निष्पक्षता, धूर्तता, निश्चलता, कुटिलता, सहजता, क्रूरता, संवेदनशीलता आदि गुण युग्मों में से किन गुणों की प्रधानता रहती है तथा खेल के अतिरिक्त उन साथियों की निजी आदतें क्या हैं, इसका बच्चे पर गहरा असर अवश्यभावी है। घर में आस्तिकता, धार्मिकता एवं शालीनता का वातावरण है किन्तु क्रीडास्थल में छल-प्रपंच, नास्तिकता-नीतिविहीनता, चालाकी, कुटिलता का ही वर्चस्व है तो बच्चा कुछ ही समय में घर वालों को मूढ़ और भ्रान्त मान बैठेगा और क्रीडास्थल के संगियों की प्रवृत्तियों का अनुसरण करने लगेगा, यह सुनिश्चित-सा ही रहता है।

अतः बच्चा किन लोगों के साथ खेलता है या उठता-बैठता है बातचीत करता है इसका ध्यान रखा जाना अत्यावश्यक है। संस्कारों का स्वरूप इन्हीं गतिविधियों के मध्य बनता, सँवरता, बिगड़ता, मिटता रहता है।

संस्कार-निर्माण का तीसरा क्षेत्र है—गुरुकुल या विद्यालय। यह संस्कार निर्माण की अन्तिम कार्यस्थली ही समझी जा सकती है। शिक्षा व्यक्ति-चित्त में चेतन एवं अचेतन सभी स्तरों पर प्रभाव डालती है। वह सृष्टि सम्बन्धी, वातावरण सम्बन्धी तथा स्वयं मानव जीवन के स्वरूप, उसकी प्रक्रिया एवं उद्देश्य सम्बन्धी दृष्टि का निर्माण और परिष्कार करती है। जीवन एवं जगत के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण उसकी शिक्षा के स्वरूप पर निर्भर है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि किताबों के स्वरूप पर निर्भर है। अपितु इन किताबों को किस प्रकार पढ़ाया-समझाया जाता है, उसमें लिखी बातों को शिक्षक तथा अन्य शिक्षार्थी वस्तुतः किस रूप में ग्रहण करते हैं ? इसका प्रभाव ही नये शिक्षार्थी पर पड़ता है। किताबों में कितना भी ऊँचा ज्ञान भरा पड़ा हो किन्तु विद्यालय या गुरुकुल में उस ज्ञान के प्रति सजग न रहने, नकल कर पास होने या मात्र याद कर विद्वता झाड़ने अथवा अन्य किसी प्रकार की अवहेलना का भाव है तो उन ज्ञान ग्रन्थों को पढ़ने से शिक्षार्थी के भीतर वास्तविक ज्ञान-स्तर का निर्माण नहीं होने का। इसीलिए पुस्तकें नहीं अपितु गुरुकुल या विद्यालय ही संस्कार-निर्माण के क्षेत्र कहे जाते हैं अपने यहाँ इसीलिए पहले आचार्य परम्परा विद्यमान थी। आचार्य का अर्थ ही है—जो आचरण की प्रत्यक्ष शिक्षा-प्रेरणा दे और आचरण पर प्रभाव डाले। “आचार्य कस्मात् आचारं ब्राह्मति” अर्थात्—आचार्य क्यों कहे जाते हैं ? क्योंकि वे आचरण उत्पन्न करते हैं। आचरण के स्तर पर ग्रहणशीलता उत्पन्न करते हैं। इसीलिए प्राचीनकाल में अपने यहाँ आचार्यकुल होते थे, जो आचरण के सम्पूर्ण ढाँचे पर ही प्रभाव डालते थे, वहाँ पढ़ने वाले विद्यार्थी को आहार-विहार, जीवन दृष्टि एवं कार्यशैली, सभा, समितियों सम्बन्धी व्यवहार-शिष्टाचार जीवन के विविध संस्कारों का अभिप्राय एवं अनुष्ठान परिवार समाज सम्बन्धी नियम तथा मर्यादाएँ, सभी के सम्बन्ध में विस्तार से शिक्षण दिया जाता था और अभ्यास कराया जाता था, इसके साथ ही विविध विषयों का सामान्य ज्ञान और विद्यार्थी की रुचि एवं क्षमता तथा सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप उसे किसी एक या कुछेक विषयों का अति विशिष्ट ज्ञान प्रदान किया जाता था ताकि वह ज्ञान निपुण एवं कर्म-निपुण श्रेष्ठ नागरिक बनकर गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करे बारह वर्ष तक विद्यार्थी आचार्य कुल में विद्याध्ययन के लिए रहते थे।

“स ह द्वादशवर्ष उपेत्य द्युर्विशतिवर्षः।

सर्वान्वेदान्धीत्य महामना एषाय॥

२.१४४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

छन्दोग्योपनिषद् में यह श्वेतकेतु का वर्णन है कि वह बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन कराकर आचार्यकुल जाकर बारह वर्ष रहा और २४ वर्ष का होने पर वेदाध्ययनादि कर घर लौटा। ऐसे भी लोग होते थे, जो एक-दो विषयों की ऐसी विशेषता प्राप्त कर गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने पर आजीवन अध्ययन, मनन, तपःपूत आचरण में ही निरत रहना चाहते थे, वे कहीं आजीवन रहते थे। इन्हें ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था।

वहाँ के नियमों की दृढ़ता से तथा अपनी उच्छृंखलता की विवशता से डरने वाले भी कुछ किशोर होते थे, जो आचार्य कुल में जाने से डरते थे। महर्षि पातंजलि ने गुरुकुल में जाकर पढ़ने वालों को जहाँ स्वाध्यायी कहा है, वहाँ ऐसे अध्ययनभीरु लोगों को 'पर्याध्यायी' कहा है, इसी प्रकार जो छात्र अपनी चंचलता के कारण इस आचार्यकुल से उस आचार्यकुल में आते-जाते बार-बार गुरुकुल बदलते रहते थे, उन्हें तीर्थक्क कहा जाता था तथा तीर्थक्कों और पर्याध्यायियों के प्रति समाज में तिरस्कार का भाव था, क्योंकि वे लोग अपनी इन स्वभाव सम्बन्धी दुर्बलताओं के कारण आचार सम्बन्धी प्रशिक्षण नहीं प्राप्त कर पाते थे और सुसंस्कारी नहीं हो पाते थे।

इस प्रकार संस्कार निर्माण के इन तीनों ही केन्द्रों—(१) गर्भ व गोद, (२) क्रीडास्थल, (३) विद्यास्थल या आचार्य कुल यानी गुरुकुल। इन तीनों के प्रति प्राचीन भारतीय मनीषी जागरूक थे। ये तीनों ही श्रेष्ठ संस्कार देने वाले केन्द्र बनें, इस हेतु सजग, क्रियाशील रहते थे। अपनी उन्नति चाहने वाले किसी भी समाज को शिशु-संस्कारों के इन तीन निर्माण-केन्द्रों की सुव्यवस्था करनी ही होगी।

बच्चों के व्यक्तित्व-निर्माण में माता-पिता

वैज्ञानिकों का मत है कि व्यक्ति के विकास के लिए उत्तम भोजन, सुन्दर वस्त्र और सुविधापूर्ण आवास ही पर्याप्त नहीं। उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए श्रेष्ठ वातावरण की आवश्यकता होती है। मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण वातावरण पर निर्भर होता है। जैसा वातावरण होता है। वह वैसा ही हो जाता है। चोर-दुराचारी जुआरी, व्यसनी, लोगों के सम्पर्क में व्यक्ति उनके दुर्गुणों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। ठीक उसी प्रकार श्रेष्ठ, संयमी, सदाचारी, निर्व्यसनी, स्वाध्यायशील, श्रमशील, सेवा-परायण व्यक्ति के सम्पर्क में उनके उत्तम गुणों की छाप पड़ना सुनिश्चित है।

बालक तो कोमल हृदय, भावनाशील होते हैं। उनके सुकोमल मन वातावरण से तुरन्त प्रभावित होते हैं। स्नेह, वात्सल्य, प्रोत्साहन, सहकर और उपेक्षा, ईर्ष्या-द्वेष,

दुर्भावना, भय, चिन्ता, वैमनस्य आदि के पृथक्-पृथक् प्रभाव उन पर कभी भी देखे जा सकते हैं।

बालकों के व्यक्तित्व के निर्माण में माता-पिता, मुख्य माध्यम हैं। माता-पिता का पर्याप्त स्नेह बालकों को स्वस्थ, प्रफुल्लित और उत्साही बनाने में सहायक होता है, उनका व्यक्तित्व स्वस्थ और स्नेहपूर्ण बनता है। शैशवकाल से यदि माता-पिता, अत्यधिक स्नेह का प्रदर्शन करते हैं तो शिशु उद्वण्डता, पराश्रयता की भावनाओं से ग्रसित हो जाते हैं और वयस्क होने पर भी इन्हीं भावनों से प्रभावित रहता है। बालक यदि माता या पिता की ओर से उपेक्षित रहे, दो में से किसी एक का या दोनों का स्नेह न पा सके, तो उदास, हीनभावना का, निराशा, अकर्मण्य और उत्साहहीन हो जाता है। बड़ा होने पर भी किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक समय, स्थान और कार्य में उसकी हीनता की भावना उसे उठने नहीं देती।

ऐसी अवहेलना और उदासीनता ऐसे माता-पिता के घरों में अधिकतर देखने को मिलती है, जो नौकरी में लगे हों। बच्चों के उठते, तैयार होते नौकरी का समय हो जाता है। जब बालक चाहता है कि माँ उसके पास बैठे प्रेम से बात करे, स्नेहपूर्वक उसे भोजन कराये, उसकी परिचर्या करें। उस समय माता-पिता को अपने काम पर जाने की शीघ्रता होती है। बहुत किया तो माँ ने आदेश दे दिया, कपड़े बदल लेना, भोजन कर लेना और ठीक समय पर पाठशाला जाना आदि। बस, माता इतने से अपने कर्तव्य को पूरा कर लेती है। शाम को भी बच्चा पाठशाला से जल्दी आ जाता है और माताजी, पिताजी को आते-आते शाम हो जाती है। जिस प्रकार सबेरे मन मारकर स्वयं या नौकर के द्वारा कपड़े बदलकर, भोजन करके पाठशाला चला जाता है, उसी प्रकार पाठशाला से लौटकर उदास, हल्के मन बस्ता पटककर इधर-उधर मन बहलाने का प्रयत्न करता है।

माँ, सन्ध्या होते घर में आती है, तो उसे घर के काम-काज, भोजन आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है, उसमें तत्परता से लगना है। अतः इस बीच भी यदि बच्चे ने माँ के प्यार पाने की दृष्टि से कोई हलचल की तो प्यार के स्थान पर उल्टी डॉट-फटकर, झिड़की या अधिक किया तो मार-पीट ही पल्ले पड़ती है। ऐसे ऊबे हुए, उदासीन और अवहेलना, उपेक्षापूर्ण वातावरण में बालक के व्यक्तित्व का विकास न होकर कुण्ठित होना प्रारम्भ हो जाता है। स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, मस्तिष्क कमजोर पड़ जाता है, उत्साह गिर जाता है और बालक के गुलाबी खिलते चेहरे की रौनक जाने कहीं चली जाती है ?

ऊपर तो रही कम-काज वाली, नौकरी-चाकरी वाली माता की बात, बहुत-से घरों में माता को बच्चों के लिए समय निकालने की आवश्यकता समझ में नहीं आती। वे

बच्चों को समुचित प्यार नहीं देतीं। काम में व्यस्त रहती हैं। जब काम से निवृत्त हो जाती हैं, तब अड़ौस-पड़ौस की महिलाओं से गप-शप लड़ाने लगती हैं। काम-धन्ये के समय तो बच्चों को प्यार देने, उन्हें दुलारने का अवसर ही नहीं होता यदि गप-शप के समय भी माँ के पास आकर बैठना, बात करना और अपनी इच्छा व्यक्त करना चाहते हैं तो उन्हें वहाँ भी चिल्लाहट ही मिलती है। ऐसी महिलाओं को बच्चों से प्यार करने, उन्हें स्नेह करने, उनकी बात सुनकर उन्हें सन्तुष्ट करने की अपेक्षा गप-शप करना महत्वपूर्ण लगता है।

बहुत बड़े परिवारों में सहकुटुम्बों में भी कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं, जब बच्चे की माँ को दिन भर काम में व्यस्त रहना पड़ता है, उसे बच्चे को सँभालने, प्यार करने और उसकी सुनने का समय कम मिलता है। बच्चे को माता का स्नेह कम मिल पाता है।

बहुत-से रूढ़िवादी, परम्परावादी, अन्धविश्वासी और पिछड़ी मान्यताओं के परिवार होते हैं, जिनमें बुजुर्गों, बड़े-बूढ़ों के सामने बच्चे को लेना, प्यार करना और बहलाना परम्परा के विरुद्ध माना जाता है। ऐसा करने से बड़े-बूढ़े रुष्ट होते हैं, ताने मारते हैं, इस कारण माँ-बाप बच्चों को प्यार नहीं कर पाते, उन्हें स्नेह दे पाने से वंचित रहते हैं। परिणामस्वरूप उपेक्षा और अवहेलना के वातावरण में उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता।

बहुत-से माता-पिता का विश्वास होता है कि लाड़-प्यार से बच्चे बिगड़ जाते हैं। अतः उन्हें ताड़ना देकर, डाँट-डपटकर अनुशासन में रखना चाहिए।

जो पति-पत्नी नौकरी करते हैं, उन्हें चाहिए कि जब पत्नी काम में लगी हो तब पति बच्चों को बहलायें, उन्हें उचित प्यार देकर इस प्रकार का प्रयास करें कि बच्चे साथ-साथ उठें, साथ-साथ तैयार हों, साथ-साथ घूमने जायें, खायें-पियें और पाठशाला जायें। इस प्रकार साथ में रहने से जहाँ बच्चों को प्रसन्नता होगी, उत्साह मिलेगा, उनकी जिज्ञासाएँ पूरी होंगी, उनका शिक्षण और व्यावहारिक अभ्यास भी होता रहेगा। माता-पिता का भी मन प्रसन्न रहेगा। बच्चों के द्वारा होने वाले मन-बहलाव से काम का तनाव कम पड़ेगा। अपने साथ लेकर यदि सम्भव हो तो पाठशाला में भी छोड़कर कार्यालय जाया जा सकता है। कार्यालय से लौटने के पूर्व बच्चे जब घर आ जाते हैं उस समय के लिए उनके मन-बहलाव के लिए बच्चों के योग्य पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें या कुछ खेलने के उपकरण उनके पास छोड़ें। कार्यालय से लौटते ही बच्चों से प्यार से मिलें, उन्हें साथ में बैठकर चाय-नाश्ता लें, फिर घर के काम-काज, भोजन-व्यवस्था में लग जायें। इस प्रकार बच्चे के मन में उदासीनता और उपेक्षा के भाव कभी जाग्रत नहीं हो सकते। वे सदैव प्रसन्न रहेंगे और उनके व्यक्तित्व का सम्यक् विकास हो सकेगा।

जो माताएँ घर के काम में व्यस्त रहती हैं और बच्चों को समुचित प्यार देकर उन्हें नहीं सँभाल पातीं, उन्हें काम से अवकाश मिलने पर बच्चों को स्नेहपूर्वक बातचीत करने, मिलने और बैठने आदि का अवसर देना चाहिए। होना तो यह चाहिए, काम करते-करते ही बच्चों की देख-रेख साज-सँभाल भी बीच-बीच में करते रहना चाहिए, इससे जहाँ बच्चे बहलेंगे, वहाँ माता को भी काम करने में हल्क़ापन अनुभव होगा। तनाव कम पड़ेगा। समय का सदुपयोग करना बहुत बड़ी समझदारी है। अतः यदि अवकाश ऐसे समय मिलता हो, जब बच्चे घर में नहीं रहते, तो अवकाश के समय में बच्चों के लिए कपड़े-लते तैयार करने, उनके खाने के लिए कुछ विशेष वस्तु बनाने, उनके बस्ते स्कूल को वस्तुओं के लिए कुछ नई वस्तु देने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और जब बच्चे घर लौटें तो बड़े प्यार और स्नेह से उनकी अगवानी की जाय।

माता-पिता का सन्तुलित स्नेह और उचित देखभाल बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में बड़े सहयोगी सिद्ध होते हैं। जो भी बालक भविष्य में महान बने हैं उनके पीछे, उनके माता-पिता का स्नेह, प्रोत्साहन ही मुख्य था। बच्चे के व्यक्तित्व विकास में सुविधाएँ तो माध्यम मात्र होती हैं। मूल माता-पिता का स्नेह ही है। अतः व्यस्तता कितनी ही हो, पद, महानता, योग्यता, स्तर आदि को गौण मानकर अपने बच्चों पर अवश्य ध्यान दिया जाये। उन्हें उचित स्नेह और प्रोत्साहन मिले। यही उनके उज्ज्वल भविष्य की कुंजी होगी।

बच्चों को सद्गुणी कैसे बनायें ?

बच्चों को शैशवकाल से ही चरित्र-निर्माण का शिक्षण मिलना चाहिए। पापपूर्ण वयस्कों के जीवन को उतना शुद्ध और निर्मल नहीं बनाया जा सकता। इसी से तो भारतीय मनीषी शैशवकाल में ही बच्चों को चारित्रिक शुद्धता का पाठ पढ़ाकर, उन्हें भविष्य में तेजस्वी, मनस्वी, बलवान, बुद्धिमान तथा आत्मसम्पदा से पूर्ण कर देते थे। आजकल उनकी उपेक्षा होती है, जिससे उनमें नैतिक अपराध बढ़ रहा है। इसमें बच्चे का दोष नहीं। परिवार, मुहल्ला और समाज को देखकर बच्चे उनका अनुकरण करते हैं। वर्तमान परिस्थिति में सुधार लाना आवश्यक है।

बच्चों की प्रारम्भिक पाठशाला घर है और उनके सच्चे शिक्षक माता-पिता हैं। विद्यालय में साक्षरता सिखाई जाती है। अध्यापक मौखिक ज्ञान के सहारे बौद्धिक विकास करते हैं पर बालक के चरित्र, स्वभाव और व्यक्तित्व का निर्माण घर में होता है। घर का जैसा वातावरण होगा उसी के अनुरूप बच्चा ढलेगा। विद्यालय में शिक्षा देने वाले अध्यापक थोड़े समय के लिए साथ रहते हैं। बच्चे बाह्य वातावरण से सीखते हैं पर इसका अस्थायी प्रभाव

२.१४६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

पड़ता है। किन्तु माता-पिता और परिवार के वातावरण का बच्चों पर स्थाई प्रभाव पड़ता है। माता-पिता बच्चों के निर्माण की नींव डालने वाले हैं। कौटुम्बिक जीवन के सुधार से अच्छे व्यक्तियों का निर्माण होगा और तब समाज-निर्माण का कार्य सफल हो पायेगा।

प्राचीनकाल में बच्चों को ऋषियों के गुरुकुलों में भेजा जाता था, जहाँ वे शिक्षा के साथ दीक्षा ग्रहण करते थे। जीवन जीने के व्यावहारिक ज्ञान के साथ अध्यात्म का शिक्षण मिलता था। आजकल विद्यालयों में किताबी ज्ञान दिया जाता है पर श्रेष्ठ जीवन की कला नहीं सिखाई जाती।

चरित्र की शिक्षा पुस्तक से नहीं बल्कि आचरण से सम्भव है और यह काम परिवार के माध्यम से ही हो सकता है। बच्चे माता-पिता तथा अन्य परिजनों के संस्कार ढलते हैं।

गृहस्थ जीवन बहुत उपयोगी है। गृहस्थाश्रम ही चारों आश्रमों में धन्य है क्योंकि इसमें व्यक्ति निर्माण का कार्य होता है। परिवार निर्माण रक्त परम्पराओं के आधार पर होता है। परिवार में आत्मीयता रहती है, इसमें दण्ड-कानून का विधान नहीं होता। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहिन सभी स्नेह, सहयोग और सद्भावना के सूत्र में बँधे रहते हैं। जहाँ इस सम्बन्ध में कोई दोष आया तो परिवार विभ्रंशित हो जाता है। पारिवारिक जीवन को शुद्ध रखने के लिए नियमोपनियम, प्रतिबन्ध और मर्यादाओं का प्रतिपादन किया जाता है, जिससे सभी आत्मानुशासन में बँधे रहें। बच्चों पर इसका बहुत असर पड़ता है।

अभिभावक को शिक्षक का ही काम करना है। बच्चों का स्वभाव उपदेश से नहीं अनुकरण से बनता है। माता-पिता के कार्य ऐसे हों कि बच्चे उनका अनुकरण कर चरित्रवान बनें अन्यथा माता-पिता को गन्दे काम करते देख बच्चे स्वतः उनको सीख जाते हैं। पारिवारिक जीवन की बुराइयों के कारण ही धूम्रपान आदि दुर्गुण आते हैं। व्यसन में रत रहने वाले माता-पिता के बच्चे प्रायः व्यसनी हो जाते हैं। माता-पिता अपनी क्रियाओं और आदतों को बच्चों में डालते हैं। शिशु-निर्माण का कार्य सदाचारपूर्वक सावधानी और संयम से करना चाहिए।

प्रायः अभिभावक बच्चों के चरित्र-निर्माण के कार्य छोड़कर धन जुटाने और साधन पैदा करने में लगे रहते हैं। बढ़ने पर बच्चे अर्जित धन को फूँक देते और कुटेवों के शिकार हो जाते। अतः बच्चों को प्रारम्भ में संस्कारवान बनाना चाहिए।

वयस्क व्यक्ति अपने बुजुर्गों के साथ जैसा व्यवहार करेंगे उनके बच्चे भी भविष्य में उनके साथ वही व्यवहार करेंगे, जो व्यक्ति अपने वृद्ध पिता के साथ अशोभनीय बर्ताव करते हैं। एक दिन उन्हें भी अपने बच्चों से यही वापस मिलता है। एक कंजूस आदमी ने दूसरों से

नाजायज ब्याज लेकर बहुत धन इकट्ठा किया, पर वृद्धावस्था में उसके पुत्र ने उस धन का उपयोग उसे करने नहीं दिया। उस कंजूस को तड़प-तड़पकर मरना पड़ा। नाजायज संग्रह त्याज्य ही है।

छोटे बच्चों में अधिक संवेदनशीलता रहती है। ऐसा वैज्ञानिक परीक्षण से पता चला है। इसी से भारतीय संस्कृति में गर्भाधान के समय से ही बच्चों में संकल्प के द्वारा शुभ संस्कार पैदा किये जाते थे। अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह-भेदन की विद्या सीखी थी, सती मदालसा ने गर्भ में ही ब्रह्मनिष्ठा और राज्य-संचालन की शिक्षा बच्चों को दी।

चरित्र-निर्माण सिर्फ पारलौकिक कल्याण के लिए ही आवश्यक नहीं है। जिस तरह अनुकूल जलवायु, मिट्टी एवं योग्य माली की देख-रेख में छोटा-सा पौधा बढ़कर फूलने-फलने लगता है, उसी तरह घर के उपयुक्त वातावरण में, कुशल माता-पिता के सान्निध्य में बच्चों का व्यक्तित्व और चरित्र उत्कृष्ट बन जाता है। माता-पिता के साथ परिवार के अन्य सदस्यों का भी बच्चों पर प्रभाव पड़ता है। जिस परिवार का वातावरण सौम्य, शान्त और सौहार्दपूर्ण है, वहाँ बच्चों के मानसिक विकास में योग मिलता है। जहाँ बच्चों के साथ कठोर व्यवहार होता है, वहाँ मानसिक क्षमता, बौद्धिक प्रतिभा, व्यक्तित्व सब कुण्ठित हो जाता।

पारिवारिक जीवन उत्कृष्ट हो इसके लिए आवश्यक है कि परिवार में कलह न हो। अगर ऐसी नीबट आ भी जाय तो बच्चों से इसको छिपाया जाय। बच्चों को कभी भूत-प्रेत-हौआ आदि से डराना नहीं चाहिए। ऐसा करने से बच्चों का आत्मबल गिर जाता है। बच्चों को न तो डाँटना चाहिए और न उनको दबाकर रखना चाहिए। इससे उनके स्वाभाविक विकास पर चोट लगती है। बच्चों की शिकायत सुनकर सामर्थ्य के अनुसार उसे दूर किया जाय। बच्चों की उपेक्षा कतई न हो। परिवार में कुछ ऐसे भी कार्य होते हैं, जिन्हें गोपनीय रखना आवश्यक होता है।

बच्चों के समुचित विकास के लिए परिवार में पाँच बातों पर ध्यान दिया जाय, सर्वप्रथम सच्चाई का पाठ पढ़ाया जाय। ईमानदारी के द्वारा उपार्जित धन से परिवार का भरण-पोषण हो। शिष्टाचार का पालन होना चाहिए तथा बड़े और छोटे का व्यवहार शिष्टतापूर्ण हो।

श्रमशीलता का पाठ बहुत महत्वपूर्ण है। जिस परिवार के सदस्य श्रमनिष्ठ होंगे, मेहनत से जी नहीं चुरायेगे वहाँ के बच्चे स्वतः पश्रिमी और उद्यमी हो जायेंगे।

परिवार के सदस्य सहिष्णु बनें। हर तरफ की सहिष्णुता की आवश्यकता है। परिस्थितिवाश एक-दूसरे की बातों को सुनकर सहिष्णु हों। स्वच्छता और सफाई का काम कभी-कभी सामूहिक रूप से किया जाय। बच्चे उसमें

भाग लेंगे और स्वच्छता के प्रति उनमें निष्ठा जगेगी। प्रायः बच्चों को धनी माता-पिता प्रारम्भ से ही ठाट-चाट सिखा देते हैं। इससे बच्चों का जीवन कृत्रिम हो जाता है। आगे चलकर ऐसे बच्चों को जीवन गुजारने के लिए बहुत धन की जरूरत रहती है। बच्चों के निर्माण के लिए आदर्श परिवार का निर्माण बहुत ही आवश्यक है, जिसमें सेवा, सत्कार, परोपकारिता, सच्चाई, श्रमनिष्ठा आदि सदगुणों का व्यावहारिक रूप मिलता हो।

बालकों का चरित्र-निर्माण कैसे हो?

बालक में काम, क्रोध, ईर्ष्या और प्रवृत्तियों के साथ-साथ सहानुभूति, प्रेम और दया की प्रवृत्तियाँ गुप्त रूप से विद्यमान रहती हैं। इनको वह अपने माता-पिता से परम्परा से प्राप्त करता है और उसका चरित्र इसी पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। उसकी इन प्रवृत्तियों का विकास उसके सहवास के अनुसार हुआ करता है। कामी, क्रोधी और द्रोही मनुष्यों के सहवास में आने से वह स्वयं भी वैसा ही बन जाता है क्योंकि ऐसे लोगों के मध्य में रहने से उसकी काम, क्रोध तथा ईर्ष्या की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं, किन्तु इसके विपरीत यदि उसका सहवास ऐसे मनुष्यों से हो, जो दयालु तथा सहानुभूतिपूर्ण हों तो उसकी दया, प्रेम और सहानुभूति की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। बालक, सम्पर्क में आने वाले पुरुषों के भावों, विचारों तथा कार्यों का अनुकरण किया करता है और जैसे आदर्श उसके समक्ष उपस्थित होते हैं उनके अनुसार उसकी प्रवृत्तियों का विकास हो जाता है। केवल उन प्रवृत्तियों पर सहवास का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता जो बालकों में जन्म से ही बहुत प्रबल होती हैं। अतः सबसे आवश्यक बात यह है कि बालक के माता-पिता का चरित्र निर्दोष होना चाहिए।

यदि माता-पिता का चरित्र निर्दोष न हों तो उनके सन्तान के सच्चरित्र होने की बहुत कम सम्भावना बनी होती है, क्योंकि जन्मसिद्ध प्रवृत्तियों को दूर करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसीलिए यह उक्ति प्रचलित है कि “बालक की नैतिक शिक्षा उसके जन्म से पूर्व ही आरम्भ हो जाती है।” इस हेतु अपनी सन्तान को सच्चरित्र बनाने की अभिलाषा रखने वाले माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे बालक के जन्म से ही उन गुणों को स्वयं प्राप्त करने का प्रयत्न करें जिन गुणों को वे अपनी सन्तान में होना आवश्यक समझते हैं। इस ओर ध्यान देने से चरित्र गठन सम्बन्धी कई कठिनाइयाँ स्वयमेव ही हल हो जाती हैं।

जिन बालकों के माता-पिता ने इस ओर उचित ध्यान नहीं दिया उनकी प्रवृत्तियों का भी अच्छी परिस्थिति की सहायता से बहुत कुछ सुधार किया जा सकता है। भले साथियों के सहवास से बुरी प्रवृत्तियों का दमन तथा अच्छी प्रवृत्तियों को उत्तेजित किया जा सकता है। इस

सम्बन्ध में बालकों के माता-पिता तथा अध्यापकों का यह कर्तव्य है कि वे जिन नियमों का बालकों से पालन कराना चाहते हैं, उनका स्वयं पालन करें। घर पर तथा पाठशाला में प्रत्येक कार्य नियत समय पर किया जावे, प्रत्येक वस्तु के लिए निश्चित स्थान हो, प्रत्येक कार्य को करने में स्वच्छता तथा सुन्दरता की ओर ध्यान दिया जावे, प्रत्येक व्यवहार में शिष्टता तथा कर्तव्य-परायणता विद्यमान हो और भिन्न-भिन्न नियमों का यथोचित रीति से पालन किया जावे। इस प्रकार की आदर्श परिस्थिति में उपर्युक्त बातें सरलता से ही बालकों के स्वभाव का अंग बन जाती हैं और वे अनायास ही सच्चरित्र बन जाते हैं जोकि मनुष्यता का प्रधान लक्षण है।

चरित्र निर्माण के लिए तीसरी आवश्यक बात ‘आचारिक शिक्षा’ है। यदि परम्परा तथा बालक का सहवास उत्तम हो तो शिक्षा सोने में सुगन्ध का काम करती है। परम्परा तथा सहवास द्वारा प्राप्त कुप्रवृत्तियों का सुधार कुछ अंशों में आचारिक शिक्षा द्वारा हो सकता है, परन्तु इस प्रकार की शिक्षा देने में निम्नलिखित तीन बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) कुछ सीमा के अन्दर बालकों को थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता अवश्यमेव देनी चाहिए। उनकी प्रवृत्तियों का व्यर्थ दमन करने तथा हर समय उनको सख्त कैद में रखने से बहुत हानि की आशंका रहती है। इस प्रकार बालक डरपोक बन जाते हैं और उनमें आत्मविश्वास, स्वावलम्बन, दृढ़ निश्चय, उद्योगशीलता तथा मौलिकता आदि गुणों का विकास नहीं होने पाता। अतः बालकों को स्वतन्त्र रीति से कार्य करने का अधिक से अधिक अवसर देना चाहिए, जिससे कि उनके व्यक्तित्व और चरित्र का उचित रूप से विकास हो सके।

(२) बालकों में आत्मसंयम का भाव उत्पन्न किया जावे तथा उनकी बुरी प्रवृत्तियों को रोका जावे। यह विशेषकर उन बालकों के लिए बहुत आवश्यक है, जिनकी परम्परा तथा बाल्यकाल का सहवास अच्छा नहीं होता। इस प्रकार के बालकों को उसी समय दृढ़तापूर्वक रोकने की आवश्यकता होती है, जबकि वे सीमा का उल्लंघन करने को उद्यत होते हैं। ऐसी अवस्था में यदि अन्य साधनों से सफलता प्राप्त न होवे तो दण्ड का भी प्रयोग किया जा सकता है, जिससे कि बालक की कुप्रवृत्तियों का दमन होकर उसमें संयम का भाव उत्पन्न हो सके।

(३) बालकों के गुणों, नियमों, आदर्शों तथा कर्तव्यों से परिचित कर देना चाहिए, जिनके आधार पर उनके चरित्र का निर्माण करना है, जिससे उनको यह भली-भाँति विदित हो जावे कि कौन-सी बातें उनके लिए हितकर हैं, कौन-सी अहितकर, कौन-सी बातें उचित हैं और कौन-सी अनुचित तथा उनको किस आदर्श के अनुसार कार्य करना है ? शिक्षाप्रद नाटकों, रोचक

२.१४८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

कथाओं, उत्तम-उत्तम कविताओं, आदर्श पुरुषों के जीवन-चरित्रों से बालक के आचरण सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि तथा पुष्टि करें। बालकों को सुन्दर-सुन्दर कविताएँ, गीत, पद तथा श्लोक भी कण्ठाग्र कर देनी चाहिए, क्योंकि इनके द्वारा उचित निर्णयों पर पहुँचने और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उचित रीति से व्यवहार करने में बहुत सहायता मिलती है।

(४) बालकों को निषेधात्मक कार्य की अपेक्षा विधेयात्मक कार्यों का स्मरण दिलाना अधिक श्रेयस्कृत है। यदि बालक को किसी कार्य को करने का निषेध किया जाता है, तो उस कार्य को करने के लिए वह अधिक लालायित हो जाता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल शाब्दिक रीति से अच्छी आदतों का बोध देकर ही शिक्षक तथा माता-पिता को सन्तुष्ट न होना चाहिए। उनके मन में उन आदतों के प्रति श्रद्धा तथा उनको अपने जीवन में चरितार्थ करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न की जानी चाहिए। इस प्रकार की दृढ़ इच्छा उत्पन्न हो जाने पर भिन्न-भिन्न गुणों, कर्तव्यों तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में बालकों के मन में स्थायीभाव (सेन्टीमेन्ट्स) उत्पन्न हो जाते हैं। इस भाव के उत्पन्न हो जाने से वे उन कार्यों को अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हैं।

(५) ऐसे भावों को बालकों के मन में अवश्य उत्पन्न करना चाहिए, जिनके उसके समाज में विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसके साथ-साथ कुछ ऐसे गुणों के प्रति भी उसके मन में स्थायी भाव उत्पन्न कर देना आवश्यक है, जिनका होना मनुष्यता का सूचक है और सभ्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए वांछनीय है, जैसे—आत्मसम्मान, सभ्यता, ईमानदारी, सत्यता, स्वच्छता, स्वास्थ्य रक्षा, साहस, निर्भीकता, न्यायशीलता, दया, परोपकार, सहनशीलता, आस्तिकता, कर्तव्यपालन, संयम, नियम पालन आदि। इसमें सबसे आवश्यक आत्मसम्मान का स्थायीभाव है। बालकों के चरित्र गठन में इससे सबसे अधिक सहायता मिलती है। जिस बालक में यह भाव उत्पन्न हो जाता है, वह कोई अनुचित कार्य कर ही नहीं सकता, क्योंकि इस भाँति के व्यवहार से उसके आत्मसम्मान में घब्बा लग जाने, उसके यश के कलंकित हो जाने और अन्य लोगों की दृष्टि में उसके गिर जाने की उसको सदा आशंका रहती है। इस भाव का विकास शनैः-शनैः होता है। इसको पूर्ण रूप से जाग्रत करने के लिए बालक पर विश्वास करना चाहिए और उसके उत्तरदायित्व के भाव को जाग्रत करना चाहिए।

(६) किसी अनुचित कार्य को करने पर उसे भला-बुरा नहीं कहना चाहिए, बल्कि ऐसा कहकर कि “इस प्रकार का व्यवहार तुम्हारे योग्य नहीं है। यह कार्य तुम्हें शोभा नहीं देता। तुमसे कदापि ऐसी आशा न थी इत्यादि-इत्यादि।” उसके आत्मसम्मान के भाव को जाग्रत करना चाहिए, जिससे भविष्य में वह कोई भी

कार्य अनुचित ढंग से न करें, ऐसे अवसर पर भला-बुरा कहने से बालक का उत्साह सदा के लिए भंग हो जाता है और दिन-प्रतिदिन उसकी अवनति होने लगती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुन्दर स्थायी भावों की हमारे जीवन में कितनी महत्ता है ? जिन लोगों में बुद्धि की वृद्धि अधिक हो जाती है किन्तु जिनके मन में सुन्दर स्थायी भाव नहीं बन पाते, वे एक ओर बुद्धिमान होते हुए भी दूसरी ओर दुराचारी हो सकते हैं। उनका विवेक उन्हें दुराचार से रोकने में समर्थ नहीं होता। कितने ही बड़े-बड़े बुद्धिमान दुराचरण करते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु बहुत-से अपद लोग भी सदाचारी होते हैं, क्योंकि अपद होते हुए भी उनमें सुन्दर ‘स्थायी भाव’ होते हैं। अतः सदाचार के लिए सुन्दर स्थायी भावों का होना अनिवार्य है। किसी आदर्श के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि बालकों के मन में उसका स्पष्ट चित्र खिंच गया हो तथा उसके सम्बन्ध में उचित अन्तःक्षोभ का संगठन कर दिया गया हो। इसके लिए अभीष्ट गुणों तथा आदर्शों की महत्ता प्रभावशाली शब्दों में प्रकट करनी चाहिए तथा उसके विपरीत गुणों पर घृणा दर्शानी चाहिए। इन गुणों से सम्बन्ध रखने वाले कार्य भी बालकों से बार-बार करने चाहिए। चरित्र-सुधार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि निरन्तर अभ्यास द्वारा बालकों में कुछ अच्छे स्वभाव डलवा दिये जायें।

चरित्र-गठन के लिए बालकों से दृढ़ संकल्पशक्ति का होना भी आवश्यक है, जिससे कि विघ्न-बाधाओं तथा शारीरिक कष्टों का सामना करते हुए अपने निर्णयों को कार्य रूप में परिणत कर सकें। इस दृढ़ता को उत्पन्न करना भी बालक के माता-पिता एवं गुरुजनों का आवश्यक कर्तव्य है।

संस्कारों को समुचित दिशा भी तो मिले

यह ठीक है कि जन्म लेने वाला प्रत्येक बालक अपनी तरह के संस्कार लेकर आता है अपनी अधिकांश जीवन-यात्रा उन्हीं के सहारे प्रारम्भ करता है, पर इन संस्कारों को भाग्य निर्माण की कुञ्जी बताना बच्चों के साथ—भावी पीढ़ी के साथ विश्वासघात करने के बराबर है। संस्कारों को ‘कच्चा पदार्थ’ तो मान सकते हैं, पर उन्हें नई दिशा देकर उपयोगी और परिपक्व बनाने का उत्तरदायित्व उस बालक का नहीं, माता-पिता, परिवार और समाज का होता है। बच्चे तो तभी भटकते हैं जब उन्हें समुचित दिशा नहीं मिलती।

स्नेह, प्यार, दुलार बच्चे के विकास के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनके सहारे ही उसमें नैतिक आचरण और सदगुणों का विकास होता है, पर वह अभिभावक जो लाड़-प्यार और प्यार के मध्य बच्चे के अध्ययन और

सुधार की बुद्धि नहीं रखते और कोई हो या न हो, पर वह तो उसके शत्रु के समान ही हैं। अनियन्त्रित लाड़ का एक ही अर्थ है—बच्चे को कंटककीर्ण बियावान जंगल में अनाश्रित छोड़ देना। उस स्थिति में उसका भटकना ही निश्चित है।

बालक का हृदय कोरी सिलेट और स्वच्छ वस्त्र के समान होता है। कोरी सिलेट में जो चाहे लिखा और धबल वस्त्र में कैसा भी रंग चढ़ाया जा सकता है ? संस्कारों के अतिरिक्त कुछ और भी आवश्यक गुण होते हैं, जिनसे बालक की पहचान होती है। वह हैं—(१) अनवरत सक्रियता या चंचलता, (२) तीव्र जिज्ञासा अर्थात् हर नई वस्तु के अन्तरंग ज्ञान और मेल-मिलाप की आकांक्षा, (३) सरलता और निश्चिन्तता। इन जन्मजात गुणों को, संस्कारों को शक्ति प्रदान करने वाला तत्त्व कह सकते हैं। इन्हीं के सहारे जो भी दिशा मिलती है बालक के संस्कार तेजी से गतिशील हो जाते हैं और उसे अच्छी या बुरी किसी भी दिशा में ले जाते हैं।

कच्चे लोहे को पिघलाकर इस्पात ढालने की अपनी विद्या होती है। पेट्रोलियम से कीमती मोबीआईल निकलते हैं। बच्चे के संस्कार वे चाहे कितने ही जन्मों से जड़ पकड़े हुए हों, उन्हें सुधार और सँवारा जाना बिल्कुल आसान बात है यदि हम बच्चे को वैसी दिशा और वातावरण दे सकें।

बच्चे में गीत गाने के संस्कार हैं तो उसे प्रेरणाप्रद गीत सिखाने की कहानियाँ, नाटक और प्रेरणाप्रद दृष्टान्त सिखाने की जिम्मेदारी आपकी, बच्चे के माता-पिता की और सम्बन्धियों की होती है। चाहने भर से काम नहीं चलता—इच्छा और प्रयत्नों का चोली दामन का साथ है। यदि माता-पिता न सिखायें और बच्चा सिनेमा के गीत गाने लगे तो उसका क्या दोष ?

उसके तोड़-फोड़ के स्वभाव को कोई रोकना भी चाहे तो रोकना सम्भव नहीं, उससे हानि तो होती ही है, खीझ और लड़ाई-झगड़े भी होते रहते हैं, यदि प्रारम्भ में बच्चे को कागज की नाव बनाना, कागज की टोपी और गुब्बारा बनाना, खिलौने बनाना, फूल-पौधे लगाने जैसे बिना खर्च के काम सिखा दिये जायें तो निरर्थक दिखाई देने वाली यह आदतें उसमें विलक्षण सृजनात्मक प्रतिभा जाग्रत कर सकती हैं। बच्चों में झगड़े की प्रवृत्ति इस बात की द्योतक है कि उसकी उपरती शक्ति को समुचित दिशा नहीं दी जा रही—उसकी उमंगों को दबाया गया है; उसकी सक्रियता, जिज्ञासा और सरलता को भटकने के लिए छोड़ दिया गया है। इसीलिए वह अपना भी सिर तोड़ता है औरों का भी, किन्तु यदि उस शक्ति को साहित्य, कला, रचना, गणित, विज्ञान आदि किसी दिशा में लगा दिया जाये तो ऐसा बालक कभी भी पराश्रित

नहीं मिलेगा, वह कभी जीवन में हताश, निराश या उद्विग्न भी नहीं होगा।

अधिकांश माता-पिता को समय न मिलने की शिकायत रहती है। यदि ऐसा है तो फिर यह जिम्मेदारी ही क्यों ली जाये ? यह जानने योग्य बात है—बालिकों को कहना चाहिए कि विवाह से पूर्व उम्मीदवारों को इस बात का पूरी तरह बोध करा दिया जाना चाहिए कि एक बालक दस हथियों से कम की देखभाल नहीं चाहता। खुराक भले ही कम हो, पर देख-रेख के लिए समय, श्रम, सावधानियाँ इतनी अधिक अपेक्षित हैं जितनी किसी फैक्ट्री का खड़ा करना। तभी फैक्ट्री उपयोगी हो सकती है, तभी बालक सुसंस्कृत हो सकते हैं।

मार्कट्वेन ने इस सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन और चिन्तन के जो निष्कर्ष दिये हैं, वह इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने अपराधी बालकों के एक गिरोह के चार बच्चों के पारिवारिक जीवन का अध्ययन किया। यह सभी बालक सम्पन्न घरों के थे। एक दिन उन्होंने नील गाय पकड़ ली। उसे मारा और उसकी खाल एक दुकानदार को बेच दी। दुकानदार ने खाल भीतर रख दी और बाहर आकर फिर काम करने में लग गया। लड़कों ने इतने ही क्षणों में पिछवाड़े की खिड़की ताड़ ली। वे पीछे गये और एक के ऊपर एक चढ़कर भीतर घुस गये और फिर वही खाल निकालकर उसी दुकानदार को बेच दिया। दुकानदार सस्ती खालें मिलने से प्रसन्न था और बच्चों की आमदनी बढ़ रही थी। एक ही खाल इन लड़कों ने चार बार बेची। इस बार दुकानदार अन्दर गया तो हिसाब लगाने के लिए जब खालें गिनने को उद्यत हुआ तो एक ही खाल देखकर सन्न रह गया।

मार्कट्वेन ने इन बच्चों की घरेलू परिस्थितियाँ उनके स्कूली जीवन की आज से तुलना की तो पाया कि यह बच्चे अपने स्कूल में तीक्ष्ण बुद्धि माने गये हैं, पर घर में उनके माता, पिता में से किसी ने उन्हें शायद ही किसी दिन १०-१५ मिनट देकर उनकी परिस्थितियाँ पूछी हों। संरक्षण और मार्ग-दर्शन के इस अभाव ने इन बच्चों के साहस और बुद्धिमत्ता को यहाँ तक ला दिया जबकि उनकी परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि वे इन्जीनियर और डाक्टर बन सकते थे। इन वारिसों ने मार्कट्वेन के परामर्श को स्वीकार कर अपने किशोरों को प्रतिदिन नियमित समय देना प्रारम्भ किया और एक दिन वह बालक हवाई सर्विस का कुशल डिजाइन इन्जीनियर बना।

कई लोग कठोर नियन्त्रण और बच्चों को भयभीत रखकर उनके सुधार की उपेक्षाएँ किया करते हैं, वे दोहरी भूल करते हैं, दोपहर की रेत से अधिक से अधिक पैर जल सकते हैं, पर ज्वालामुखी तो सर्वस्व नाश करता है ऐसे बालक तो और भी भयंकर अपराधी और दुष्ट प्रकृति के हो जाते हैं। अतएव दबाव डालने की नीति को बिल्कुल अव्यावहारिक है।

२.१५० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

कुशल माता-पिता बच्चे के संवेदनशील हृदय के साथ हृदय और मस्तिष्क के साथ अपनी बौद्धिक उर्वरता जोड़ दें, उसके जन्मजात संस्कार यदि खराब भी हैं, तो भी उन्हें चोर की वीरता को सिपाही के शौर्य में बदल देने की तरह सुधारा और सजाया जा सकता है। यह रचनात्मक दृष्टिकोण हर माता-पिता में विकसित हों तभी भावी पीढ़ी की सुसंस्कृत रचना साकार हो सकती है।

बच्चों को सच्चरित्र बनाया जाय

बच्चे किसी भी देश या जाति की आधारशिला हैं। बड़े होकर वही उनका निर्माण करते हैं। जिस प्रकार मकान बनाते समय उसकी नींव को बहुत मजबूत बनाया जाता है, उसी प्रकार किसी राष्ट्र की नींव, बच्चों पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए। यदि वह पतन के मार्ग पर चल पड़े तो सारे राष्ट्र को इसी ओर घसीट ले जायेंगे। इसके विपरीत यदि उनके विचार सुलझे हुए हों तो वह उसे उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने में कोई कसर उठा न रखेंगे। प्लेटो ने कहा है कि किसी देश का इससे बड़ा क्या सौभाग्य हो सकता है कि उसके बालक सच्चरित्र और सदाचरण करने वाले हों। वास्तव में चरित्र ही वह वस्तु है जो किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाती है, इसी शक्ति के द्वारा समाज में उसका यश व कीर्ति बढ़ती है, यही उसे क्षुद्र से महान बनाता है, इसीलिए हमारे शास्त्र घोषणा करते हैं कि समाज का नेतृत्व सदाचारी और चरित्रवान् व्यक्तियों के हाथ में ही देना चाहिए।

हमारे ऋषि इस परम तथ्य को भलीप्रकार से जानते थे कि बालक कच्ची मिट्टी के समान हैं, इस अवस्था में उसका जैसा भी आकार बनाया जाय, वह सरलता से बन जायेगा। इसलिए आरम्भ से ही उसकी शिक्षा-दीक्षा का इस प्रकार से प्रबन्ध रखते थे कि उसे संसार में दुर्गुणों का भान ही न हो, इस प्रकार के स्वच्छ वातावरण में उसका पोषण होता था कि उसमें किसी भी बुरी आदत का पनपना असम्भव-सा जान पड़ता था। शुरू से ही ऐसे संस्कार डाले जाते थे कि उसकी विचारधारा का प्रवाह उसी ओर प्रवाहित हो। यज्ञोपवीत संस्कार का यही अभिप्रायः होता था कि वह मनुष्य जीवन के महत्त्व को भलीप्रकार समझकर मानवोचित कर्मों को करने का व्रत ले। इस समय उन्हें सद्बुद्धि, रूपी गायत्री को अपने जीवन में ओत-प्रोत करने के लिए उपदेश किया जाता था। जिसके अन्तःकरण में विवेकशक्ति की झंकार बचपन से ही बजा दी गई हो वह आगे चलकर पथभ्रष्ट कैसे हो सकता है ?

आज बिल्कुल विपरीत दशा है। संस्कारों का लोप हो गया है। यज्ञोपवीत कोई पहिनाता नहीं। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध पहले जैसे पवित्र नहीं हैं। सत्य तो यह है कि आजकल अध्यापकों का आचरण भी ऐसा आदर्श नहीं है

कि विद्यार्थी उसका अनुकरण कर सकें। उपदेश से अधिक आचरण का प्रभाव पड़ता है। सदाचार द्वारा तो हम दूसरों पर अपनी छाप डाल सकते हैं। बालक का चरित्र-गठन माता-पिता के चरित्र पर बहुत कुछ निर्भर करता है। यदि पिता सिगरेट पीता है और बालक को उसके पीने से रोकता है और उसके न छोड़ने पर दण्ड देता है, भय दिखाता है तो यह तरीका कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। चरित्रहीन व्यक्ति का किसी को चरित्रवान् बनने का उपदेश करना उपहासास्पद है। पिता को ऐसा करने पर बालक को उसके प्रति भय और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं, जो कालान्तर में भावना ग्रन्थि बनकर अव्यक्त मन में निवास कर लेते हैं, जिससे बालक का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, उसका उत्साह मन्द पड़ जाता है और भविष्य दुःखमय बन जाता है। किसी भी व्यक्ति को उसके दोषों को बताकर सुधारा नहीं जा सकता। उसका उचित मार्ग यह है कि वह उसे कहे कि देखो भाई ! जो कार्य तुम करते हो वह ठीक ही है, परन्तु इसके बुरे-भले परिणाम पर विचार कर लो, फिर उसके प्रश्ननापूर्वक करो।

बालक में विचारशक्ति का अभाव होता है, वह ज्ञान की बातें सुनना पसन्द नहीं करता। भैंस के आगे बीन बजाया भी जाय तो उससे क्या लाभ ? बन्दर तो अदक का स्वाद न जानकर उसे फेंक ही देगा। इसलिए उसके सामने अनुकूल ही सामग्री उपस्थित करनी चाहिए। उसकी भावनाओं को कथा-कहानियों द्वारा उत्तेजित करना चाहिए। जो बुरी आदत उसमें देखें उसके सुधार के लिए वैसी ही मनोरंजक कथा सुनानी चाहिए। स्वभाव परिवर्तन के लिए उसके अनुकूल कहनी चाहिए। बालक उस कथा-कहानी को अधिक पसन्द करते हैं, जिसमें कुछ चमत्कार दिखाया गया हो या जिसमें कुछ नवीनता हो। बालक की मनोदशा को मोड़ने का कथा एक अच्छा माध्यम है। किशोरावस्था में वीर-पुरुषों, सन्त-महात्माओं की कथाएँ उपयोगी रहती हैं। छत्रपति शिवाजी की वीरता का श्रेय उसकी माता जीजाबाई द्वारा सुनाई हुई कथाओं को ही है। राम, कृष्ण, भीष्म, हरिश्चन्द्र, शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरुगोविन्दसिंह, बन्दावैरागी, रत्निदेव, दयानन्द, शंकराचार्य आदि की कथाओं को सुनकर वैसे ही महान बनने की भावनाएँ उदीप्त होती हैं, क्योंकि जो भावनाएँ बालक के हृदय में उठती हैं, वह उसके अव्यक्त मन में बैठ जाती हैं और उसके जीवन-प्रवाह को उसी दशा में मोड़ ले जाती हैं।

आजकल सिनेमा का बहुत प्रचार हो गया है। छोटे-बड़े जिसको देखो, वही उसका मतवाला बना हुआ है। जिस प्रकार पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहने का है उसी तरह से मनुष्य पर भी यदि नियन्त्रण न लगाये जाएँ तो वह भी पतन की ओर जाने लगता है। सिनेमा काम प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं, जिसका दुष्परिणाम आजकल सर्वत्र देखने में आ रहा है। विद्यार्थियों से सम्बन्धित

अनेकों घटनाएँ समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं, वह इसी पिशाच की देन हैं। इसके अतिरिक्त यह हमें चोरी व दगाबाजी सिखाते हैं। बुराइयों की ओर प्रवृत्त करते हैं, फैशनपरस्त बनाते हैं। चूँकि उसे एक मनोरंजन का साधन समझा जाता है। इसीलिए घर के सब लोग इसका आनन्द लेते हैं। जिस कार्य को माता-पिता करते हों, उसे वह अपने बालक को कैसे मना कर सकते हैं। जो बालक इस बुरी लत में पड़ गये हैं, उनके माता-पिता को चाहिए कि वे स्वयं जाना बन्द कर दें तभी वह बालकों को रोकने की स्थिति में रहेंगे।

बालकों के चरित्र-विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसकी स्वाभाविक इच्छाओं की यथायोग्य पूर्ति करते रहना चाहिए, नहीं तो वही विचार-भावनाग्रन्थि बनकर भविष्य में दुःख देते हैं। मिठाई खाने, खेल-कूद, सैर को जाने या अच्छे कपड़े पहनने आदि की इच्छाएँ यदि अमर्यादित भी हो जायें तो भी उसे समय तो उनकी पूर्ति कर देनी चाहिए, बाद में उचित ढंग से कथावार्ता द्वारा उन्हें समझाना चाहिए। यदि ऐसा न किया जाये तो उनके मन में एक कुढ़न-सी उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रभाव उसके शरीर और मन पर बुरा पड़ता है। दूसरे इससे वह अपनी स्वतन्त्रता में बाधा मानते लगता है। ग्लेडस्टन इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री था। वह सदाचारी व परोपकारी था, परन्तु कभी-कभी वह छोटी-छोटी वस्तुएँ चुरा लिया करता था। यह शैशवावस्था में इच्छाओं को उचित ढंग से पूरा न करने का ही परिणाम है।

किसी व्यक्ति के दोषों का वर्णन करके उसके दोषों को हटाया जाना कठिन है। इसके विपरीत उसके दोषों को न गिनकर उसकी अच्छाइयों की जी भरकर प्रशंसा करनी चाहिए। इससे उसके चरित्र का विकास होना सम्भव है। कोई भी व्यक्ति अपनी बुराई को सुनना नहीं चाहता। प्रशंसा से वह फूला नहीं समाता। सुधार के अतिरिक्त किसी व्यक्ति को अपना बनाने का भी यह अच्छा हथियार है। अध्यापक यदि किसी विद्यार्थी के अच्छे कार्यों की प्रशंसा करता है तो दूसरे विद्यार्थी उसकी स्पर्धा करते हैं, वह चाहते हैं कि उनकी भी अच्छी बातों का वर्णन किया जाये। इस प्रकार उनका मोड़ सहयोग की ओर बढ़ता है।

जिस तरह शिशुकाल में कथाओं व व्यवहार द्वारा चरित्र का विकास किया जाता है, उसी तरह बड़ा होने पर ज्ञान-बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। गीता में भगवान ने कहा है कि ज्ञान से पवित्र कोई भी वस्तु नहीं है। यह इसलिए कि ज्ञान प्रकाश का दूसरा नाम है। इसके आने से अन्धकार की मृत्यु हो जाती है। अज्ञान ही दोष-दुर्गुणों का कारण है, इसके हट जाने से विवेक की वह पवित्र शक्ति प्राप्त होती है, जिसे पाकर वह पृथ्वी पर ही स्वर्ग का आनन्द अनुभव करने लगता है। इसलिए सुकरात ने कहा है कि "ज्ञान का ही दूसरा रूप सदाचार है। बालक

को सदाचारी बनाने के लिए, उसकी अशुभ वासनाओं को दूर करने के लिए शुभ वासनाओं को दृढ़ करना चाहिए।"

चरित्र गठन के लिए उपरोक्त उपाय तो आवश्यक हैं ही, परन्तु इनसे भी मूल्यवान उपाय आत्मा को बलवान बनाना है और वह अध्यात्म ज्ञान व अभ्यास के द्वारा हो सकता है। आत्मबलसम्पन्न मनुष्य कभी भी पथ भ्रष्ट नहीं होता, बड़े-से-बड़ा प्रलोभन आने पर भी उनके चंगुल में नहीं फँसता, विवेकशक्ति द्वारा वह सबको छिन्न-भिन्न कर देता है। इस शक्ति द्वारा वह अपने आपको बहुत ऊँचा उठा सकता है ? नर से नारायण बन सकता है। इसलिए बच्चों की शारीरिक व मानसिक शक्तियों के विकास के साथ-साथ आत्मिक शक्तियों के विकास की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

बालकों के स्वभाव परिष्कार की

पृष्ठभूमि

प्रख्यात बाल-मनोवैज्ञानिक डा. होमरलेन ने अपने सुधारालय में अपराधी बालकों के आचरण सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये। उन प्रयोगों का निष्कर्ष यह रहा कि अपराधी बच्चों की अपराधी-प्रवृत्ति का मूलोच्छेदन इस विधि से किया जा सकता है—

१. बच्चों को प्रेम एवं मैत्री के वातावरण में रखकर। २. व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक बच्चे को स्नेहपूर्ण सम्पर्क बनाकर उसका आत्मविश्वास बढ़ाते हुए। ३. उन्हें रचनात्मक कार्यों में प्रवृत्त रखकर।

शैशव के दर्पण में ही व्यक्ति के भावी व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिल जाती है। सुसंस्कृत, श्रमशील, अनुशासित और धुन के बच्चे ही महापुरुष बनते देखे गये हैं। इसके विपरीत, विश्व के समस्त कुख्यात अपराधियों के जीवन के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उनके शैशवकाल का वातावरण कुण्ठाओं को बढ़ाने वाला तथा उच्छृंखलता को पनपाने वाला रहा है।

संस्कारों की मूल प्रेरणा शिशु को माँ और परिवार से ही मिलने के कारण किसी बच्चे में गलत प्रवृत्तियाँ पनपी देख-पाकर जरूरत स्वयं अपने ही आत्म-निरीक्षण की होती है। बच्चे पर झुँझलाने, उसे प्रताड़ना देने से सुधार सम्भव नहीं हो सकता।

वस्तुतः बच्चे के मन में प्रेम पाने की प्यास प्रबल रहती है। बच्चा ही क्यों, यह प्यास तो मनुष्य और प्राणिमात्र में तथा चराचर सम्पूर्ण जगत में प्रधान है। बच्चों के निश्छल अथवा अपेक्षाकृत सरल आचरण में उसकी अधिक स्पष्ट झँकी मिल जाती है।

उदण्ड-उच्छृंखल बालक के व्यवहार के विश्लेषण से यही जानकारी मिलती है कि स्नेह के अभाव से

२.१५२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

उसकी सहज प्रवृत्तियाँ मुरझा गई हैं। किसी बालक की दुर्बलता का उपहास उसे उद्दण्ड बना देने का ही उपक्रम है।

बालक के मनोविश्लेषण के लिए किसी सुदीर्घ श्रमसाध्य निरीक्षण की आवश्यकता नहीं होती। उसके लिए सर्वोपरि आवश्यक बात है—बच्चे के प्रति अभिभावक का निराशा न होना, उसके मन की बातों को ध्यानपूर्वक सुनना, उसे आत्मप्रकाशन का अवसर देना तथा सच्चा स्नेह देना।

स्नेह के वातावरण में बालक अपने आपको अनजाने ही खोलता जाता है। डा. विलियम ब्राउन ने अपने प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात किया है कि प्रेमपूर्ण वातावरण में बालक अनायास ही वे सब बातें कह डालता है, जो सामान्यतः वह छिपाए रहता तथा अकेले में अन्य जटिल बालकों के बीच ही कहता-करता है। जब बच्चा अपने आपको खोलता है, उस समय उसकी विकृत आदतें देख-जानकर उन पर रोष-क्षोभ व्यक्त करना हानिप्रद ही होगा। प्रत्येक उद्दण्ड बालक सहानुभूति से उसकी बात सुन सकने वाले व्यक्ति की खोज में रहता है। अपने मन को खोल देने पर उसका मानसिक शिथिलीकरण हो जाता है। फिर प्रेमपूर्वक उसे समझाने पर तथा उसके आत्मविश्वास को जाग्रत करने पर, वह अपनी विकृतियों से मुक्त हो जाता है।

इसके साथ ही बालक को प्रोत्साहित करते हुए रचनात्मक कार्य में प्रवृत्त किये रखने की आवश्यकता होती है। रचनात्मक कार्य बालक के बाल्य-विश्वास को उभारते हैं। उद्दण्डता, उच्छ्वंखलता, ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। मानसिक, शारीरिक श्रम एवं शक्ति उनमें भी बहुत लगती है। यही शक्ति जब रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगाई जाने लगती है, तो उसका स्वाद और आनन्द अधिक उच्चकोटि का होने से बालक की सहज बुद्धि उन्हीं में रमने लगती है और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के प्रति उसे जुगुप्सा होने लगती है।

बालक को सीधे-सीधे नैतिक-शिक्षा देने पर उस पर प्रभाव की सम्भावना अत्यल्प है। बालक की बात-बात में आलोचना करने पर उसका आत्मविश्वास क्षीणतर हो जाता है। अनेक सुशिक्षित कहे जाने वाले माता-पिता अपने बालकों के दुर्गुणों के प्रति ऐसी सतर्कता दिखाते हैं कि वे बालकों को मात्र उन्हीं दुर्गुणों, दुर्बलताओं का स्मरण कराते रहते हैं। इस प्रकार बालक के समय, श्रम व मानसिक शक्ति को वे अधिकाधिक समय दुर्गुणों के ही स्मरण-मनन में खर्च कराते रहते हैं। इसका परिणाम निश्चित है कि जो बोया जायेगा, वही काटा जायेगा, बालक की मृदु, उर्वरक, प्राणवान, ऊष्मा से भरी भाव-भूमि में जब दुर्गुणों, दुर्बलताओं के स्मरण के ही बीज बोए जायेंगे, तो भावी फसल का स्वरूप स्वयं सिद्ध है।

कभी-कभी संयमी-सदाचारी व्यक्तियों की सन्तति दुराचारी, दुर्व्यसनी तथा मेधावी व्यक्तियों की सन्तान मूर्ख होती देखी गई है। पिछले जन्मों के संस्कार बीज तो इसके कारण होते ही हैं, किन्तु कई बार कारण यह होता है कि इन लोगों का स्वयं का श्रेष्ठ आचरण तो इनकी अपनी निष्ठा और उत्कट इच्छा का परिणाम होता है, किन्तु सन्तति पर वे उसी उत्कृष्ट आचरण को हठात् आरोपित करना चाहते हैं। यह उनका मोह और मानव-मन सम्बन्धी उनकी अनभिज्ञता ही होती है। वे इस सामान्य तथ्य को भी धुला बैठते हैं कि उनका स्वयं का उत्कृष्ट आचरण उनके अपने विवेक का परिणाम है। अपने अन्तःकरण के आह्वान पर ही उन्होंने अपने आचरण को अधिकाधिक उत्कृष्ट बनाने का प्रयास किया। अब अपने बच्चे पर वही आदर्श एकदम से थोपने का प्रयास सफल न हो सकेगा। बालक हों या वयस्क, उनमें किसी भी योग्यता का विकास धीरे-धीरे ही होता है। नैतिक-चारित्रिक योग्यता का भी विकास क्रमशः ही होता है।

स्नेह-प्रेम द्वारा व्यक्ति की प्रकृति में भारी परिवर्तन भी सम्भव है, किन्तु आरोपित नैतिकता द्वारा यह सम्भव न हो सकेगा।

जो माता-पिता अपने मोह एवं अज्ञानवश बालक में रातोंरात आमूल परिवर्तन की इच्छा करते हैं, वे बच्चों पर ऐसा असह्य दबाव डालते हैं, जो वे सह ही नहीं सकते और विद्रोह-स्वरूप उच्छ्वंखल हो जाते हैं, किन्तु सुसंस्कृत माता-पिता द्वारा ऐसी नादानी कभी-कभी ही होती है। वह उन माता-पिता में शेष रह गई मूढ़ता-कठोरता ही कही जा सकती है। सामान्यतः सुसंस्कृत-संवेदनशील माता-पिता बच्चों के कोमल मन के प्रति उदार और उनकी तीव्र ग्रहणशीलता के प्रति जागरूक ही रहते हैं। ऐसे वातावरण में पले-पनपे शिशु का सही दिशा में विकास सुनिश्चित ही होता है।

बच्चों के दोषों के प्रति हठ, दुराग्रह, कठोरता अधिकांशतः वे ही माता-पिता बरतते हैं, जो स्वयं वैसे ही दोष-दुर्गुणों से भरे-पूरे रहते हैं। स्पष्ट है कि उनका यह प्रयास हास्यास्पद होता है और उसकी विफलता अनिवार्य होती है। बच्चे अपने से बड़ों के प्रति सम्मान-शिष्टाचार बरतें, इसके लिए परिवार में वैसा वातावरण आवश्यक है। सादगी, संयम और मितव्ययिता बच्चों को कथनी से नहीं, करनी द्वारा ही सिखाई जा सकती है।

‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’ का सिद्धान्त बच्चों के साथ भी पूरी तरह लागू होता है। अतिशय सतर्कता तो आवश्यक है, पर बच्चे की छोटी-से-छोटी भूल को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखना भी हानिकार है। बच्चा अत्यन्त सम्भावनाओं का भण्डार होता है। अतः कालान्तर में उसकी अभी की दुर्बलताएँ प्रयासपूर्वक निर्मूल की जा

सकती हैं, यह विश्वास रखना चाहिए, किन्तु उसकी उपेक्षा कदापि न करनी चाहिए।

यहाँ यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि मात्र परिवार को सुसंस्कृत बना लेने पर बालक का सुसंस्कृत हो जाना अनिवार्य नहीं है। मनोवैज्ञानिक गिलिन ने अमेरिका के अपराधों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि इससे सामाजिक-शैक्षणिक सुधार-उत्कर्ष तो अपेक्षित है ही, किन्तु मूल बात यहाँ भी परिवार पर ही आकर टिकती है। शैशवावस्था में श्रेष्ठ महापुरुषों की जीवनियाँ, धार्मिक मूल्यों के सार-सन्दर्भ तथा स्वयं अपने उत्कृष्ट आचरण के सौन्दर्य की छाप जो माता-पिता अपने बच्चों पर अंकित कर देते हैं, उन बच्चों के मन में सही 'वीर-जीवन' के संस्कार, संवेदनाएँ और संकल्प इतने सघन हो जाते हैं कि फिर वे विद्यालय और समाज में भी अपने जैसे बालकों के प्रति ही आकर्षित होते हैं, कदाचारी बालकों के प्रति उनके आकर्षण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रचुर-प्रेम और स्नेह के अमृत का सुख-स्वाद चख लेने वाले बच्चों में सामाजिक सड़न के प्रति आक्रोश और जुगुप्सा ही प्रबल होती है, उस नरककुण्ड के प्रति उनमें आकर्षण उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

संतति को सुयोग्य और समुन्नत बनाने की समस्या

भावी संतति का स्तर कैसा होगा यह इस बात पर निर्भर है कि उसके जनक-जननी का व्यक्तित्व किस स्तर का रहा और आरम्भिक दिनों में उसे किस प्रकार के वातावरण से प्रभाव ग्रहण करना पड़ा ? इन तीनों प्रमुख कारणों पर ध्यान न देकर, मात्र अच्छे भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध कर देने से किसी को सुयोग्य और समुन्नत स्तर की सन्तान का श्रेय नहीं मिल सकता है। पढ़ाई के लिए अच्छे अध्यापक एवं स्कूल की सुविधा से मस्तिष्कीय विकास में सुविधा मिल सकती है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे बालक का दृष्टिकोण एवं व्यक्तित्व विकसित करने में अधिक सहायक सिद्ध हो सकेंगे। कारण कि वे बालक के अन्तराल का स्पर्श नहीं कर पाते। मात्र बाहरी रूप से ही सहायक सिद्ध होते हैं।

कभी गुरुकुल पद्धति का प्रचलन था। वे न केवल प्राकृतिक स्वास्थ्यप्रद वातावरण में बने होते थे, वरन् उस कुसंस्कारी समुदाय से भी पृथक् रहते थे, जिनकी संगति से बालकों के कोमल मन पर दुर्गुणों को प्रोत्साहित करने वाला प्रभाव पड़ता है। इन गुरुकुलों का अपना विशिष्ट वातावरण था। गुरुमाताएँ बच्चों की भावनात्मक आवश्यकता का ध्यान रखती थीं और उन्हें वैसा ही स्नेह-दुलार प्रदान करती थीं जैसा कि जन्मदात्री माता से मिलना चाहिए। अध्यापक उपाध्याय मात्र शिक्षण ही नहीं देते थे,

साथ-साथ धुमाने ले जाते, क्वाएँ कहकर मनोरंजन करते और दैनिक कार्यक्रमों में व्यवहार एवं आदर्श के सभी पक्षों का समावेश रखते थे। उन्हें ध्यान रहता था कि आगे चलकर इन नन्हें पुत्रों को कर्तव्यवरायण, प्रतिभासम्पन्न एवं समाजनिष्ठ बनाना है। इसलिए उस प्रकार का बीजारोपण करने में किसी प्रकार की कमी न रहने दी जाय। इस प्रकार पिता की आवश्यकता उपाध्याय से, माता की गुरु माता से और वातावरण की आश्रमवासियों से समुचित आवश्यकता की पूर्ति होती थी। यही कारण था कि उन खदानों से नर-रत्न निकलते थे।

अब ऐसे गुरुकुलों की परम्परा ही उठ गई जिनमें छात्र के व्यक्तित्व के समग्र विकास का ध्यान रखा जाता था। महँगे पब्लिक स्कूलों में भी ठाट-वाट भरा रहता है। डिग्रीधारी अध्यापक होने से भी यह आशा नहीं की जा सकती कि उनके निजी व्यक्तित्व इतने उच्चस्तरीय होंगे जो सम्बद्ध छात्रों को अपने ढाँचे में ढाल सकें। फिर अब बच्चों को हर घड़ी अध्यापक से चिपटे रहने का भी अवसर कहाँ मिलता है ? वे अच्छे अध्यापक तो हो भी सकते हैं पर अभिभावकों की भूमिका निभा सकें और भावनात्मक पोषण दे सकें, इसे अत्यन्त कठिन ही समझना चाहिए।

वर्तमान परिस्थितियों में यह उत्तरदायित्व अभिभावकों को ही उठाना चाहिए कि वे अपने को प्रजनन से पूर्व ही इस स्तर का बनायें। जिनके साँचे में ढलकर संतति को समुन्नत व्यक्तित्व की विरासत मिल सके। घर का वातावरण भी उन्हीं को बनाना होगा। परिवार भले ही छोटा हो, पर हो ऐसा जिसमें रहकर बच्चों पर कुसंस्कार न जमने लगे। बात इतने से भी नहीं बनती। साथ में खेलना और पढ़ना जहाँ होता है, वहाँ की गतिविधियाँ कैसी चलती हैं ? इसका भी ध्यान रखना होगा, इतना किये बिना निर्वाह और सज्जापरक सुविधा जुटा देने पर भी यह आशा नहीं की जा सकती कि वे सुयोग्य नागरिक बन सकेंगे। अपनी तथा समाज की उन्नति में कुछ कहने लायक योगदान दे सकेंगे।

इन दिनों बाल अपराधों की भरमार है। बड़ी आयु के लोग कुकर्म करें, अनाचार बरतें, तो इसमें उनकी आवश्यकता, परिस्थिति, विवशता जैसा भी कुछ बताया जा सकता है, पर उन बालकों के लिए क्या कहा जाय, जिनके कंधों पर कोई भारी उत्तरदायित्व नहीं आये है और जो परिवार के बीच रहकर अपनी सामान्य आवश्यकताएँ पूरी कर लेते हैं। बढ़ते बाल-अपराधों से चिन्तित मूर्धन्य समाजविज्ञानियों और मनोविज्ञानियों द्वारा कारणों की गहराई तक पहुँचने के प्रयास से पता चला कि इन अस्त-व्यस्तों को कुमार्ग अपनाने की प्रेरणा पारिवारिक वातावरण में मिली होती है। पिता का संरक्षण पोषण उन्हें वैसा नहीं मिला, जिसमें वे भविष्य का सही स्वप्न देख पाते और उसके लिए उपयुक्त दिशा अपना

सकते। इसी प्रकार माता का वैसा स्नेह भी नहीं मिला, जिसे धत्री से ऊँचे स्तर का भावनात्मक परिपोषण देने वाला कहा जा सके।

यों पलने को तो बच्चे अनाथालयों में भी पलते हैं। वहाँ क्री रोटी खाते, कपड़े पहनते और पढ़ते-लिखते भी हैं, किन्तु अभिभावकों की सघन आत्मीयता और उनकी स्तरीय वरिष्ठता का परिपोषण न मिलने से अन्तराल की कली खिल नहीं पाती और डरे, सहमे किसी प्रकार दिन काटते रहते हैं। मनुष्य के लिए अन्न-वस्त्र ही सब कुछ नहीं है। उसे सुसंस्कार भरा वातावरण और सघन आत्मीयता का अनुदान भी चाहिए। यह न मिलने पर असन्तुष्ट-अशान्त, उद्विग्न रहने वाला बाल-जीवन अवांछनीय मार्ग अपनाता है और संयोग बैठते चलने पर वह अपराधी प्रवृत्ति का बनने लगता है। बात अनाथालयों की नहीं उस वातावरण की हो रही है, जिसमें उपेक्षा, अस्त-व्यस्तता की कुरूप निस्तब्धता छाई रहती है और अन्ततः उस क्षेत्र में पलने वालों को कुसंस्कारी बनाकर रहती है। कुसंस्कारों की परिणत ही अपराधों के रूप में देखी जाती है।

विचारकों ने समाज को भी बाल-अपराधों की रोकथाम के लिए अनेक उपाय सुझाये हैं और इस सन्दर्भ में शासन को क्या प्रबन्ध करना चाहिए, इसके लिए भी कई दबाव डाले हैं पर साथ ही यह भी कहा है कि उत्पादनकर्त्ता अभिभावक अपनी सामर्थ्य से अधिक संख्या में बच्चे जनेंगे और उनके लिए समुचित स्नेह-संरक्षण देने में असमर्थ रहेंगे, तो इसकी परिणत बच्चों में कुसंस्कारिता ही बढ़ाती रहेगी और उनके व्यक्तित्व को हीनता से बचाया न जा सकेगा। समाज और सरकार द्वारा रोकथाम, दण्डविधान और सुधार प्रयास किये जाने से ही बात बनेगी नहीं। काम तब चलेगा जब उत्पादनकर्त्ता अपनी कृतियों को सही ढाँचे में ढालें और बीजांकुर बोने, उगाने के साथ-साथ पौधे को खाद-पानी देने और रखवाली करने की भी जिम्मेदारी उठावें। वह कार्य प्रधानतया जनक-जननी का है। इन दोनों में भी विशेष दायित्व माता के कंधों पर आता है, क्योंकि भ्रूण को पेट में पकाने से लेकर दूध पिलाने, साथ सुलाने, गोदी खिलाने, निरन्तर सामने रखने के कारण वही अपना अधिकाधिक प्रभाव संतान पर छोड़ती है। पिता का प्रायः उपयुक्त साधन जुटाने और वातावरण बनाने में ही हाथ रहता है, क्योंकि उसका कार्य-क्षेत्र अर्थोपार्जन की दृष्टि से दिन में घर से बाहर रहने जैसा ही होता है। अच्छा तो यही था कि ऐसी स्थिति में सन्तानोत्पादन का संयम बरता जाता अथवा उनकी संख्या न्यूनतम रखी जाती।

इन दिनों शिक्षित स्तर की महिलाएँ आमोद-प्रमोद पर अधिक ध्यान देने लगी हैं। उपार्जन के लिए नौकरी करने में उनका ध्यान रहता है। घर से बाहर रहने और कई सामाजिक प्रवृत्तियों में भाग लेने मनोरंजक आयोजनों

में भी सम्मिलित होने की इच्छा होती है। इन सब कार्यों में बच्चों को साथ लेकर चल सकना असुविधाजनक होता है। ऐसी दशा में उन्हें नौकरों के ऊपर छोड़ना पड़ता है। संयुक्त परिवार बिखर जाने से अब वह सुविधा भी नहीं रही कि परिवार के बीच बच्चे हँसते-खेलते रहें और माता के सान्निध्य से वंचित रहने पर असन्तोष, आक्रोश व्यक्त न करें। इन परिस्थितियों में भी बच्चे अपने को उपेक्षित अनुभव करते हैं। यह असन्तोष कई बार रोष बनकर पनपता है और अपराधी प्रवृत्तियाँ अपनाने की दिशा में बढ़ता है। मातृविहीन बालकों को कभी अभागा कहा जाता था। तब मातृविहीन उन्हीं को कहा जाता था, जिनकी माता का देहावसान हो गया हो। अब स्थिति बदल गई है और व्यस्त माताओं के बालक भी एक प्रकार से मातृविहीन स्थिति में रहकर दिन गुजारते और भावनात्मक दृष्टि से अभावग्रस्त स्थिति में निराश, उद्विग्न रहते हैं। अब यह एक नया कारण और उभरा है, जिसने बालकों को उपेक्षा सहने एवं अपराधी बनने की दिशा में धकेला है। अच्छा होता व्यस्त महिलाएँ मातृत्व का बोझ उठाने से बची रहती हैं या फिर किसी प्रकार गृह-व्यवस्था के क्षेत्र में रहकर ही काम चलातीं और मन मारतीं।

यदि एक बालक अपनी माता के स्नेह एवं सान्निध्य से वंचित रखा जाता है तो उसके विकास के मार्ग में बाधाएँ प्रचुर रूप से आती हैं। यह धारणा डा. जान वाडल्वी ने १९५२ में मैटरनल केयर और मेन्टल हेल्थ के माध्यम से दी कि माता की गोद से वंचित होने में बालक का उचित विकास संदिग्ध ही है।

एस. ग्लुएक के परीक्षणों के आधार पर अपराधी बच्चों की देशव्यापी संख्या २५ प्रतिशत तक पहुँच गई है। इस अनुपात की पुष्टि जान वाडल्वी के ४४ अपराधियों पर किये गये शोध-कार्य से भी होती है, जिसमें ११ अपराधी अपने बाल्यावस्था में अपनी माता से त्यक्त पाये गये।

सी. बर्ट की पुस्तक 'यंग डेलिक्वेन्ट' द्वारा प्रतिपादित तथ्य की भी उपेक्षा नहीं जा सकती, जिसमें अपराधी व्यक्ति विनिर्मित होने में एकाध नहीं, अनेकानेक तत्त्वों को उत्तरदायी ठहराया गया है। इन तत्त्वों की ओर टिन वर्जेन, लोरेन्ज, हारलो और केसेन जैसे बाल-विकास क्षेत्र के दिग्गज अन्वेषकों ने भी इंगित किया है।

'मदर चाइल्ड सेपरेशन एण्ड डेलिक्वेन्सी' पुस्तक में एस. ब्लेक ने अपने प्रयोगों को वर्णित करते हुए पथभ्रष्ट बालकों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार अपराधी बालकों में अधिकांश को मातृ-स्नेह से वंचित रहना पड़ा था। डा. हिल्डा लेविस ने भी ५०० बालकों के अध्ययन के दौरान मातृहीनों की तरह ही माता द्वारा उपेक्षित बालकों में भी अनेक चारित्रिक त्रुटियाँ पायीं।

‘मदरिंग एज-एन इन्फ्लूएन्स ऑन अर्ली डेवलपमेण्ट’ में ज्वाइस राबर्टसन ने २५ शिशुओं के ऊपर अध्ययन किया जो शुरू से ही एक शिशु स्वास्थ्यशाला में रखे गये थे। शाला के अभिलेखों के अनुसार अविकसित बालकों को मातृ-स्नेह एवं सान्निध्य से वंचित रहने के कारण यह अभिशाप भोगना पड़ा।

एच. डेलगाडो ने बन्दरों के शावक को मादा से अलग रखकर इस तथ्य को प्रतिपादित किया कि वे बन्दर जिन्होंने जन्म से ही मातृबिलगाव के कष्ट झेले, वे प्रौढ़ होने पर सेक्स सम्बन्धी व्यवहारों में असफल या अतिवादी रहे थे।

मातृ बिलगाव में एक बड़ा कारण बढ़ते हुए तलाक भी है। विवाह-विच्छेद होने पर माताएँ या तो पुनर्विवाह करती हैं या फिर आजीविका उपार्जन के लिए घर से बाहर रहती हैं। दोनों ही परिस्थितियों में बालकों

को ऐसे शिशु-गृहों में समय गुजारना पड़ता है, जिन्हें सुविधा-सम्पन्न होते हुए भी भावनात्मक दृष्टि से अनाथालय स्तर का ही ठहराया जायेगा।

माताओं का प्रभाव बच्चों पर पिता की अपेक्षा अधिक पड़ने की बात सिद्धान्ततः सर्वथा सच होने पर भी बाल-विकास में त्रुटि रहने के लिए सर्वथा उन्हीं को दोषी ठहराया जा सकता, क्योंकि उनमें से अधिकांश को पतियों का समुचित सहयोग न मिलने के कारण स्वावलम्बी होने की बात सोचनी पड़ी और बालकों पर उतना ध्यान न दे सकीं, जितना कि दाम्पत्य-जीवन में समुचित सहकार रहने पर वे दे सकती थीं। बालकों को पिछड़ेपन, दुर्गुणग्रस्त एवं अपराधी बनने में वे पिता भी कम दोषी नहीं, जो यौनाचार की लिप्सा को तो देखते हैं, पर यह नहीं सोचते कि इसकी परिणति में जिन बच्चों का उत्तरदायित्व सिर पर चढ़ेगा, उसका निर्वाह किस प्रकार कर सकेंगे ?



बालकों के सर्वांगीण विकास में अभिभावकों का योगदान

सही ढंग से समग्र लालन-पालन

बच्चों के लिए खान-पान की, रहन-सहन की और क्रीड़ा-विनोद की साधन-सामग्री पर्याप्त मात्रा में जुटा देने के बाद अभिभावक प्रायः यह समझ लेते हैं कि उन्होंने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। कई माता-पिता तो स्नेह और ममत्व की कसौटी ही यह मानते हैं कि वे अपनी सन्तान के लिए कितने मुक्तहस्त से धन खर्च कर सकते हैं। बच्चों को किसी प्रकार का अभाव महसूस न होने देना माता-पिता का कर्तव्य है, यह तो ठीक है। यह भी ठीक है कि जब तक कोई दम्पति सन्तान का समुचित पालन-पोषण करने में समर्थ न हो जाय तब तक उन्हें माता-पिता बनने की इच्छा नहीं रखना चाहिए, क्योंकि बच्चों को जन्म देने के साथ उनके लिए पौष्टिक भोजन, पर्याप्त वस्त्र, अच्छी शिक्षा और स्वास्थ्य, मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की व्यवस्था जुटाने का भी दायित्व आ जाता है।

इस दायित्व को पूरा करने योग्य स्थिति हो तो ही कोई दम्पति सही अर्थों में माता-पिता बनने के अधिकारी होते हैं। अतः बच्चों के लिए पर्याप्त साधन व्यवस्था जुटाना कोई अनुचित नहीं है। अनुचित है तो यह कि इस दायित्व को ही सर्वप्रधान और अन्तिम मान लेना तथा उनके व्यक्तित्व को ढालने की ओर से निश्चिन्त हो जाना। बच्चों को सुख-सुविधा देने, परिवार के लिए सम्पन्नता और ऐश्वर्य जुटाने में कई व्यक्ति इतने व्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें दूसरे दायित्वों का अनुभव ही नहीं होता।

अच्छी साधन व्यवस्था जुटाने से भी महत्वपूर्ण दायित्व है अभिभावकों का कि वे बच्चों के व्यक्तित्व का भी ध्यान रखें। दूसरे शब्दों में इसे सही ढंग से समग्र लालन-पालन भी कहा जा सकता है। जिसमें सन्तान के प्रति उसकी निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार सही ढंग से समग्र लालन-पालन अभिभावकों के लिए एक चुनौती भरा उत्तरदायित्व है, जो बच्चे के जन्म के साथ ही आपके सामने आ प्रस्तुत होता है। इस दायित्व को जो लोग भली-भाँति पूरा करते हैं वे

जीवन भर अपनी सन्तान की ओर से निश्चिन्त तथा सुखी रह सकते हैं। जो लोग इस ओर से तनिक भी अनुत्तरदायीपूर्ण रीति-नीति अपनाते हैं, उन्हें अपनी सन्तान की उच्छ्वेकलताओं से परेशानी, दूसरे लोगों की ओर से उल्लाहना, तिरस्कार व समाज में लज्जित होने जैसी दुःखद स्थितियों का सामना करना पड़ता है।

बच्चों का सही ढंग से समग्र लालन-पालन करने के लिए निर्वाह व्यवस्था बनाने और साधन जुटाने के अतिरिक्त तीन बातें विशेष रूप से आवश्यक हैं—प्रेम, अनुशासन और स्वतन्त्रता। यह तीनों विशेषताएँ बच्चों के हृदय, चरित्र और व्यक्तित्व को अभिसिंचित करती हैं तथा उन्हें सही दिशा देकर एक सही और अच्छा नागरिक बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं।

कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में, अपने व्यक्तित्व के तीन पक्षों के साथ प्रविष्ट होता है—भावनाएँ, चरित्र और क्षमता या मौलिक योग्यता। ये तीनों पक्ष यदि समुचित, विकसित व सन्तुलित रहें तो वह एक योग्य नागरिक सिद्ध होता है अन्यथा असन्तुलित भावनाएँ, दुश्चरित्रता और अयोग्यता न व्यक्ति को चैन लेने देती है, न उसके निकटवर्ती लोगों को सुख-शान्ति से जीने देती है। अपनी भावनाओं, आचरणों और कमियों के कारण वह स्वयं भी अतृप्त, अशान्त जीवन जीता है और इन कारणों से अपने निकटवर्ती लोगों को भी दुःख करता व हानि पहुँचाता रहता है।

यह स्थिति किसी भी अभिभावक के लिए जीते जी असन्तोष और विक्षोभ का कारण बन सकती है। अतएव पोषण के लिए स्थूल साधन व्यवस्था जुटाने के साथ-साथ व्यक्तित्व को विकसित और सुयोग्य बनाने के लिए प्रेम, अनुशासन तथा स्वतन्त्रता की सन्तुलित रीति-नीति अपनानी चाहिए। भोजन, वस्त्र और आवास की बाहरी आवश्यकताओं की तरह ये तीनों आवश्यकताएँ आभ्यान्तरिक व्यक्तित्व सम्बन्धी आवश्यकताएँ कही जा सकती हैं। इनका महत्व व मूल्य कम नहीं, निर्वाह आवश्यकताओं से अधिक ही आँका जाना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि इन आवश्यकताओं को किस प्रकार पूरा किया जाय ? निर्वाह आवश्यकताओं के सम्बन्ध में तो प्रायः सभी को समझ होती है कि बच्चों को क्या दिया जाना चाहिए और क्या नहीं ? उन्हें क्या चाहिए और क्या नहीं चाहिए ? इसका ज्ञान भी हर पढ़े-लिखे से लेकर अशिक्षित अभिभावकों तक को होता है, क्योंकि इस सम्बन्ध में बच्चा तत्काल अपनी प्रतिक्रिया करता है, आवश्यकताएँ भी दिखाई देती हैं और उनकी पूर्ति में होने वाली त्रुटियाँ भी तज्जनित परिणामों के कारण तुरन्त समझ में आ जाती हैं परन्तु व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली इन आवश्यकताओं का कोई बाहरी स्वरूप नहीं होता। न उनके कारण होने वाली प्रतिक्रियाओं का तुरन्त विश्लेषण कर समझ पाना सरल है तथा न ही तत्काल कोई परिणाम ही होते दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए, कोई अभिभावक अपने बच्चे को हर समय, हर काम के लिए डाँटता-धमकाता रहता है, ऊषम मचाने पर फटकार भी देता है तो तत्काल इसका प्रभाव बच्चे के शान्त हो जाने के रूप में दिखाई देगा परन्तु इस रवैये का दूरगामी परिणाम बच्चे को या तो जीवन भर के लिए दबू बना देगा अथवा उच्छ्रंखल, दुष्ट, विद्रोही और असामाजिक।

ऐसी स्थिति में विवेक और अनुभव ही यह निश्चित करने में सहायक हो सकते हैं कि बच्चों को कब दुलारना चाहिए, उन्हें कब रोकना और मना करना चाहिए तथा किस प्रकार रोका व मना करना उस पर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करेगा तथा यह भी कि बच्चों को किन बातों में स्वतन्त्रता देनी चाहिए या कि उन्हें अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की छूट दी जा सकती है।

प्रेम, अनुशासन और स्वतन्त्रता की व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर विचार करने से पूर्व यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि मुख्य बात इन्हें व्यवहार में उतारने की पद्धति है अन्यथा कौन होगा जो अपने बच्चों से प्रेम नहीं करता, कौन है जो उन्हें अनुशासन में नहीं देखना चाहता और कौन अपने बच्चों को परमुखापेक्षी बनाना पसन्द करता है ? मूल रूप से ये तीनों भावनाएँ, अपेक्षाएँ प्रत्येक अभिभावक के वात्सल्यपूर्ण हृदय की सम्पदा है। सवाल यह है कि सम्पदा का किस ढंग से उपयोग किया जाय, ताकि उसके अच्छे परिणाम प्राप्त हो सकें।

प्रेम को ही लें। प्रत्येक अभिभावक अपनी सन्तान से अगाध स्नेह रखता है। सम्भवतः माता-पिता को सन्तान से बढ़कर और कोई दूसरी वस्तु प्रिय ही नहीं होती पर उस प्रेम की अभिव्यक्ति प्रायः इस ढंग की हो जाती है कि बच्चे या तो लाड़-प्यार में बिगड़ जाते हैं अथवा अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण आत्मविश्वास की पूँजी ही एकत्रित नहीं कर पाते। आवश्यकता इस बात की है कि

बच्चे को प्रेम करने, लाड़-लड़ाने के साथ विवेक का भी उपयोग किया जाय।

बहुधा अभिभावक अपने बच्चों के प्रति इतना लाड़-दुलार रखते हैं कि उन्हें बच्चों की कमजोरियाँ, गलतियाँ, कमजोरी, गलती की तरह लगती ही नहीं। लगती भी हैं तो वे उसे स्वाभाविक मानकर क्षम्य समझ लेते हैं। उचित यह है कि बच्चे पर स्नेह, ममत्व उड़ेलने के साथ उनकी त्रुटियों पर भी ध्यान दिया जाय।

कई लोग अपने बच्चों से कोई गलती न होने देने के लिए इतने सजग, सतर्क रहते हैं कि इन्हें हमेशा टोकते रहते हैं, बच्चों की त्रुटियों पर ध्यान देने के लिए सजग रहना उचित भी है और आवश्यक भी, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि बच्चा हर घड़ी अपने को अपराधी समझता रहे। गलतियाँ सभी से होती हैं, बच्चों से गलती होने की सम्भावना तो और भी ज्यादा रहती है। उन भूलों के कारण बच्चे को ही दोषी न करार दिया जाय।

यदि बच्चे से कोई गलती होती है अथवा उसमें कोई बुराई दिखाई देती है, तो उस चीज की बुराई की जाय बच्चे की नहीं। उस आदत या वस्तु की बुराई से बच्चे में उसके प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर देना ही बच्चों को बुराई से रोकने का उपाय है। यदि किसी गलती के कारण बच्चे को दण्ड दिया जाता है तो दण्ड देने के बाद बच्चों को उसका कारण भी समझा देना चाहिए और उसे यह अनुभव कराना चाहिए कि उसे कोई गलत काम करने के कारण यह दण्ड मिला है, न कि उसे दुःखी करने अथवा पीड़ा देने के लिए।

अनुशासन और प्रेम का यह सन्तुलित प्रयोग बच्चों में बुराइयों के प्रति घृणा तथा अच्छाइयों के प्रति लगाव उत्पन्न करता है। अच्छाइयों के प्रति लगाव उत्पन्न करने के लिए बच्चे को प्रेमपूर्ण ढंग से प्रोत्साहित करना चाहिए। यह प्रोत्साहन इस ढंग से हो कि बच्चा उसमें प्रेम का अनुभव करे, न कि उसे की गयी प्रशंसा किसी रिश्तत की तरह लगे। अक्सर देखा गया है कि बच्चे परीक्षा में पास हो जाते हैं अथवा कोई अच्छा काम करते हैं तो माँ-बाप उसके साथ इस तरह व्यवहार करने लगते हैं जैसे वह काम महत्वपूर्ण है, बच्चा नहीं। होना यह चाहिए उस अच्छाई के लिए बच्चे को सराहा जाय, जैसे वह बच्चे के लिए स्वाभाविक बात हो। इस बारीकी को ध्यान में रखने से वह अच्छाई बच्चे के स्वभाव का अंग बनने लगती है।

अनुशासन का शिक्षण किसी समय-विशेष या परिस्थिति-विशेष में किया जाने वाला उपक्रम नहीं है, वरन् वह लगातार चलता रहना चाहिए। रुक-रुककर समय-असमय चलने वाली पढ़ाई से कोई विशेष लाभ नहीं होता बल्कि वह नियमित और निरन्तर चलती रहे तभी समुचित लाभ होता है। इसी प्रकार अनुशासन की भावना भी नियमित और अनवरत् रूप से विकसित करने

३. ३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

का ध्यान रखना चाहिए। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि एक बार जिस बात का सम्बन्ध अनुशासन से हो वह सम्बन्ध हमेशा वैसा ही रहना चाहिए। उदाहरण के लिए, बच्चों को सफाई से रहने के लिए समझाया जाता है। हाथ-पैर गन्दे कर लेने या मिट्टी से सान लेने पर बच्चों को उससे रोका जाता है। अब इस तरह समझाने का क्रम हमेशा चलना चाहिए, ऐसा नहीं किया जाना चाहिए कि एक बार तो बच्चे को मुँह गन्दा करने के लिए डाँट दिया जाय और फिर कभी वह मुँह खराब कर ले तो उस पर ठठाकर हँसा जाये। इससे बच्चा असमंजस में पड़ सकता है। वह यह नहीं समझ पाता कि क्या उचित है और क्या अनुचित है ?

प्रेम और अनुशासन की तरह स्वतन्त्रता भी उनके व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए आवश्यक है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक बच्चे में मनुष्य की सन्तान होने के नाते मौलिक विशेषताएँ, निजी सम्भावनाएँ होती हैं। इन विशेषताओं और क्षमताओं को उभरने का अवसर स्वतन्त्रता में ही मिलता है। अतः उनको नये काम करने, उनकी गतिविधियों को मुखर होने तथा विशेषताओं को उभरने के लिए सतत् निरीक्षण और मार्ग-दर्शन करते रहना चाहिए। यह भी नहीं कि बच्चों को हमेशा अपनी मनमानी करने के लिए आजाद छोड़ दिया जाय और फिर वे जो भी करें उससे हानि हो या लाभ, उधर से सर्वथा विरत ही रहा जाय। यदि यह लगता है कि बच्चे की किसी हरकत से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है तो उससे रोकना ही श्रेयस्कर है। निरापद कार्यों में स्वतन्त्रता देने और अपनी बुद्धि-विवेक से काम करने देना ही उनके व्यक्तित्व में आत्मनिर्भरता की नींव रखना है।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि बच्चों को छोटे-से-छोटे कार्यों से रोकना, टोकना व डाँटना, फटकारना उनके व्यक्तित्व की सम्भावनाओं को क्षीण करने जैसा है। उचित यही है कि आवश्यक मामलों में ही बच्चों को सीधे रोका-टोका जाय, जिनसे हानि होने की सम्भावना रहती है। जिन मामलों में हानि होने का कोई खतरा नहीं है, उनमें बच्चों को अपनी बुद्धि का प्रयोग करने देना चाहिए। ताकि उनमें आत्मविश्वास की भावना सुदृढ़ हो सके, वे अपने कार्यों को स्वयं निबटाने में समर्थ हो सकें और अपनी बुद्धि व मानसिक क्षमता का प्रयोग करना सीख सकें।

इन बातों का ध्यान रखते हुए बच्चों के व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी उत्तरदायित्वों को पूरा करते हुए ही कोई अभिभावक अपने बच्चों के सच्चे हितैषी सिद्ध हो सकते हैं। माता-पिता का कर्तव्य केवल बच्चों के लिए खान-पान, रहन-सहन और वस्त्रादि आवश्यकताओं की पूर्ति करना भर नहीं है, अपितु उन पर राष्ट्र को सुयोग्य नागरिक देने की जिम्मेदारी भी है। इस जिम्मेदारी को

बच्चों का पथ-प्रदर्शन, मार्ग-दर्शन, प्रशिक्षण व उनके व्यक्तित्व का सिंचन करते हुए ही पूरा किया जा सकता है।

बच्चों का बहुमुखी विकास कैसे हो ?

मानवी व्यक्तित्व के विकास में जन्मदाताओं, अभिभावकों एवं शिक्षकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। माता-पिता का यह प्रमुख दायित्व है कि शिशु के जन्म के पूर्व ही अपने ऊपर आने वाले दायित्वों को समझें और उसके लिए नैतिक, आर्थिक, शारीरिक व मानसिक रूप से तैयार हो जायें। बच्चे के जन्म से लेकर किशोरावस्था तक पालकों को विशेष रूप से सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती है। प्रायः देखा जाता है कि माता-पिता अपने बच्चों से उच्च आकांक्षाएँ रखते हैं, किन्तु वे भूल जाते हैं कि उनकी कोमल भावनाएँ उन सबको ग्रहण करने के लिए तैयार भी हैं या नहीं ?

इस सन्दर्भ में माष्ट्रियल के माइकल गिल विश्वविद्यालय के मूर्धन्य वैज्ञानिक डा. ईगल पेडर्सन ने अपने सहयोगियों के साथ गहन अनुसन्धान किया है। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बताया है कि जिन बच्चों के साथ उनके अभिभावकों एवं शिक्षकों का व्यवहार उदारतापूर्ण, प्रेम व करुणामय वात्सल्यता से परिपूरित था, उनकी शारीरिक, मानसिक विकास दरें बढ़ी-चढ़ी रहीं। वे सभी परीक्षाओं में उत्तम अंक प्राप्त कर सके। इसके विपरीत जिन बच्चों के साथ कठोर व निर्ममतापूर्ण व्यवहार किया गया, वे प्रायः इसके अन्त्यस्त बन गये और अपनी नैसर्गिक क्षमता खो बैठे। मेधावी एवं प्रतिभाशील होते हुए भी वे कम अंक ही प्राप्त कर सके। खोजने पर पाया गया कि अच्छे अंक प्राप्त करने वाले प्रायः सभी बच्चों को एक ही प्रकार का सुखद, संस्कारित एवं उदार वातावरण मिला था। शिक्षक एवं अभिभावक उनके प्रति करुणा व वात्सल्य का भाव रखते और आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे।

‘ट्रबुल्ड टीचर्स’ नामक ग्रन्थ में सुप्रसिद्ध शिक्षा मनोविज्ञानी रोलो ने कहा है कि बच्चों का गुणी होना एवं शिक्षा के प्रति अभिरुचि होना उतना आवश्यक नहीं जितना कि जन्मदाताओं तथा शिक्षकों का स्वयं गुणवान होना, अपने कर्तव्यों के प्रति उनका जागरूक होना। उनके अनुसार जिस प्रकार कोई भी रोग असाध्य नहीं, उसी प्रकार कोई भी बच्चा शिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ नहीं होता। जब हिंस्र वन्य प्राणियों, पशु-पक्षियों को प्रशिक्षित किया जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव शिशु को वांछित दिशा में उच्चस्तरीय प्रशिक्षण न दिया जा सके। आवश्यकता मात्र उन्हें उचित मार्ग-दर्शन देने एवं उस दिशा में बढ़ चलने

के लिए प्रोत्साहित करने की है। यह बन पड़ना तभी सम्भव है, जब अध्यापक एवं अभिभावक अपने को साँचा समझें और तदनुरूप अपनी कमजोरियों को दूर कर पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर एक समग्र व्यक्तित्व के रूप में स्वयं उनके समक्ष एक नमूना बनें।

प्रायः देखा जाता है कि असन्तुलित मनःस्थिति या दुराग्रही स्वभाव वालों की सन्तानें भी उसी ढाँचे में ढल जाती हैं। दिनचर्या व आहार-विहार का प्रभाव भी बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर पड़े बिना नहीं रहता। जन्मदाता चाहें तो आध्यात्मिक उपचारों एवं सन्तुलित जीवनचर्या को अपनाकर जहाँ एक ओर अपना सुधार कर सकते हैं, वहीं दूसरी ओर बच्चों पर भी उसका अमिट प्रभाव डाल सकते हैं। तब बिना किसी प्रशिक्षण के वे उस मनःस्थिति में स्वयं ढलते चले जायेंगे।

कनाडा के 'ओन्टारियो इन्स्टीट्यूट फॉर स्टडीज' के बाल-मनोविज्ञान विशेषज्ञ रीगन कालवे ने अपने शोध निष्कर्ष में बताया है कि बच्चों के मानवोचित गुणों के विकास में स्नेहपूर्ण वात्सल्ययुक्त वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। आत्मीयतापूर्ण वातावरण में प्रशिक्षण देने से बच्चों के ज्ञान-विज्ञान के केन्द्र-केन्द्रीय मस्तिष्क का विकास सरलतापूर्वक होता है। प्रयोग-परीक्षणों में पाया गया है कि जिन बच्चों को सुसंस्कारयुक्त एवं आत्मीयतापूर्ण वातावरण प्रदान किया गया, वे साधन-सुविधाओं से रहित होते हुए भी शीघ्र ही पढ़ना-लिखना सीख गये और मेधावी-प्रतिभाशाली छात्रों की श्रेणी में गिने जाने लगे। इसके विपरीत सुविधा-सम्पन्न परिस्थितियों के रहते हुए भी जिन्हें समस्यामूलक समझा और तदनुरूप ही व्यवहार किया गया वे मन्द-बुद्धि भी पाये गये और उद्विग्न स्वभाव वाले भी।

संस्कारों के बीजारोपण हेतु बाल्यकाल का जितना महत्त्व है, उतना बड़ी आयु का नहीं, इस तथ्य को भली-भाँति समझा जाना चाहिए। प्रत्येक शिशु गीली, कच्ची मिट्टी का बना होता है। उसे चाहे जैसा रूप प्रदान किया जा सकता है। आवश्यकता मात्र इतनी है कि पालक या शिक्षक उसे जिस प्रकार की शिक्षा की अपेक्षा रखते हैं, सर्वप्रथम उसे अपने आचरण में उतारें और उनके समक्ष प्रस्तुत करें, तो ही बच्चों के बहुमुखी विकास में कुछ कहने लायक सहयोग मिलेगा।

कुपोषणजन्य अकाल मृत्यु का उपचार

रेल लड़ने, नाव डूबने, बस टकराने, बाढ़ आदि की किसी दुर्घटना में सौ दो सौ व्यक्तियों की मृत्यु के समाचार पढ़कर सुनने वाले व्याकुल हो उठते हैं और उनकी सहायता के लिए सेवाभावी संस्थाओं से लेकर सरकारी सहायता विभाग तक पीड़ितों की मदद के लिए दौड़ पड़ते हैं और उपाय करते हैं कि ऐसी दुर्घटना फिर से न होने पाये, किन्तु कितने व्यक्ति कुपोषण के शिकार

होकर बेमौत मरते हैं, इसकी कोई खोज-खबर नहीं लेता। समाचार पढ़कर खेद व्यक्त करने के अतिरिक्त ऐसा कोई उपाय नहीं करते कि इस आधार पर होने वाली अकाल मृत्यु की रोकथाम हो।

उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार निर्धन देशों के लोगों में एक वर्ष में प्रायः डेढ़ करोड़ बच्चे कुपोषण के शिकार मिले। सारे संसार में ४० हजार बच्चे प्रतिदिन इस व्यथा के शिकार होते हैं। तंजानिया के एक सर्वे के अनुसार पाँच साल से कम उम्र वाले बालकों में से ३० प्रतिशत इसी कारण मरते हैं। इसे वहाँ की कुल आबादी का १८ प्रतिशत माना गया है। किसी महामारी से १८ प्रतिशत आबादी हर साल मौत के मुँह में जाने लगे, तो उस देश को रहने के अयोग्य माना जायेगा और उसे छोड़ने की भगदड़ मचेगी। किन्तु बच्चे हैं जिनका मूल्य नहीं समझा जाता और चूँकि वे कमाऊ नहीं होते इसलिए उनकी मौत पर ध्यान नहीं दिया जाता। वे एक साथ, एक जगह मरे होते तो भी देखने-सुनने वालों का ध्यान उनकी ओर गया होता पर वे जहाँ-तहाँ अलग-अलग जगह, अलग-अलग दिन मरते हैं इसलिए उनकी उपेक्षा कर दी जाती है, जो भी हो, यह भी जनहानि तो है ही और उसका किसी देश की समूची आबादी पर असर तो पड़ता ही है।

कुपोषण का तात्पर्य है—शरीर को दिन भर के कामों के लिए जितनी शक्ति चाहिए उसका न जुट पाना। बच्चा हो या बड़ा कुछ न कुछ काम दिन भर में करता ही है। उसे करने के लिए खुराक चाहिए। खुराक का तात्पर्य पेट भरने वाले कूड़े-कचरे से नहीं, वरन् उस पुष्टि से है जो शरीर के उन सब कामों के लिए आवश्यक पोषण प्रदान करे। इतना ही नहीं बच्चे तेजी से बढ़ते भी हैं। उस बढ़ोतरी के लिए भी आवश्यक पोषण चाहिए। यह ठीक तरह जुटता रहे तो शरीर में फुर्ती और सुन्दरता, कोमलता, निरोगता बनी रहती है। कमी पड़ने पर बच्चों के शरीर की वृद्धि रुक सकती है और जवानों को बहुत जल्दी थकान आती है। इस थकान का सिलसिला लगातार जारी रहे तो वह आवश्यकता शरीर के रक्त, माँस, हड्डियाँ आदि को चूसकर पूरी होती है। ऐसी दशा में दुर्बलताजन्य कई बीमारियाँ उठ खड़ी होती हैं। अंग टेढ़े हो जाते हैं। आयु के हिसाब से शक्ति का कोष पूरा न होने से अपचजन्य कई प्रकार की बीमारियाँ खड़ी होती हैं। बीमारी की व्यथा, उपयुक्त चिकित्सा का अभाव, निःसार खुराक का भार वहन, दैनिक परिश्रम के उपयुक्त शक्ति का न मिलना, यह सभी बातें मिल-जुलकर अकाल-मृत्यु का सहज कारण बनती हैं। घर के लोग उसे भाग्यहीन, मौत का शिकार पहले से ही मान बैठते हैं और फिर उसके बचने की वैसी चिन्ता भी नहीं करते जैसी कि करनी चाहिए।

३. ५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

गरीबी होते हुए भी बच्चों की भरमार करते जाना कुपोषण का बहुत बड़ा कारण है। अच्छी खुराक में पैसा भी अधिक लगता है और खान-पान सम्बन्धी ध्यान तथा सतर्कता भी चाहता है। गरीबी की स्थिति में यह सभी बातें कठिन पड़ती हैं। फलतः बच्चे तो अकाल मृत्यु से मरते ही हैं, साथ ही माता को भी चपेट में ले लेते हैं। उसके शरीर से एक बच्चे के लायक दूध तो पूरी तरह निकलता नहीं, इतने में नया बच्चा पेट में आ जाता है। अब उसे दूध पिलाने में भी अधिक खुराक चाहिए। माता की गरीबी दो बच्चों का भार एक साथ उठाने की स्थिति में नहीं होती। साथ ही गोद का एक या कई बच्चों का समूह जब दुर्बल-बीमार रहता है, तो उसकी परिचर्या में पूरी नींद ले सकना भी उसके लिए सम्भव नहीं होता। इस प्रकार बच्चे ही नहीं, माता भी इस कुचक्र में फँसकर बीमार, दुर्बल रहने लगती है और अनाथ बच्चों को विलखता छोड़कर परलोक चली जाती है। स्पष्ट है कि पिता काम-धन्धा करते हुए इन छोटे बच्चों का लालन-पालन करने में समर्थ नहीं होता। फलतः पूरे परिवार की दुर्गति होती है।

पेट भरकर खुराक मिलना ही पर्याप्त नहीं है। जो खाया गया है, वह पौष्टिक भी होना चाहिए। पेट न भरने का नाम ही भुखमरी नहीं है, वरन् जो खाया गया है उसमें जीवन-तत्वों का अभाव भी भुखमरी है। इस कसौटी पर कसने पर हममें से अधिकांश व्यक्ति भुखमरी के शिकार माने जा सकते हैं। ऐसे लोग अपने हिस्से का काम पूरा कर सकेंगे इसकी आशा नहीं की जा सकती। जिस शरीर को मेहनत तो करनी पड़े पर उसको उपयुक्त पोषण न मिले तो वह दुर्बलता, बीमारी और अकाल मृत्यु से ग्रस्त होगा ही।

अच्छा हो दरिद्र परिवार कम बच्चे उत्पन्न करें। एक से दूसरे को जन्म देने के बीच चार-पाँच वर्ष का फासला रखें ताकि माता उन्हें उपयुक्त खुराक दे सकें और साज-सँभाल कर सकें।

बच्चों को उतना ही खाना दिया जाय जितना वे हजम कर सकें। खेलने आदि की सुविधा न होने पर वे कुछ न कुछ खाते रहने की आदत डाल लेते हैं। पेट की क्षमता से अधिक खाया हुआ भोजन अपच उत्पन्न करता है। पतले दस्त होने लगते हैं। बदहजमी और भी कई प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार कम भोजन करना ही नहीं ज़रूरत से ज्यादा खाना भी जान का ग्राहक बनाता है।

पौष्टिक भोजन में सन्तुलित भोजन चाहिए। फल, मेवे, दूध, तरकारी यह सभी वस्तुएँ सन्तुलित भोजन बनाती हैं पर यदि दरिद्रता के कारण वे महँगी चीजें खरीदना न बन पड़ें तो हरी तरकारियाँ उबालकर देने से भी काम चल सकता है। दूध की आवश्यकता तिल या मूँगफली को पानी में पीसकर पूरी की जा सकती है।

सस्ते शाक-भाजी गरीब भी खरीद सकते हैं। घर के आस-पास थोड़ी खाली जगह आम लोगों के पास होती है। थोड़ी मेहनत की जाय और सावधानी बरती जाय तो उतनी फलतू जगह में शाक-भाजी बोये-उगाये जा सकते हैं।

पकाने में गलती करना अच्छे-खासे भोजन को बर्बाद कर देने के बराबर है। जितना भूना-तला जाएगा उतना ही आहार निःसत्व होता जायेगा। इसलिए अन्न से लेकर शाक-भाजी तक जितने कम भूने-तले जाएँ उतना ही अच्छा है। साधारणतया उबालकर ही काम चलाना चाहिए। अन्न को अंकुरित करना लाभदायक है।

कुपोषणग्रस्त बच्चे आमतौर से दुर्बल और बीमार रहते हैं। ऐसी दशा में वे श्रम या व्यायाम नहीं कर सकते। बैठे रहते हैं। चलने की उम्र होने पर भी चलते-फिरते नहीं। ऐसी दशा में तेल-मालिश से उसकी पूर्ति करनी चाहिये। बच्चों की मालिश इतने हल्के हाथ से करनी चाहिए कि शरीर के सभी अंग-अवयवों पर उचित दबाव पड़े।

शिशु-पोषण एक बड़ी कला है। अभिभावकों को उसे ठीक प्रकार जानना चाहिए। कुपोषणग्रस्त बच्चों का आहार सुधार ही नहीं, उनके पालन-पोषण सम्बन्धी अन्य नियमों को समझना और निर्वाह करना भी आवश्यक है।

बाल-स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान

दिया जाय

लखनऊ में एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गयी, जिसका विषय था—बच्चों और महिलाओं में पोषण की समस्या। देशभर के लगभग २०० विद्वानों, चिकित्साशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों ने इसमें भाग लिया। पुणे के प्रो. एम. आर. चक्रवर्ती ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि भारत में जन्म लेने वाले एक-तिहाई बच्चों का वजन कम होता है। विकसित राष्ट्रों की तुलना में यहाँ के बच्चों की मृत्यु-दर भी दस गुना अधिक होती है। देहातों में बालकों की मृत्यु-दर १३५ तथा शहरों में ८५ प्रति हजार की आँकी गयी है। इसका मुख्य कारण उन्होंने कुपोषण को ही बताया है। प्रो. चक्रवर्ती ने २७००० आदिवासियों के स्वास्थ्य की जाँच-पड़ताल करने के उपरान्त बताया कि ३ वर्ष से कम उम्र के ४० प्रतिशत बच्चों में प्रोटीन की विशेष कमी थी। इनमें से २० प्रतिशत रक्ताल्पता (एनेमिक) के शिकार होते देखे गये। ४० प्रतिशत बच्चे तो ऐसे निकले जिन्हें विटामिन 'ए' की भरपूर मात्रा उपलब्ध नहीं हो पाती। निरन्तर रुग्णता में बने रहने वाले बच्चे ८ प्रतिशत थे। संक्रामक रोग के फैलने का मुख्य कारण स्वच्छ पेय जल की अनुपलब्धता भी है। देश की कुल जनसंख्या का ४० प्रतिशत भाग

बच्चों का है। अतः राष्ट्र में स्वस्थ नागरिक पैदा करने के लिए इस समस्या का समाधान खोजना ही होगा।

शरीर में तेजी से बढ़ रही रक्ताल्पता के दुष्परिणामों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय पोषाहार संस्थान के विशेषज्ञों ने इस बात पर बल दिया है कि आहार में लौहयुक्त नमक का इस्तेमाल किया जाय। भारत में ५० प्रतिशत गर्भवती महिलाएँ और ४० प्रतिशत बच्चे रक्ताल्पता के पूरी तरह शिकार बन चुके हैं। इससे शरीर की प्रतिरोधक क्षमता का तो हास होता ही है, साथ ही अनेकानेक तरह की बीमारियों को भी प्रवेश पाने का अवसर मिलता है। वस्तुतः यह समस्या अविकसित राष्ट्रों की है, जहाँ पर आहार में पोषक तत्वों की पर्याप्त मात्रा नहीं होती।

घेंघा नामक रोग को भी आयोडीन युक्त नमक के प्रयोग से रोका जा सकता है। इसमें लौह तत्व की मात्रा अधिक रहती है। राष्ट्र को चाहिए कि लौह युक्त नमक का उत्पादन बड़े पैमाने पर करे। गरीब राष्ट्रों के लिए यह उपचार व्यवस्था अत्यधिक उपयुक्त समझी गयी है और सस्ती भी। राष्ट्रीय पोषक आहार-संस्थान के निदेशक डा. नरसिंह राव के अनुसार सामान्य नमक की उत्पादन लागत में ही १० पैसे प्रति किलोग्राम अतिरिक्त नियोजित कर दिया जाय तो उक्त प्रयोजन की पूर्ति सुगमतापूर्वक की जा सकती है। रक्ताल्पता और घेंघा रोग के उन्मूलन में यह योजना बड़ी उपयोगी और प्रभावकारी सिद्ध हो सकती है।

बच्चों के आहार में पोषक तत्वों के अभाव के परिणामस्वरूप बड़े होकर उन्हें मानसिक कमजोरी, असामाजिक आचरण तथा मन्द-बुद्धि का शिकार बनना पड़ता है। आस्ट्रेलिया में मोनाश विश्वविद्यालय के डॉ. आर्नाड केन ने इस प्रकार के अनुसंधान पशु-पक्षियों के बच्चों पर किये हैं। तथ्य प्रकट करते हुए उन्होंने बताया है कि कुपोषण के कारण उनकी सम्पर्क कोशिकाओं की संख्या में ४० प्रतिशत की कमी अचानक ही हो गयी। उनकी जानकारी, चतुरता और परस्पर व्यवहार में विशेष अन्तर दिखाई देने लगा। मर्यादाओं के विपरीत क्रिया-कलाप करने पर उतारू हो गये। आज विश्व में ३० करोड़ बच्चों के भोजन में पोषक तत्वों का अभाव है, जिसके कारण उनकी मस्तिष्कीय क्षमता दिन-प्रतिदिन घटती चली जा रही है। इनके पोषण की समुचित व्यवस्था करनी ही होगी।

शरीर को सुगठित एवं क्रियाशील बनाये रखने के लिए सन्तुलित भोजन की आवश्यकता को भी भुलाया नहीं जा सकता। सामान्यतः मनुष्य के दैनिक आहार में ३००० कैलोरी ऊर्जा, ९० ग्राम प्रोटीन, ४५० ग्राम कार्बोहाइड्रेट तथा ९० ग्राम वसा की आवश्यकता होती है। बड़ी उम्र के लोग तो प्रोटीन की आपूर्ति अनाजों,

दालों से कर लेते हैं लेकिन बालकों की पूर्ति इससे नहीं होती।

‘संयुक्त राष्ट्र बाल सहायता कोष’ तथा ‘संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन’ के स्वास्थ्य विशेषज्ञ गरीब देशों की भूख और कुपोषण की समस्याओं को हल करने में तत्पर हैं। उनका कथन है कि उत्तम प्रोटीन की मात्रा शाकाहार से प्राप्त की जा सकती है। मूँगफली, बिनौला तथा सोयाबीन जैसे तिलहनों में सायमीन नामक अमीनो अम्ल की मात्रा विद्यमान रहती है। शरीर के लिए यह उत्तम किस्म का प्रोटीन है। दक्षिणी अमेरिका में कुपोषण से संतुष्ट लोगों को बिनौले का आटा, ज्वार या मक्का के आटे के साथ मिलाकर दिया जाता है।

भोजन न केवल क्षुधापूर्ति ही करता है, वरन् शरीर की आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा प्रदान करने की क्षमता भी इसमें होनी चाहिए। शरीर को क्रियाशील तथा स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भी आहार की आवश्यकता अनुभव होती है। शरीर की वृद्धि और विकास के लिए सन्तुलित भोजन ही अधिक उपयुक्त बैठता है। भोजन का अर्थ खूब पेट भर खाना नहीं वरन् समुचित ऊर्जा प्रदान करना होता है। महँगे खाद्य पदार्थों से ही पोषक तत्व मिलते हैं ऐसी बात नहीं है। शरीर की आवश्यकतानुसार कार्बोज, वसा, खनिज लवणों और विटामिनों को कम कीमत वाले शाकाहार से भी प्राप्त किया जा सकता है। दूध की यदि कमी पड़ती है तो हरी पत्ती वाली सब्जियों से इस प्रयोजन की पूर्ति हो सकती है। अच्छा हो परिवार संस्था में गृहिणियाँ इसका ध्यान रखें तो बच्चों को कुपोषण से बचाया जा सकता है।

आहार विद्या के निष्णातों ने सन्तुलित भोजन की महत्ता को अंगीकार किया है। उनका कथन है कि शाकाहार से इसकी पूर्ति आसानी से की जा सकती है। कैल्शियम जैसे खनिज और विटामिन शरीर के संरक्षण में काम आते हैं, जिन्हें दूध और दालों से प्राप्त किया जा सकता है। फलाहार, पालक, पत्ता गोभी तथा हरे पत्ते वाली सब्जियों में लोहा और कैल्शियम प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, जो अस्थि और रुधिर में मजबूती पैदा करता है। शरीर की रोग निरोधक क्षमता को बढ़ाने के लिए इनमें विटामिन ‘ए’ तथा ‘बी’ भी विद्यमान रहते हैं। गेहूँ, चावल, मक्का तथा आलू से कार्बोहाइड्रेट की मात्रा प्राप्त करके शरीर के ऊर्जा भण्डार में प्रत्याशित वृद्धि की जा सकती है। वसा के लिए घी और तिलहनों को खाद्य पदार्थों में सम्मिलित किया जा सकता है।

बच्चों के अभिभावकों को पोषण की कला से भली-भाँति परिचित होना चाहिए। दृष्टि परिवार अत्यधिक सन्तानोत्पादन के अनावश्यक भार से बचे रहें तो अच्छा है। एक बच्चे से दूसरे बच्चे को जन्म देने के मध्य कम से कम पाँच वर्ष का अन्तर रखें। उन्हें सन्तुलित आहार

३. ७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

के साथ-साथ पालन-पोषण के अन्य नियमों की जानकारी भी कराते रहें। हर समय खाते रहने की आदत पर अंकुश लगाना चाहिए। नित्य-प्रति व्यायाम करने की आदत बच्चे में विकसित करें। समय-समय पर मालिश करते रहने से भी बच्चे के अंग-अवयवों को क्रियाशील बनाया जा सकता है।

दुःखदायी बाल-मृत्यु—अकाल-मृत्यु

यूनिसेफ सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार संसार में प्रति सप्ताह ५ वर्ष से कम आयु के बच्चे दो लाख अस्सी हजार की संख्या में मर जाते हैं। अकेले भारत में प्रति सप्ताह ३७ हजार बच्चे मरते हैं।

प्रतिवर्ष संसार में १ करोड़ ४० लाख बच्चे ऐसे मरते हैं, जिनकी यदि उचित चिकित्सा और परिचर्या सम्भव हुई होती तो उन्हें मरने से बचाया जा सकता था।

संसार में प्रति घण्टे ५ बच्चे अन्धे हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य कारणों से अपंग हो जाने वाले बच्चों की संख्या प्रति घण्टा २० है। मरने वालों में १ वर्ष से कम आयु के बच्चों की संख्या सबसे अधिक है। इससे आगे जी सकने के पश्चात् ही यह आशा बँधती है कि वे कदाचित् बचपन में आने वाली मौत और अपंगता से जूझ सकें।

न केवल बाल-मृत्यु ही वरन् उनकी उत्पत्ति भी अपने देश में बढ़ी-चढ़ी है। जिन देशों के पास भूमि पर्याप्त है, जिनमें कृषि-क्षेत्र बढ़ाने, आवास के लिए नये मकान बनाने के लिए स्थान हैं। वे तो किसी प्रकार बढ़ती आबादी का भार वहन कर भी सकते हैं, पर अपना देश अब इतना घिच-पिच हो चुका है, इसमें अधिक जनसंख्या ठूँसे जाने और उनके लिए आहार-निवास, शिक्षा, चिकित्सा आदि के साधन जुटाने की अतिरिक्त व्यवस्था नहीं बन सकती। गुंजाइश न होने पर ठूस-ठाँस करने का परिणाम फटना ही हो सकता है। बोरी में सीमा से अधिक वस्तुएँ भरी जाएँ तो उस दबाव का परिणाम फटने के रूप में ही सामने आ सकता है। बढ़ी हुई जनसंख्या यदि अपने लिए आवश्यक साधन उपलब्ध न कर सकेगी, जीवनयापन के साधनों से वंचित रहेगी तो उसे कुपोषण का शिकार रहना पड़ेगा। जीवनीशक्ति की न्यूनता रहने से ऋतु प्रभाव या घिच-पिचजन्य गन्दगी के कारण रोगों का शिकार बनना पड़ेगा। विस्तार के अनुरूप व्यवस्था जुटाने के लिए नये साधन खड़े करने की जरूरत पड़ेगी। इस हेतु नये कर लगाने पड़ते हैं। इससे महँगाई भी बढ़ती है और गरीबी भी। इस दयनीय स्थिति में हर स्तर का पिछड़ापन ही बढ़ सकता है। पिछड़े हुए नागरिकों की संख्या किसी देश की प्रगति में सहायक नहीं होती, वरन् समस्याएँ एवं कठिनाइयाँ ही बढ़ती हैं।

अशिक्षित और लकीर के फकीर रूढ़िवादियों को यह समझाना कठिन तो है कि प्रजनन की दर बढ़ाना हर दृष्टि से, हर किसी के लिए हानिकारक है। जन्मदात्री महिला का स्वास्थ्य बिगड़ता है। जल्दी-जल्दी प्रसव करने में उसकी जीवनीशक्ति चुक जाती है। समय से पूर्व बुढ़ापा आ घेरता है और आये दिन किसी न किसी बीमारी का शिकार रहना पड़ता है। जन्मे हुए बच्चे को वे पूरी मात्रा में दूध पिला सकने की स्थिति में भी नहीं रहती हैं। पशुओं का दूध पीने या जल्दी अन्न खाने लगने पर वे अपच के शिकार होते हैं। फलतः छोटी-मोटी बीमारियाँ ही इन दुर्बलों को अपने टोकरे में समेट लेती हैं। जल्दी-जल्दी बच्चे मरते रहने पर गर्भ धारण भी जल्दी होता है। भ्रूण माता के शरीर से ही बनता है। जिनके शरीरों में अपना गुजारा ठीक से करने की क्षमता नहीं है, वे भी जल्दी-जल्दी गर्भधारण करती रहें तो स्वयं तो दिन-दिन कमजोर होंगी ही, साथ ही जन्मे बच्चे भी कमजोर रहेंगे। जीवनीशक्ति पर्याप्त मात्रा में न होने से उनका जीवन संग्राम में देर तक खड़े रह सकना सम्भव न होगा। फलतः वे जल्दी मरेगे ही।

बड़े नगरों में जहाँ स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था है, वहाँ की लड़कियाँ तो पढ़ने-लिखने में लगी रहती हैं। इस सन्दर्भ में उनके विवाह भी देर से होते हैं। बीस वर्ष की आयु हो जाने के उपरान्त यदि प्रजनन का भार पड़े तो उसे सहन भी किया जा सकता है और बच्चे भी इतने समर्थ हो सकते हैं कि अकाल मृत्यु का सामना कर सकें पर देहातों में कन्या शिक्षा की व्यवस्था बड़ी आयु तक चलते रहने की सुविधा नहीं होती, इसलिए उन्हें घर पर खाली ही बैठना पड़ता है। माता के घरेलू काम-काज में हाथ बँटाने के अतिरिक्त और कुछ कर नहीं पाती। इसी दशा में पुरातनपंथी, रूढ़िवादिता यही तकाजा करती है कि लड़की का विवाह करके उस भार को सिर पर से उतारा जाय। प्रचलन भी उसी प्रकार का होता है। पड़ोसियों, सम्बन्धियों के यहाँ छोटी आयु में लड़कियों के विवाह होते रहते हैं। फलतः देखा-देखी भी वैसा करने के लिए अभिभावकों का मन होता है। यदि वे थोड़ी शिथिलता बरतें, तो मित्र-सम्बन्धी बाधित करते हैं कि लड़की सयानी होती जाती है, उसे कब तक घर में बिठाये रखोगे। यह ताने भी जल्दी विवाह के लिए उकसाते हैं। किन्हीं-किन्हीं समुदाय में दुधमुँही बालिकाओं तक के विवाह कर देने का रिवाज है। उनके लिए वर भी समान आयु के ही होते हैं। विवाह के उपरान्त यौनाचार चल पड़ता है और किशोरावस्था में ही गर्भधारण करने का, पिता बनने का सिलसिला चल पड़ता है। जिन माता-पिताओं की आयु अभी किशोरावस्था की परिधि में ही चल रही है, जिनके अंग-अवयव परिपुष्ट नहीं हो पाये, उनके द्वारा जन्म दिए गए बालक स्वभावतः अविकसित होंगे। उनका कद, वजन सभी कम होगा। साथ ही वे जन्मजात ऐसी कमजोरियाँ भी लिए हुए होंगे

जिनके कारण उनके लिए देर तक स्वस्थ रहना एवं दीर्घजीवी बनना कठिन हो जाता है।

बाल-विवाह का प्रचलन जल्दी-जल्दी अपरिपक्व बालकों को जन्मने का जान-बूझकर किया गया अनर्थ है। उसके कारण जननी के ऊपर तो विपत्ति के पहाड़ टूटते ही हैं जन्मे हुए बच्चे भी जीवन और मृत्यु के बीच अघर में लटके हुए होने की स्थिति में रहते हैं। ऐसों की अकाल मृत्यु यदि जन्मने के कुछ दिन बाद ही हो जाय, तो क्या आश्चर्य ? इसे दैवीय विपत्ति नहीं, वरन् जान-बूझकर की गयी बाल-हत्या की तैयारी ही कहा जा सकता है।

बच्चों के पौष्टिक आहार की, खेलने की, सुसंस्कारी प्रशिक्षण की, स्वच्छता की बढ़ी-चढ़ी आवश्यकता रहती है। वे स्वयं तो यह प्रबन्ध कर नहीं सकते। अभिभावकों को ही यह सब साधन जुटाने पड़ते हैं पर यदि वे गरीबी तथा नासमझी के कारण वैसा कुछ कर नहीं पाते। इस अभाव के प्रतिफल नवजात बालकों को भुगतने पड़ते हैं। समय से पहले ही अकाल मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

इन दुःखद परिस्थितियों में जन्म देने वाली महिलाओं को जहाँ सन्तान बिछोह का दुख सहना पड़ता है, वहाँ वे अपना स्वास्थ्य, मनोबल, उत्साह, सौन्दर्य आदि विशेषताओं को भी गँवाती जाती हैं। प्रसव काल भी एक बड़ा आपरेशन है। उसमें असावधानी होने पर न केवल नवजात बालक, वरन् उन्हें जन्म देने वाली माताएँ भी अपने जीवन से हाथ धो बैठती हैं।

बच्चे का विकास और परिपोषण माँ पर निर्भर

समाज व्यक्तियों के ऐसे समूह का नाम है जिनमें पारस्परिक समरसता, आत्मीयता का बोध हो। व्यक्तियों के निर्माण का प्राथमिक चरण परिवार रूपी पाठशाला में ही सम्पन्न होता है, इसके पहले तो व्यक्ति प्रकृति की इस पाठशाला में कुछ मूलभूत संस्कारों एवं प्रवृत्तियों के साथ उत्पन्न होता है। उन संस्कारों, प्रवृत्तियों का विकास-विस्तार परिवार से प्रारम्भ होता है। परिवार में भी माँ ही शिशु के व्यक्तित्व की प्रथम निर्मात्री होती है। अतः समाज के लिए आवश्यक आधारभूत शक्ति, इकाई यानी व्यक्ति वस्तुतः माँ द्वारा ही समाज को दी जाने वाली भेंट है।

माँ द्वारा बच्चे का सर्वांगीण पोषण होता है। यों बच्चों को मिलने वाला स्थूल आहार तो उस परिवार एवं समाज की स्थिति पर निर्भर होता है, जिसका कि वह सदस्य है।

परिवार-इकाइयों में विषमता की मात्रा किसी समाज के गठन पर निर्भर है। क्रूर, पतनशील समाज में थोड़े-से परिवारों में सुख-सुविधा के ढेरों संरंजाम रहते हैं, जबकि शेष परिवार दयनीय विपन्नता से जर्जर रहते हैं। अतः किसी परिवार की आर्थिक स्थिति की जिम्मेदारी तो उस परिवार के सदस्यों तथा जिस समाज की इकाई वह परिवार है, उसके व्यवस्थापकों की रीति-नीति पर निर्भर है। किन्तु इसके अतिरिक्त निजीतौर पर माँ शिशु का मुख्यतः तीन प्रकार से पोषण करती है—(१) देखभाल द्वारा व्यक्तित्व को संवारना, (२) अपने स्वभाव की छाप डालना, (३) अपने आचरण की छाप डालना।

शिशु की दिनचर्या पूरी तरह माँ के हाथ में रहती है। कब सोना, कब जगना, दिन कैसे बिताना, शौच, स्नान, भोजन के किन नियमों का पालन करना, खेल में कैसे और कितना समय देना, स्कूल की तैयारी तथा घर पर पढ़ाई, बोल-चाल, व्यवहार, शिष्टाचार आदि सभी के नियन्त्रण सूत्र मुख्यतः माँ के हाथ में होते हैं। माँ ही शिशु की प्रथम शिक्षिका कही जाती है। मुँह, हाथ-पैर धोने, कपड़े, किताबें, खिलौने रखने, सहेजने या स्नान करने, उठने-बैठने, लेटने, खड़े रहने आदि के नियम बच्चा माँ से ही सीखता है और प्रारम्भ में इन सब बातों की जैसी सीख मिलती है उसकी जीवन पर सबसे अधिक छाप पड़ती है। अतः अपनी देखभाल में एक सुन्दर, सुयोग्य, श्रेष्ठ, स्वस्थ, संवेदनशील, शिष्ट एवं सज्जन नागरिक का निर्माण प्रथमतः माँ ही करती है। इसलिए सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सुरुचिसम्पन्न माताएँ ही किसी भी समाज की वस्तुतः सर्वोपरि शक्ति होती हैं। माताओं को मनोविज्ञान की जानकारी प्रदान करना प्रत्येक समाज का कर्तव्य है। यह सही है कि प्रत्येक माँ में बच्चे के मनोभावों को तोड़ने की अन्तर्दृष्टि रहती है, पर यह कतई पर्याप्त नहीं। मनोवैज्ञानिक रीतियों का परिचय प्रत्येक माँ को होना ही चाहिए, भले ही उन्हें यह जानकारी औपचारिक शिक्षा द्वारा नहीं अनौपचारिक शिक्षण प्रक्रियाओं द्वारा दी जाये क्योंकि इसके बिना वे अपने निश्चल प्रगाढ़ वात्सल्य का अनुपम अनुदान शिशु को सही ढंग से नहीं दे पातीं और इसीलिए शिशु को भी सही लाभ नहीं प्राप्त हो पाता। कोई भी माँ अपने बच्चे को तनिक भी कम प्यार नहीं करती, पर इस प्यार से बच्चा ठीक-ठीक लाभान्वित हो, इसके लिए माँ की भावना मात्र पर्याप्त नहीं होती। उसे शिशु की देख-रेख, साज-सँभाल, व्यक्तित्व निर्माण की कार्यविधियों का ज्ञान होना चाहिए।

माँ द्वारा देखभाल की विधि से भी अधिक महत्वपूर्ण जो विशेषता बच्चे पर प्रभाव डालती है, वह होती है माँ का स्वभाव। माता के स्वभाव की बच्चे पर गहरी छाप पड़ती है। माँ का स्वभाव न सिर्फ उसके दूध के साथ ही बच्चे में घुलने-मिलने लगता है, वरन्

३. १ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

गर्भावस्था में भी जननी के स्वभाव का शिशु पर प्रभाव पड़ता है। माँ की मानसिक भावनाएँ एवं विचारणाएँ गर्भवस्थ शिशु पर सुनिश्चित छाप छोड़ती हैं। प्रसवोपरान्त भी शिशु पर माँ के स्वभाव का सूक्ष्म असर पड़ता रहता है। सौम्य, मृदु, मधुर शिष्ट, शालीन, गम्भीर, प्रसन्न, सहनशील, प्राणवान, प्रखर, जागरूक, तेजस्विनी माताएँ बच्चे पर अनजाने ही वैसे ही श्रेष्ठ प्रभाव डालती रहती हैं। जबकि चिड़चिड़ी, क्रोधी, झगड़ालू, स्वार्थी, छलपूर्ण स्वभाव वाली माताओं के शिशु इन्हीं गुणों को अपनाते हैं। अतः माँ के स्वभाव का भावी नागरिक के व्यक्तित्व के निर्माण में विशेष हाथ होता है।

माँ के रहन-सहन, आचरण का ही शिशु आरम्भिक अनुकरण करता है और मानव-शिशु मुख्यतः अनुकरण से ही सीखता है। माँ की संगति वह अनिवार्य संगति है जो प्रत्येक शिशु को करनी ही होती है। अतः शिशु के प्रत्येक क्रिया-कलाप, रीति-नीति, तौर-तरीके पर माँ के आचरण की छाप अनिवार्य है। शिशु माँ के उपदेशों पर नहीं, क्रिया-कलापों पर ही ध्यान रखता है। वह देखता है कि माँ क्या और कैसे करती है ? माँ शिशु के लिए आकर्षण, जिज्ञासा एवं अनुकरण का आदि केन्द्र है। उसे माँ की हर गतिविधि में गम्भीर अर्थवेत्ताओं की अनुभूति होती है। शिशु माँ के आचरण को अत्यधिक बारीकी से देखता, गहराई से समझता और तीव्रता से सीखता है। उसके उठने-बैठने, देखने, चलने-फिरने और लेटने-सोने का ढंग, हाव-भाव, मुखमुद्रा, बोले जाने वाले शब्द एवं स्वर का उतार-चढ़ाव, खाने-पीने, भोजन चबाने आदि के ढंग, नहाने की विधि, कपड़ों की पसन्द, घर-द्वार, वस्तुओं की सफाई, रख-रखाव व सजावट सभी कुछ को बच्चे अपनी सूक्ष्म ग्रहण-शक्ति के साथ सावधानी से देखते हुए आँकते और याद करते रहते हैं। यदि माँ स्वयं ठीक से न नहाती हो, यों ही शरीर धो-पोंछ लेती हो और बच्चे को ठीक से नहाने का उपदेश देती रहे तो बच्चे में ठीक से नहाने के प्रति चिढ़ पैदा हो जाएगी। यदि माँ बच्चे को सच बोलने का उपदेश देती नहीं अघाती पर स्वयं बेहिचक झूठ बोलती है तो बच्चा निश्चित ही झूठ बोलना सीखेगा। हाँ साथ ही वह सत्य भाषण का उपदेश देना भी सीख सकता है। यदि माँ अश्लील शब्द बोलती, गालियाँ देती अथवा चीखकर बोलती है तो बच्चे में भी ये आदतें विकसित होंगी। सिनेमा और नाच-गाने की शौकीन माताएँ अपने बच्चों को उससे चाहे जितना बचाना चाहें, बच्चे का बच पाना अति कठिन है। खाने-पीने का ढंग और खाने-पीने की पसन्द तो बच्चों में घर के अनुसार विकसित होती ही है।

ऐसा नहीं कि बच्चे पर मात्र माँ का प्रभाव पड़ता है। पिता, भाई, बहिन, मित्र, पास-पड़ोस के बच्चे, बड़े, सभी के रहन-सहन, तौर-तरीके और व्यवहार बच्चों पर छाप डालते हैं। सम्पूर्ण वातावरण का शिशु पर प्रभाव

पड़ना अवश्यम्भावी है किन्तु इस वातावरण का प्रथम परिचय शिशु को माँ के माध्यम से ही होता है। वह सर्वप्रथम माँ को तथा उसके आस-पास के क्षेत्र को ही देखता है। इसीलिए माँ की देखभाल, माँ का स्वभाव एवं माँ का आचरण ये तीन ही शिशु के व्यक्तित्व निर्माण के प्राथमिक आधार बनते हैं। जो माताएँ शिशु में अपने व्यक्तित्व के इन तीनों ही तत्वों का समुचित पोषण करती हैं, वे समाज को एक उत्कृष्ट नागरिक सौंपकर स्वयं धन्य होती और परिवार-समाज को धन्य बनाती हैं।

देखभाल द्वारा माँ बच्चे के स्थूल शरीर एवं स्थूल व्यक्तित्व को सँवारने और पुष्ट करने में सहायक बनती हैं। अपने स्वभाव एवं आस्थाओं से प्रेरित आचरण के द्वारा वह उसके सूक्ष्म एवं कारण शरीरों पर प्रभाव छोड़ती है। बच्चे द्वारा दुनिया को देखने की दृष्टि क्या होगी ? यानी उसका दृष्टिकोण क्या होगा ? यह बहुत कुछ उसके आस्था-जगत पर निर्भर है और उस क्षेत्र पर माँ के आचरण के मूल में सन्निहित आस्थाओं का प्रमुखतः प्रभाव पड़ता रहता है। जबकि आदतों की प्राप्त विरासत बच्चे के जीवन में हर क्षण अपना रंग दिखलाती है। अपनी देखभाल द्वारा माता बच्चे के बहिरंग व्यक्तित्व का और अपने स्वभाव, विचार एवं आचरण द्वारा उसके अन्तरंग व्यक्तित्व का निर्माण करती है क्योंकि बच्चा माँ के आचरण की ऊपरी क्रियाएँ ही नहीं देखता वह उन क्रियाओं की प्रेरक आस्थाओं को भी ग्रहण करता है। झूठ बोलने वाली माँ के शब्द नहीं, झूठ बोलने की वृत्ति वह ग्रहण करता है। शब्द तो उसके अपने द्वारा सीखे हुए होते हैं पर वह उनका झूठ के लिए प्रयोग करता है। इसी प्रकार साहस एवं शौर्य की वृत्ति सीखा हुआ बच्चा अवसर के अनुकूल उस वृत्ति का प्रदर्शन करता है। मदालसा के ब्रह्मज्ञानी पुत्रों अलर्क आदि ने उसके "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरुद्धोऽसि" आदि गीतों में अभिव्यक्त आस्था को आत्मसात किया, न कि बाह्य क्रिया मात्र को अन्यथा वे भी बच्चे पैदाकर फिर उन्हें ऐसे ही गीत सुनाने की प्रवृत्ति रखते हैं। अतः स्पष्ट है कि शिशु जननी के आचरण से उनमें सन्निहित मूल आस्थाएँ ही ग्रहण करता है और इस प्रकार माँ के आचरण का असर बच्चे के अन्तःकरण-क्षेत्र पर पड़ता है। इस प्रकार सुसंस्कृत जननी शिशु के शरीर, मन, विचार एवं भाव क्षेत्र को पुष्ट करती है और त्रिविधि पोषण द्वारा विकसित सुयोग्य नागरिक समाज को सौंपती है। समाज पर सुयोग्य माताओं का बहुत ऋण रहता है।

प्रबुद्ध माताओं को अपनी यह भूमिका भली-भाँति समझ लेनी चाहिए और शिशु की देख-भाल में जितनी सजगता वे आवश्यक समझती हैं, उतनी ही सजगता से स्वयं के आचरण एवं स्वभाव को, अपने विचार तथा भावक्षेत्र को भी देखकर उसे श्रेष्ठ बनाना चाहिए, ताकि

उस श्रेष्ठता की छाप शिशु पर भी पड़े और समाज को एक श्रेष्ठ नागरिक प्राप्त हो।

बच्चों के विकास पर समुचित ध्यान दें

माली पौधों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उनमें अच्छी प्रकार खाद-पानी तथा काट-छाँट करता रहता है। किसान खेत में बीज बोने से लेकर फसल के बढ़ने तथा पकने तक की अवधि में देख-रेख में जितनी सतर्कता दिखाता है, उसी के अनुपात से फसल प्राप्त करता है। उपेक्षा तथा देख-रेख के अभाव में मूल्यवान पौधे भी सूख जाते हैं अथवा अविकसित रह जाते हैं। उनसे अच्छे फलों की आशा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार बच्चों के पालन-पोषण में समुचित देख-रेख की जाय, उनकी आदतों, क्रिया-कलापों एवं शिक्षा पर समुचित ध्यान रखा जाय तो सामान्य परिस्थितियों में पैदा होने वाले बच्चे भी महान् व्यक्ति बन सकते हैं। इसके विपरीत बच्चों के पालन-पोषण एवं देख-रेख में उपेक्षा की प्रवृत्ति अपनायी गयी, तो प्रतिभाशाली बच्चों का भी विकास रुक जाता है।

बचपन गीली मिट्टी के समान होता है। उस आयु में जिसे जैसा चाहें ढाला, मोड़ा जा सकता है। बाल्यकाल में जिन आदतों की नींव पड़ जाती है, वे ही संस्कार का रूप ले लेती हैं तथा सारे जीवन अपना प्रभाव दिखाती रहती हैं। बचपन में पड़े संस्कार एवं भावनाएँ ही बच्चे का व्यक्तित्व विनिर्मित करती हैं। यह अवस्था ही सम्पूर्ण जीवन की नींव है। बच्चों की कोमल मनोभूमि पर पड़े हुए विभिन्न प्रकार के प्रभाव ही उसके मानस-पटल पर सारे जीवन अंकित रहते हैं। उस अवधि में अच्छा एवं बुरा जैसा भी प्रभाव बच्चे पर पड़ता है, वैसे ही वे बन भी जाते हैं। महापुरुषों के श्रेष्ठ व्यक्तित्व के पीछे बाल्यावस्था में उनके माता-पिता द्वारा समुचित ध्यान देना ही प्रमुख कारण रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों के समक्ष प्रेरणास्पद वातावरण उपस्थित किया जाय, उन्हें ऐसी प्रेरणा दी जाय जिससे अच्छाइयाँ अपनाने की प्रेरणा मिले।

प्रत्येक बच्चे में अपनी एक जन्मजात विशेषता होती है। उसकी इस मूलभूत प्रवृत्ति पर यदि समुचित ध्यान दिया जाय तथा उसी के अनुरूप दिशा में उसे बढ़ाया जाय तो वह एक दिन असाधारण स्थिति में पहुँच सकता है। पाश्चात्य देशों की शिक्षा-प्रणाली में इस तथ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है, परिणामस्वरूप वे बच्चे अधिक प्रतिभाशाली बनते हैं।

माता-पिता के लिए आवश्यक है कि वे बच्चों को प्रवृत्तियों का पूरी सतर्कता के साथ अध्ययन करें। यदि स्वयं असमर्थ हों तो किसी विचारशील व्यक्ति से सलाह

लें तथा उसी के अनुरूप उनके विकास के लिए दिशा, साधन एवं सुविधाएँ जुटाएँ। माता-पिता द्वारा यह सोचना कि हमारे सोचने के अनुरूप ही बच्चे का भविष्य विनिर्मित हो, एक बड़ी भूल है। इंजीनियर का लड़का इंजीनियर, कलाकार का कलाकार बने यह आवश्यक नहीं है, न ही ऐसा प्रकृति का नियम है। रुचि, प्रतिभा एवं प्रवृत्तियों से अभिभावक एवं बच्चे में असमानता रहना आश्चर्यजनक नहीं। संगीत प्रतिभायुक्त बच्चे को कलई बनाना, चिन्तनशील, दार्शनिक बच्चे से बनिए का काम लेना बड़ी भूल है, जिसके परिणामस्वरूप उनकी प्रवृत्तियों के अनुरूप उनका विकास नहीं हो पाता तथा सामान्य जीवनयापन करते हैं। जो बच्चे सही दिशा एवं प्रेरणा के कारण असाधारण हो सकते थे, वही प्रोत्साहन के अभाव में उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना से वंचित रह जाते हैं।

देखा यह जाता है कि अभिभावक बच्चों को उनके बालसाथियों के साथ खेलने, मिलने-जुलने से रोकते हैं इससे उनके विकास में अवरोध पैदा होता है। दूसरे बच्चों से मिलने से ही उनके अन्दर सामूहिकता, सामाजिकता जैसे तत्त्वों का विकास होता है। इस सम्पर्क से ही एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता पैदा होती है। इसके विपरीत बच्चों को बिगड़ जाने के भय से मिलने न देना ठीक नहीं है। ऐसे बच्चे आगे चलकर एकाकी, असामाजिक प्रकृति के बन जाते हैं। वे दूसरों से बात-चीत करने तक में संकोच अनुभव करते हैं।

यह बात ध्यान रखने योग्य अवश्य है कि बच्चा जिन साथियों के साथ रहता है, वे सभ्य एवं संस्कारी हों। कुसंस्कारी एवं आवारा बालकों के संग से तो बचाये रखना ही उचित है।

शिक्षा के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए अभिभावक को हर सम्भव प्रयास करना चाहिए। बच्चों को जीवन में शिक्षा का महत्व बताया जाना चाहिए। मेधावी छात्रों एवं महापुरुषों के दृष्टान्त उनके समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। इन व्यक्तियों ने अध्ययन में गहरी रुचि लेकर अपने जीवन को श्रेष्ठ एवं समुन्नत किस प्रकार बनाया ? यह बताये जाने से बच्चों में शिक्षा के प्रति आकर्षण स्वतः उत्पन्न होने लगता है। समय-समय पर उनको प्रोत्साहित किए जाने पर शिक्षा के प्रति रुचि बनी रहती है। अच्छे कार्य किए जाने पर अथवा अपना विषय तैयार करने पर बच्चों को छोटे-छोटे उपहारों से पुरस्कृत करने से उनका उत्साहवर्द्धन होता है तथा आत्मविश्वास जाग्रत होता है।

बच्चों के परिपूर्ण विकास एवं सफलता के लिए उनके अन्दर स्पर्धा, प्रोत्साहन एवं प्रेरणा भरी बातों का कहते रहना आवश्यक है। उनकी गलतियों, भूलों से पनपने वाली हीन-भावनाओं को भी दूर करते रहना चाहिये, इससे उनके अन्दर आत्मविश्वास की अभिवृद्धि एवं मानसिक दृढ़ता प्राप्त होती है।

३. ११ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

जन्म देने से लेकर पालन-पोषण करने, साज-संभाल का दायित्व माँ के ऊपर होता है, किन्तु बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, मानसिक विकास से श्रेष्ठ व्यक्तित्व के निर्माण का उत्तरदायित्व पिता के ऊपर होता है। विद्यालय में तो वह पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु जीवन के आन्तरिक एवं बाह्य ढाँचे का निर्माण पिता द्वारा ही किया जाता है। इसके लिए पिता द्वारा बच्चे के जीवन के प्रति, उनकी गतिविधियों पर गहरी दिलचस्पी का होना आवश्यक है। आज के भौतिक प्रवाह में मनुष्य का जीवन इतना संघर्षमय हो गया है, जिससे प्रत्येक अभिभावक इतना व्यस्त है कि बच्चों के लिए समय नहीं दे पाते। इसे एक दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि बच्चों पर पैसा तो खर्च किया जाय पर उन्हें समय न दिया जाय।

मानसिक तुष्टि की अपेक्षा बच्चों को माता-पिता से होती है। इसके अभाव में उनका उचित विकास नहीं हो पाता। वे निराश एवं उदासीन रहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे बच्चे जिन्हें अभिभावकों का उचित सम्पर्क नहीं मिला, वे अधिकांशतः अयोग्य एवं अविकसित निकलते हैं। अभिभावकों का यह नैतिक दायित्व होता है कि व्यस्तता के बावजूद भी बच्चों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करते रहें तभी उनका समुचित विकास सम्भव है।

बौद्धिक विकास की धुरी—

माता-पिता का स्नेह-दुलार

इन दिनों अभिभावकों की प्रायः एक ही शिकायत सुनने में आती है कि उनके बच्चे पढ़ने में कमजोर हैं, स्मरण शक्ति का उनमें अभाव है, बुद्धिलब्धि कम है, पर वस्तुस्थिति की गहराई में जाने पर ज्ञात होता है कि उनकी उक्त मान्यता बिल्कुल सही नहीं है। बुद्धि को प्रयासपूर्वक ही बढ़ाना पड़ता है। जिन्हें इसकी अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं हो पाती अथवा प्रयास में कमी रहती है, उनमें ही मन्द बौद्धिकता के लक्षण उभरकर सामने आते हैं।

देखा गया है कि जब बालक को बोध से पूर्व किसी ऐसे स्थान पर छोड़ दिया जाता, जहाँ उसका सीधा सम्पर्क मनुष्य एवं उसकी बौद्धिक विशेषता से नहीं हो पाता, तो बड़ा होने पर भी वह बुद्धि की दृष्टि से अत्यन्त अविकसित स्थिति में पाया जाता है। जंगली जन्तुओं के बीच पलने वाले रामू भेड़िये के साथ यही हुआ। बोलने, पहनने, खाने-पीने की बात तो दूर, उठने-बैठने, चलने-फिरने की मूलभूत मानवी प्रवृत्ति (बायपेडल लोकोमोशन) के उसमें निहित रहने के बावजूद प्रशिक्षण के अभाव में वह वैसा न कर सका और चलने के लिए दो पाँवों के साथ दोनों हाथों का प्रयोग करते देखा गया। इसके विपरीत सर्वथा हिंस्र एवं जंगली कहलाने वाले जन्तुओं की स्थिति में यह देखा जाता है

कि यदि उन्हें कुछ समय तक नियमित रूप से प्रशिक्षित किया जाय, तो अपनी जाति से कई गुना बढ़-चढ़कर तथा कई मामलों में मनुष्य के समकक्ष बुद्धि-कौशल का प्रमाण-परिचय प्रस्तुत करने लगते हैं। आये दिन देखे जाने वाले इन उदाहरणों के आधार पर यही कहना पड़ेगा कि आरम्भ में मानवी बुद्धि प्रायः अपरिष्कृत स्थिति में रहती है, जिसे शनैः-शनैः प्रयास-अभ्यास द्वारा परिमार्जित करके प्रतिभा के रूप में विकसित किया जाता है। यदि प्रस्तुत निष्कर्ष सही है, तो यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि इन दिनों की जाने वाली मन्दबुद्धि सम्बन्धी अधिकांश शिकायतों के पीछे ऐसे ही हेतु कारणभूत हैं। लगभग ऐसा ही मन्तव्य प्रकट करते हुए इंग्लैण्ड के मूर्धन्य जीवविज्ञानी ए. एच. हेल्सी अपने एक निबन्ध 'जेनेटिक्स, सोशल स्ट्रक्चर एण्ड इंटेलेजेन्स' (ब्रिटिश जनरल, सोशियोलॉजी, खण्ड ९, सं. १) में कहते हैं कि इसमें दो मत नहीं कि बुद्धि में जन्मजात अन्तर नहीं होते, पर यह सम्भव है कि किसी तीक्ष्ण-बुद्धि बालक को आरम्भ में अविकसितों के बीच रहना पड़े, तो उसका विकास उन्हीं के समकक्ष होकर रह जाय। दूसरी ओर इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक वर्ग के जन्म के समय यह अन्तर समान रूप से वितरित हों, किन्तु उसके पश्चात् पालन-पोषण, विचार-व्यवहार की परिस्थितियों के कारण बुद्धिलब्धि में अन्तर हो जाता हो।

इस प्रकार हेल्सी ने बौद्धिक कमी के दो प्रमुख संप्राप्य कारण बताये हैं। प्रथम प्रशिक्षण का अभाव एवं द्वितीय आचार-व्यवहार में भावात्मकता व रागात्मकता की कमी। इसमें प्रथम के बारे में हेल्सी का मत है कि प्रशिक्षण के अभाव में मानवी बुद्धि का विकास कदापि सम्भव नहीं। यह प्रत्येक के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। दूसरे कारक के बारे में उनका कहना है कि कई बार घर का प्रतिकूल वातावरण भी बुद्धि को प्रभावित कर जाता है, जिस पर यदि ध्यान नहीं दिया गया, तो बड़े होने पर भी उसकी बौद्धिक क्षमता वैसी ही रह जाती है। कई मनोवैज्ञानिकों ने इसी को 'प्रभविष्णु योग्यता' के नाम से पुकारा है। यह वह योग्यता है, जिसे यदि कोई बाधक तत्त्व न हो, तो पूर्ण रूप से विकसित किया जा सकता है। आगे लिखते हैं कि यदि मन्द-बुद्धि बालक के घर के वातावरण ने बुद्धि विकास सम्बन्धी उक्त अनुबन्ध को पूरा नहीं किया, तो यही समझना चाहिए कि उसके अपनी प्रभविष्णु योग्यता के विकास का पूर्ण अवसर न मिला, पर उन्हें मन्दबुद्धि बालक कहना उचित नहीं। उनका कहना है कि इन दिनों अभिभावक यही गलती करते देखे जाते हैं। पालन-पोषण, प्यार-प्रेम सम्बन्धी अपनी तुष्टि की उपेक्षा कर बुद्धि-विकास किन्हीं अन्य साधनों में ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं, जबकि होना यह चाहिए कि पहले वे अपने व्यवहार की समीक्षा स्वयं करें, फिर बौद्धिक विकास के दूसरे अवलम्बनों को अपनायें।

एलिजाबेथ फ्रेजर भी अपने दीर्घकालीन अध्ययन, अनुसन्धान के उपरान्त ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुँची हैं। वह अपनी पुस्तक 'होम एनवायरनमेण्ट एण्ड दि स्कूल' में लिखती हैं कि बुद्धि की बात यदि कुछ अंश तक छोड़ भी दी जाय, तो भी घर के वातावरण का बच्चे की शिक्षा पर प्रभाव सर्वथा असंदिग्ध देखा गया है। वे लिखती हैं कि अनुकूल वातावरण का उनके स्कूली शिक्षा की सफलता पर अच्छा असर देखा गया, जबकि प्रतिकूल वातावरण से प्रगति प्रभावित हुई। शोध के दौरान उन्होंने जिन दो गृही कारणों को सफलता-विफलता के लिए सबसे प्रमुख पाया, वे थे—अभिप्रेरणात्मक व भावात्मक कारण। उन्होंने देखा कि भावात्मक दृष्टि से क्षुब्ध पारिवारिक पृष्ठभूमि वाले कुशाग्र बुद्धि बच्चों की शिक्षा भी इससे अप्रभावित नहीं रहती। वे सर्वेक्षण में असफल नहीं, तो बहुत सफल भी होते नहीं देखे गये। अध्ययन में एक अन्य कारण जो उभरकर सामने आता है, वह था—बड़ा परिवार। फ्रेजर के अनुसार अधिक बच्चों वाला बड़ा परिवार भी बालकों की प्रगति व शिक्षा को प्रभावित करता है।

बालकों की बौद्धिक प्रगति को किस प्रकार बड़ा परिवार अवरुद्ध करता है, इसे जॉन निस्वत के प्रसिद्ध सिद्धान्त द्वारा जाना जा सकता है। वे इसका प्रतिपादन 'फेमिली एनवायरनमेण्ट एण्ड इंटेलिजेन्स' (यूजीनिक्स रिव्यू) नामक निबन्ध में करते हुए लिखते हैं कि परिवार के आकार एवं बुद्धि में परस्पर प्रतिलोमी सम्बन्ध है, अर्थात् वे एक-दूसरे के व्युत्क्रमानुपाती हैं। तात्पर्य यह कि परिवार का आकार बढ़ने से बुद्धि घटती है और परिवार का आकार घटने से बुद्धि बढ़ती है। ऐसा क्यों होता है? इसके कारण की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि इसका एक मुख्य कारण यह है कि बड़ा परिवार होने से बड़े-बड़े उत्तरदायित्वों के कारण वयस्कों का बच्चों से सम्पर्क कम हो जाता है, जिससे वे उनकी बौद्धिक प्रगति में अपनी जिम्मेदारी का भली-भाँति निर्वाह नहीं कर पाते, किन्तु जब परिवार सीमित होता है, तो घर की स्वल्प आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद माता-पिता बच्चों के विकास के सम्बन्ध में अधिकाधिक समय व ध्यान दे पाने में समर्थ होते हैं। प्रायः इसी कारण से बड़े परिवार वाले श्रमिकों की बुद्धिलब्धि कम देखी जाती है। यद्यपि यहाँ धनोपार्जन की समस्या प्रमुख होती है। वे बच्चों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते। यहाँ निर्धनता को बुद्धि-विकास में अवरोधक नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि अध्ययन निष्कर्षों से यही ज्ञात होता है इसमें भी बच्चों को पर्याप्त समय न दे पाना ही प्रमुख कारक है न कि अर्थाभाव। जीन फ्लाउड अपने निबन्ध—'सोशल क्लास फैक्टर इन एजुकेशनल अचीवमेण्ट' में विशेष रूप से ऐसे श्रमिक व विपन्न परिवारों के बालकों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि जब यह अध्ययन साउथ वेस्ट ईटफोर्डशायर (इंग्लैण्ड) के श्रमिक परिवारों में किया गया,

तो देखा यही गया कि आर्थिक विपन्नता के बावजूद भी इनके बच्चे पूर्ण सफल और विकसित बुद्धि वाले बालकों की श्रेणी में आये। शोधकर्ता कहते हैं कि बच्चों की इस सफलता के पीछे माता-पिता का स्नेह-प्यार और उनके लिए आवश्यक समय निकाला जाना ही प्रमुख कारक थे।

स्पष्ट है यदि माँ-बाप बालकों के लिए थोड़ा समय निकाल सकें, उन्हें स्नेह-प्यार दे सकें, तो कोई कारण नहीं कि उनके बच्चे तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय न दे सकें। उत्तम हो, इस सम्बन्ध में 'एक आँख प्यार की दूसरी सुधार की' वाली नीति अपनायी जाय, ताकि अतिशय लाड़ के कारण बच्चों के बिगड़ने के खतरे से बचा जा सके एवं उस कलंक से भी बचा जा सके, जिसके लिए समय न दे पाने के कारण अविकसित बुद्धि का दोष माता-पिता के सिर लगे।

बौद्धिक विकास के स्वर्णिम सूत्र

'नूतन देह और पुरातन (पूर्व जन्मों के) संस्कार'—भारतीय संस्कृति में बालक की यह परिभाषा निस्सार नहीं है; किन्तु मिथ्या यह भी नहीं है—वातावरण और परिस्थितियाँ भी संस्कार और स्वभाव गढ़ती हैं। भारतीय संस्कृति में यदि क्षमा के लिए कोई स्थान रहा है तो वह इसी दृष्टि से कि कई बार वातावरण और परिस्थितियों के दबाव में पड़कर हठात् भी लोगों को अपराध प्रवृत्त होना पड़ जाता है। इस दृष्टि से बाह्य वातावरण और सहज-सुलभ साधनों एवं सुविधाओं का अत्यधिक महत्त्व रहा है, आणि भी रहेगा। इस सत्य को दृष्टि में रखा जाये तो बालक के विकास का चिन्तन उसके पूर्व जन्मों के संस्कारों के आश्रित ही नहीं छोड़ना पड़ेगा, अपितु संगति, वातावरण और परिस्थितियों का आविर्भाव भी करना पड़ेगा, जिससे पुरातन संस्कारों को पीछे धकेलकर बच्चे के जीवन में स्वच्छ स्वभाव का समावेश हो सके।

वातावरण की ताप से बच्चे के संस्कारों, स्वभाव को उसी तरह लचाया, पिघलाया, मोड़ा, ठोस किया और मनोवांछित अलंकार के रूप में ढाला जा सकता है, जिस तरह सुनार आग की भट्टी में सोने को गलाता, तपाता और आभूषण बनाता है। हमारे आचार्यों ने उसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

पूर्णशक्ति विकासार्थं मनोमस्तिष्क कर्मणाम्।

सुस्थिति साधनादीनि प्रदेयान्यभिभावकैः॥

अर्थात् बालक के मन-मस्तिष्क और उसके आचरण के विकास के लिए अभिभावक उसे उत्तम परिस्थितियाँ और अच्छे साधन अवश्य उपलब्ध कराये। इसके अभाव में, बच्चे कहीं भी भटक सकते हैं और स्वयं अपने व समाज दोनों के ही लिए समस्या बन सकते हैं। वे न केवल नीति, सदाचार तथा मर्यादाओं का उल्लंघन करते

३. १३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

हैं, अपितु सामाजिक जीवन में दुर्गुण और कुत्साएँ भी पैदा करते हैं। ऐसे बालक जहाँ भी होंगे न चाहते हुए भी उनके अभिभावकों को कलह, कटुता और अपमान की भट्टी में घलना पड़ेगा। उनके लिए परिवार जाग्रत नरक के समान हो जाता है, जिनके बच्चे उपद्रवी होते हैं, इसमें दोष बच्चों का नहीं स्वयं अभिभावकों का ही है।

सर्वांगीण विकास का निर्धारण करते समय बालक की प्रसन्नता और उसके आन्तरिक उत्साह के विकास का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। आचार्यों का अभिमत है—

सर्वांगीण विकासाय प्रदद्यात्सुविधां सदा।

चानुकूलां विनोदाय क्रीडा ज्ञानस्य प्राप्तये॥

अर्थात्—“बच्चे के विकास के लिए दूसरी अपेक्षाओं की पूर्ति के साथ-साथ उसके मनोविनोद, क्रीडा तथा ज्ञानप्राप्ति की सुविधाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए।” न केवल शारीरिक विकास अपितु मानसिक आरोग्य के लिए भी बच्चे का विनोदी, खेल प्रिय होना आवश्यक है। खेलकूद से केवल शरीर का ही स्वेद नहीं निकलता, अपितु मन का भी मैल धुल जाता है। अतएव किसी भी रूप में बच्चे को खेल की सुविधाएँ अवश्य मिलें यह ध्यान रखा जाना चाहिए।

कुछ लोगों का मत यह है कि बच्चे की शिक्षा का दायित्व विद्यालयों का है, उनका कर्तव्य फीस चुकाने तक है। यह भूल है। देखा गया है कि जो बच्चे प्रारम्भ से ही विद्यालय भेजे गये, वे दबू और भयभीत प्रकार के हुए, जिन अभिभावकों ने बच्चों को एक-दो वर्ष घर में पढ़ाकर पीछे पाठशाला भेजा वे न केवल शैक्षणिक दृष्टि से अपितु बौद्धिक, मानसिक और व्यावहारिक दृष्टि से सफल व्यक्ति हुए। प्रारम्भ से ही पाठशाला भेजना बच्चे को ज्ञानप्राप्ति के प्रति अनुत्साहित करना है, जबकि बच्चे में ज्ञान के प्रति जिज्ञासा जाग्रत कर दी जाये तो उनका यह क्रम आजीवन चलता रहता है और इससे उनका जीवन आत्मिक प्रगति की दिशा में निरन्तर अग्रसर बना रहता है।

घर की शिक्षा दीक्षापरक रखी जानी नितान्त आवश्यक है। शिक्षा का अर्थ बच्चे के सामान्य ज्ञान का विकास करना होता है, जबकि दीक्षा का अर्थ श्रेष्ठ शिक्षण को आचरण में ढालना होता है। शिक्षा के साथ दीक्षा का समावेश न रहे तो कोई भी व्यक्ति भौतिक दृष्टि से समर्थ होकर भी विद्रूप पैदा करने वाला ही होगा। दीक्षा का अर्थ बालक में साहस, सहयोग, पराक्रम, वीरता, सत्यनिष्ठा, संवेदनशीलता आदि मानवीय सद्गुणों को विकसित करना होता है। यह बातें बच्चे को उपदेश देकर नहीं सिखाई जा सकती, क्योंकि बालक की संरचना इस तरह की, की है कि वह हर उल्लेखनीय कार्य की ओर सहज स्वभाव प्रवृत्त होता है किन्तु जिस बात में

प्रशंसा भी न मिले ऐसे अच्छे कार्य से भी वह दूर ही भागेगा। शास्त्रकार का इस सम्बन्ध में परामर्श है कि—

महतां नर रत्नानां बलैश्वर्यं प्रपूरिताया।

श्रणुपात कीर्तयेन्नित्यं चरितं हर्षवर्धनम्॥

अर्थात् बच्चों को इस तरह के गुणों की महिमा दर्शाने वाले कथानक, घटनाएँ, पुराण और इतिहास नियमित रूप से सुनाये जाते रहा करें तो यह बच्चे ही आगे चलकर साहसी, स्वावलम्बी और पराक्रमी हो सकते हैं।

इस तरह की सुविधाएँ जुटाने की असमर्थता का अर्थ होता है—पिता बनने के उत्तरदायित्व का अभाव। ऐसा करके राष्ट्र के भावी नागरिकों के साथ खिलवाड़ नहीं करनी चाहिए। यह समझने में कतई भूल न की जाये कि बच्चा गीली मिट्टी की तरह होता है। यदि उसे यों ही खुला छोड़ दिया जाये तो वह अनुपयोगी मिट्टी की मिट्टी ही रहेगा। किन्तु यदि ऐसे तराशने, चमकाने का मन हो तो माता-पिता के कर्तव्यों की कभी भी उपेक्षा न की जाये।

बच्चों के मानसिक विकास की समस्या

पिछड़े हुए बालक घर में अभिभावक तथा पाठशाला में शिक्षकों के द्वारा उपेक्षित किये जाते हैं। फलस्वरूप ऐसे बच्चों का भविष्य सामान्य नागरिकों की अपेक्षा अन्धकारपूर्ण हो जाता है और वे केवल परिवार ही नहीं समाज में भी समस्या का कारण बन जाते हैं। यदि प्रारम्भ से ही ऐसे पिछड़े बालकों पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाय एवं उनके विकास का प्रयास किया जाय तो काफी हद तक परिवार और समाज की इस समस्या को सुलझाया जा सकता है।

सुधारात्मक प्रयास प्रारम्भ करने के पूर्व ऐसे बालकों की उन समस्याओं को पहले जानना आवश्यक है, जिनके कारण बालक पिछड़ जाता है। वैसे मानसिक विकास रुके रहने का कारण व्यक्तिपरक है, फिर भी यह व्यक्तिपरक होते हुए भी सामाजिक बन जाता है। चूँकि व्यक्तियों के समूह का नाम ही समाज है किन्तु यह कहना ही सर्वथा सत्य नहीं है कि पिछड़े बालकों का मानसिक पिछड़ेपन का दायित्व केवल उनका स्वयं का ही है। इसके अन्य कारण भी हो सकते हैं। इसके कारणों का ज्ञान हुए बिना सम्बन्धित सुधार के प्रयास सम्भव नहीं हो सकेंगे। कारणों को जाने बिना सुधार हेतु प्रयास किया जाना, वृक्ष को हरा रखने के लिए पत्तों पर पानी सींचने के समान होगा। परिस्थिति के अनुसार बच्चों के मानसिक विकास के लिए कुछ व्यावहारिक उपाय हमारी दृष्टि में करते रहने चाहिए।

वंश परम्परा के अनुसार ही कुछ गुण या अवगुण बच्चे को प्राप्त होते हैं। इस कारण से यदि बालक

मानसिक रूप से पिछड़ा हो तो बालक के विकास के लिए वातावरण में सुधार कर काफी हद तक इस समस्या को सुलझाया जा सकता है। ऐसे बच्चों की जाँच विशेषज्ञ चिकित्सक से कराकर उसकी सलाहनुसार उचित इलाज करने से मानसिक पिछड़ेपन के विकासद्वार खुलने लगते हैं।

बच्चों की मानसिक स्थिति पर अन्य कारणों का प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, बच्चों के मानसिक विकास पर भोजन का प्रभाव भी पड़ता है। कुपोषण के कारण मानसिक विकास सहज स्वाभाविक गति से नहीं हो पाता। शारीरिक विकास की अपेक्षा मानसिक विकास के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। इस शक्ति की पूर्ति भोजन के द्वारा होती है। अतः आहार सम्बन्धी सावधानियाँ बरतकर उनके लिए सन्तुलित पौष्टिक भोजन की व्यवस्था कर उसके मानसिक पिछड़ेपन की समस्या को काफी अंशों में हल किया जा सकता है।

अभिभावकों के पक्षपातपूर्ण व्यवहार और उपेक्षावृत्ति से बच्चे ईर्ष्यालु और कुण्ठित हो जाते हैं। इसका प्रभाव मानसिक संवेगों पर पड़े बिना नहीं रहता। बच्चे अपनी उपेक्षा किये जाने पर उपद्रवी बन जाते हैं। उपद्रव करते रहने पर अभिभावक मारते, पीटते हैं और ब्रात-ब्रात पर झिड़कते हैं। इन व्यवहारों से बालक में हीन भाव पैदा होते हैं। अभिभावकों का स्नेह तथा उनके द्वारा प्रशंसा मिलते रहने पर बच्चे प्रसन्न रहते हैं। उनकी मानसिक शान्ति बनी रहती है। उदासी एवं निराशा से मुक्त रहने के कारण मानसिक विकास क्रमिक-क्रम प्रारम्भ रहता है। सदा से ही अभिभावकों का यह प्रयास रहना चाहिए कि अपनी सभी सन्तान के साथ समानता का व्यवहार करें। किसी की उपेक्षा न करें। स्नेह और प्यार सभी को समान रूप से देते रहें।

शिक्षकों के व्यवहार का प्रभाव भी विद्यार्थियों पर पड़ता है। कोई शिक्षक बहुत मारने-पीटने वाले, क्रोधी तथा गाली-गलौज करने वाले होते हैं। विद्यार्थी प्रायः ऐसे शिक्षकों से डरते हैं। कोई विषय समझ न आने पर भी डर के कारण बालक इस बात को बता नहीं पाते। यही क्रम चलते रहने पर आगे की पढ़ाई पिछड़ ही जाती है। पढ़ाई में पिछड़े रहने पर मार पड़ती है, तब विद्यार्थी या तो पढ़ना छोड़ देते हैं या फिर उस शिक्षक के विषय के समय कक्षा से बाहर भाग जाते हैं। कभी किसी कठिन विषय में बच्चों का मन नहीं लगता या उस विषय को समझ नहीं पाते। पढ़ाई में पिछड़ने के कारण कक्षा के अन्य बालक उसे चिढ़ाते और उपेक्षा करते हैं। इन सबका प्रभाव यह होता है कि बच्चे हीन प्रवृत्ति से ग्रसित हो जाते हैं। साधारण-सी बात कहने में संकोच करते हैं। ऐसे बच्चे को ग्लानि होने लगती है। इन कारणों से प्रभावित बच्चों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए, जो बालक उन्हें चिढ़ाते हैं, शिक्षक का कर्तव्य है कि उनको ऐसा करने से रोकें। कमजोर बालकों पर अन्यो की अपेक्षा

अधिक ध्यान देकर किसी सामूहिक कार्यों या उत्सवों के समग्र उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपकर उन्हें प्रोत्साहित करते रहें। इससे आत्मदर्शन का समय मिलता है और संकोच तथा हीनवृत्ति नष्ट होने लगती है। चिढ़ाने वाले बालक भी उसका आदर करने लगते हैं।

शारीरिक दोष भी पिछड़ेपन का एक कारण है। शारीरिक दोषों के कारण शिक्षा ग्रहण करने में कठिनाई होती है। कम सुनना, दृष्टि दोष, हकलाना आदि ऐसे कारण हैं जिससे शिक्षण कार्य ऐसे बच्चों को समझ नहीं आता। सामान्य बालकों के स्तर से उनका स्तर नीचा रह जाता है। शिक्षकों को चाहिए कि शिक्षण करते समय वह ऐसे बच्चों पर ध्यान दें तथा बीच-बीच में उनका निरीक्षण स्वयं करते रहें और प्रश्न पूछते रहें। कक्षा में सामने बैठकर शिक्षण में सुविधा दी जानी चाहिए।

कुछ बच्चों का मानसिक विकास इसलिए भी नहीं हो पाता कि उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं हो पाता। शिक्षा सम्बन्धी कमी रहने पर अभिभावक का कर्तव्य हो जाता है कि बच्चों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध करें। दोषपूर्ण शिक्षा-पद्धति भी मानसिक विकास क्रम को प्रभावित करती है। प्रायोगिक कार्यों के हीन सैद्धान्तिक शिक्षण के कारण अल्पविकसित बच्चे उसे ठीक तरह नहीं समझ पाते। क्रमशः वे इस क्षेत्र में पिछड़ जाते हैं, ऐसे समय में बच्चों को सैद्धान्तिक शिक्षा के साथ क्रियात्मक, प्रयोगात्मक शिक्षा दें। बच्चों में देखकर सीखने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। इससे शिक्षा के प्रति उनका आकर्षण बना रहता है। मन्दबुद्धि वाले बालकों का मन यदि मानसिक कार्यों की ओर आकृष्ट हो जाये, तो उनके मानसिक विकास का आधा कार्य पूरा हो जाता है।

मानसिक रूप से पिछड़े बालकों पर व्यक्तिगत रूप से विशेष ध्यान देना अभिभावक एवं शिक्षक का कर्तव्य हो जाता है। उसकी कमजोरी का सही कारण जानकर तदनु रूप व्यवहार करने से उनके प्रति सहानुभूति दर्शायी जाय। कुछ सफलता करने पर उनकी प्रशंसा करना नहीं चूकना चाहिए। प्रशंसा एवं आदर मिलते रहने पर कमजोर बालक आत्मगौरव अनुभव करते हैं। इस प्रोत्साहन एवं प्रशंसा से बालकों का मन विकास की दिशा में अग्रसर होने लगता है। अन्य सामान्य बालकों की अपेक्षा ऐसे बालकों पर विशेष ध्यान की आवश्यकता होती है। पिछड़े बालकों की उपेक्षा नहीं सुधार का प्रयास ही उसके विकास का विकल्प हो सकता है। उपेक्षा से तो यह दिन-प्रतिदिन बिगड़ता ही जायेगा, जो बाद में परिवार और समाज के लिए समस्या बन सकता है।

अभिभावकों द्वारा बच्चों का भावनात्मक विकास

माली अपनी फुलवारी में फूलों से लदी झाड़ियाँ देखना चाहता है और अपने बगीचे में फलों से लदे हठ-पुष्ट पेड़। इसी में उसका आवश्यक स्वार्थ भी सधता है और परमार्थ का दायित्व भी। इन्हीं में दृष्टिगोचर होती है माली की परिश्रमशीलता और निपुणता। हर माता-पिता इस विश्वउद्यान की झाड़ियों का माली है। हर बच्चे में एक ऊर्द्धगामी चेतना का बीज होता है, जिसकी यदि प्रामाणिक रूप से देखभाल की जा सके तो वह समाज को, मानवता को सन्त, शहीद और सुधारक के रूप में विकसित कर सकता है और यदि चूक हो जाती है, दिशा बहक जाती है तो क्रूर और दुराचारी संतति को भी जन्म दे सकता है।

बच्चों के मस्तिष्क में कोशों की, न्यूरोन्स की वह पूरी संख्या होती है, जो किसी भी ज्ञानवान, विकसित प्रौढ़ में होती है। हर स्वस्थ बच्चे का मस्तिष्क सर्वश्रेष्ठ बीज है और सर्वश्रेष्ठ जमीन भी, पर खाद और पानी की व्यवस्था ही उसका स्तर निर्धारित करती है। उसका हर मस्तिष्क कोश बहुत ही ग्रहणशील और संवेदनशील होता है। बच्चे में न केवल हाथ-पैर और वार्तालाप की चपलता ही होती है, वरन् ग्राह्यता, संवेदनशीलता भी बढ़ी-चढ़ी रहती है।

एक बार एक माँ ने अपने दस वर्षीय बालक को फीस के लिए पच्चीस रुपये दिए। पिता ने कहा, “बच्चे के हाथ में इतने रुपये न दो।” माँ ने कहा, “मुझे विश्वास है बेटा पैसा सँभाल सकेगा।” विद्यालय में जब प्रार्थना की घण्टी बजी, सुनील बस्ते में पैसा छोड़कर भागा। किसी ने बस्ते से पैसे निकाल लिए। सुनील रोने लगा। मास्टर साहब ने समझाया, “हम आपके पिताजी को पत्र लिख देंगे, वे तुम्हें डाँटेंगे नहीं। रोओ मत।” बच्चा बोला, “नहीं ! मास्टर जी, पैसे तो पिताजी फिर दे देंगे, पर जीवन भर माँ के उस विश्वास को न पा सकूँगा, जिसके साथ मैं पैसा देकर भेजा गया था।” मास्टर साहब प्रभावित हुए। उन्होंने स्काउट मास्टर को बुलावा भेजा और समस्या उनको सौंपी। सहपाठी चौर दस रुपये का नोट आधी छुट्टी में आइस्क्रीम खाने के लिए तुड़ाता पाया गया। मास्टर साहब ने सुनील के पिताजी को एक पत्र लिखा, “बधाई है आपके विश्वास को और उसकी शक्ति को, जिसके साथ सुनील के हाथ फीस भेजी थी, और उन्होंने लिख दिया वह घटनाक्रम। यह है विश्वास का प्रभाव। एक समझदार माँ ने विश्वास का बीज बोया, जो अंकुरित और फलित हुआ। वस्तुतः यह विश्वास ही बच्चों को ऊपर उठाने की एक सशक्त सीढ़ी है।

बच्चे एक बहुत बड़ी कम्पनी की दान की मशीन हैं, जिसका हर पुर्जा चेतन है। उसके उपयोग के आधार पर ही जीवन की श्रेष्ठता और प्रामाणिकता निर्भर रहती है।

हर बच्चा हमारे घर भगवान का भेजा हुआ मेहमान है, जो पूर्ण निश्छल और सरल है। वह वायु, चक्रवात और जलभँवर की तरह चारों ओर के तत्त्व यानी अच्छाई-बुराई, प्रभाव-अभ्यास और गुणों को ग्रहण करता है।

विनोबा जी की माताजी खाना परोस रही थीं। एक तीर्थ में गए पड़ोसी का बच्चा उन दिनों उनके घर रह रहा था। माँ उस बच्चे को धी की चुपड़ी और विनोबा को रूखी रोटी दे रही थीं। बच्चे विनोबा ने पक्षपात बताते हुए आपत्ति की, तो माँ ने कहा, “पड़ोस का बच्चा मेहमान है, यानि भगवान है और तू मेरा प्यारा बेटा !” माँ का यह उद्गार ही तो आगे चलकर बच्चे को सन्त विनोबा बना सका।

बच्चों को शिक्षा तथा दीक्षा, उनसे प्यार उनके प्रति संवेदनशीलता तथा स्वाभिमान का ध्यान रखने से आरम्भ होती है और उनके अपने प्राप्त ज्ञान की श्रृंखला में आगे जुड़ती चली जाती है। उपदेश और नियम इतने न बनाये जाएँ कि बालक उनका अनुकरण ही न कर सके।

जतीनदास बारह वर्ष के थे। बाहर एक कुत्ता उन पर लपक पड़ा। जतीन बेहाल—भागे जा रहे थे। माँ ने देखा और चिल्लायी—“बेटा, डर मत !” जतीन रुका, हिम्मत के साथ, कुत्ता भी रुका—फिर लौट गया पर आगे चलकर, जतीन बन गया ‘बाघा जतीन,’ जिसने स्वतन्त्रता संग्राम में झकझोर दिया ब्रिटिश सरकार को।

बच्चों को सदाचार और सद्व्यवहार की शिक्षा मौखिक कम—माता-पिता अपने क्रिया-कलापों से ठीक वैसे ही देते हैं जैसे साँचे अपनी शक्ति उनमें पड़े हुए पदार्थ को देते हैं।

बच्चों की अपनी बात तथा अनुभव घटना और प्रतिक्रिया पहले सुना जाना आवश्यक है और फिर क्रम से उनकी इच्छा का मिलान करते हुए सीख जोड़ी जानी चाहिए। बच्चों में पहले सघन आत्मीयता और अपनापन उत्पन्न करना चाहिए अन्यथा जब तक वे पूरी तरह जुड़ेंगे नहीं, सीखेंगे नहीं।

जब बच्चे मित्र बन जाएँ, तब उनमें मानवोचित गुणों के समावेश के लिए कहानियों का सम्पुट लगाते हुए उन्हीं गुणों का होने जैसा अनुभव कराने से बच्चा अपने में एक आत्मगौरव का होना अनुभव करता है। यह आत्मगौरव की भावना ही दुःख, दर्द और लोभ को चीरती हुई एक सशक्त आदर्श व्यक्तित्व का गठन करने में समर्थ होती है।

बच्चे संगी-साथियों के अच्छे-बुरे दोनों गुण समान रूप से ग्रहण करते हैं। उस पर गहराई से ध्यान बनाये

रखना चाहिए। संवेदनशील स्थिति में प्यार और स्नेह से लिपटा कुछ ऐसा अच्छा सिखाया जा सकता है जैसा कि इस वाक्य में निहित है—“तुम्हारे जैसे शानदार बच्चों के लिए यही उचित है।”

छोटे-छोटे झूठ और मखौल-मजाक का स्थायी प्रभाव बच्चों के चरित्र पर पड़ता है। बच्चे भी चेतन बीज हैं, जिसका हर कण ग्रहणशील और विकासशील भी है। बच्चों की सूक्ष्म दृष्टि हर क्रिया और व्यवहार को आत्मसात कर लेती है। पौधे में लगायी गई कलम की तरह नित्य-नवीन, मनमोहक फल-फूल देती है। वाशिंगटन के पिताजी को बागवानी का शौक था। उन्हें एक हरे गुलाब का पेड़ बहुत प्रिय था। एक दिन उन्होंने उस पेड़ को कटा पाया। उन्होंने नाराजी से बच्चे से पूछा—“यह कैसे हुआ ?” बच्चे ने कहा—“यह मैंने किया।” पिताजी ने कहा—“यदि यह पेड़ सोने का होता और इसके फूल चाँदी के—तो भी तेरे सत्य के आगे मेरा क्रोध पिघल ही जाता।” सत्य की यह सहज अभिव्यक्ति भय से रहित थी। इस सच के बीज ने खाद-पानी पाया और ऐसे ही अन्य गुण जुड़ते चले गए तथा वाशिंगटन बन गया—‘जार्ज वाशिंगटन अमेरिका का राष्ट्राध्यक्ष।’

बच्चे को पहला वातावरण अपने घर में माता-पिता, भाई और बहन का मिलता है। माता का सही दुलार, पिता का प्यार, भाई का सहयोग और बहिन का स्नेह उसे इन्हीं गुणों का गुलदस्ता बना देगा जो सारे वातावरण को महका देगा, जिसमें वह विचरा है।

बच्चे के दिनभर के घटनाक्रम को सुनने से चरित्र-गठन की दिशाधारा जानी जा सकती है और उसके अनुरूप उचित मोड़ भी दिया जा सकता है। बच्चों में नकल करने का सहज स्वभाव और उत्सुकता होती है। इस कारण अभिभावकों के लिए यह विशेष ध्यान का विषय है, इसका पूर्ण सदुपयोग किया जाना चाहिए। बच्चों के सामने को भी अवांछित क्रिया-कलाप, वार्ता या व्यवहार प्रत्यक्ष या परोक्ष में नहीं किया जाय।

अच्छे बच्चों के लिए अच्छे माता-पिता बनें। केवल पौष्टिक खाद्य पदार्थ या मानसिक मशक्कत ही नहीं, बच्चों को चाहिए प्रिय साथ और व्यावहारिक जीवन में आदर्श क्रिया-कलाप का साहस, जो कि अभिभावक ही दे सकते हैं।

बच्चों के शासक नहीं, सहायक बनें

बाल-मस्तिष्क अपरिपक्व होता है। प्रत्येक बच्चा जन्मकाल से ही निरन्तर उत्कर्ष और परिपक्वता की दिशा में अग्रसर रहता है। अपने बच्चे का विकास प्रत्येक माता-पिता चाहते हैं। लेकिन यह आकांक्षा उस समय हानिकारक हो उठती है, जब वे बच्चे के विकास की प्रक्रिया के समझदार दर्शक न रहकर, अधीर हो उठते हैं

और बच्चे को शीघ्र से शीघ्र समझदार बना डालने के लिए बेचैन होकर, सीख के नाम पर उस पर शासन करने लगते हैं। इसका परिणाम विपरीत ही होता है। बच्चे का मस्तिष्क माता-पिता के निर्देशों का अर्थ नहीं समझ पाता और गलत अर्थ लगा लेता है। इससे शिशु के मानसिक विकास को क्षति पहुँचती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि बच्चे के मस्तिष्कीय विकास में हम सहायक बनें। बच्चे को आत्मनिर्भर बनने दें। उसे समझदार बनाने के फेर में परावलम्बी न बना डालें। आवश्यकता से अधिक निर्देश देने पर बच्चा सदैव माता-पिता की इच्छा ही भाँपता-ताकता रहता है, क्योंकि वह समझता है कि प्रशंसा और पुरस्कार प्राप्ति का यही एक मार्ग है। ऐसे में उसकी स्वतन्त्र निर्णय शक्ति कुन्द होने लगती है।

बालक की सामर्थ्य स्वतः ही विकासशील होती है। आवश्यकता मात्र इस बात की होती है कि उसकी विकास के प्रति जागरूक रहा जाए और सहायता की जाए। उदाहरण के लिए एक वर्ष का बच्चा जब खड़े होने का प्रयास करता है, तो उसे इतनी बुद्धि नहीं होती कि वह पहले यह अनुमान लगाये कि उसमें खड़े होने की सामर्थ्य आ भी गई है या नहीं ? वह तो माता-पिता की तरह या बड़े भाई-बहनों की तरह स्वयं भी अपने पाँवों पर खड़ा होना चाहता है। इसके लिए वह सीधे खड़े होने की कोशिश करता है। इस प्रयास में वह बार-बार गिरेगा, किन्तु यदि माता-पिता उसके इस प्रयास को देखकर उसे गिरने न देने की चिन्ता से गोदी में उठा लें, तो यह बच्चे के प्रति अन्याय होगा। उसका स्वाभाविक विकास रुक जायेगा। यही बात बच्चों के सीढ़ियाँ चढ़ने पर भी लागू होती है। गेंद आदि खेल रहा बच्चा किसी कुएँ के बिल्कुल पास न पहुँच जाये या सड़क पर न चला जाये, इतनी भर ही सावधानी पर्याप्त है। उसके दौड़ने, गिरने, पड़ने से बहुत परेशान होना अनावश्यक है।

यहाँ दोनों पक्षों का स्मरण आवश्यक है, जहाँ बालक को पग-पग पर निर्देश हानिकर है, वहीं उसमें यह बोध भी बने रहने देना जरूरी है कि किसी भी आवश्यक क्षण में उसे माता-पिता का सहज सहयोग उपलब्ध होगा, क्योंकि यदि बच्चे को मन में यह आशवासन न रहे, तो उसे एक तरह की अपंगता और हीनता का अनुभव होगा तथा उसके विकास में व्यवधान आयेगा। उसे हानिकर चेष्टाओं से विरत रखने के लिए भी अभिभावक की उपस्थिति एवं सतर्कता आवश्यक है।

एक ओर जहाँ अकारण झिड़कना अनुचित है, वहीं अनावश्यक सहयोग भी हानिकर है। पौठशाला जाने वाले बच्चे का गृह-कार्य (होम-वर्क) प्रारम्भ में स्वयं ही कर देने वाले माता-पिता या भाई-बहिन बच्चे का अनिष्ट ही करते हैं। यदि शुरूआत ही इस तरह की हो गई, तो

३. १७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बच्चा और बड़ा होने पर भी ऐसी ही अपेक्षा पाले रहेगा और परमुखापेक्षी तथा कातर बना रहेगा।

दूसरी ओर उसकी कठिनाई को न समझने पर तथा डाँट देने पर बालक के मन में उदासीनता घर कर जाएगी। यदि विद्यालय में सीखी बात ठीक से न समझ पाने के कारण बच्चा 'होम-वर्क' नहीं कर पा रहा है, तो उसे यह कहकर झिड़क देने पर कि 'स्कूल में क्या सोते रहते हो?' उसके मन में कुण्ठा उत्पन्न हो जायेगी, वह 'होमवर्क' को बोझ मान लेगा, पढ़ाई के प्रति उदासीन होने लगेगा और फिर सचमुच स्कूल में सोने लगेगा। उदासीनता की प्रवृत्ति का विकास बच्चे के व्यक्तित्व को अत्यधिक क्षति पहुँचाता है तथा उसे अधिकाधिक आत्म-केन्द्रित बनाता है। ऐसे ही शिशु आगे चलकर अपराधी या असामाजिक तत्त्वों के हस्तक बन जाते हैं। अतः बालक को निष्क्रिय एवं आत्मकेन्द्रित कभी भी नहीं बनने देना चाहिए। उसकी शक्ति सदैव क्रियाशील तथा रचनात्मक बनी रहे, इसका ध्यान रखना आवश्यक होता है।

उल्लास बच्चे में भरपूर होता है। उस उल्लास को कभी भी दबाना नहीं चाहिए। उसका सही उपयोग करना चाहिए। इस सबका यह अर्थ कदापि नहीं कि बच्चे को अनुशासन न सिखाया जाए। यदि बच्चे को खेलने की अनुमति देते समय आपने बाद में पढ़ने को कहा है तो इस बात का ध्यान रखें कि वह खेल के बाद पढ़ने बैठता है या नहीं? यदि वह खेल के दौरान पढ़ाई वाली बात भूल गया है, तो उसे इसका स्मरण दिला देना चाहिए। यदि इस पर भी वह टालमटोल करता है, तो अनुशासन की पद्धति निस्संकोच अपनानी चाहिए।

शिशु के दैहिक विकास की ही भाँति, उसका व्यक्तित्व विकास भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उस ओर समुचित ध्यान देना अति आवश्यक है। बच्चे अतिशय संवेदनशील होते हैं और प्रत्येक घटना का उन पर प्रभाव पड़ता है। अतः उनमें विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ विकसित न हों, इसकी चौकसी जरूरी है। ईर्ष्या-द्वेष, तोड़-फोड़ की भावनाएँ बचपन में ही जड़ जमा बैठती हैं और बड़े होने पर उनका विकराल रूप सामने आता है, किन्तु इन प्रवृत्तियों को भी मात्र दण्ड द्वारा नहीं सुधारा जा सकता। दमन के स्थाप पर मार्गान्तरण का सहारा लेना ही लाभकर होता है। बच्चे को रचनात्मक प्रवृत्तियों के विकास का अधिकाधिक अवसर देने से उसकी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ परिमार्जित हो जाती हैं।

बच्चे सरल-निश्छल होते हैं। उनकी एक सामान्य रुचि तो होती है, पर विशेष रुचियाँ अभ्यास से ही जगती हैं। जिस प्रवृत्ति का अभ्यास उन्हें होता जाता है, उसी ओर रुचि जगती जाती है। इसीलिए बालक के प्रत्येक अभ्यास का और उस अभ्यास के प्रति प्रत्येक प्रतिक्रिया का महत्व है। गलत आदतें डाँट-फटकार और

शासन से नहीं, समझाने-बुझाने से ही छूटती हैं। बच्चे के लिए प्रत्येक बात नयी होती है। इसलिए हमारे आदेश-उपदेश सुनते ही वह उनका पालन करने लगेगा, ऐसी अपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए। उस निर्देश के पालन में उसे मानसिक-कठिनाई का अनुभव हो सकता है। उस कठिनाई को सुलझाने में सहयोग देना अभिभावक का कर्तव्य है।

सारांश यह है कि बालक निरन्तर ध्यान दिये जाने की अपेक्षा रखता है। उसे निर्देश देकर छुट्टी नहीं पाई जा सकती, अपितु प्यार और प्रत्यक्ष व्यवहार के साथ उसे कार्यविधि सिखानी होती है। इसीलिए तो प्रजनन एक गम्भीर दायित्व है।

सम्मिलित परिवार-प्रथा में वयोवृद्ध बाबा-दादी अनुभव-पक्व भी होते हैं और समय भी उनके पास होता है। बालक की चेष्टाएँ देखना उन्हें समय बिताने का सुन्दर उपाय प्रतीत होता है। इसलिए वे हड़बड़ी में नहीं होते। दुनिया देख चुकने के कारण वे छोटी-छोटी बात में अधीर भी नहीं हो उठते। यदि वे सुसंस्कृत हों तो उनमें अन्धा मोह भी नहीं होता। अतः वे बालक को समय भी भरपूर देते हैं, उसे खेल ही खेल में सीख भी देते रहते हैं तथा शिशु को शासित बनाने की व्यग्रता भी उन्हें नहीं होती। ऐसे में शिशु का अधिक स्वस्थ विकास होता है। बच्चे को जन्म देने से कई गुनी अधिक जिम्मेदारी उसके व्यक्तित्व विकास में सहायक बनने की होती है। उसके क्रमशः परिपक्व होने में यथेष्ट सहयोग देने की क्षमता होने पर ही नये प्राणी के आगमन की इच्छा करनी चाहिए। बिना समुचित सहयोग के बालक का व्यक्तित्व सही ढंग से विकसित नहीं हो सकता और तब वह एक समस्याग्रस्त बालक बनता जाता है। आवश्यकता उसकी कठिनाइयों को समझने तथा उनके समाधान में सहयोग देने की होती है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि बच्चों की देखभाल, पालन-पोषण में जिस चातुर्य तथा योग्यता की आवश्यकता पड़ती है, वह वयस्क-परिपक्व व्यक्ति में ही होती है। इसलिए छोटे बच्चों की देखभाल के लिए अल्पविकसित, अपरिपक्व बच्चों को जिम्मेदारी सौंप देना सदैव हानिकर होता है। बच्चे को प्रारम्भ में सहानुभूतिपूर्ण समझदारी की जरूरत होती है, कोई अनुभवी व्यक्ति ही ऐसा समझदारी भरा व्यवहार कर सकने में समर्थ होता है। मनोवैज्ञानिक हरलाक का कहना है कि बच्चे का प्रश्न-काल तीसरे वर्ष से छठवें वर्ष तक पूरे जोर पर होता है। अपने प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर बच्चा स्वयं अपने बारे में प्रत्यय बनाता है, उसी प्रत्यय के अनुसार वह दूसरों को समझने का प्रयत्न करता है। साथ ही, इन्हीं उत्तरों के आधार पर ही बच्चा दृश्यमान वस्तुओं के आकार तथा स्वरूप के संवेदनात्मक बिम्ब ग्रहण करता है। बच्चे की प्रतिक्रियाएँ इन संवेदना-बिम्बों के आधार पर ही होती हैं।

अतः व्यक्तित्व-निर्माण के इस महत्वपूर्ण कालखण्ड में उसके सहयोग अभिभावक की भी विशेष भूमिका रहती है। अपरिपक्व-मस्तिष्क बच्चे को ऐसा सहयोग देना प्रत्येक अभिभावक का कर्तव्य है।

शारीरिक श्रम के साथ बच्चों का

बौद्धिक विकास भी जरूरी

बच्चों में श्रम के प्रति सम्मान और रुचि पैदा करना एक बात है, लेकिन व्यक्तिगत लाभ को ध्यान में रखते हुए शोषण की नीति अपनाना सर्वथा दूसरी। राष्ट्र के लिए भविष्य में उत्तम श्रमिकों का निर्माण तो एक सत्प्रवृत्ति है, पर कष्ट तब होता है, जब छोटे किलकरी मारते हुए भावी कर्णधारों को स्कूल से हटाकर उनकी कोमलता का, शिक्षण का स्नेह एवं प्यार का ध्यान न रखते हुए उनकी सामर्थ्य से अधिक काम कौड़ी मूल्य पर कराया जाता है, जिससे उनका शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक स्वास्थ्य गिर जाता है। अब समय आ गया है, जब इस शोषण को रोका जाय और बाल मजदूरों को सभ्य, सुसंस्कृत, शीलवान, गुणवान एवं अधिकारों से परिपूर्ण नागरिक बनने का अवसर दिया जाय।

जापान जैसे देश में जहाँ श्रम को ही भौतिक जगत का देवता माना जाता है, जिसके बल पर वह सीमित वर्षों में ही प्रगति के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गया, चाहे वह किसी देवता को माने या न माने पर श्रम के प्रति वहाँ पूर्ण निष्ठा है। यह संस्कार अपने कर्णधारों में कम उम्र से ही भरना प्रारम्भ कर देता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास में कोई बाधा उत्पन्न करती हो। श्रमशीलता के साथ इसकी समग्र प्रगति हो रही है या नहीं, जापान में यह भी ध्यान में रखा जाता है कि श्रम के भार से बालक कहीं शारीरिक दृष्टि से कमजोर, अशक्त, बीमार एवं मानसिक दृष्टि से अपरिपक्व तो नहीं हो रहा है। बच्चों को वे राष्ट्र की धरोहर मानते हैं, क्योंकि छोटे बच्चों में वे सभी गुण होते हैं, जो उपयुक्त अवसर मिलने पर अंकुरित हो जाते हैं और एक समग्र वृक्ष का निर्माण करते हैं। खाद-पानी तथा उपयुक्त वातावरण का अभाव एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण गिरावट एक समग्र व्यक्तित्व की गिरावट है। इसे वे हीरे, मोती जैसे बहुमूल्य रत्नों की तरह सँजोकर रखते हैं। उनकी दृष्टि में भावी पीढ़ी का मूल्य इन बहुमूल्य रत्नों से कहीं अधिक है। यही उनके विकसित होने का मूल मन्त्र है, जिसके कारण वहाँ का एक छोटा-सा बालक बाल्यावस्था से ही समग्र प्रगति करता हुआ देश की समृद्धि और सम्पन्नता बढ़ाने में प्रारम्भ से ही सहयोग करने के लिए तत्पर रहता है। साथ ही एक सफल,

सुसंस्करी एवं श्रम का समुचित सम्मान करने वाला नागरिक बन जाता है।

इसके ठीक विपरीत इतिहास के पन्ने उलटने पर यह स्पष्ट होता है कि बाल श्रमिकों की परम्परा १६वीं सदी में इंग्लैण्ड और अमेरिका से प्रारम्भ हुई। परिणामस्वरूप अमेरिका जैसे सम्पन्न एवं समृद्ध राष्ट्र में १६ वर्ष से कम उम्र के आठ लाख बच्चों को स्कूली पढ़ाई छोड़कर कठोर श्रम में लगना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार विकसशील देशों में ८ से १५ वर्ष की आयु के ७ करोड़ ५० लाख बच्चे मेहनत-मजूरी करके ही अपना जीवनयापन करते हैं। इस परिस्थिति में वहाँ की सम्पन्नता, प्रगति बाह्य दृष्टिकोण से भले ही अच्छी प्रतीत होती हो, किन्तु इसके दुष्परिणामों पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि उसके पीछे अनेकानेक वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय समस्याएँ भी उपजती हैं। अमेरिका जैसे सम्पन्न देश के अतिरिक्त इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया, कोलम्बिया, थाईलैण्ड, श्रीलंका एवं भारत में भी इन बाल श्रमिकों की संख्या में असाधारण वृद्धि होती जा रही है। उचित वातावरण एवं माता-पिता के स्नेह के अभाव में ऐसे बच्चे भटक जाते हैं और विलासी एवं नशाखोरों के हाथ लगते हैं। अवांछनीय तत्वों के साथ इनका सम्पर्क बढ़ने से परिवार में परेशानी, समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं। ये नौनिहाल खाने-खेलने की उम्र में नशेबाजी, चोरी, डकैती जैसी कितने ही प्रकार की गन्दी लतों के आदी बन जाते हैं।

इस तरह जिस नन्हें परमाणु से कोई उपयोगी कार्य हो सकता था, वह भयानक स्वरूप में समाज की सुख-शान्ति को तहस-नहस करने में लग जाता है। परमाणु जब बम की शक्ल ग्रहण कर लेता है, तो उससे ऐसे ही परिणाम की अपेक्षा की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार अनाचारी तत्व अधिकांश बाल श्रमिकों से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उन्हें सही वातावरण नहीं मिल पाता, जो उन्हें सही मार्गदर्शन दे।

इसके साथ एक और विडम्बना जुड़ जाती है कि माता-पिता भी इनका विरोध नहीं करते और मूक-दर्शक बने देखते रहते हैं। कई बार तो ऐसी दुःखद परिस्थितियाँ देखने को मिलती हैं कि माता-पिता अपने ऋण से मुक्ति पाने के लिए स्वयं इस ओर अपने बच्चों को कम उम्र में प्रेरित ही नहीं करते, वरन् दबाव भी देते हैं। ऐसे अभिभावकों की ललक-लिप्सा बच्चों को विकलांग बनाकर छोड़ती है। जो भिखारी के रूप में धनी और सम्पन्न लोगों की सहानुभूति एवं करुणा का पात्र बनें और उनके लिए मुफ्त में धन बटोर सकें। इसीलिए भारतीय संविधान की धारा ४५ के अनुसार १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को किसी कारखाने, खानों और किसी जोखिम भरे काम में लगाना अपराध माना गया है।

३. १९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

कम उम्र में भारी काम करने का बुरा प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ता है। जहरीले रसायन, विषाक्त धुएँ और गैसों के बीच ही इन बच्चों को साँस लेनी पड़ती है, जो स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिप्रद है। उपयुक्त मजदूरी के अभाव में वे अपनी दैनिक आवश्यकताओं तक की पूर्ति नहीं कर पाते। फलतः उन्हें विभिन्न प्रकार की आधि-व्याधियों का शिकार बनकर अपने मौत के दिन पूरे करने होते हैं। कम उम्र में भारी काम करने वाले की रीढ़ टेढ़ी हो जाती है, जिसकी क्षतिपूर्ति जीवनपर्यन्त नहीं हो पाती। यही कारण है कि कारखानों में देर-सबेर तक लगे रहने वाले अधिकांश बच्चों के हाथ-पैर विकृत होते हैं। ऐसे बच्चे समय से पूर्व ही दम तोड़ देते हैं।

श्रम करना बुरा नहीं है। श्रमशीलता को मानव जीवन का अनिवार्य अंग माना गया है, किन्तु 'अति सर्वत्र वर्ज्यते' की उक्ति यहाँ प्रमाणित होती है। श्रम की अति यदि शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के मूल में ही कुठाराघात करने लगे, तो उसका नियमन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हो जाता है।

यही कारण है कि प्राचीनकाल के गुरुकुल शिक्षण परम्परा में बालकों के समग्र विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। उस पर अतिरिक्त दबाव भी न पड़े और अधिक लाइ-प्यार में आलसी भी न हो जाय। श्रम बिल्कुल न करने से उसकी भावी प्रगति रुक जाती है, वह अकर्मण्य जैसा बन जाता है, यही दुर्गुण उम्र बढ़ने के साथ बालक के व्यक्तित्व पर कुठाराघात करता है। ऐसा बालक परिवार से बाहर रहने में परेशान हो जाता है। माता-पिता के संरक्षण में ही रहना पसन्द करता है। इसके विपरीत अधिक श्रम करवाने पर बालकों का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास नहीं हो पाता, जो आज बाल मजदूरों के साथ हो रहा है।

पैतृक व्यवसाय में हाथ बँटाना, पढ़ाई एवं खेल के अतिरिक्त समय में कुछ उपार्जन कर लेना स्वावलम्बी होने का गुण है। इससे श्रम के प्रति अभिरुचि जगने का संस्कार विकसित होता है, लेकिन बाल्यावस्था से ही कठोर श्रम की ओर प्रेरित करना, दबाव देना, मात्र एक बालक की ही हानि नहीं है, बल्कि देश के भावी कर्णधार को हानि पहुँचाना है। देश को एक सभ्य, सुसंस्कृत, विद्वान, मनीषी स्तर की प्रतिभा से वंचित करना है। इस ओर माता-पिता एवं शिक्षक के साथ-साथ प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य हो जाता है कि इन्हें सही मार्गदर्शन एवं संरक्षण प्रदान करें।

एक आँख दुलार की,

दूसरी सुधार की

पहलवान बनने वालों के लिए दूध, घी आदि पौष्टिक, गरिष्ठ खुराक की व्यवस्था होती है, पर साथ ही

दण्ड-बैठक, कुश्ती, मालिश आदि कड़े परिश्रम करना भी उतना ही आवश्यक होता है। यह इसलिए कि वह भारी प्रकृति की और अधिक मात्रा में ली हुई खुराक ठीक तरह हजम हो सके। कोई व्यक्ति खुराक तो वैसी ही रखे, पर कसरत के कष्ट और झंझट से अपने को बचाना चाहे, तो वह घाटे का सौदा रहेगा। अपचजन्य कई बीमारियाँ हो जायेंगी। मुटापा चढ़ दौड़ेगा और स्थिति ऐसी बन जायेगी, जो सस्ती-हल्की खुराक खाने वालों से भी बुरी पड़ेगी। पौष्टिक आहार लेना है, तो उसे पचाने के लिए कड़ी मेहनत करनी ही चाहिए।

प्यार पौष्टिक भोजन की तरह है। उसकी उपयोगिता तथा क्षमता के सम्बन्ध में दो राय नहीं हो सकती, पर इस खतरे को भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि अपच होने पर उल्टी प्रतिक्रिया होगी। ऐसी दशा में अमृत भी विष बन जाता है।

धन, बल, पद, रूप, सौन्दर्य आदि कितनी ही सम्पदाएँ मनुष्यों में से कितनों को ही प्राप्त होती हैं, पर उनमें से वे भाग्यवान थोड़े ही हैं, जो उन्हें पचा पाते हैं और अपनी नम्रता, शालीनता में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देते। आमतौर से छोटी बुद्धि या प्रकृति वालों को सम्पदाओं का अपच होता है और वे उद्धत हो उठते हैं। यह उद्धतता, श्रृंगारिकता, साज-सज्जा, विलासिता, अहमन्यता, दर्प, अपव्यय, झगड़ा-झंझट आदि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। विनम्रता और कृतज्ञता से रहित उद्दण्ड व्यक्ति अन्ततः घाटे में रहता है। उसके व्यक्तित्व का मूल्य हर किसी की दृष्टि में घटता जाता है। भले ही वह उद्धत, अहंवादी अपने सम्बन्ध में कुछ भी सोचता रहे।

यहाँ प्रसंग स्नेह-दुलार का चल रहा है। जिन्हें वह मिलता है वे बड़े भाग्यवान हैं। संसार में सबसे अधिक मीठी, आकर्षक और बलप्रद प्रेम भावना ही है। उससे मनुष्य तो क्या भगवान को भी आकर्षित किया और अपना बनाया जा सकता है। हिंस्र पशु भी साथी-स्नेही बनाये जा सकते हैं। ईश्वर की उपलब्धियों में बार-बार भक्तिभाव का वर्णन किया जाता है। लोग इसे कर्मकाण्डात्मक उपचार समझ बैठे हैं, जबकि वास्तविक अर्थ सधन आत्मीयता, अद्वैत अनुभूति और समर्पण भावना है। शक्ति का अर्थ याचना तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। भिखमंगा जो पाता है उसके पूर्व अपनी गरिमा गँवा बैठा होता है और दीन-हीन बन चुका होता है। ऐसों को किसी का अनुग्रह भले ही मिल जाय। वह नहीं मिल सकता, जिसे सच्चे प्रेम का सच्चा प्रतिदान कहना चाहिए।

आमतौर से बड़ों से छोटे प्रेम, अनुग्रह, दुलार, वात्सल्य चाहते हैं। बदले में छोटों को प्रसन्न, विकसित होते देखकर, कृतज्ञता की अनुभूति छलकते देखकर संतोष हो जाता है। बच्चे बड़ों के अनुदान का प्रतिदान तो कहीं चुका पाते हैं ?

प्रेम देते समय भी दाता को बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। ऐसा न हो कि उससे अपचजन्य दुर्गुण उत्पन्न होने लगे। चिकित्सक औषधि की सीमित मात्रा देता है। ऐसा नहीं करता कि रोगी अपना स्वजन-सम्बन्धी है, तो मोहवश दूनी-चौगुनी मात्रा में औषधि खिलाने लगे। साथ ही पथ्य ठीक चल रहा है या नहीं, इसकी भी कड़ी पूछताछ करता रहे। अपना सम्बन्धी होने के कारण रोगी को माँगी हुई अपथ्य की खुराक की भी छूट दे दी जाय, ऐसा कोई बुद्धिमान चिकित्सक नहीं करता।

प्रेम के सत्परिणामों की जिन्होंने प्रशंसा सुनी है। दुलार को उत्साहवर्द्धक जिन्होंने माना है, साथ ही यह बात भी ध्यान रखने की है कि यह प्रसंग बड़ी सावधानी का है और दूरदर्शितापूर्वक यह जाँचते रहने का है कि इसका परिणाम अब या भविष्य में क्या होगा ? स्मरण रहने लायक तथ्य है कि जिस प्रक्रिया में जितने हित साधन की क्षमता होती है, उसका दुरुपयोग बन पड़ने पर उतनी ही हानि होती है। दिवाली के दिनों में आतिशबाजी जलाते हुए उनके रंग-बिरंगे दृश्यों से सभी दर्शकों को प्रसन्नता होती है, पर यह बात भी भूलने की नहीं है कि इसमें असावधानी बरते जाने के कारण हर साल कितने ही बुरी तरह जल जाते हैं। अस्पतालों में भीड़ लगती है। कितने ही अपंग हो जाते हैं, कितने ही जान गँवाकर स्वजन-सम्बन्धियों को रोता-बिलखता छोड़कर विदा होते हैं। सरकारी आँकड़ों से विदित होता है कि महालक्ष्मी का पूजन जहाँ धन-दौलत मिलने की आशा बँधाता है, वहाँ जान-माल की तिलमिलाने वाली हानि भी खड़ी करता है। इसमें न दोष लक्ष्मी का है, न आतिशबाजी का। दोष उस असावधानी का है, जो चलाते समय बरती गयी। चाकू का गलत उपयोग तक अपनी अँगुली काट देता है। प्रेम के सम्बन्ध में भी यही बात है। उससे उत्साह बढ़ता है और अपने सहायकों-सम्बन्धियों की स्थिति का आभास होते ही गर्व भी बढ़ता है। यह बढ़ा हुआ उत्साह, हर्ष और गर्व आदि नियन्त्रण में न रखा गया, तो परिणति दुर्गुणों की अभिवृद्धि के रूप में होती है। नासमझी भरे दुलार ने जितनों को बिगाड़ा है, जितनों का भविष्य अन्धकारमय बनाया है, उसे देखते हुए संदेह होता है कि प्रेम में भी कहीं अमृत के साथ विष तो नहीं भरा हुआ है।

तत्त्वज्ञानी मनीषियों का कथन है कि 'एक आँख प्यार की दूसरी सुधार की।' रखी जाय। थोड़े को एड़ लगाकर बढ़ाते हैं, पर यदि उसकी चाल बेकाबू होने लगे तो लगाम लगाकर रोकते भी हैं।

सद्गुणों और दुर्गुणों का विकास छोटी आयु में और अनियन्त्रित दुलार के वातावरण में होता है। यह समय अतीव सावधानी का है। इसे बरतने की जिम्मेदारी छोटों पर नहीं छोड़ी जा सकती। बड़ों को भी वस्तुस्थिति समझनी चाहिए कि उनके दुलार ने उत्साह प्रदान किया,

मनमाने साधन दिये। इस बीच ऐसा तो नहीं हो रहा है कि दुष्प्रवृत्ति चुपके-चुपके उस खाद-पानी को पाकर पनपने लगे और पता तब चले जब सुधार कठिन हो-जाय या बहुत विग्रह खड़ा करने पर परिस्थिति काबू में न लाई जा सके।

किशोर लड़के और लड़कियाँ प्रेम शब्द के मायाजाल में दुष्ट-दुराचारियों द्वारा फँसाये जाते हैं और उनकी जिन्दगी बर्बाद-बदनाम कर दी जाती है। इस प्रसंग में प्रेम-पत्रों का आदान-प्रदान, वैसी एकान्त-वार्ता का ऐसा क्षेत्र बना लेते हैं, जिसके लिए बच्चों को, उनके अभिभावकों को सिर धुनकर पछताना पड़ता है। ऐसे दुर्भाग्यग्रस्तों में अधिकांश वे होते हैं, जिन्हें आरम्भ में ही अभिभावकों का बुद्धिहीन दुलार मिला। अवांछनीय श्रृंगारों की सुविधा दी गयी। आये दिन सिनेमा दिखाये गये। भले ही इसके पीछे अभिभावकों का विशुद्ध दुलार और बच्चों की इच्छापूर्ति भर का मन रहा हो, पर देर-सबेर यह बात वे भी समझ जाते हैं कि दुलार, पैसा, श्रृंगार साधन, यार-दोस्तों में आने-जाने की छूट जैसे कारण आरम्भ में भले ही निर्दोष लगते रहे हों, पर पीछे वे मूर्तिमान दुर्भाग्य और आजीवन पश्चात्ताप का कारण बनते हैं। आजकल मुँह से पवित्र रिश्ता बताना और व्यवहार में चुपके-चुपके दुष्टता भरे सम्बन्ध पनपाना एक प्रकार का फैशन जैसा बन गया है। बच्चों को दुलार देते समय अभिभावकों को इतनी विवेक-बुद्धि भी रखनी चाहिए कि स्नेह-सौजन्य की आड़ में कहीं कोई अनर्थ न पक रहा हो। इसके लिए सुधार दृष्टि का उपयोग भी उसी स्तर का समानान्तर किया जाना चाहिए, जितना कि दुलार की उमंगों को चरितार्थ करते समय किया गया था।

यह बाल-बच्चे और अभिभावकों तक सीमित नहीं है। मित्र-मित्र के बीच भी इसी नीति का अवलम्बन किया जाना चाहिए। आजकल नशेबाजी, व्यभिचार, आवारागर्दी, सिनेमा आदि की आदतें मित्रता के नाम पर ही सीखी-सिखाई जाती हैं। मित्रता साथी के लिए कोमल भावनाएँ उगाती है। आपस में एक-दूसरे की इच्छा पूरी करने का मन रहता है। इन्कार करने में साथी का दिल दुःखता प्रतीत होता है। मैत्री के साथ संकोचशीलता जो जुड़ी होती है, इससे स्पष्ट और कड़ा विरोध भी नहीं बनता। इस प्रसंग में मित्रों में से जो पतनोन्मुख होता है, वह भलेमानस स्तर वाले के पीछे लगे रहने पर उसे गिराकर ही छोड़ता है, जबकि होना ठीक उल्टा चाहिए।

रामायण में मैत्री के साथ ईमानदारी जुड़ी होने की परख एक संक्षिप्त सूत्र में बताई गयी है—

कुपथ निवारि सुपथ चलावा।

अभिभावकों और बच्चों के बीच चलने वाले स्नेह-दुलार के उपरान्त आयु बढ़ते-बढ़ते किशोरावस्था की देहरी पर पैर रखते हुए समान आयु वालों के साथ मैत्री

३. २१ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण ३. २१

पनपने का नया अध्याय खुलता है। वह जितना उत्साहवर्द्धक है, उतना ही खतरों से भरा हुआ भी। आकारा किस्म के लड़के अपने दुर्व्यसनों से आग के लिए ईंधन की तरह भोली प्रकृति के बच्चों पर घात लगाते हैं। इस घात का प्रत्यक्ष स्वरूप मैत्री ही होता है। इसका आरम्भ प्रायः वैसा ही होता है जैसा कि चिड़ीमार और मछलीमार छोटे प्रलोभन देकर शिकार को फँसाते रहते हैं। इस सन्दर्भ में बच्चे अपना हित अथवा अनहित कम समझते हैं। इसलिए अभिभावकों या सच्चे हितैषी सम्बन्धी की जिम्मेदारी इस क्षेत्र में विकसित होती है कि वे मैत्री के साथ औचित्य जुड़े होने की बात सूक्ष्म बुद्धि और सतर्कतापूर्वक परखते रहें और रोकथाम करने का अवसर हो तो उस संकोच को आड़े न आने देना चाहिए, जो सत्परामर्श देते ही नहीं उनके सम्बन्ध में कड़ाई बरतते हुए व्यवहार में लाने होते हैं।

दुलार के लिए एक नहीं अनेक द्वार होते हैं। समयानुकूल रिश्तों के नाम बदलते रहते हैं पर मूल तथ्य जहाँ का तहाँ रहता है। यह पूरी तरह आशंका है कि प्रेम विशुद्ध होते हुए भी उसके साथ-साथ अनौचित्य का आग्रह भी घुस पड़े और वह मित्रता के दबाव में सूझ तक न पड़े। पति-पत्नी के बीच स्वाभाविक प्रेम होता है। इतने पर भी किसी पक्ष के आग्रह ऐसे हो सकते हैं, जो अदूरदर्शितापूर्ण एवं अनुचित हों। उन्हें रोकने की सच्ची मित्रता का पालन करते हुए पूरी-पूरी गुंजाइश है। पत्नी का कर्तव्य है कि पति की नशेबाजी जैसी कुटवों को रोकते हुए अपने सच्चे प्रेम का निर्वाह करती रहे। इसी प्रकार पत्नी सम्मिलित कुटुम्ब के प्रति सिर पर आये हुए उत्तरदायित्वों से इन्कार करती है तो उसकी हॉ में हॉ मिलाने की अपेक्षा कर्तव्य और औचित्य का उसे पक्षधर बनाना चाहिए। भाइयों, सम्बन्धियों, कुटुम्बियों में भी दुलार के साथ सुधार का सिलसिला चलता रहे तो ही उसे आदर्श एवं उद्देश्यमय कहा जा सकता है।

छोटों की ओर से बड़ों के प्रति भी प्यार होता है। उसे श्रद्धा, सम्मान या आचार, अनुशासन कहते हैं। यह भी यथावत् चलना चाहिए किन्तु स्मरण रखने योग्य यह भी है कि उसके पीछे अनीतिपोषक दुराग्रह न हो। देखा गया है कि बड़े-बूढ़ों द्वारा नई पीढ़ी में कुरीतियों को अपनाने के लिए दबाव डाला जाता है। बाल-विवाह, दहेज, शादी की धूमधाम, मृतक भोज, तीर्थ परिभ्रमण, पर्दा प्रथा, बलात् वैधव्य का निर्वाह, जाति-पाँति की कठोरता जैसे विवादहीन कुप्रचलों में वयोवृद्धों की बड़ी आस्था होती है और वे इन बातों के लिए नयी पीढ़ी को, छोटों को, शिष्यों को अपने बड़प्पन की दुहाई देकर दबाते देखे गये हैं। ऐसे अवसरों में उनका लौकिक शिष्टाचार सम्मान बनाये रहना ही पर्याप्त है। आवश्यक नहीं कि उनकी आज्ञा ही मानी जाय और जैसा वे कहें, वैसा ही किया जाये। कर्कश शब्दों में नहीं, नम्रता भरी

शब्दावली में उनके आदेश का स्पष्ट इन्कार किया जा सकता है। रिश्ते बड़े नहीं हैं, सत्य और तथ्य बड़ा है। उनके निर्वाह हेतु अपने से, विरानों से झंझट मोल लिया जाता है तो अर्जुन की तरह उस असमंजस को भी गले उतारना चाहिए।

‘एक आँख दुलार की, दूसरी सुधार की’ रखकर ही हमें अपने व्यवहार का स्वरूप निर्धारित करना चाहिए। वही उचित है और वही आवश्यक भी।

बालकों के विकास सम्बन्धी समस्याएँ

यों तो एक वर्ष के बच्चे में बुद्धि का विकास मनोवेगों के प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट होने लगता है, पर दो-ढाई वर्ष का होने पर बालक में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। परिवार के मुखिया को चाहिए कि बच्चे की परिपक्व होती हुई मानसिक शक्तियों के विकास में सहायता प्रदान करे। तीन वर्ष तक गुप्त मन अपनी विशेष सेवाएँ अर्पित करता है। अतः प्रारम्भिक काल में बच्चों को डाँटने-डपटने, मारने-पीटने, अत्याचार करने या कठोर नियन्त्रण में रखने से गुप्त मन में जटिल मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती जाती हैं। इस काल में प्यार, सहानुभूति तथा दुलार से ही उसमें उत्साह भरना चाहिए। तनिक-सी वृद्धि या अच्छाई उत्पन्न होते ही प्रशंसा दिल खोलकर करना, बच्चों को छोटे-छोटे उपहार, चटकीले खिलौने, कुत्ते-बिल्ली के बच्चे या अन्य सामान देना उत्तम है।

३ से ६ वर्ष में बालक का विकास—

बालक की ३ से ६ वर्ष की अवस्था में मन अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है। प्रारम्भ में उसे जो मानसिक संवेदनाएँ, विचार या अनुभव प्राप्त हुए हैं, वे अब स्पष्ट होने लगते हैं। बालक पर परिस्थिति की छाप तो नहीं लगती, वह परिस्थिति को समझने लगता है। उसका व्यक्तित्व स्थापित होने लगता है और वह स्वयं स्फुटित होने लगता है। उस काल में बालक हाथ-पाँव से भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति करना चाहता है और इसी के द्वारा ज्ञान ग्रहण करता है। पालने वालों की गरीबी, योग्य शिक्षक का अभाव, अनुकूल व्यवस्था की कमी होने पर बच्चे का मानसिक विकास रुक जाता है।

मैडम पौटेसरी नामक बालमनोविज्ञान विशेषज्ञा का कथन है कि ३ से ६ वर्ष की आयु में बालक शिक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु शिक्षण का संस्कार बालक की स्वयं प्रवृत्ति पर ही सध सकता है। अर्थात् उसके स्व-प्रयत्न पर निर्भर होता है। उत्साह द्वारा उसे स्वयं प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। साधन द्वारा वह संस्कार ग्रहण करने में समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त बच्चा चरित्र के विकास के लिए भी योग्य बन जाता है, पर इस आयु में बालक अपने द्वारा

ही विकास की बातों को ग्रहण कर सकता है। ये तत्त्व उस पर लादे नहीं जा सकते। चरित्र विकास के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को बालक के सामने आदर्श रखना चाहिए। वह आदर्शों का अनुकरण करके सब सीखेगा। आज्ञा द्वारा भी नीति की कई बातें सीख सकता है। इस आयु में बालक अधिक से अधिक शब्द माँगता है। इन शब्दों के उच्चारण में उसे एक अजीब रस प्रतीत होता है। उसे नये-नये फलों, तरकारियों, व्यक्तियों के नाम भी देने चाहिए। घर की वस्तुओं, पोशाक, मोहल्ले, गाय, भैंस, बकरी इत्यादि में उसे विवेक प्रारम्भ हो जाता है। ३ से ६ वर्ष की आयु में प्रत्यक्ष वस्तुओं द्वारा नाम सिखाये जाएँ तो बालक उन्हें कठिन और लम्बे होने पर भी ग्रहण कर लेता है।

इस समय बालक की कल्पनाशक्ति भी विकसित हो उठती है। अतः वे परियों, साँपों, जादू की कहानियों, अद्भुत वस्तुओं की बात-चीत में विशेष रस लेते हैं। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, इसी कल्पना द्वारा बालक अपने ज्ञान की वृद्धि करता है। परिस्थिति से अनुभव लेकर उन पर कल्पना करता है। नवीन बातों की जानकारी के लिए उसकी जिज्ञासा ज़ायत होती है। वह माता-पिता तथा परिवार वालों से नाना प्रकार के प्रश्न करेगा। सावधान ! ये प्रश्न दबा न दिये जाएँ, वरन् कुछ न कुछ उत्तर अवश्य दिए जाएँ। उत्तर देने वालों को बालक की ग्रहण शक्ति का समुचित ध्यान रखना चाहिए। उत्तर देते समय तीन तत्त्वों की ओर विशेष ध्यान रखिए—

१. बाल मानस का ज्ञान। २. परिस्थिति की जानकारी। ३. विषय को सरल बनाकर समझाने की कला।

बालक में किसी प्रकार की शंकाएँ न रह जाएँ, विरोध खड़ा न हो। बातें उलझी व अधसमझी हुई न रहें, प्रत्युत वह सन्तुष्ट हो जाय।

६ से १० वर्ष तक का विकास—

बच्चे का विकास और होता है वह ६ से १० वर्ष तक का हो जाता है। उस काल में वह पढ़ने-लिखने में खूब दिलचस्पी लेता है। हमें चाहिए कि निम्न रीतियों से उसके विकास में सहायता प्रदान करें—

१. उत्तम पुस्तकें, जिनमें साहसिक कहानियाँ हों, ये पूर्ण पवित्र चरित्र का निर्माण करने वाली हों, २. बच्चों द्वारा छोटे-छोटे एकांकी-नाटकों के अभिनय कराये जाएँ। पौराणिक या ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर बच्चों के लिए अच्छे नाटक तैयार कराये जा सकते हैं, ३. वैराग्य शो—यह मन्दबुद्धि के बच्चों के लिए बड़ा उत्तम शिक्षा का साधन है। इससे गाने, अभिनय और हाव-भावों का प्रदर्शन होता है, ४. वाद्य यंत्रों पर संगीत, भजन और कीर्तन इत्यादि, ५. बच्चों को सैर के लिए ले जाया जाय और उन्हें भाँति-भाँति के जीव, पक्षी, चिड़ियाँ, कीड़े-मकोड़े दिखाये जाएँ, ६. भिन्न-भिन्न देश के बालकों

के वर्णन, ७. चित्रकारी के लिए अभिरुचि उत्पन्न की जाय। अच्छे-अच्छे चित्र, खुदाई के काम, खिलौनों का बनाना बालक की छिपी हुई प्रवृत्तियों का विकास करेगा। बच्चों के शौकों का विकास करना चाहिए।

बच्चों के कुछ शौक इस प्रकार हैं—१. टिकट एकत्रित करना, २. बड़े आदमियों के हस्ताक्षर, चित्र, दियासलाई के लेबिल, फोटोग्राफ, पत्तियाँ-पुष्प एकत्रित करना, ३. सुन्दर मासिक-पत्रों तथा पुस्तकों का संग्रह, ४. भाँति-भाँति के खेलों के साधन जुटाना, ५. तितलियाँ, कीड़े-मकोड़े, बिल्ली-कुत्ते के बच्चे, पंछी पालना, ६. देश-विदेश के बालकों के पत्र-व्यवहार। यह सब ज्ञानवर्द्धन का बड़ा अच्छा साधन है, ७. स्थानीय पहाड़, पड़ोस, अपने प्रदेश की सैर। ऐसे पर्यटन बालक के मन में विभिन्न प्रांतों के मध्य एकदेशीय सांस्कृतिक एकता के भाव दृढ़ करते हैं।

ग्रौढ़ अवस्था में विकास—

बड़े होने पर बच्चों को एक मित्र की हैसियत से रखना चाहिए। चौदह वर्ष की आयु में बच्चे में एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है। कैमर्या समाप्त होकर यौवन का प्रवेश होता है और विपरीत लिंग के व्यक्तियों में भारी आकर्षण प्रतीत होने लगता है। माता-पिता को बड़ी सावधानी से इस आयु में बच्चे के मानसिक और शारीरिक परिवर्तन आने में सहायता करनी चाहिए। ब्रह्मचर्य की पुस्तकें, कामोत्तेजक स्थानों, दृश्यों, गन्दी पुस्तकों से बचना चाहिए। प्रेममय पथ-प्रदर्शन से बहुत काम निकल सकता है। तीव्र आलोचना या सीधा हस्तक्षेप शोचनीय होगा। यदि समलिंगी अथवा भिन्नलिंगी मित्र अत्यधिक स्वत्व जताने वाली हो तो ऐसा सम्बन्ध दुर्भाग्यपूर्ण है और परिवार के मुखिया को इसकी निगरानी करनी चाहिए। यदि ऐसे गर्हित सम्बन्ध की अविवेकशीलता समझा दी जाय, तो काम निकल सकता है। कामशिक्षा की आवश्यकता से कौन इन्कार कर सकता है ? पवित्र ढंग से किसी विश्वासपात्र व्यक्ति के द्वारा जवान बालक को शिक्षा मिलनी चाहिए।

परिवार वास्तविक रूप से घर होना चाहिए न कि होटल। जहाँ माता-पिता और युवा पुत्र-पुत्रियों में परस्पर मित्रता और सहानुभूति का सम्बन्ध हो, वही प्रेममय स्थान घर कहा जाता है। ऐसे प्रेम और सरस वातावरण में बालक का सन्तुलित विकास होता है। माता-पिता अपने बच्चे के दोस्तों को भोजन, खेल और बात-चीत के लिए घर बुलायें, तो श्रेष्ठ है। इससे बच्चे का घर में विश्वास बढ़ता है।

जहाँ तक हो सके बालकों को अपने इष्ट-मित्रों के चुनाव का अवसर प्रदान करना चाहिए। उसमें थोड़े-से पथ-निर्देश से काम चल सकता है। स्मरण रखिये, यदि आप बालक के मित्रों की अवहेलना करेंगे, तो उसे अपना

३. २३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

विरोधी ही बना लेंगे। उनके मित्र के साथ शिष्टता एवं कोमलता का व्यवहार हो। इसे आपका पुत्र-पुत्री पसन्द करेगी।

माता-पिता को सदा समय के अनुसार चलना चाहिए। आपका मुख्य ध्येय अनुशासन नहीं, डॉट-फटकार जुमाना नहीं, प्रत्युत प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण मित्रता का सम्बन्ध होना चाहिए। आपका पुत्र भी मित्र सदृश्य ही है। एक सहानुभूतिपूर्ण माता-पिता के समान कौन अच्छा मित्र हो सकता है ?

सीधे हस्तक्षेप न कर, परोक्ष तरीकों से, अर्थात् ऐसे उपायों से उनकी गलतियाँ बतलानी चाहिए कि वे बुरा न मान बैठें। उनके 'अहं' की रक्षा, गर्व की रक्षा का ध्यान रखें। यदि वे बालक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण न करें, तो माता-पिता तथा बालक के मध्य किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न नहीं होगा।

मनोवैज्ञानिकों ने स्पष्टतः निर्देश किया है कि घर तथा परिवार के सदस्य ही बालक के जीवन के विकास के साधन हैं। अनुकरण, परिस्थितियाँ, आपके भले-बुरे निर्देश, सामाजिक स्थिति, सभी इसके चरित्र पर अपना-अपना प्रभाव डालने वाले हैं। बात यह है कि व्यक्ति की शक्तियों, योग्यताओं, भावनाओं और प्रकृतियों का विकास एक प्रकार का सम्पूर्ण वातावरण स्थायित्व, सुरक्षा तथा शक्ति माँगता है। यह सब आपके परिवार में जितनी सच्चाई और पूर्णता से मिल जाता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। बालक के विकास के लिए हमें सुखद, प्रेममय, मोदकारी वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए।

बाल-विकास में घातक अवरोध

—विघटित परिवार

नवविवाहित दम्पतियों में किन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर अपने परिवार से अलग होने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। अनुभव की कमी और स्वच्छन्द जीवनयापन की भावना के कारण उठाया गया यह कदम इन दम्पतियों को बहुत महंगा पड़ता है। जब परिवार बनता है, बच्चों का जन्म होता है, उनके पालन-पोषण और व्यक्तित्व के विकास का समय आता है, तब एक नहीं अनेकों प्रश्न उठ खड़े होते हैं एवं वस्तुतः जिस स्वर्गीय सुख की कामना से संयुक्त परिवार टूटा था, वह निरा स्वप्न सिद्ध होता है। भावावेश में उठाया गया यह कदम भी गलत सिद्ध होता है।

पारिवारिक विघटन का सबसे ज्यादा प्रभाव बालकों के विकास पर होता है। संयुक्त परिवार में बच्चे को दादी का, दादा का, चाचा का, ताऊ का आदि अनेक परिजनों का स्नेह-ममत्व मिलता है। बालक प्रेम और आत्मीयता भरे इस वातावरण में पुलकित हो उठते हैं।

सब ओर से मिलने वाला प्रेम इस बालक के व्यक्तित्व का समुचित विकास करने में सहायक होता है।

जबकि विघटित परिवार में माता और पिता ही होते हैं। इनके अतिरिक्त और किन्हीं बड़े आत्मीयजनों का स्नेह नहीं मिल पाता। बालक कोई गलती करता है तो माता-पिता चीख उठते हैं ? बच्चों को अनावश्यक रूप से डॉट-डपट देते हैं। जिसका बहुत बुरा प्रभाव बच्चे के मन पर होता है, माता-पिता के प्रति एक भय मिश्रित भाव घर कर जाता है। फलतः बालक का विकास कुण्ठित होने लगता है।

घर में बाह्य जगत में दीख पड़ने वाली वस्तुओं के प्रति बच्चों के मन में जिज्ञासा जागती रहती है। संयुक्त परिवारों में माँ-बाप से सहमा हुआ बालक दादी-दादा या चाचा-चाची की छाती से जा चिपटता है। विघटित परिवार में माँ-बाप से डरे हुए बच्चे अपनी प्रतिक्षण उठती रहने वाली ज्ञान की पिपासा सहज रूप से व्यक्त नहीं कर पाते। वे मन ही मन कोई अटकल लगा लेते हैं या उसे ज्यों की त्यों छोड़ देते हैं। समाधान न करने से बच्चों के मस्तिष्क में जिज्ञासुवृत्ति ही लुप्त होने लगती है और धीरे-धीरे समाप्त-सी हो जाती है। परिणामस्वरूप वह बालक या तो कूप-मण्डूक ही रह जाते हैं अथवा उल्टी धारणा जमा लेते हैं। संयुक्त परिवार में ज्ञानार्जन के लिए अधिक उपयुक्त साधन रहते हैं। बच्चा माँ-बाप से सहमा हुआ है, तो चाचा-चाची से जा पूछेगा। उन्होंने अनभिज्ञता प्रकट कर दी तो ताऊ-ताई से पूछ लेगा। घर में कोई न कोई समाधान करने वाला तो मिल ही जाएगा।

अपनी जिज्ञासा का उपयुक्त हल उसके मन में दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में एक आकर्षण-भाव पैदा करता है। उसके मन में तरह-तरह की नई जानकारीयों प्राप्त करने की लालसा जागती है और वह ज्ञानार्जन के क्षेत्र में अधिक आगे बढ़ जाता है।

ज्ञान के बाद आचार शिक्षा का क्रम है। वेद-शास्त्रों तथा विद्वानों ने आचार को पहला धर्म माना है। आचार की शिक्षा संयुक्त परिवार में जितनी सुगमता से मिल सकती है, विघटित परिवार में कम सम्भावना रहती है। घर में पिता को ही पूज्य मान लिया जाता है। समूची श्रद्धा और आदर-भाव का केन्द्र पिता ही बन जाता है। माता के प्रति अधिक आत्म-भाव होने से सामान्य शिष्टाचार का प्रायः बहुत कम निर्वाह होता है। संयुक्त परिवार में सभी बड़े लोगों के रहने से आदर और शिष्टता की आदत स्वाभाविक रूप से विकसित होती जाती है।

परिवार की आन्तरिक व्यवस्था प्रधानतया स्त्रियाँ ही सँभालती हैं। संयुक्त परिवार में मिल-जुलकर आसानी से सब काम निबट जाता है। क्रम में तो कोई कमी नहीं आती। सम्मिलित परिवार में जहाँ मिल-जुलकर सब काम पूरा होता था विघटित परिवार में उतनी ही मात्रा का

काम अकेली एक स्त्री को करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि बच्चों की देख-रेख समुचित रूप से नहीं हो पाती। माँ-बच्चे की ओर ध्यान दे तो दूसरे कामों में अड़चन हो और दूसरे कामों की ओर ध्यान दे तो बालक की उपेक्षा से बड़ी समस्या उत्पन्न हो जाती है। सामान्यतौर पर प्रकटतः तो कोई अव्यवस्था नहीं आती। पेशानी बच्चे के बीमार होने पर अथवा प्रसव के समय होती है। संयुक्त परिवार में माता के प्रसव-काल में बच्चों की सार-सँभाल अन्य कुटुम्बी स्त्रियाँ कर लेती हैं और घर की व्यवस्था में भी कोई अन्तर नहीं आ पाता। विघटित परिवार में पति बाहर रहता है, माँ प्रसूतावस्था में रहती है। बच्चों की स्थिति अनाथ जैसी हो जाती है। घर की आन्तरिक व्यवस्था भी सोचनीय बन जाती है।

दम्पति अधिक सुविधाओं की कल्पना लेकर अलग होते हैं पर मोटेतौर पर वह कल्पना मूर्तरूप नहीं ले पाती है। उसको मकान किराया, अलग चूल्हा, चौका, बर्तन, सफाई आदि सभी आवश्यकताओं की अलग से व्यवस्था संयुक्त परिवार की अपेक्षा लगभग मँहंगी ही पड़ती है। आर्थिक तंगियाँ मनुष्य को कुण्ठित कर देती हैं। अपने स्वप्नों के पूरा न होने पर पति-पत्नी और भी अधिक खीझ उठते हैं। फलस्वरूप दम्पतियों के बीच तनाव कायम रहने लगता है। संयुक्त परिवारों में किसी कारण से तनाव उत्पन्न होता भी है, तो वृद्ध और समझदार परिजनों के हस्तक्षेप तथा समझाने से शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। विघटित परिवार में ऐसी कोई सम्भावना न रहने से दिन-रात परस्पर आक्रोश बना रहता है। बच्चे यह सब देखते हैं तो समझते हैं यह कोई अच्छी बात है। अगर इससे वे डर जाते हैं तो पारिवारिक जीवन के प्रति अलगाव की भावना जम जाती है। प्रकारान्तर से असामाजिक बनने की सूक्ष्म प्रेरणा उन्हें यहीं से मिलती है।

संयुक्त परिवारों का गठन और संचालन सहकारिता के आधार पर होता है। समय और श्रम की बचत से बालकों पर ध्यान देने और देख-रेख करने के लिए पर्याप्त समय बचता है। ज्ञानार्जन, आचार शिक्षा तथा समुचित देख-रेख की जितनी सुविधा संयुक्त परिवार में मिल सकती है, उतनी एकाकी विघटित परिवारों में नहीं मिलती।

दम्पति अक्सर संकीर्ण भावना से ग्रस्त होकर पारिवारिक विघटन के लिए प्रेरित होते हैं। परिवार में बड़ा भाई ज्यादा कमाता है और छोटा भाई कम, तो बड़े भाई और उसकी पत्नी के मन में एक ईर्ष्या भाव जन्म ले लेता है। 'दूसरे लोग कम उपार्जन करते हुए भी हमारे समान सुविधाएँ और सुखों का उपभोग करते हैं, जबकि हम ज्यादा कमाते हैं, तो हमारी कमाई का अधिकांश उपयोग हमारे लिए ही होना चाहिए।'—यह विचार दिनोंदिन परिपक्व होता जाता है और अलगाव की

भावना बलवती होती जाती है। स्वकेन्द्रित-वृत्ति के अधिक बढ़ जाने से संयुक्त परिवार टूट जाता है और इस वृत्ति का प्रभाव बालकों पर भी पड़ता है। इस वृत्ति के कारण स्वार्थ और संकीर्ण भावनाएँ बालकों में भी धीरे-धीरे बढ़ती जाती हैं। परिणामस्वरूप अपने हितों के आगे औरों का हित गौण होने लगता है। सामाजिक सुव्यवस्था के बिगड़ने में स्वार्थ भाव ही मूल कारण होता है। संयुक्त परिवारों का विघटन इस प्रकार बच्चों को समाजघाती भी बनाता है।

बालकों के परिष्कृत व्यक्तित्व का विकास विघटित परिवारों की अपेक्षा सम्मिलित परिवार में ज्यादा सहज रहता है। माँ-बाप सन्तान को ही चौबीसों घण्टे प्यार-दुलार दे नहीं पाते। अन्य क्रिया-कलापों में समय देना होता है। फलस्वरूप बच्चे दूसरे आवारा और गन्दी आदतों वाले बच्चों के संसर्ग में आकर पथ-भ्रष्ट होने लगते हैं।

परिवार, समाज और राष्ट्र की आधारभूत संस्था है। बाल-अपराधों की रोकथाम करने वाली समिति के सर्वेक्षण से पता चला है कि परिवार के असंगठन अथवा असंस्कृत वातावरण में ही बालकों में अपराधवृत्ति जन्म लेती है। इस कारण राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए संयुक्त परिवारों का विघटन रोका जाना आवश्यक है।

बच्चे आपके सच्चे मित्र

मित्र, सच्चा, सरल और निष्कपट मित्र ! ऐसे मित्र की तलाश संसार में किसे न होगी, जिससे अपनी प्रत्येक गुप्त से गुप्त बात प्रकट कर सकें तो भी ऐसी आशंका न रहे कि वह बात कहीं अन्यत्र फैल जायेगी। जो इतना सरल हो कि अपनी प्रत्येक त्रुटि को उदारतापूर्वक क्षमा कर सके, जो हर कार्य में सच्चा सहयोगी सिद्ध हो सके। अभिन्न हृदय, अभिन्न आत्मा, न कोई छल, न कपट। ऐसा मित्र मिल जाय तो पूर्वजन्म का कोई पुण्य, कोई सुकृत ही समझना चाहिए।

पर ऐसी मित्रता इस जगत में अपवाद ही हो सकती है। प्रायः मित्रता किसी लाभ या स्वार्थ की दृष्टि से कायम होती है और जब उन परिस्थितियों में ढीलापन आने लगता है, तो आत्मीयता के बन्धन भी समाप्त होने लगते हैं। अनेक बार यह सम्बन्ध इतने कटु हो जाते हैं कि जिगरी दोस्त भी जानी-दुश्मन बन जाते हैं, मित्रता शत्रुता में बदल जाती है।

हमारी दृष्टि में अपने बच्चों की मित्रता अधिक निश्चित उपयोगी हो सकती है। मित्र में जो गुण होने चाहिए, वे बच्चों में मौलिक रूप में देखे जा सकते हैं। बच्चों के साथ आत्मीयता का विस्तार किया जाय तो वे सबसे प्रिय संगी, स्नेही और सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर कहा करते थे—'परमात्मा की पवित्रता और निश्चलता यदि कहीं है,

३. २५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

तो उसे मैंने बच्चों में पाया। बालकों को मैं अपने जीवन का प्रेरणास्रोत मानता हूँ।” पं. जवाहरलाल जी की बालकों के साथ घनिष्ठता विश्व-विख्यात है, उन्होंने एक बार कहा था—“मैं इस संसार में अपने मित्रों के कारण बहुत सुखी हूँ, यह जो भोले-भाले बच्चे हैं, यही हमारे प्रिय सखा हैं।”

पारिवारिक सौमनस और बालकों के जीवन-निर्माण की दृष्टि से भी अपने बच्चों की मैत्री बहुमूल्य होती है। इसके लिए बालक सदैव इच्छुक दिखाई देंगे, किन्तु घरों में बच्चों को अल्प-बुद्धि समझकर प्रायः उनकी उपेक्षा की जाती रहती है। उनकी सूझ-बूझ कई बार इतनी महत्वपूर्ण होती है कि वयस्कों को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। सच तो यह है कि बालकों में सही निर्णय की क्षमता दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक होती है, किन्तु उन्हें ऐसा करने के लिए अवसर नहीं दिया जाता, यह दुःख की बात है।

घर का बजट या किसी काम-काज की योजना बनाने समय लोग बच्चों को यह कहकर भगा देते हैं कि जाओ, खेलो—यहाँ तुम्हारे मतलब की कोई बात नहीं, पर ऐसा करते हुए अभिभावक वह भूल जाते हैं कि ऐसा करने से न केवल बालक की रचनात्मक बुद्धि को आघात पहुँचता है, वरन् वे एक महत्वपूर्ण सहयोग से वंचित रह जाते हैं। बजट बनाने समय बच्चे कई इतनी उपयोगी बातें बता देते हैं, जहाँ हमारी कल्पना भी नहीं पहुँचती। यह तो साधारण बात हुई। बालकों से बड़े व्यक्तियों को कई बार ऐसे सुझाव मिले हैं कि यदि वे न मिलते तो उनके कार्यों या कृतियों में अनेक दोष रह जाते।

जार्ज बर्नार्डशा के एक नाटक में किसी पात्र के मुँह से ऐसी बात कहलाई गई थी, जो उसे न कहनी चाहिए थी। उसे एक बालक ने ठीक किया था। “पिताजी, मनुष्य को उद्देश्यहीन उत्सवों में नहीं शामिल होना चाहिए।” यह उपदेश बालक नैपोलियन ने अपने पिता को दिया था। सुभाषचन्द्र बोस अपने घर में नजरबन्द थे, तो वहाँ से मौलवी के वेश में निकल जाने की योजना उनकी छोटी भतीजी ने ही बनाई थी। बच्चों में दरअसल असाधारण सूझ-बूझ होती है, उसे यदि ठुकराया न जाय तो वे ऐसी सुघड़ सलाह देते हैं, जैसी कोई मित्र भी नहीं दे सकता।

बच्चे में पूर्वजन्म की प्रतिभा छिपी होती है। किन्हीं-किन्हीं में तो यह मात्रा वयस्कों से भी अधिक होती है। सुयोग्य सहयोग के लिए हर माता-पिता को उस प्रतिभा का लाभ भी लेना चाहिए और उसको विकसित करने का प्रयत्न भी करना चाहिए।

मित्रों से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वे सुख-दुःख में सच्चे आत्मीय की तरह हमारे साथ रहें। हम नहीं कह सकते, इस नियम का व्यवहार में कितना

पालन होता है, पर बच्चों से अधिक संवेदनशीलता बड़ों में नहीं होती। माता-पिता को दुःखी देखकर बच्चों के चेहरे पहले मुड़ जाते हैं। प्रसन्नता के समय घर को उल्लास से भर देते हैं, इन दोनों समय में बच्चों की आत्मीयता प्राप्त कर सच्चे आत्मसन्तोष का अनुभव किया जा सकता है। दुःख के समय बालकों के ममत्व से दुःख कटता है, सुख में उन पर हल्का उत्तरदायित्व छोड़ने से उनका स्वाभिमान, आत्मीयता की भावना और उदारता की वृत्ति का परिष्कार होता है। इन दोनों अवसरों पर अपनी मानसिक स्थिति को बच्चों के सामने खुली हुई रखनी चाहिए।

कभी-कभी मित्रों के गुण-सौन्दर्य बहुत प्रभावित करते हैं। किसी में आत्मीयता अधिक होती है, किसी से मनोविनोद होता है, कोई प्राणवान होते हैं, कोई कर्तव्यपालन और व्यवहारकुशलता में श्रेष्ठ होते हैं। बच्चों में इस प्रकार के अनेक सद्गुणों और सद्भावों का सम्मिलित एकीकरण देखा जा सकता है, पर उसे कृपया पुत्र होने की अधिकार भावना से न देखकर मैत्रीपूर्ण भावनाओं से देखिए। एक-दूसरे पर समान अधिकार का आश्वासन देकर ही एक-दूसरे के गुणों का लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

सरलता बालकों का स्वाभाविक गुण है। यदि उनके साथ कोई जोर-जबर्दस्ती न की जाय या अनावश्यक दबाव न डाला जाय तो उनमें प्रतिक्षण सरलता के भाव देखे जाते हैं। वे प्रतिदिन ऐसे मनमोहक दृश्य उपस्थित करते रहते हैं। कभी बच्चा कपड़ों और देह में मिट्टी लपेटकर आपके समक्ष आ खड़ा होगा, ठीक बाल-शिव की तरह। उसे देखकर आप मुस्कराये बिना न रहेंगे, उसे कपड़े पहनने के लिए कहेंगे तो उल्टी कमीज पहनकर आ जायेगा, आपकी किताबों को सारे कमरे में बिखेर देगा, उन्हें इस तरह खोलेगा मानो किसी विशेष सन्दर्भ की तलाश हो। बड़ों को हाथ-मुँह धोता देखकर वह भी वैसा ही अनुकरण करता है, पर हाथ में लिया हुआ पानी कभी एक गाल के लिए ही पर्याप्त होगा, कभी मुँह में अँगुली डालकर दाँत साफ करने की-सी क्रिया करेगा। यह सब वह अपनी बाल सरलता से करता है। गलत सही का उसे जरा भी अन्दाज नहीं होता। आपको भी उसकी इन क्रियाओं से मनोविनोद करना चाहिए, पर यदि उसे इन कौतुकों के फलस्वरूप आपकी डॉट-डपट, मार-झिड़क मिली तो कुछ ही दिनों में उसकी सारी सरलता-कठोरता में बदलने लगेगी। यदि आप इन आदतों में से किसी को सुधारना ही चाहते हैं, तो उसका सही नमूना बार-बार उसके आगे प्रदर्शित कीजिए, बच्चा अपने-आप उसका अनुसरण कर लेगा। समझायें भी तो हँसते हुए कुछ कहें तो आत्मीयता के साथ। “नहीं, मुझे ऐसे नहीं, कंधा यों पकड़ना चाहिए और ऐसे बाल ठीक करना चाहिए।” इस प्रकार कहते हुए आप कोई बात

उसे समझाइये। विलाकर, चौकाकर कोई बात कहेंगे, बच्चा डर जायेगा और आपके प्रति उसकी भावनाओं में कठोरता आने लगेगी। यह दबाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कुटिल परिणाम उपस्थित करने वाला होता है।

बच्चे बड़े निष्कपट होते हैं, पर गलत उदाहरण देकर ही उनकी निष्कपटता नष्ट कर दी जाती है। घर में कुछ आता है, आप उसे छुपाते हैं, झूठ बोलते हैं, एक-सा व्यवहार नहीं करते। इन तमाम बातों को आधार मानकर बच्चा भी उन्हें आवश्यक समझने लगता है और खुद भी उसी तरह का छलपूर्ण व्यवहार सीखने लगता है। कोई वस्तु घर में आये तो भले ही वह बच्चे के उपयोग की वस्तु न हो, पर उसे दिखाइये अवश्य। सो रहा हो या विद्यालय गया हो तो उसके घर आते ही आप इन सारी वस्तुओं को बाहर निकालिये और उसे बताइये कि अमुक वस्तु अमुक के लिए है, यह इतने पैसे में आई, वहाँ से खरीदी गई। उसे यथासम्भव सारी बातें बता दीजिए, ताकि उसके मन में किसी प्रकार की गलतफहमी पैदा न हो।

आपके बच्चों की सारी जिम्मेदारियाँ आप पर हैं, उन को पूरा करने में निःसन्देह कठिनाइयाँ भी बहुत अधिक आती हैं, पर इससे बालक पर स्वामित्व या अधिकार की भावना प्रकट करना उचित नहीं। आपके घर वह परमात्मा का मेहमान बनकर आता है। आत्मा की दृष्टि से आप में और बच्चे में कोई असमानता नहीं होती। जिम्मेदारियाँ अधिक होने से आप बड़े अवश्य हैं, पर तमाम कर्तव्यों का भली-भाँति निर्वाह आप बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करके ही पूरा कर सकते हैं। आप उन्हें इस दृष्टि से देखा करें तो निःसन्देह उनका बड़ा भला कर सकते हैं और स्वयं भी आत्म-लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

अभिभावकों की महती जिम्मेदारी

मनुष्य जीवन का शुभारम्भ उस दिन से होता है जिस दिन कि वह भ्रूण रूप में माता के उदर में आता है। उन दिनों बालक की समस्त आवश्यकता माता पूरी करती और जिम्मेदारियाँ उठाती है। इस सन्दर्भ में प्रथम नियम यह है कि माता स्वस्थ और प्रौढ़-परिपक्व हो। पिता को भी ऐसा ही होना चाहिए। दोनों में से कोई अवयस्क, दुर्बल, रुग्ण या अविकसित है, तो उन्हें गर्भाधान से सर्वथा दूर रहना चाहिए अन्यथा उन्हें भी दुर्बल बालक का भार वहन करना पड़ेगा। अविकसित माता-पिता द्वारा जना गया बालक स्वयं तो शारीरिक, मानसिक दृष्टि से असमर्थ होता ही है, कुशकाय माता को भी त्रास देता है। प्रसवकाल में पीड़ा सहता और देता है। यदि पिता ने इस सम्बन्ध में पहल की है, दबाव डाला या फुसलाया है, तो समझना चाहिए कि उसने पत्नी और सन्तान दोनों के साथ अनैति बरती है। अत्याचारी कृत्य किया है। इसका दुष्परिणाम जननी और

सन्तान को तो तत्काल भुगतना पड़ता है। आगे चलकर पिता भी उन दोनों की दुर्दशा करके पाप का दण्ड भुगतता है। दो दुःखियारे उसे कोसते हैं और उपचार का तकाजा करते हैं।

बालक गर्भकाल से ही बनना, विकसित होना आरम्भ कर देता है। वह अपना शरीर और मन माता की स्थिति में से ही हिस्सा बँटाता है। गर्भिणी को अपनी स्थिति भी सँभालनी पड़ती है और बच्चे की संरचना भी करनी पड़ती है। इस दुहरे कार्य की पूर्ति के लिए उसे उपयुक्त आहार, विहार, विश्राम, उत्साह, सन्तोष, सन्तुलन उपलब्ध होना चाहिए। पिता का विशेष रूप से और परिवार का साधारण रूप से यह दायित्व है कि ऐसे साधन जुटाएँ। ऐसा वातावरण बनाएँ जिसमें गर्भिणी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से सुखी, स्वस्थ, सन्तुलित और प्रसन्न रहे। इन साधनों को उपलब्ध करने वाली गर्भवती ही सुविकसित बालक को जन्म देती है। सतर्कता का, सुव्यवस्था का प्रथम चरण वही है। भ्रूण स्थिति के बालक को समुन्नत बनाने के लिए उस धारणकर्त्री को ही अच्छी स्थिति में रहने देना चाहिए, क्योंकि बालक का शरीर माता के शरीर और मन का ही एक भाग होता है।

प्रसव के उपरान्त भी बालक प्रायः माता से ही चिपका रहता है। वही उसे स्तनपान कराती है, सर्दी-गर्मी बचाती, स्वच्छ रखती तथा अपने शरीर की विद्युतशक्ति से उसकी जीवन-शक्ति बढ़ाती है। इस स्थिति में भी उसे अपनी साज-सँभाल वैसी ही रखनी चाहिए जैसी कि भ्रूण को पोसते समय रखती थी। शिशु बड़े संवेदनशील होते हैं। वे माता की स्थिति का महत्वपूर्ण अंश सोखते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए माता को स्वयं अपने को अच्छी स्थिति में रखना चाहिए और पति समेत समूचे परिवार को यह ध्यान रखना चाहिए कि जन्मदात्री के माध्यम से बच्चे की शारीरिक और भावनात्मक आवश्यकताएँ पूरी होती रहें। कुपथ्य और आक्रोश बच्चे को प्रभावित करता है। उसे इस प्रकार पोसा जाना चाहिए, जिसमें न अतिवाद हो, न उपेक्षा। समय पर हर काम करने और कराने की आदत का यहीं से आरम्भ होना चाहिए। कुशल माताएँ इन दिनों निभाई जाने वाली जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में समय रहते आवश्यक जानकारीयों उपलब्ध कर लेती हैं और उन्हें कर्मान्वित भी करती हैं। बाल विकास का यह दूसरा चरण है। बच्चा इस अवधि में प्रत्यक्ष रूप से तो चतुर नहीं होता पर परोक्ष रूप में उसकी अदृश्य क्षमता असाधारण रूप से तीव्र होती है। इसलिए उसे अनजान समझकर समीपवर्ती वातावरण ऐसा नहीं बनने देना चाहिए जो कोमल किन्तु संवेदनशील बालक पर बुरा प्रभाव डाले।

बालक के बढ़ने के साथ-साथ उसकी आहार-विहार की विनोद, खेल-कूद की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जो उसे समग्र रूप से विकसित होने में सहायक सिद्ध

३. २७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

हो। जब तक वेह पाँच वर्ष का न हो जाय तब तक नये गर्भाधान की तैयारी नहीं करनी चाहिए अन्यथा प्रथम बालक को मिलने वाला स्नेह-सहयोग कटकर दो हिस्सों में बँट जाता है। गर्भिणी प्रायः अस्वस्थ रहने लगती है। बालक उस उदासी, कठिनाई से मन ही मन खिन्न रहने लगता है। इन दिनों की यह खिन्नता आगे चलकर उसमें कई कमियाँ उत्पन्न कर देती है। बच्चों के भविष्य के साथ खिलवाड़ करके ही नया बालक बुलाने में जल्दबाजी की जा सकती है।

माता से थोड़ा हटने लगने पर बच्चा परिवार वालों के साथ रमने लगता है। यह समुदाय भी अनगढ़, उजड़ु, असभ्य नहीं होना चाहिए अन्यथा उनसे चलना, बोलना, खेलना आदि सीखने के साथ-साथ ही भले-बुरे गुणों का भी हस्तान्तरण होने लगता है। स्कूल जाने लगने पर साथी बच्चों के साथ तो आदान-प्रदान चलता ही है। अध्यापक सबका अधिपति होने, परिपक्व रहने के कारण हर बालक को ज्ञान के साथ-साथ चरित्र भी उपलब्ध कराता है। हेय स्तर के अध्यापक पुस्तकीय शिक्षा भले ही प्राप्त करा दें पर अपने छात्रों को चरित्रवान, सुसंस्कारी नहीं बना सकते। इसलिए देखना यह भी चाहिए कि जहाँ बालक पूर्वजन्मों के संस्कार तो साथ लाता ही है, पर इसके अतिरिक्त अभिभावकों, परिवारियों, सम्बन्धियों, अध्यापकों का भी प्रभाव उस पर पड़ता है। दस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते वह बहुत कुछ बन और ढल चुका होता है। सतर्कता बरते जाने की यही अवधि है।

दस वर्ष से अधिक आयु होती चलती है तो बालक सम्बद्ध समाज से प्रेरणा लेने लगता है। जैसे आचरण-व्यवहार उसे देखने को मिलते हैं, उसकी नकल बनाने में अधिक उत्साह उभरता है। चौदह-पन्द्रह वर्ष के उपरान्त किशोरावस्था आरम्भ होती है। इस समय में व्यक्तित्व उभरने लगता है। महत्वाकांक्षाएँ जगने लगती हैं। उमंगें उठती हैं और विपरीत लिंगी के प्रति कामुक आकर्षण बढ़ने की शुरुआत हो जाती है। यदि कड़ी निगरानी न रखी गयी तो आवारा साथी उसे कुमार्ग पर घसीट ले जाते हैं। जिन्दगी के बनने-बिगड़ने का यही मोड़ है।

सम्पन्न घरों के लोग अपने बच्चों को महँगे पब्लिक स्कूलों में इसलिए पढ़ाते हैं कि वहाँ अच्छी शिक्षा-सुविधा एवं विशिष्ट लोगों की मण्डली मिलेगी। यह होते हुए भी दो हानियाँ ऐसी होती हैं, जिनके कारण वह कदम निरर्थक हो जाता है। एक बात यह है कि वे अपने अभिभावकों से बिछुड़ जाते हैं। उन्हें समुचित स्नेह नहीं मिल पाता। दूसरा यह कि बड़े लोगों वाले यह भाव नहीं रह पाते जो रहने चाहिए। माता-पिता, भाई-बहिन, चाचा-ताऊ, चाची-मम्मी आदि सभी अनजाने-विराने जैसे हो जाते हैं। भावनात्मक सम्बन्ध टूट जाने पर मात्र परिचितों जैसी मन-स्थिति हो जाती है। परिवार के प्रति विरानेपन

की मान्यता बन जाती है। यह बीजांकुर बड़े होने पर इस प्रकार पनपते हैं कि पारिवारिक उन्नति-अवनति में उनकी विशेष रुचि नहीं रहती। अपने को अलग इकाई मानकर व्यक्तिगत लाभ-हानि की ही बात सोचने लगते हैं। परिवार को तो अपना निर्वाह भेजते रहने का स्रोत भर मानते हैं। दूसरी हानि यह है कि इन पब्लिक स्कूलों में बड़े आदमियों के लड़के पढ़ते हैं। खर्चीली व्यवस्था का अभ्यास उन्हें पड़ जाता है। अपने को बड़ा आदमी मानते हैं। अपनी एक अलग विरादरी ही बना लेते हैं। अहंकार भी उसी स्तर का हो जाता है। छोटे लोगों के प्रति उपेक्षा और तिरस्कार की वृत्ति पनपती है। आगे चलकर यह एकता और समता का वातावरण बनाने में उसमें घुल-मिल जाने की प्रवृत्ति को पनपने देने में व्यवधान बनती है।

अच्छा तो यह है कि अभिभावक अपनी व्यावसायिक व्यस्तता में कटौती करें और खेल-मनोरंजन में उन्हें सहभागी बनाने के लिए अपने को बच्चों जैसी मन-स्थिति में उतने समय के लिए रख लिया करें। स्कूली पढ़ाई में जो कमी रह जाती है, उसकी पूर्ति में उनके साथ रहकर अभ्यास करावें। साथ ही चरित्रनिष्ठा और व्यवहार-कुशलता के हर पक्ष पर प्रश्नोत्तर करते हुए उनका कर्तव्य भाव बढ़ायें, इससे कम में अभिभावक का उत्तरदायित्व निभता नहीं है। बच्चों के व्यक्तित्व विकास को भी इतना ही जरूरी समझा जाय जितना कि व्यवसाय को एवं निजी मनोरंजन को समझा जाता है।

जो हर काम को दूसरों से कराते हैं। जिन्हें नौकर रखने की सुविधा है। वे मात्र स्कूली पढ़ाई पूरी करने के लिए मात्र द्यूटर ही न रखें वरन् ऐसे सुयोग्य व्यक्तियों की तलाश करें जो गार्जियन की भूमिका भी निभा सकें। अभिभावकों को जिस प्रकार बच्चे साथ रखकर हैंसने, खेलने, सीखने-सिखाने का क्रम चलाना चाहिए, वैसे ही वे भी कर सकें। स्कूली फीस, पुस्तकें तथा कापी-कलम आदि जुटाने के लिए जिस प्रकार खर्च का प्रबन्ध किया जाता है, उसी प्रकार एक छोटी बाल मण्डली के पीछे संरक्षक भी रखा जाय, जो स्कूल से बचे समय का इस प्रकार उपयोग करायें कि जिसमें उन्हें भार या बन्धन तो प्रतीत न हो पर बातों ही बातों में—खेल ही खेल में उतनी जानकारी मिलती रहे, जो सामान्य ज्ञान की अभिवृद्धि का भी प्रयोजन पूरा कर सकें और साथ ही स्कूली पाठ्यक्रम में जो कमी रह जाय उसकी पूर्ति होती चले। घर के अभिभावक—स्कूल के अध्यापक जिस प्रकार हर कहीं होते हैं, इसी प्रकार एक तीसरे मध्यवर्ती संरक्षक की भी आवश्यकता है। कुछ कर्तव्यपालन अध्यापकों से छूट जाता है, कुछ अभिभावकों से। दोनों ही की कमियाँ इस संरक्षक को पूरा करनी हैं। साथ ही सहचर-सहयोगी जैसी मित्रता का निर्वाह भी करना है। बच्चे का सारा समय तो खप जाय पर उसे यह प्रतीत न हो कि उन्हें

सारे दिन बन्धन में जकड़े रहने की स्वतन्त्रता छीन लेने की दुरभिसंधि की गयी है। संरक्षण के योग्य वह है जो हँसने, खिलाने और पढ़ाने, बनाने की सभी आवश्यकताएँ पूरी करता रहे। समय को देखते हुए ऐसी संस्कार पद्धति विकसित की जानी चाहिए। इसे अलग-अलग न करके सामूहिक रूप से किया जाय। शान्तिकुञ्ज की बाल संस्कारशाला योजना इसी निमित्त है। इसका महत्त्व समझा जाना चाहिए और कार्यान्वित करने में यदि ढूँढ़-खोज की व्यवस्था बनाने की, अर्थभार अतिरिक्त रूप से सहने की आवश्यकता पड़े तो उसे बाल विकास के भावी सत्परिणामों को सोचते हुए करना ही चाहिए। घर के विचारशील और सेवानिवृत्त सदस्य यदि उस कार्य को अपने जिम्मे ले सकें। घर के बालकों के अतिरिक्त इस मण्डली में पड़ोसियों के बालक भी सम्मिलित कर सकें तो और भी अच्छा।

यदि उपरोक्त रचनात्मक कार्य न बन पड़ें तो कम से कम इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि बच्चा सुसंस्कारी परिवार के साथ ही मित्रता करे। उसकी आवारा लड़कों के साथ साँठ-गाँठ न होने पाये। उठती आयु का कुसंग उसको दुष्प्रवृत्तियों का अभ्यासी बना देता है एवं भविष्य को अन्धकार के गर्त में धकेल देता है। इस स्थिति में पड़ने देने से बचाव करने में परिवारीजनों की सुधार की-तीखी दृष्टि होनी चाहिए।

राष्ट्र की आत्मा—बच्चे, उपेक्षित न रहें

बच्चे राष्ट्र की आत्मा कहे जा सकते हैं। जिसकी आत्मा जीवन्त, प्रखर, पुष्ट, सक्रिय होगी, उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकसित, उन्नत, गतिशील होगा। आत्मा मूर्छित हुई, तो स्वास्थ्य, धन, स्मरण-शक्ति, मानसिक-दक्षता सभी धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जिस राष्ट्र में बच्चों को स्वस्थ, सुशिक्षित, सुसंस्कृत, उन्नत चरित्र बनाये जाने का ध्यान रखा जायेगा, वह राष्ट्र कुछ ही समय में प्रगति के शिखर पर दिखाई देगा। जहाँ बच्चे कुपोषण, कुशिक्षा, भेदभाव, अनीति, उपेक्षा और अनुचित व्यवहार के शिकार होंगे, उस समाज में दुर्बलता, विकृति, विषमता, दुराचरण, पतन और अराजकता की वृद्धि अवश्यभावी है।

इस दृष्टि से देखें, तो आज राष्ट्र की आत्मा हमारे बच्चे उपेक्षा और कुशिक्षा के गर्त में दब पड़े हैं। बच्चों को न तो परिवारों में सही मार्गदर्शन सुलभ है, न ही क्रीडास्थलों में और न ही शैक्षणिक संस्थाओं में।

आज शायद ही कोई परिवार ऐसा हो, जहाँ इस बात पर विचार किया जाता हो कि वस्तुतः हमें अपने बच्चों में किस प्रकार के संस्कार विकसित करने हैं। माता-पिता बच्चों से परस्पर विरोधी अपेक्षाएँ रखते हैं। वे चाहते हैं कि बच्चा उनसे सच-सच बातें, पर पास-पड़ोस

में झूठ बोलें, चालाकी करे। बगल के बच्चे से यदि उसकी लड़ाई हो तो वह झूठे ढंग से अपना पक्ष रखे और दूसरे बच्चे का दोष बढ़ा-चढ़ाकर बताए। बच्चा जब सिनेमा के सस्ते गानों की टूटी-फटी पंक्तियाँ गायेगा, तब माँ-बाप हँसेंगे। वही उत्साहित बच्चा जब किसी सिनेमा के गाने की अधिक अश्लील पंक्ति गा उठेगा, तो उसे डाँटेंगे-धमकायेंगे।

बच्चा स्कूल जायेगा, तो उसे यही सुनने को मिलेगा कि अमुक बच्चा अमुक बड़े आदमी का लड़का है, इसलिए वह अध्यापक का चहेता है। परीक्षा के समय वह कुछ लड़कों को नकल करते या खुद अध्यापक द्वारा नकल कराते देखेगा। चारों ओर बच्चा ऐसे शिक्षक और ऐसा वातावरण देखता है, जहाँ धनी होना सर्वोपरि गुण है, पक्षपात जहाँ का सामान्य प्रचलन है और किताबों में जो नैतिक पाठ सिखाये जाते हैं, उसके सर्वथा विपरीत आचरण चारों ओर होते देखता है। वह देखता है कि शिक्षक या तो धन को महत्त्व देते हैं या पशु-बल को, गुण्डागर्दी को। विद्यालय खुलेआम खरीद-बिक्री और छीना-झपटी के केन्द्र बन चले हैं। विद्या और ज्ञान का मापदण्ड अध्ययन, मेधा, चिन्तन, सामर्थ्य, चरित्र, व्यवहार तथा जीवन नहीं है, कागजों पर छपे उपाधि-पत्र ही उसके मापदण्ड हैं और वे उपाधि-पत्र मुख्यतः धन-बल या पशु-बल से प्राप्त होते हैं। हाँ, भारतीय संस्कृति धर्म, नैतिकता, सत्य, अहिंसा आदि की बड़ी-बड़ी बातें अवश्य हर एक शिक्षा-संस्था में बढ़-चढ़कर होती हैं।

माता-पिता, पास-पड़ोसी आये दिन सिनेमा देखने दौड़ते हैं, सिनेमा के किस्से-कहानियों, उसमें काम करने वाले नर-नारियों के हाव-भावों, वेश-विन्यासों, तौर-तरीकों, संवादों-विवादों पर घण्टों चर्चा करते हैं। इसके बाद, वे ही रोते फिरते हैं कि देखो, आजकल के बच्चों के आदर्श सिनेमा-स्टार हैं। बच्चों के सामने श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित करने, उन्हें संस्कृति का सही स्वरूप समझाने में घोर उपेक्षा बरतने वाले लोग बच्चों की आदतों की किस मुँह से शिकायत करते हैं ?

आये दिन आँकड़े अखबारों में छपते हैं कि इस वर्ष इतने स्नातक और इतने प्राथमिक या माध्यमिक शिक्षा प्राप्त बच्चे निकले। इस प्रकार संख्या-बल ही शिक्षा की सार्थकता की कसौटी बन गया है। गुणात्मकता उपेक्षित है। इसके बाद बच्चों में गुण-विकास की क्रमना किस आधार पर की जाती है ?

अतः सर्वप्रथम हमें स्वयं निर्णय लेना चाहिए कि हम अपने बच्चों को और साथ ही अपने समाज व देश को किस रूप में देखना चाहते हैं। उन्नति एवं श्रेष्ठता की हमारी कल्पना क्या है ? भारत है क्या ? भारतीय सभ्यता एवं भारतीय संस्कृति है क्या ? उसकी आन्तरिक शक्ति और अक्षय प्रेरणा को जानें-पहचानें तथा अपनाएँ। आज के विश्व में उसकी किन मूल प्रेरणाओं को सुरक्षित

३. २९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

रखा जा सकता है तथा किस रूप में, यह सोचें ? उस भूमिका के अनुरूप स्वयं को ढालें और बच्चों का भी जीवन गढ़ें। यदि हम स्वयं विजातीय गुण-धर्म को अपना आदर्श मानते हैं, तो बच्चों को विदेशी रंग में रँगते चले जाने की शिकायत व्यर्थ है।

आज जिज्ञासा मात्र बच्चों में ही जाग्रत है। शिशु तो जिज्ञासा का साकार रूप है। उसकी वाणी बाद में फूटती है, जिज्ञासा पहले जाग्रत होती है किन्तु बड़ों में जिज्ञासा जैसे दब गई है। वे सम्मोहित भाव से प्रवाहित होकर पतन-पथ पर बढ़े चले जा रहे हैं। अपना सब कुछ विदेशी रंग में रँगते चले जा रहे हैं।

जिज्ञासा के मूल तत्त्व तीन हैं— (१) क्या, (२) क्यों, (३) कैसे ? इसलिए हममें से भी हर एक को स्वयं को पूछना चाहिए कि वह क्या चाहता है ? क्यों चाहता है ? और जो चाहता है, वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि हमें भारतीय संस्कृति पसन्द है तो हम विचार करें कि भारतीय संस्कृति क्या है ? वह क्योंकर टिकी रही और क्योंकर आज उसके घूमिल होते चले जाने की स्थिति बनी ? वह कैसे पुनः जीवन्त हो सकती है ? इसी प्रकार यह भी जानना चाहिए कि आज हम बच्चों को क्या सिखाना चाहते हैं ? और क्या सिखा रहे हैं ? बच्चों में आज जो प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं, वे क्यों और उनमें श्रेष्ठ प्रवृत्तियों का विकास कैसे सम्भव है ? इस कसौटी पर न केवल विद्यालयों को कसा जाना जरूरी है वरन् स्वयं का व्यवहार और घर का वातावरण भी ऐसा ही ढाला जाना चाहिए कि वह बच्चों में सत्प्रवृत्तियाँ जगाए। उन्हें प्रेम से श्रेय की ओर जाने की प्रेरणा दे, संकल्प दे एवं प्रकाश दे। उनके भीतर विकसित संवेदना एवं उन्नत संस्कारों की आकांक्षा जगाने वाला पारिवारिक वातावरण निर्माण करना हमारे अपने बस में है। बच्चों को सुसंस्कारित बनाना हमारा दायित्व है। उस दायित्व की उपेक्षा हमारा अपराध है, जब तक हम इस अपराध से मुक्त नहीं होते, बच्चों के पारिवारिक शिक्षण के प्रति व्याप्त उपेक्षाभाव को समाप्त नहीं करते और उन्हें सुसंस्कारित, उन्नत बनाने के लिए साधन-प्रयास नहीं करते तब तक राष्ट्र की आत्मा ऐसे ही उपेक्षित रहेगी। निस्संदेह हर माता-पिता अपनी शक्ति पर अपने बच्चों के रहन-सहन और खान-पान की सर्वोत्तम व्यवस्था करना चाहता है। बच्चे को अच्छा खाना मिले, साफ-सुन्दर कपड़े मिलें यह प्रयास प्रत्येक अभिभावक का होता है किन्तु बच्चे में संस्कार पल्लवित हो, उसका चरित्र उन्नत तथा व्यक्तित्व श्रेष्ठ बने, इसकी सजगता बरतने वाले अभिभावक बहुत थोड़े होते हैं। यह सजगता भी प्रत्येक अभिभावक का अनिवार्य कर्तव्य है। इस कर्तव्य की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए और प्रत्येक प्रबुद्ध नागरिक को घर-परिवार, पास-पड़ोस तथा विद्यालय-समाज का वातावरण परिष्कृत करने के प्रयास में भरपूर उत्साह

से जुटना चाहिए। तभी बच्चों को उपयुक्त वातावरण मिलेगा और सत्प्रेरणायें उन्हें समर्थ बनाएँगी। जाग्रत बच्चे ही राष्ट्र की जाग्रत आत्मा बन सकते हैं। बच्चों में प्रसुप्त दिव्यता को जाग्रत करना हममें से हर एक का कर्तव्य है।

आचार्य, अभिभावक और बच्चे

बच्चों को स्कूल में भर्ती करा देने के उपरान्त उनकी प्रगति के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो जाना अभिभावकों की भूल है। वहाँ उस स्तर की पढ़ाई नहीं होती जिसके ऊपर पूर्णतया निश्चिन्त रहा जा सके कि प्रगति का द्वार खुल गया और जिन दोष-दुर्गुणों की चढ़ती उम्र में आशंका रहती है, उनसे छुटकारा मिल गया। इस सम्बन्ध में अभिभावकों में से जो अधिक सुयोग्य हों, उन्हें अधिक ध्यान देना चाहिए।

बच्चों के अधिकांश काम घरवालों को ही करने होते हैं। भोजन की, कपड़ों की, पुस्तकों की, फीस की, चिकित्सा की व्यवस्था वे ही करते हैं। मैले कपड़ों को धुलाने और तेल-साबुन आदि दैनिक आवश्यकता भी उन्हीं को जुटानी पड़ती है। इन सब कामों से अधिक बढ़-चढ़कर महत्त्व का काम बाल-विकास के हर पक्ष पर ध्यान देना है।

वे दिन चले गये जब गुरुकुलों में गुरु माताएँ—जननी का और आचार्य—अभिभावक का कर्तव्य पूरा किया करते थे। वहाँ न केवल पाठ्यक्रम की पूर्ति होती थी वरन् यह भी सिखाया जाता था कि जीवन में शालीनता और प्रखरता का समावेश कैसे हो ? यह प्रशिक्षण पाठ्य-पुस्तकों की रटायें से पूरा नहीं हो सकता, वरन् यह दायित्व भी उन्हीं को निभाना पड़ता है, जिनका बच्चों का भविष्य बनाने और बिगाड़ने से सीधा सम्बन्ध है। इसलिए कितनी ही व्यस्तता क्यों न हो, बच्चों के भविष्य निर्माण से सम्बन्धित शिक्षा देने की जिम्मेदारी अभिभावकों को ही निवाहनी चाहिए।

यह नया भार लादने या थकान बढ़ाने वाली बात नहीं है, वरन् एक अच्छा-खासा मनोरंजन है, जिससे बच्चों को प्रसन्न रखा जा सकता है और उनको प्रसन्न होते देखकर अपनी प्रसन्नता को बढ़ाया जा सकता है। इस विनोद-प्रमोद के बीच उनकी वह शिक्षण-प्रक्रिया भी चलती रह सकती है, जिसकी पूर्ति स्कूलों में प्रायः नहीं ही हो सकती।

अध्यापकों की अपनी कठिनाई है। उनके लिए ढर्रे का काम पूरा करना, परीक्षा उत्तीर्ण करने में सहायता करना, उनका प्रमुख कार्य है। वे इसी में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। एक गधे का बोझ बनकर बच्चों की पीठ और खोपड़ी पर लदी रहने वाली पुस्तकों का भार ही इतना होता है, जिसका परिवहन करते हुए छात्र को परीक्षा के डरावने जंगल में से पार निकालना,

वैतरणी पार कराने जैसा कठिन पड़ता है। फिर खेल-कूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि आते रहते हैं, उनकी चिह्न-पूजा कराने में भी समय लगता और ध्यान बँटता है। ऐसी दशा में छात्रों और अध्यापकों के बीच वह घनिष्टता कैसे उपजे, जिससे जी खोलकर बात करना और निजी जीवन का स्पर्श, उत्कर्ष, परिशोधन कर सकना सम्भव हो। अध्यापकों में बहुत को तो अपने सभी छात्रों के नाम तक याद नहीं रहते फिर वे उनकी मनःस्थिति और परिस्थिति को समझते हुए आवश्यकता और अड़चन का पता लगाते हुए उनका उपयुक्त मार्गदर्शन कैसे कर सकते हैं ? ऐसी दशा में बच्चों के निजी व्यक्तित्व में आने वाले उतार-चढ़ावों के सम्बन्ध में सचेष्ट रहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

छात्रावासों सहित या पब्लिक स्कूल स्तर के विद्यालयों में भर्ती कर देने से अभिभावकों को बच्चों के साथ आये दिन निपटने का झंझट तो छूट जाता है, पर वहाँ भी यह व्यवस्था नहीं होती कि संरक्षक हर छात्र की मनोदशा एवं अड़चन को समझते हुए तदनु रूप मार्गदर्शन कर सके। छात्रावासों का अधिक व्यय-भार उठाने पर भी यहाँ कठिनाई बढ़ जाती है कि बालकों को जीवन कला सम्बन्धी दूरगामी निर्देशन की आवश्यकता रहती है, वह वहाँ मिल सके। जब तक घनिष्ट आत्मीयता न हो तब तक मन को खोलने और पढ़ने की उलझनों को सुलझाने की स्थिति बनती भी नहीं। यह कार्य परिवार वालों का विशेषतया अभिभावकों का है, जिसका दायित्व उन्हें समझना ही नहीं निबाहना भी चाहिए।

घर से दूर रहने वाले बच्चों को आरम्भ में स्वजनों के बिछोह की व्यथा सताती है और उन्हें प्राकृतिक अन्तरंग स्नेह से वंचित रहकर अपने को एक प्रकार से अनाथ समझने की अनुभूति होती है। समयानुसार वे धावालों को विशेषतया उनकी आत्मीयता को भूलने लगते हैं और नये वातावरण में ढल जाते हैं। पर इससे यह कठिनाई तो बढ़ती ही है कि परिवार के प्रति लगाव घट जाता है। उनका हाथ बँटाने तथा सुख-दुःख में भागीदार रहने सम्बन्धी सेवा-सहानुभूति का भाव विदा होता चला जाता है।

जहाँ तक पूरी विवशता सामने न हो, वहाँ अभिभावकों को अपना दायित्व सिर पर उठाना चाहिए। 'बन्दर की बला तबले के सिर' नहीं डालनी चाहिए। समझा जाना चाहिए कि कक्षाएँ उत्तीर्ण करने का जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक इस बात का है कि उनका व्यक्तित्व निखरे, दृष्टिकोण सुधरे, आदतों का ऐसा निर्माण हो जिसे सज्जनोचित कहा जा सके। यह बात अमुक पुस्तक पढ़ा देने या लेक्चर सुनाने से पूरी नहीं हो सकती। इसके लिए उपयुक्त वातावरण चाहिए। संरक्षकों की पैनी दृष्टि रहनी चाहिए। क्रिया के साथ जो ज्ञान कार्यान्वित होता है, वही स्वभाव के रूप में परिणत हो

सकता है। घरेलू कामों में उपयुक्तता का समावेश रखने और उसमें बच्चों को भागीदार बनाये रहने से ही उनका स्वभाव इस ढाँचे में ढलता है, जिसे प्रगतिशील कहा जा सके। ऐसा अवसर गृह कार्यों में भागीदार बनकर ही सीखा जा सकता है। इस-प्रयोजन की पूर्ति अभिभावक ही कर सकते हैं।

किशोरों में जागरूकता की कमी रहती है इसलिए उनका सोचना या चाहना प्रायः ऐसा होता है, जिसे निरंकुश भी कहा जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में यह सरल पड़ता है कि वातावरण में भरी हुई विषाक्तता और प्रचलन की देखा-देखी बहुत-सी ऐसी बातें अनुभवहीन छात्रों पर लद पड़ें, जिससे उन्हें बदनाम, शर्मिन्दा एवं भर्त्सना, प्रताड़ना का भाजन बनना पड़े। इस परिणति की दुहरी प्रतिक्रिया होती देखी गयी है। दबाव में खिचकर वह सुभर भी सकता है और ऐसा ढीठ, उद्दण्ड भी हो सकता है, जो बगावत पर उतर आये और भयानक कृत्य करने लगे। ऐसी परिस्थितियों की आज कमी नहीं। यौनाचार और नशेबाजी की लत नवयुवकों में छूत की बीमारी की तरह लगती है और उसका प्रोत्साहन-प्रशिक्षण बिगड़े हुए सहपाठियों से मिलता है। अनेखापन स्वभावतः आकर्षण का विषय होता है। ऐसी दशा में उन्हें बिगड़ते देर नहीं लगती। इस बिगाड़ का दुष्परिणाम आगे चलकर न केवल बच्चों को वरन् उनके हितैषी कहे जाने वाले अभिभावकों को भी भुगतना पड़ता है।

बच्चों की इच्छाएँ परिवेश से प्रभावित होती हैं

एक ओर जहाँ प्रत्येक बच्चे की जन्मजात विलक्षणता उसके स्वयं के संस्कार, समूहों और उसकी अपनी आन्तरिक संरचना पर निर्भर है, वहीं उसकी इच्छाओं का स्वरूप उसके परिवेश से प्रभावित होता है। बच्चे जो देखते-सुनते हैं, उसी के अनुरूप उनका मानस, उनकी महत्वाकांक्षा और उनका कल्पना जगत बनता-ढलता है।

यह बात गतवर्ष जापानी संस्था 'कावासाकी किसेन कइशा' द्वारा दुनिया के बारह देशों के सात सौ विद्यालयों के बच्चों की राय का सर्वेक्षण करने पर सामने आयी। इस सर्वेक्षण में ६ से १२ वर्ष की वय के शिशुओं से उनकी महत्वाकांक्षा, पसन्द, नापसन्द प्रिय खेल और माता-पिता से उनकी प्रधान उपेक्षा के बारे में पूछा गया था। इन पाँचों ही प्रश्न वर्गों के प्राप्त उत्तरों से यह स्पष्ट हो गया कि बच्चों के ऊपर परिवेश का कितना प्रभाव-दबाव पड़ता है ?

“बड़ा होकर क्या बनने की महत्वाकांक्षा है ?” इस प्रश्न का उत्तर बच्चों के देश-समाज और घर-परिवार की परिस्थिति एवं वातावरण के प्रतिबिम्ब थे। अमरीकी बच्चों में से अनेक अन्तरिक्ष यात्री बनना चाहते और

३. ३१ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

चाँद, मंगल तथा शुक्र पर जाना चाहते थे। जबकि जापान के अनेक बच्चों ने फोटोग्राफर, डाक्टर अथवा वैज्ञानिक बनने की रुचि प्रदर्शित की। यह दोनों ही विकसित देश हैं और वहाँ के बच्चे यह जानते हैं कि कुछ बनना है। इसी प्रकार जापान की लड़कियाँ गायिकाएँ एवं विमान परिचायिकाएँ बनने की आकांक्षिणी थीं। उधर थाईलैण्ड के साधारण स्कूल के एक सामान्य बच्चे ने जबाब दिया—“मैं तो बड़ा होकर घड़ी पहनूँगा।” प्रश्नकर्ताओं ने समझना चाहा—“बेटे, घड़ी तो पहनोगे, पर काम क्या करोगे ?” बच्चे ने फिर जोर देकर कहा—“धन्या कुछ भी कहूँ, मैं अपने हाथ में घड़ी जरूर पहनना चाहूँगा।” इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि कम विकसित देशों के बच्चों में अमूर्त आकांक्षाएँ हैं, जो ललक के रूप में हैं क्योंकि वहाँ के जनजीवन में अभी इतनी जागरूकता और आत्मविश्वास नहीं विकसित हुआ कि छोटे बच्चे भी अपने बारे में स्पष्ट कल्पनाएँ कर सकें।

प्रत्येक बच्चा विकसित होना और बड़ा होना चाहता है। साथ ही प्रत्येक मानव-शिशु में ज्ञान की एक स्वाभाविक भूख होती है—यह तथ्य इससे भी स्पष्ट होता है कि सभी देशों के साधारण स्कूलों के बच्चों ने आगे जाकर स्वयं भी मास्टर या अध्यापक बनने की आकांक्षा अभिव्यक्त की, क्योंकि उनकी दृष्टि में उनका अध्यापक ज्ञान का अथाह स्रोत है और साथ ही इतना समर्थ है कि वह उन्हें चाहे जब डाँट-डपट सकता है और उसकी आज्ञा मानने को वे सब बाध्य हैं।

जब बच्चों से यह पूछा जाता था कि “अगर तुम्हें तीन मनचाहे वरदान मिल जाएँ, तो तुम क्या माँगोगे ?” तो वे खिल उठते थे। इससे स्पष्ट होता है कि बच्चे सपने पालते हैं और दूसरों से अपेक्षाएँ रखते हैं। किसी बच्चे ने कहा कि मुझे ऐसी दवा चाहिए, जिसे पीकर मैं होशियार बन जाऊँ। तो किसी ने उत्तर दिया कि मैं स्वर्ग की सैर कर आऊँ। पर अधिकांश बच्चों ने, बल्कि प्रायः सभी बच्चों ने तीन में से एक वरदान यह अवश्य माँगा कि मैं खूब धनी बन जाऊँ। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान समाज में सर्वोपरि मान्यता धन को ही प्राप्त है, यह सत्य बच्चों की पैनी बुद्धि की पकड़ में सीधे आ जाता है और वे स्वयं भी धनी बनकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं। जापान और अमरीका की धनी बस्तियों में शोर-शरावे के बीच जीने वाले बच्चों ने एक वरदान यह भी माँगा कि हमें शान्त इलाके में एक खूब बड़ा मकान मिले, जहाँ आस-पास खेलने के लिए मैदान और बगीचे हों।

“वह कौन-सी वस्तु है ? जिसे तुम इस दुनिया में बिल्कुल भी पसन्द नहीं करते और चाहते हो कि वह खत्म हो जाये ?” इस प्रश्न के उत्तर भी दिलचस्प थे। कुछ बच्चों ने तो कहा कि स्कूल दुनिया में कहीं न रहें, तो कुछ ने कहा कि वार्षिक परीक्षाएँ न हुआ करें। गरीब

बच्चों ने कहा कि इस दुनिया से दो चीजें पूरी तरह गायब हो जानी चाहिए—डाँट और मार। जबकि इन्हीं देशों के ऊँचे-महँगे स्कूलों में पढ़ने वाले लड़कों ने इच्छा व्यक्त की कि ‘गरीबी’ और ‘भूख’ इस दुनिया से गायब होनी चाहिए। स्पष्ट है कि गरीब बच्चे यह कल्पना भी नहीं कर पाते कि गरीबी और भूख, कभी खत्म भी नहीं हो सकते हैं। उनके लिए गरीबी और भूख उतनी ही स्थायी वस्तुएँ हैं, जितना वे स्वयं। वे तो किसी प्रकार डाँट-मार भर खत्म देखना चाहते हैं। उधर अमरीका और जापान के बच्चे ‘प्रदूषण’ के प्रति जागरूक पाये गये और उन्होंने दुनिया से प्रदूषण गायब करा देना चाहा। जापान की राजधानी टोकियो में आये दिन सड़क दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। वहाँ के बच्चों ने यह इच्छा व्यक्त की कि सड़क दुर्घटनाएँ दुनिया से गायब हो जायें। इसके साथ ही अनेक बच्चों ने दुनिया से ‘बुरे लोग’ और ‘गन्दे काम’ खत्म हो जाने की कामना की।

माता-पिता से क्या चाहते हैं ? इसका उत्तर जापान और अमरीका के अधिकांश बच्चों ने दिया—“और अधिक जेब खर्ची।” जबकि दूसरे बच्चों ने बतलाया कि वे माता-पिता से अधिक उदारता की अपेक्षा रखते हैं। जिन बच्चों को मारा-पीटा जाता है, उन्होंने यही अपेक्षा व्यक्त की कि माता-पिता मार-पीट न करें, जबकि जहाँ माता-पिता दोनों काम पर चले जाते हैं, वहाँ के बच्चों ने यह आग्रह किया कि ‘मेरी माँ दफ्तर जाना बन्द कर दें और मेरे साथ घर पर रहें।’ या ‘मैं जब स्कूल से लौटकर आऊँ, तो माँ घर पर मिलें और मेरे साथ खेलें।’ इससे स्पष्ट होता है कि बच्चे साधन-सुविधाओं से भी अधिक माँ का सान्निध्य एवं स्नेह चाहते हैं और बच्चों के सन्तुलित विकास के लिए वह उनकी आन्तरिक आवश्यकता है। एक विशेष बात जो इन जवाबों से उभरकर सामने आती है, वह भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि “माता-पिता से क्या चाहते हैं ?” के उत्तर में बच्चों ने शिकायतें ही कीं और आरोप भी लगाये। इससे माता-पिता की यह मान्यता कि वे बच्चे को बेहद प्यार करते हैं और उनका बहुत ख्याल रखते हैं गलत सिद्ध हो जाती है। स्पष्ट है कि माता-पिता बच्चों के स्वयं के व्यक्तित्व सन्तुलन तथा उनकी भीतरी इच्छाओं का समुचित ध्यान नहीं रखते और अपनी ही रुचि-अरुचि तथा पूर्वाग्रह उन पर लादते रहते हैं। वे उन पर अपनी सत्ता जमाते रहते हैं और अतिशय लाड़-प्यार भी जतलाते हैं किन्तु खुद बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं और जरूरतों की उपेक्षा करते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों के व्यक्तित्व की माँगों का ध्यान रखा जाय।

इन प्रश्नों-सर्वेक्षणों से यह तथ्य भी उभरकर आता है कि बच्चों की इच्छाएँ-आकांक्षाएँ और सपने क्या होंगे, यह उनके परिवेश पर निर्भर है, न कि उन्हें दिये जाने वाले उपदेश पर। अतः सुसम्य-सुसंस्कृत नई पीढ़ी के

निर्माण के लिए वैसे श्रेष्ठ, सुसंस्कृत परिवेश का निर्माण आवश्यक है। प्रत्येक प्रबुद्ध माता-पिता का कर्तव्य है कि वे ऐसे परिवेश के निर्माण में योगदान दें।

अभिभावकों पर निर्भर है, बच्चों का विकास

सामान्यतः हर बालक जन्म से नीरोग एवं निर्दोष प्रकृति का होता है। उसमें किसी भी तरह की शारीरिक एवं मानसिक रुग्णता देखने को नहीं मिलती। यदि माता-पिता सुयोग्य एवं सुशिक्षित स्तर के हैं, बाल-विकास की समस्त संभावनाओं से भली-भाँति परिचित हैं, तो विकास-क्रम के अनुरूप सामान्य परिस्थितियों और स्वस्थ वातावरण विनिर्मित करके बालकों का सहज-स्वाभाविक विकास करने में सक्षम हो सकते हैं। इसके विपरीत जो अभिभावक मानसिक दृष्टि से स्वयं अस्वस्थ एवं असंतुलित बने रहते और घर में कलह, कटुता और परस्पर लड़ने-झगड़ने की मानसिकता गढ़ लेते हैं, अपनी संतति को भी चिन्तन और चरित्र की दृष्टि से असामान्य और असंस्कृत बनाकर छोड़ते हैं। शारीरिक दृष्टि से भले ही उनका परिपोषण अच्छी तरह होता रहे, पर मानसिक दृष्टि से वे जीवनभर उदास और अस्वस्थ ही बने रहेंगे।

जीवन में आहार-विहार का उपक्रम ठीक से न बैठने पर शरीर को अनेकानेक तरह की बीमारियों का शिकार बनना पड़ता है, उसी तरह परिवार के गलत वातावरण और दुर्व्यवहार से बच्चों में कई तरह की मनोविकृतियाँ घर करने लगती हैं। आँकड़े बताते हैं कि इस समय अपने देश में लगभग दो करोड़ बच्चे ऐसे हैं, जिन्हें मानसिक दृष्टि से अक्षम एवं अस्वस्थ माना जा सकता है। अकेले दिल्ली शहर में ६ से १६ वर्ष तक की आयु के २२ हजार बच्चे बुरी तरह मानसिक रूप से पीड़ित होकर अपनी जिन्दगी के दिन किसी तरह गुजार रहे हैं। जर्मनी के कोलोन मनोविज्ञान संस्थान के अध्यक्ष तथा विश्व प्रसिद्ध बालमनोविज्ञानी प्रो. विचरमैन का कहना है कि माता-पिता की हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ इस कदर बढ़ती जा रही हैं, जिन्हें समय रहते नियन्त्रित नहीं किया जा सका तो बाल-विकास की सम्भावनाएँ संदिग्ध ही बनी रहेगी। आज कम उम्र में विवाहित और अनुभवहीन माताएँ अपने जीवन से असन्तुष्ट रहकर न जाने कितने अनचाहे बच्चों को जन्म देती जा रही हैं ? जिनकी कुण्ठाओं का शिकार बच्चों को मानसिक विक्षिप्तता के रूप में सहन करना पड़ रहा है।

माता-पिता के बीच यदि किसी भी तरह मतभेद अथवा मनोमालिन्य उत्पन्न होने लगता है तो बच्चे के कोमल मस्तिष्क पर इसका सीधा बुरा प्रभाव पड़ता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जन्मदाता तो परस्पर लड़-झगड़कर सलह कर लेते हैं और शान्तिपूर्ण जीवन

बिताने लग जाते हैं लेकिन सुकोमल बच्चे भय, आशंका और अनिश्चितता के माहौल से बुरी तरह बेचैन हो उठते हैं। ऐसी स्थिति में वे संकोची स्वभाव के बनते और सामाजिक जीवन से अलग-थलग होकर निरर्थक जीवनचर्या अपनाने के लिए विवश हो जाते हैं।

ख्यातिलब्ध मनोचिकित्सक डॉ. विलियम ई. होमन ने अपनी पुस्तक 'चाइल्ड सेंस' में स्पष्टतः लिखा है कि माता-पिता द्वारा उत्पन्न वाद-विवाद अथवा झगड़े-झड़प के एक-दो मामले प्रकाश में आने का बच्चे के अन्तर्मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है और बच्चा जीवन की एक सहज-स्वाभाविक क्रिया मानकर संतोष कर बैठता है, पर यदि 'इन्हीं' की पुनरावृत्ति समय-समय पर होती रही तो बच्चों में अविश्वास की भावना का उदय होने लगता है और उनकी शंका अपनी चरम-सीमा तक जा पहुँचती है जिससे उसके मानस-पटल पर एक ही मान्यता बन जाती है कि अब उनके स्नेह, सद्भाव और सहानुभूति की त्रिवेणी संगम का स्रोत सदा-सर्वदा के लिए सूखता चला जा रहा है। ऐसी जीवन विरोधी परिस्थितियों को देखकर बालकों की मनःस्थिति का असन्तुलित, असंयमित और अस्वस्थ होना सुनिश्चित ही है।

प्रायः देखने में आता है कि दिल की धड़कन बढ़ना, पेट में दर्द होना और मूर्च्छित हो जाना शारीरिक रोग का प्रतीक चिह्न ही मान लिया जाता है और उनकी उत्पत्ति का मूल कारण भी खान-पान की अनियमितता और असंयमता को मानकर संतोष कर लिया जाता है जबकि वास्तविकता वैसी नहीं है। इन शारीरिक रोगों का मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक ही अधिक होता है, जिन्हें आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में 'साइकोसोमेटिक' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है। सिडनी की बाल और परिवार मनोविज्ञानी डॉ. ऐनीबेजिंग ने बालक, परिवार और दाम्पत्य जीवन की गतिविधियों का लम्बे समय तक अध्ययन-अनुसन्धान किया है। तदुपरान्त वे इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि बच्चे की मानसिक उलझनें तब अधिक बढ़ जाती हैं, जब वह अपने माता-पिता के झगड़े में यह निर्णय नहीं कर पाता कि इस विवाद को बल देने वाला कौन हो सकता है ? किस पक्ष का समर्थन करें किसका नहीं ? इस मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के शिकन्जे में फँसकर भी उसके व्यवहार में असामान्यता आ जाती है। अतः माता-पिता को चाहिए कि अपने असामान्य व्यवहार वाले मनोरोगी बच्चे को भूत-प्रेत और दैवी प्रकोप बताने वाले, झाड़-फूँक करने वाले ओझा के पास न ले जाकर किसी सुयोग्य चिकित्सक के पास ले जाएँ अथवा स्वयं भी अपने व्यवहार में स्नेह-सहानुभूति का सद्भाव विकसित करके उक्त प्रयोजन की पूर्ति आसानी से कर सकते हैं।

भोजन, वस्त्र जैसी शारीरिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त बच्चों की कुछ मानसिक आवश्यकताएँ भी हुआ करती हैं। हर बालक के अन्तर्मन में स्नेह, अपनत्व,

३. ३३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

स्वतंत्रता, सफलता और प्रशंसा पाने की इच्छा-आकांक्षाएँ हिलोरेँ लेती रहती हैं, जिन्हें पूरा करने की अपेक्षा भी रखता है। मनोविज्ञान विशेषज्ञों का कहना है कि यदि बच्चों की मनोवृत्ति को सही दिशाधारा में मोड़ा नहीं गया तो मानसिक विकृति की, वंश-परम्परा की यह समस्या और भी विकराल स्वरूप ग्रहण कर लेगी। यह एक सत्य है कि बच्चों के रोगोपचार में जितने सहायक माता-पिता हो सकते हैं, उतना और कोई नहीं हो सकता।

बालकों के साथ बड़े कैसा व्यवहार करें ?

मनुष्य-मात्र आनन्द प्राप्त करना चाहता है। हर एक मनुष्य की भरसक यह कोशिश होती है कि उसे आनन्द प्राप्त हो। मनुष्य के अनेक-विधि आनन्दों में उसका बालक भी उसके अपने परम आनन्द का साधन होता है। जिसके घर में बालक नहीं, उसके घर में आनन्द नहीं। आनन्द का ऐसा यथेच्छ उपयोग करने के लिए मनुष्य आकाश-पाताल एक करता है। हमारे समाज में भी बाँझपन अपशकुन और अभाग्य का कारण माना जाता है। बाँझपन का कलंक टालने के लिए स्त्री-पुरुष अपने बस भर कोई बात उठा नहीं रखते। घर में पालना बँध जाने से जो आनन्द प्राप्त हो सकता है, उसकी तुलना दूसरे किसी आनन्द से नहीं की जा सकती। यह आनन्द देह और देही दोनों का है। इस परम आनन्द ने ही संसार की सततता को बनाये रखा है और मनुष्य की शुभवृत्तियों को हमेशा ऊपर चढ़ाया है—ऊर्ध्वगामी बनाया है। बालक मनुष्य के आनन्द का जनक है।

जब ऐसे आध्यात्मिक आनन्द का देने वाला कोई पात्र परिवार में जन्म लेता है तो वह न केवल अपने माता-पिता के, बल्कि सब किसी के आनन्द का साधन बन जाता है। उसे देखकर सब आनन्दमग्न हो जाते हैं, उसे गोद में लेकर सब कोई तृप्ति का अनुभव करते हैं। उसके कारण सारा परिवार आनन्द से परिप्लावित रहता है। बालक के आनन्द में माता-पिता का सच्चा आनन्द समाया हुआ है। जब बालक का आनन्द लुप्त होता है, तो माता-पिता का आनन्द भी बिदा हो जाता है। बालक समूचे कुटुम्ब के आनन्द का केन्द्र बन जाता है। कुटुम्ब के परिचित लोग भी बालक को देखकर खुश होते हैं और एक प्रकार के गहरे आनन्द का अनुभव करते हैं।

किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे इस आनन्द की कक्षा और इसका प्रवाह बदलता रहता है। सब किसी के आनन्द का कारण बनने वाला बालक धीरे-धीरे सबके आनन्द का स्थूल और स्वार्थी साधन बनने लगता है। माता-पिता और बड़े-बूढ़े समझते नहीं कि बालक का भी अपना आनन्द होता है। जन्म के बाद तुरन्त ही जो बालक अपनी रक्षा और अपने पोषण की

अपेक्षा रखता है और अपने ढंग से अपना विकास करने लगता है, वह धीरे-धीरे समझदार और सशक्त भी बनता जाता है। बालक के अपने कामों से माता-पिता को जो आनन्द मिलता है, उससे बालक को भी खुशी होती है, घर के बड़े-बूढ़ों द्वारा जो काम या आयोजन बच्चों के लिए, बच्चों के आनन्द का पोषण करने की दृष्टि से किए जाते हैं, उनसे उन्हें हमेशा आनन्द मिलता ही है, यह सोचना ठीक नहीं। जब बालक अपने आनन्द में लीन होते हैं, तब माता-पिता और घर के बड़े उनसे यह अपेक्षा रखते हैं कि वे अपने किसी व्यवहार या कार्य द्वारा उन्हें आनन्द पहुँचायें। बालक के आनन्द से आनन्दित होने वाले बड़े-बूढ़े अब दूसरी दृष्टि से सोचने लगते हैं। उनके मन में यह विचार प्रमुख बनने लगता है कि बालक भी उन्हें आनन्द पहुँचाने का यत्न करे। जब कोई छोटा बालक अपने खेल में डूबा और उसमें पूरा रस ले रहा होता है, तभी माता-पिता और बड़े-बूढ़े यह चाहते हैं कि बालक अपने खेल छोड़कर उनके पास आयें और उनका मनोरंजन करे। जो माता-पिता और बड़े-बूढ़े बच्चे के साथ खेलकर और उसे अपने मन-बहलाव का साधन बनाकर खुश होना चाहते हैं, वे बच्चे के भय और उसकी अरुचि या उकताहट की परवाह नहीं करते और जब बालक माता-पिता के ऐसे किसी व्यवहार का विरोध करता है, तो उन्हें यह पसन्द नहीं आता और बालक की खीझ या चिढ़ की परवाह किये बिना वे अपने आनन्द-उत्सव में मग्न रहते हैं। एक समय था जब बच्चों का और बड़ों का आनन्द अभिन्न था। धीरे-धीरे ऐसा समय भी आता है, जब कभी तो उनका आनन्द अभिन्न होता है और कभी भिन्न भी। यदि ऐसी परिस्थिति में ध्यानपूर्वक और ज्ञानपूर्वक बालक को समझने की कोशिश न की जाय तो फिर भी एक समय आ जाता है, जब बालक के और बड़ों के आनन्द-क्षेम और आनन्द-कार्य बिल्कुल ही भिन्न बन जाते हैं और आनन्द-विषयक दोनों की व्याख्याएँ बदल जाती हैं।

हममें से हर एक को यह समझना चाहिए कि छोटा बच्चा एक प्राणवान प्राणी है और उसका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी है। ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी प्रतिभा अनेक प्रकार से प्रकट करता जाता है। ऐसे बालक को उच्चकोटि का आनन्द रुचता है और ऐसे आनन्द की प्राप्ति के लिए वह उच्चकोटि के कार्य भी पसन्द करता है। चूँकि समाज को बालक के चित्त की धाराओं का कोई व्यवस्थित ज्ञान नहीं होता, इसलिए बालक से बड़े प्रायः सभी उसके बारे में गलत ख्याल बना लेते हैं और यों बालक के साथ अन्याय करते हैं। जिस तरह बड़ी उम्र के लोगों को आनन्द रुचता है और अपनी रुचि का आनन्ददायी काम अच्छा लगता है, उसी प्रकार बालक भी आनन्दप्रिय है और उसे भी रुचिकर व आनन्दप्रेरित काम अच्छे लगते हैं। चूँकि हम इस सच्चाई की तरफ ध्यान

नहीं देते, इसलिए अक्सर बच्चों के आनन्द-विनोद में और उनकी रुचि के कर्मों में बड़ेपन के बल पर बाधा डाला करते। जब बालक खेलना-कूदना चाहता है, तो हम उसे चुपचाप बैठने को कहते हैं। जब बालक कुछ करना धरना चाहता है, तो हम उसके उत्साह पर ठण्डा पानी डाल देते हैं। इस प्रकार हम बड़े-बूढ़े, बालकों को रुचिकर लगने वाले हर तरह के आनन्ददायक कार्यों का जाने-अनजाने विरोध करने लगते हैं। बालक समझ नहीं पाते कि क्यों घर के बड़े-बूढ़े उनके आनन्द में बाधक बनते हैं? फलतः वे अपनी शक्ति के अनुसार अपना विरोध प्रदर्शित करते रहते हैं। दुर्भाग्यवश घर के बड़े इस विरोध का उल्टा अर्थ लेते हैं और अपने ढंग से जीने की कोशिश करने वाले को शरारती और जिद्दी समझकर उसके साथ दूसरी तरह का बर्ताव करने लगते हैं। यों, बच्चों और बड़ों के बीच इस तरह की गलतफहमियाँ जिस प्रमाण में बढ़ती जाती हैं, उसी प्रमाण में बालक का आनन्द लुप्त जाता है। और परिवार के आनन्द में कमी होती जाती है। फलतः माता-पिता को समूचे परिवार को आनन्द प्रदान करने वाला बालक अप्रिय बनने लगता है और सबका आपसी आनन्द दुःख और कलह में बदल जाता है यह सब इसलिए होता है कि माँ-बाप और घर के बड़े-बूढ़ों का बालक के बारे में सही ज्ञान नहीं होता है। यदि हम यह समझ जाएँ कि बालक के आनन्द में सारी दुनिया का आनन्द है और यह समझकर बालक को आनन्दमग्न रहने दें तथा उसके आनन्द से स्वयं आनन्दी बनें, तो आज की दुःखी दुनिया की कायापलट हो जाय और वह सुखी बन जाय।

बाल-विकास में अभिभावकों का

उत्तरदायित्व

सामान्यतया औसत बालक दबावों से जूझने की आदत बनाने एवं उसका अभ्यस्त बनने का प्रयास करता है। बच्चा सामाजिक प्रभावों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया किस प्रकार प्रकट करता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके परिवार और सामाजिक संस्कृति का विकास मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के अनुरूप हुआ है या नहीं।

अल्फ्रेड एडलर ने उक्त सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त सुझाये हैं। उनका मत है मानव शिशु की एक लम्बी, बिल्कुल असहाय और पराश्रित जिन्दगी होने के कारण उस शिशु में हीनता की भावना उत्पन्न करती है जो कि धीरे-धीरे क्रम से घटनाओं के साथ मिटती जाती है। शिशु वयस्कों की दया का पात्र बनकर क्रम से अपना विकास करता है, साथ ही वह विभिन्न परिस्थितियों में जीवन के संघर्षमय वातावरण में अनेक प्रकार की व्यूह रचना से भी अवगत होता चलता है, जिन वयस्कों को वह शक्तिशाली मानता है उनके सम्पर्क में रहकर वह अपनी

हीन भावनाओं को मिटाता जाता है। वह अपने भावी जीवन की पद्धति, आचार, व्यवहार की शैली को भी अपनाता जाता है, जिससे कि वयस्क होने पर उसका चरित्र और व्यक्तित्व एक शक्तिशाली आधार पर खड़ा हो सके। बच्चों में ज्ञानबोध और आत्मप्रेरणा का होना आवश्यक है। पृथ्वी पर लगभग बीस लाख प्रकार के जीव-जन्तु निवास करते हैं किन्तु आत्मज्ञान जैसी अनूठी उपलब्धि केवल मानव को मिली है। मानव की अन्य विलक्षण प्रवृत्तियों में उसका सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और कुरूपता-घिनीनेपन को टालना भी है। मानव आपस में मेल-झोल, भाई-चारे का और प्यार पाने का इच्छुक है। बालक भी अपना स्वाभिमान प्राप्त करके उसे स्थायी रखना चाहता है। मनुष्य अपने सम्मान और स्वाभिमान को पाने के लिए यदि आवश्यक हुआ तो अपने सुख और वैभव का भी त्याग कर सकता है, यह प्रक्रिया बचपन से ही आरम्भ हो जाती है।

बालक की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति कर उसके साथ प्यार के सम्बन्ध बढ़ाकर उससे अच्छा सामञ्जस्य बिठाया जा सकता है। बालक माँ का प्यार पाने के लिए उसे अपनी ओर से प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। इसमें वह कई प्रकार की लुभावनी मुद्रा बनाता है, जैसी कि उसकी माँ को प्रिय होती है। वह आज्ञाकारी बनने का प्रयास करता है क्योंकि वह शायः सुनता है कि “तुम अच्छे लड़के हो, इसीलिए तुम्हारी माँ तुम्हें प्यार करती है।”

मारिटे मीड और कई अनेक मानवशास्त्रियों का कथन है कि प्राचीनकाल से ही समाज की यह माँग रही है कि उसका प्रत्येक सदस्य पारस्परिक अनुशासन एवं सहयोग की भावना रखे। इसके लिए नियम बनाने की परम्परा पहले भी थी और आज भी विद्यमान है। इन नियमों को न मानने से अराजकता पनप सकती है। सामाजिक नियमों को पालन करने की माँग न्यायोचित है। ये नियम परम्परा भी हो सकते हैं, विधिबद्ध भी हो सकते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकते हैं। इन्हीं पर समाज का विकास निर्भर होता है। लगभग यही नियम परिवार संस्था के विकास के लिए भी उत्तरदायी है।

बालमनोवैज्ञानिकों का मत है कि कुछ बालक प्रलोभनों का दूसरे अन्य बालकों की अपेक्षा प्रतिरोध करने में सफल होते हैं। इसी प्रकार कुछ माता-पिता अपने बच्चों के अन्तःकरण में प्रभावपूर्ण युक्ति से सदैवविक स्थापित करने में सफल होते हैं, जबकि कुछ लोग बिल्कुल ही नहीं कर पाते। इसका मुख्य कारण है माता-पिता और उनके बच्चों के बीच एक शक्तिशाली प्रेम का बन्धन और उस बन्धन के अन्तर्गत माता-पिता की अपने बच्चों से सदाचरण की माँग करना। इसमें एक और क्रियाशैली भी अपनाई जाती है जिसके अन्तर्गत कुछ पुरस्कार देना और आवश्यक हुआ तो दण्ड प्रक्रिया को

३. ३५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

भी अपनाया जाता है किन्तु यह दण्ड शारीरिक न होकर मनोवैज्ञानिक होता है, जिसके अन्तर्गत बहुधा भविष्य में प्यार न करने की बात कही जाती है। बच्चे में सद्बिचार को प्रभावशाली ढंग से स्थापित करने के लिए यह बात माताओं को याद रखनी चाहिए कि वे उन्हें प्यार का प्रलोभन देकर और उचित रीति से कोई क्रिया न करने पर भविष्य में प्यार न करने की बात कहकर, धमकाकर उनको इच्छित दिशा में मोड़ भी दे सकती हैं।

कई माताएँ अपने बच्चों से बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाये रहती हैं। बच्चों को अपनी उच्च महत्वाकांक्षा के अनुरूप न विकसित होता पाकर बड़ी ही निराशा हो जाती है और अपने बच्चे पर कई प्रकार के निषेधात्मक प्रतिबन्ध लगाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप उस बच्चे में कई प्रकार की रचनात्मक शक्तियों का विकास ही नहीं होने पाता। जबकि मधुर प्रेम के आकर्षण से उसे अनुशासन में बाँधकर अपेक्षाकृत आज्ञाकारी बनाया जा सकता है।

सुप्रसिद्ध स्वीडन के मनोवैज्ञानिक जीन पिआगेट का मत है कि जैसे-जैसे आयु में वृद्धि होती जाती है। वैसे-वैसे बालक में सद्भावना का भी विकास आवश्यक रूप से होता जाता है। दस वर्ष की आयु प्राप्त करने के पश्चात् बच्चे में सहकारिता और सह-अस्तित्व की भावना पनपने लगती है। बालक समझने लगता है कि सामाजिक नियमों का गठन समाज ने अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप किया है। पाठशाला में भी बालक को नियमों के पालन पर जोर दिया जाता है वस्तुतः बालक को सामाजीकरण की दिशा में मोड़ने के लिए उसे प्रामाणिकता और मूढ़-मान्यताओं के बीच के अन्तर से अवगत कराया जाना चाहिए, जिससे वह श्रेष्ठ व्यवहार करने की शैली को जो कि समाज द्वारा मान्य है, अपना सके।

बालक गोली मिट्टी की तरह है। उसे जिस साँचे में ढालना चाहें, उसके संरक्षक-अभिभावक सरलतापूर्वक ढाल सकते हैं। इसके लिए थोड़ा ध्यान देने और समुचित मार्गदर्शन करते रहने भर से काम चल जाता है। बालक जन्मजात रूप से अनगढ़ होते हैं। वे सम्पर्क वाले व्यक्तियों से सीखते हैं। उनके व्यवहार से प्रभावित होते हैं। अपने को बदलते, सुधारते और बनाते हैं।

यह कथन एक सीमा तक ही सही है कि वंशानुक्रम और पूर्व जन्मों के संचित संस्कारों से जिसे जैसा बनना होता है बनता है। जन्मजात संस्कारों की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता पर साथ ही यह भी गलत नहीं है कि शिक्षण मार्गदर्शन एवं वातावरण का प्रभाव उससे भी अधिक होता है। इसलिए अभिभावकों का कर्तव्य है कि उन्हें सुसंस्कारी बनाने के

लिए बाल-मनोविज्ञान समझने और सन्तान को उपर्युक्त ढाँचे में ढालने के लिए क्या करना होता है ? वह समझने का प्रयत्न करें।

डा. एरिक एरिक्सन का मत है कि शैशव काल में ही बालक इस बात का ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि यह दुनिया अच्छी है और रहने के लिए सन्तोषप्रद स्थान है अथवा यह दुःखदायक है, निराशामय अनिश्चित वातावरण का स्थान है।

कुछ बालमनोविज्ञानियों का विश्वास है कि बालक की ५ से ७ वर्ष की आयु की अवधि बड़ी ही महत्वपूर्ण है। इस अवधि में अपने अनुभवों के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि बालक का भावी जीवन कैसा होगा ? इस विषय में कुछ विशेषज्ञों का मत है कि यह समय उनके भावी जीवन की नींव से सम्बन्धित है, इस पर वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

बालक में अविश्वास और असुरक्षा का होना एक भावनात्मक समस्या बन जाती है। यह बालक की प्राथमिक आवश्यकताओं को प्रारम्भिक दिनों में नकारने से उत्पन्न होती है। यदि माता-पिता का रवैया बालक के प्रति उपेक्षापूर्ण रहा तो बालक इस दुनिया को असुरक्षित और धमकी भरी समझने लगेगा।

शोधकर्ताओं के अध्ययन से पता लगता है कि जीवन के प्रारम्भिक अति संवेदनशील दिनों में बालक की रुचि सीखने की ओर अधिक होती है और यहीं से उसके जीवन की आधारशिला एक स्थायी रूप लेने लगती है। इसके बाद क्रमशः कई चरणों में विकास होता जाता है और प्रत्येक नया चरण उसके पूर्व के चरण की स्थिति पर निर्भर रहता है।

डॉ. फ्रॉबेन्स और डॉ. लिप्टन नामक मनोवैज्ञानिकों ने तुलनात्मक सर्वेक्षण से ज्ञात किया है, कि जिन बालकों को बाहर रखकर संस्थागत शिक्षण दिलाया जाता है, वे उन बालकों की अपेक्षा जिनको घर पर ही प्रारम्भिक समय में शिक्षण दिया जाता है, कम सतर्क, कम मिलनसार, कम जिज्ञासु, कम रुचि वाले, कम प्रतिक्रियाशील और कम प्रगतिशील पाये गये।

बड़े होने पर बच्चों को अनेक सुविधा-साधन प्रदान करने, उच्च शिक्षा दिलाने, धूमधाम से शादी करने, अच्छी आजीविका का रास्ता बनाने, जैसी कल्पना करने योजना बनाने में हर्ज नहीं, पर सबसे प्रथम जो हर किसी के लिए सम्भव है—यह किया जाना चाहिए कि बालकपन के दिनों में ही उन्हें सुसंस्कारिता प्रदान करें

और उसके लिए घर का वातावरण ऐसा बनायें जिसमें रहकर उसे व्यक्तित्व विकसित करने और सदगुणों की सम्पदा संचित करने का अवसर मिल सके। वस्तुतः बच्चों का हित-साधन और भविष्य निर्माण इसी आधार पर होता है। साधन-सुविधा प्रदान कर सकना परिस्थितियों पर निर्भर है, किन्तु सुसंस्कार बनाने का कार्य ऐसा है, जिसे हर स्थिति के अभिभावक अपनी जिम्मेदारी अनुभव करने और सतर्कता बरतने पर निश्चित रूप से कर सकते हैं।

कई बार माता-पिता आजीविका उपार्जन में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि बच्चों को साथ नहीं रख पाते। थके हुए लौटते हैं, तो भी उन्हें एक झंझट मानकर नौकरों के सुपुर्द कर देते हैं। इसी तरह कई बार तलाक के कारण बच्चों पर बहुत बड़ा मानसिक प्रभाव पड़ता है। माता के मन में पिता के प्रति जो शिकायत बनी रहती है, वह बच्चों के मन में निराशा एवं प्रतिशोध बनकर जमती है और कई प्रकार के दोष-दुर्गुण उत्पन्न करती है।

इस सन्दर्भ में न्यूयार्क के प्रख्यात शिशु रोग विशेषज्ञ डॉ. गार्डनर ने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है और पाया है कि अभिभावकों के प्यार के अभाव में बालकों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। माता-पिता का ममता भरा भरपूर स्नेह जिन बच्चों को नहीं मिल पाता वे मस्तिष्क शून्य बन जाते हैं। वाल्टीमोर के अनाथालय में पलने वाले बच्चों का लम्बे समय तक अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए बताया है कि इनमें से आधे से अधिक बच्चे माँ के प्यार के अभाव में दम तोड़ जाते हैं। चिकित्सालयों में भर्ती करने पर भी अधिकांश बच्चे इसीलिए ठीक नहीं हो पाते कि उन्हें अपने जन्मदाताओं का प्यार नहीं मिल पाता। उनका कहना है कि माता के प्यार के अभाव में जो बच्चे नहीं सो पाते, उनके मस्तिष्क का हाइपोथैलमस भाग एवं पिट्यूटरी नामक अन्तःस्त्रावी ग्रन्थि भी अविकसित रह जाती है और विकास के हेतु जिस हार्मोन रसायन की आवश्यकता होती है, उसका स्राव भी नहीं होता। इस कमी के कारण बच्चे का विकास रुक जाता है और वह शारीरिक एवं मानसिक रूप से रुग्ण रहने लगता है।

मूर्धन्य मनोचिकित्साविज्ञानी डॉ. जान बोल्बी का कहना है कि बच्चों की भावनाओं के विकास का केन्द्र उसकी जन्मदात्री माँ होती है। अपने अनुसन्धान निष्कर्ष में उन्होंने बताया है कि जो बच्चे अपने माता-पिता से अलग रहते हैं, उनमें से ५० प्रतिशत की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति उन बच्चों की अपेक्षा गिरी हुई होती है जो सदैव अपने अभिभावकों के संरक्षण में रहते हैं। शिशुओं के सन्तुलित विकास में जितनी महत्वपूर्ण भूमिका

दुलार एवं आहार की होती है, उससे भी कहीं अधिक पारिवारिक परिवेश की होती है। सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक वातावरण का स्वच्छ एवं सुसंस्कृत होना भी नितान्त आवश्यक है।

‘द साइकोजैनेक डिसीजेज इन इनफैन्सी’ नामक अपनी कृति में आर. स्पिट ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए बताया है कि बचपन में यदि बच्चों को स्नेहपूर्ण वातावरण न मिले तो वे अनेकानेक मनोदैहिक रोगों से ग्रसित होते चले जाते हैं, जिसका निदान बड़ी हुई उम्र में भी नहीं हो पाता। उनका कहना है कि बच्चों पर अभिभावकों के वात्सल्य भरे दुलार का विशेष प्रभाव पड़ता है। शैशव-काल में यदि उन्हें दो-तीन माह के अल्पसमय के लिए भी अपने माता-पिता से अलग रहना पड़े तो उनका भावनात्मक विकास मन्द पड़ने लगता है। छः महीने से अधिक दिनों तक यदि वियोग की स्थिति में शिशु को रहना पड़े, तब तो वह अवसादग्रस्त हो जायेगा, साथ ही सूखा रोग, आन्त्र विकार आदि का शिकार बन जायेगा। चिकित्साविज्ञान में इसे ‘माइस्कड डेप्रेशन’ के नाम से जाना जाता है।

भ्रूण का माता के पेट में नियत अवधि तक रहना ही पर्याप्त नहीं। इसके बाद भी माता और बच्चे का सम्पर्क बना रहना चाहिए। व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है। किसी कारण दोनों के बीच बिछोह की स्थिति बने तो वह बच्चे के हित में नहीं होगी। अभिभावकों द्वारा नौनिहालों को दिया गया समुचित भावनात्मक पोषण ही उनके उज्ज्वल भविष्य के गठन में सहायक सिद्ध होता है, सन्तान पैदा करने से पूर्व इस तथ्य को भली प्रकार समझ लेना चाहिए और यदि अवकाश या ज्ञान, अनुभव नहीं है तो सन्तान पैदा ही नहीं करनी चाहिए। यदि कर ली है तो उसके प्रति अपनी जिम्मेदारी भी निभानी चाहिए।

मनोवैज्ञानिक अभिभावकों से पूछते हैं कि “क्या कभी उन्होंने अपने बच्चों की पाठशाला में होने वाली गतिविधियों के बारे में जानने का प्रयत्न किया ? उनके बच्चे क्या कभी पाठशाला की दिनचर्या अथवा कोई विशेष घटना के बारे में उन्हें बताते हैं।” कुछ माता-पिता केवल बच्चों के भरण-पोषण तक ही सीमित रहते हैं और शिक्षा का भार शिक्षकों पर ही छोड़कर चैन की साँस लेते हैं किन्तु आज के युग में सबसे सक्रिय भूमिका शिक्षा के क्षेत्र में माता-पिता की ही होनी आवश्यक हो गई है।

सबसे महत्वपूर्ण और स्मरण रखने योग्य एक ही तथ्य है कि जिसकी अवहेलना नहीं करना चाहिए वह है माता-पिता की अपने बच्चों की शिक्षा में रुचि लेना। यह काम किसी भी रूप में पैसे, पद, यश और शानार्जन से कम महत्वपूर्ण नहीं समझा जाना चाहिए।

३. ३७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए बाल मनोवैज्ञानिक डा. कुर्ट जिगर्सन कहते हैं कि यह एक महत्वपूर्ण बात है कि आप (अभिभावक) अपने बच्चे के शिक्षक को और वह शिक्षक आपको और आपके बच्चे की समस्या को, (यदि कोई हो तो) पहचानने का प्रयास करें। शिक्षक बालक को यथोचित रूप से आगे बढ़ाने में तब कठिनाई अनुभव करता है, जबकि वह उस बालक की पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में अनजान होता है। यदि घर पर कोई विशेष घटना के कारण बालक अशान्त हो गया है अथवा गड़बड़ा गया है तो उसके शिक्षक को बतला दीजिए ताकि वह उसके प्रति सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करे। याद रखें शिक्षक को आपके बच्चों के समान तीस अन्य बच्चों का भी उत्तरदायित्व सँभालना पड़ता है। इसलिए धैर्य आपको भी रखना पड़ेगा। आगे वे कहते हैं, “कुछ शिक्षक शिक्षा की एक परम पुनीत कर्तव्य मानकर निष्ठापूर्वक शिक्षण कार्य करते हैं किन्तु कुछ शिक्षक इससे भिन्न स्तर के भी होते हैं। फिर भी अभिभावक की रुचि तो अपने बच्चे की शिक्षा में है। अतः उसे शिक्षक से सम्पर्क बनाये रखने का ही प्रयत्न करते रहना चाहिए। आपको बच्चे की पाठशाला में भी जाकर वहाँ के वातावरण से यदा-कदा सम्पर्क बनाना चाहिए। हो सकता है कि आपके जाने से कोई रुकी हुई समस्या का समाधान हो सके। बच्चे के स्कूली जीवन का प्रभाव उसके भावी जीवन पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। आप उस प्रभाव को एक प्रभावी मोड़ दे सकते हैं। प्रश्न है आप इस कार्य में कितनी रुचि लेते हैं ?”

बालकों को प्यार तो करें, पर सुधार का भी ध्यान रखें

कुछ वर्षों पूर्व ही विद्वान हक्सले ने लिखा था—“हमें अच्छी माताएँ दीजिए और हम आपको एक अपेक्षाकृत उत्तम संसार दे देंगे।” “सिद्धान्त का विलोम पक्ष भी सत्य के उतने ही सन्निकट है” “हमें एक अपेक्षाकृत उत्तम संसार दे दें, हम आपको अच्छी माताएँ दे देंगे।”

पारस्परिक निर्भरता मानव की मूल प्रवृत्ति है। शिशु के जन्म होने के पश्चात् वह पहले अपनी माँ पर निर्भर रहता है, फिर ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, वह परिवार पर फिर समाज पर निर्भर रहने लगता है। वयस्क होने पर वह कई लोगों को सहयोग देता है और जो उस पर निर्भर रहते हैं, उनकी देखभाल करना अपना कर्तव्य मानता है। बच्चा यदि अपनी माँ पर आश्रित रहना चाहता है तो यह कोई समस्या नहीं है, वरन् उसकी जीवन रक्षा के लिए यह आवश्यक है। अन्य जीवों की तुलना में मानव शिशु अपनी देखभाल न कर सकने वाला एक असहाय जीव है। उसका यह पराश्रित जीवन, तब समाप्त होता है, जब वह इतना अच्छी तरह से समझ लेता है

कि उसे अपने माता-पिता की सम्पत्ति, स्वीकृति और समर्थन पर आश्रित रहना अनिवार्य है। यदि विकसित होने के लिए आवश्यक विश्वास प्राप्त करने के अनुभवों से उसे वंचित रखा गया तो सम्भव है कि वह भविष्य में भी आत्मनिर्भर न बन सकेगा।

एक माँ अपनी दस वर्ष की बालिका को लेकर एक बाल मनोवैज्ञानिक के पास गयी और बताया कि यह बालिका प्रायः उदास और चिन्तित रहती है और अपनी माता से दूर रह ही नहीं सकती। उसकी माता को उसे अपने साथ जहाँ भी वह जावे उस बालिका को भी ले जाना आवश्यक होता है। वह पाठशाला भी नहीं जाती, न खेलना पसन्द करती है और न अपने मित्रों में रुचि रखती है। पूछने पर मनोवैज्ञानिक को यह भी मालूम हुआ कि उसके पिता क्रोधी स्वभाव के हैं और वह बालिका उनसे बहुत डरती है। उसमें स्वावलम्बन की प्रवृत्ति बिल्कुल ही नहीं है और पूरी तरह से वह अपनी माँ पर ही आश्रित रहती है, केवल वह अपने वस्त्र स्वयं पहन लेती है। वास्तव में १० वर्ष की आयु वाली बालिका का यह व्यवहार अनपेक्षित है। इस प्रकार के व्यवहार के कई कारण हैं, जिसके लिए उनके माता-पिता स्वयं ही उत्तरदायी होते हैं।

कुछ माता-पिता अपने बच्चों के दैनिक जीवन में किसी भी प्रकार का निराशापूर्ण व अरुचिकर वातावरण का सम्पर्क टालते रहते हैं। वे चाहते हैं कि उनका बच्चा सदैव चिन्तारहित, आनन्दित बना रहे और दुःख व क्लेश उसको छू न सके। इसके लिए वे सदैव जागरूक रहते हैं और इस प्रयास में वे स्वयं अपने आमोद-प्रमोद को भी तिलांजलि दे देते हैं। केवल अविकसित बच्चे और भावनात्मक रूप से अविकसित वयस्क ही इस प्रकार की आशा करके एक सदाबहार गुलाबी, सुखी और आनन्दपूर्ण मनोराज्य में विचरण करने की कल्पना सँजोया करते हैं।

जो व्यक्ति स्थायी सुख की प्राप्ति के लिए बड़े कठिन प्रयत्न करते हैं, वे भ्रान्तिपूर्ण जीवन जीते हैं और अन्त में दुःखी होते हैं यदि बच्चों को सुव्यवस्थित जीवन जीने के लिए तैयार करना है, तो उन्हें जीवन की कटु वास्तविकताओं का ज्ञान-बोध करवा देना आवश्यक है। उन पर पर्दा डालकर उनसे उसे छुपाना एक भूल होगी।

बालक का भावी सामाजिक व्यवहार उसका और उसकी माता के बचपन के भावनात्मक सम्बन्धों पर निर्भर रहता है, क्योंकि बालक के लिए माँ केवल आनन्द, प्यार और संरक्षण ही प्रदान नहीं करती वह कभी-कभी दुःखदायी और निष्ठुर भी बन जाती है। यह माता की द्विविधा बालक की द्विविधा बन जाती है। बालक का माँ से लिपटना और माँ का उसको अस्वीकार करके हटाना इन विरोधी प्रवृत्तियों का सन्तुलन अथवा असन्तुलन के परिणामस्वरूप बालक एक सफल भावी जीवन के लिए आदान-प्रदान के गुणों को अपना सीखता है अथवा

सीखने में असफल रहता है। यदि आदान-प्रदान की प्रवृत्ति का समुचित विकास नहीं किया गया तो बालक अपने भावी जीवन और समाज में असफल ही सिद्ध होगा। इस प्रकार के बालक के विचारों में प्रौढ़ता नहीं आ पावेगी और वह भावनात्मक रूप से अपरिपक्व ही बना रहेगा।

जब बालक में पराश्रित रहने की प्रवृत्ति पनपने लगती है तो वह आवश्यक न होने पर भी वह किसी वयस्क की सहायता की अपेक्षा करेगा चाहे भले ही काम वह स्वयं बिना किसी कष्ट के पूरा करने में समर्थ ही क्यों न हो। इसके अतिरिक्त वह सदैव अपनी माँ से शारीरिक सम्पर्क बनाये रखने का प्रयास करता रहेगा। वह उसकी गोद में बैठेगा या उसके शरीर के आस-पास घूमेगा। इससे वह माँ का ध्यान अपनी ओर बनाये रखने का प्रयत्न करता रहेगा। उसकी इच्छा रहती है कि माँ और अन्य वयस्क उसके करतबों को देखते रहे, उससे बातें करते रहे। इस प्रकार के व्यवहार में उसको समर्थन मिलने पर बालक आवश्यकता से अधिक परावलम्बी होता जावेगा। वह अपने आप पर निर्भर रहने की आदत डालने का अभ्यास ही नहीं करेगा।

जैसे-जैसे शिशु में सहायता प्राप्त करने की प्रवृत्ति पनपती है, ठीक उसी समय वह बिना सहायता के भी अपना काम चला लेने का प्रयास करता है। जो बच्चे अपना काम स्वयं कर लेने की पात्रता विकसित कर लेते हैं, वे आत्मगौरव का अनुभव करते हैं। विकासवादी मनोवैज्ञानिक डॉ. रिगोल्ड व डा. इकरमन के मतानुसार जैसे ही शिशु हिलने-डुलने लगता है, वह अपनी माँ से अलग होने का प्रयास करता है। पहले वह अपने पेट के बल लुढ़कता है फिर रेंगने लगता है और फिर चलकर अपनी माँ से दूर जाता है। वह कमरे से बाहर और कभी दूसरे कमरे में भी पहुँचने लगता है। फिर वह आँगन में खेलता है, घर के बाहर भी जाता है और जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वह फिर स्कूल जाने लगता है।

जो बच्चे परिस्थितियों का सामना करने में निपुण होते हैं, उन्हें प्रायः इस योग्य बनाया जाता है। उन्हें कठिनाइयों में संरक्षण यदि मिलता रहा तो वे भीरु ही बने रहेंगे। यदि उन्हें विपरीत परिस्थितियों से निपट लेने का अभ्यास नहीं कराया वह चाहे अकर्मण्यतावश अथवा आवश्यकता से अधिक संरक्षण की भावनावश ही क्यों न हो वे अपने को असुरक्षित समझते रहेंगे और आत्मनिर्भरता प्राप्त कर सकेंगे। कठिन परिस्थितियों में टिकने वाले कठोर नहीं लचीले होते हैं। पराश्रित नहीं आत्मावलम्बी होते हैं, वे न तो आक्रमणशील अथवा डरपोक होते हैं, वरन् विवेकपूर्ण निश्चयी होते हैं। वे शीघ्र ही निरुत्साहित न होकर प्रयत्नशील बने रहते हैं।

बालक के भावनात्मक विकास को परखने के लिए, उसकी माता से अलग होने पर उसकी प्रतिक्रिया बालक

पर किस प्रकार की होती है ? यह जान लेना आवश्यक है। इरिक इरिकसन ने बताया है कि बालक की प्रथम सामाजिक उपलब्धि उसका अपनी माँ को अपनी आँखों से दूर जाने पर विशेष चिन्तित न होना ही है, क्योंकि माँ में बालक आन्तरिक निश्चिन्तता और अपने भावी आनन्द का दर्शन करता है। विकासवादी मनोवैज्ञानिक रिगोल्ड और इकरमन का मत है कि शिशु का माँ से पृथक् होना एक निर्णय करक मनोवैज्ञानिक महत्व रखता है, क्योंकि इसीसे उसकी वातावरण से सम्बन्धित होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। शिशु माँ से स्वतन्त्र होकर ही विश्व की छानबीन कर सकता है और उसके विषय में कुछ जान सकता है।

बच्चों के पालन-पोषण पर अनुसन्धान करने से कुछ तथ्य प्रकाश में आये हैं, जिससे अत्यधिक अनुमतिबोधक और नियन्त्रणबोधक दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों में जोखिम है। अतः सन्तुलन बनाये रखने की राय दी गई है। मनोवैज्ञानिक डिआना बौमरिड का मत है कि प्रामाणिक माता शारीरिक निकटता के स्थान पर मौखिक आदान-प्रदान को अधिक महत्व देती है। इससे बालक में अभिव्यक्ति की मनोवृत्ति पनपती है और वह कुछ काम करने का साहस करने लगता है। माँ उसके स्वच्छन्द खेल को, उसके विचारों को और अनुशासनात्मक रवैये को प्रोत्साहित करती है। वह विशेष रूप से आवश्यक होने पर ही नियन्त्रण की विधि अपनाती है।

बालक के व्यक्तित्व का निर्धारण उसके माता-पिता के आचार-व्यवहार पर निर्भर होता है। बालक पर अधिक नियन्त्रण करने से बालक का आज्ञाकारी, डरपोक और पराश्रित रूप ही विकसित होता है। प्रायः बच्चे अपने क्रियाकलापों में अपनी माँ का समर्थन प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं और वे उनके आनन्दपूर्ण वातावरण में हस्तक्षेप को कम पसन्द करते हैं। इसे युक्तियुक्त विधि से परखने की आवश्यकता है। अनावश्यक नियन्त्रण विकास की धारा को अनुचित मोड़ पर ले जाता है।

शिशु की प्रत्येक माँग की पूर्ति प्रायः उसकी माँ के द्वारा कर दी जाती है, जिससे वह अपने को एक निरंकुश, सर्वशक्तिमान व्यक्ति समझने लगता है। इसमें माता-पिता अपने व्यवहार द्वारा उसकी आयु वृद्धि के साथ इस विचारधारा को समुचित मोड़ दे सकते हैं, जिससे उनकी भावना को ठेस न पहुँचाते हुए, उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत करा दिया जावे। बालक की आयु में जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है, उसकी केवल माँग करने की प्रवृत्ति में कमी होकर उसमें आज्ञापालन की मनोवृत्ति और जुड़ जाती है। बालक का स्वावलम्बी होना उसके माता-पिता पर तो निर्भर होता ही है किन्तु यह उस समाज पर भी निर्भर होता है जिसमें कि वह रहता है। विचारशील लोगों के बालक इसी कारण शीघ्र ही आत्मनिर्भर बन जाते हैं।

सन्तान के प्रति पिता के उत्तरदायित्व

माता के बाद सन्तान पर सर्वाधिक प्रभाव पिता का पड़ता है। माता के प्रेम को ममत्व और पिता के प्रेम को स्नेह कहा जा सकता है। स्नेह, प्रेम और विवेक का समन्वय कहा जा सकता है। इसलिए पिता को कभी-कभी कठोर भी होना पड़ता है। प्रायः देखा गया है कि जिन बालकों को पिता की छत्रछाया नहीं मिलती वे उच्छ्वंखल प्रकृति के हो जाते हैं। माता का प्यार बालक की व्यक्तित्व सरिता का वह स्रोत है, जहाँ से उसमें नीर प्रवाह निकलता है तो पिता का स्नेह वह बाँध है, जो उसे कल्याणकारी प्रवृत्ति में नियोजित करता है।

पिता का स्थान अपने प्रकार से अद्वितीय कहा जा सकता है। उसका जीवन एक खुली पुस्तक के समान है, जिसका प्रत्येक पृष्ठ खुला रहता है। पुत्र पर उसके व्यक्तित्व, विचार, आदत और स्वभाव की अनिवार्य रूप से छाप पड़ती है। जो आध्यात्मिक भाषा में संस्कार तथा वैज्ञानिक भाषा में मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के बहुत कम अपवाद मिलते हैं, जब पुत्र पिता की लोक से हटकर चला हो। सामान्यतः सन्तान अपने पिता की ही अनुकृति सिद्ध होती है।

पूर्व जन्म के संस्कारी एवं विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न बालक ही अपने दुर्गुणी पिता से अप्रभावित रह सकते हैं, अन्यथा एक शराबी के बेटे को मद्य का चस्का आमतौर पर अवश्य ही लगता है। पिता की धर्मेनिष्ठा सन्तान को आध्यात्मिक जीवन की ओर अवश्य प्रेरित करेगी।

यद्यपि सन्तान माता के अधिक निकटतम है। माता के संस्कारों और आदतों का प्रभाव तो पड़ेगा ही फिर भी पिता के प्रभाव को टाला नहीं जा सकता। एक चुम्बकीय शक्ति की तरह सन्तान पिता की ओर खिंचती तथा उन गुणों को विकसित करती रहती है। एक विद्वान साहित्यकार ने अपने अनुभव लिखते हुए बताया है—“मैं जब अपने प्रारम्भिक जीवन का स्मरण करता हूँ तो पिता के गुणों को ही अपने में विकसित हुआ पाता हूँ। तीस वर्ष पूर्व जब मैं एक अबोध बालक था, जमींदार पिता के साथ अपने गाँव के जंगलों में जाया करता। उन्हीं के साथ सोता, प्रातः उठता, भजन, पूजा, दौड़, व्यायाम, अध्ययन आदि सभी क्रियाओं में उनका मार्गदर्शन रहता। प्रकृति के अंचल में पिता के स्नेह की अनुभूतियाँ आज भी मेरे दिल-दिमाग में हैं। मैं आज बौद्धिक और नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में जहाँ तक पहुँचा हूँ, उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलकर। उनकी आदतों और विश्वास हमारे प्रत्येक परिवार के सदस्य में प्रविष्ट हो गये हैं।”

पिता के संरक्षण में पुत्र निरन्तर कुछ न कुछ सीखता है। इसलिए पिता के ऊपर कुछ विशेष उत्तरदायित्व आ जाते हैं जिनका ध्यान रखा जाना चाहिए।

इन उत्तरदायित्वों की उपेक्षा सन्तान के लिए भी और स्वयं पिता के लिए भी कभी-कभी घातक सिद्ध हो सकती है। आज के युग में पिता-पुत्रों के सम्बन्धों में जो कटुता उत्पन्न होती जा रही है, उनका एक बड़ा कारण यह भी है। पिता अपने सन्तान के प्रति कर्तव्यों का पालन समुचित रूप से कर नहीं पाता। बालक का कोमल मन ऐसी स्थिति में विपरीत प्रभाव ग्रहण करता है और पिता का स्थान उसकी दृष्टि में गिर जाता है।

सन्तान दुर्गुणी है तो उसका दोषी अधिकांश रूप से पिता है। बालक को गीली मिट्टी कहा गया है, जिसे मनचाहा आकार दिया जा सकता है। एक कुम्हार के परिवार की तरह माता-पिता मिट्टी रोंधने वाली स्त्री तथा चाक पर खिलौने तैयार करने वाले पुरुष की भूमिका निभाते हैं। अपने ममत्व और प्रेम के रस से माता बालक के व्यक्तित्व को गीला करती है और पिता कुम्हार की तरह उसे मनचाहा रूप दे देता है। बर्तन या खिलौना भौंडा और खराब बना तो दोष कुम्हार का ही है।

जो पिता काम-काज और जीविका उपार्जित करने में लगे रहने के कारण अपने बच्चों की ओर ध्यान नहीं दे पाते, उनकी सन्तानों के बिगड़े की सम्भावना अधिक रहती है। जब स्थिति कबू से बाहर हो जाती है तो पिता, माता को ही उलाहना देता है—“औलाद पर तुम्हीं काबू नहीं रख सकीं।” परन्तु सच्चाई यह है कि पिता की उपेक्षा ने बालक का अधिक नुकसान किया है।

कितना भी व्यस्त रहा जाय परन्तु सन्तान के प्रति कर्तव्यों की उपेक्षा भूलकर भी नहीं की जानी चाहिए। भारतीय और अन्य देशों के पितृसत्तात्मक परिवारों में पुरुष घर का अधिष्ठाता, संरक्षक और मुखिया है। अपने अधीनस्थों का मार्गदर्शन करना मुखिया का कर्तव्य है। कितने दुःख की बात है बाहरी जीवन में पथ-प्रदर्शन की लालसा, मुखिया बनने की होड़ लगा देती है, परन्तु सामाजिक व्यवस्था ने जिस क्षेत्र में पुरुष को प्रधान बनाया है, वह उसे ही उपेक्षणीय समझ लेता है। अपने परिवार का कुशल प्रशासन न कर सकने वाला व्यक्ति कभी कोई कार्य व्यवस्थित ढंग से नहीं कर सकता। एक छोटी-सी इकाई का संचालन व्यवस्था सँभालने की ही योग्यता जिसके पास नहीं है, बड़ी व्यवस्था सँभालने की सामर्थ्य उसमें कहाँ से आयेगी ?

संरक्षण और निर्वाह से ज्यादा महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व पथ-प्रदर्शन का है। परिवार के अन्य वयस्क सदस्यों की अपेक्षा बालकों को अधिक मार्गदर्शन की आवश्यकता है। पिता-पुत्र के स्नेह-सम्बन्धों के प्रारम्भ से लेकर विकास तक की सम्भावना इसी उत्तरदायित्व के कुशल निर्वाह से जुड़ी हुई है। निःसंकोच सामान्य से सामान्य बातों में पथ-प्रदर्शन एवं जिज्ञासाओं का समाधान देने वाला पिता अपनी सन्तान के व्यक्तित्व को कुशल बागवान की तरह अंकुरित करता है।

सन्तान के अति निकट रहने से पिता पुत्र का प्रेरणा-स्रोत बन जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान मार्कट्वेन ने अपने अनुभव में इस प्रकार लिखा है—मैं प्रायः औरों के साथ की लम्बी सैर छोड़कर अपने पिता के साथ बगीचे की चहार-दीवारी के किनारे टहलने जाता। यह मुझे बहुत अच्छा लगता था। टहलते-टहलते वे मुझसे बातें करते जाते; हँसते-हँसते उस समय मुझे अपूर्व आनन्द मिलता था। मैं उनके इतना हिलमिल गया था कि थोड़ी-सी भी कठिनाई आने पर उनके पास जाता और निःसंकोच अपनी समस्या कह देता। वे मुक्त हृदय से मेरी बातों को सुनते और उनका समाधान देते। मैं उस समय नयी प्रेरणाओं से भर उठता था।

कुछ लोगों का विचार है कि सन्तान से ज्यादा हिलने-मिलने पर उनकी दृष्टि में पिता महत्त्वहीन हो जाता है। वे न तो उसे सम्मान दे पाते हैं न उसे पूछते हैं। वस्तुतः यह एक भ्रान्ति है। उच्छृंखलता और उद्वेगिता की स्थिति इसी धारणा को व्यवहृत करने से पैदा होती है। बाल-मनोविज्ञानशास्त्रियों का मत है कि बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, उसमें स्वतन्त्र विचार की क्षमता उत्पन्न होती जाती है। ऐसी स्थिति में पिता-पुत्र के सम्बन्ध अच्छे बने रहें, इसके लिए उचित यह है कि उस पर अनुशासन कम किया जाय। ज्यों-ज्यों पुत्र बड़ा होता जाय त्यों-त्यों पिता मित्र बनता जाय। अभिभावक, अनुशास्ता कम और सलाहकार, मित्र ज्यादा बनने का उपक्रम ही पिता-पुत्र के मधुर सम्बन्धों का सर्वोत्तम गुर है।

पुत्र के प्रति पिता को विश्वास अधिक व्यक्त करना चाहिए। मधुर सम्बन्धों के लिए यह भी आवश्यक है। पुत्र यदि गलत राह पर भटकता भी है तो पिता उसे अपने विश्वास से सही मार्ग पर ला सकता है। एक दुकानदार पिता का पुत्र अपने साथियों की संगति में पड़कर दुकान से पैसे चुरा लिया करता था। पिता को इस बात की खबर लगी परन्तु उसने समझदारी से काम लिया। कुछ पड़ोसी दुकानदारों ने पुत्र के सामने ही पिता से शिकवत की तो उसका जो उत्तर था, वह बुद्धिमत्ता और सूझ-बूझ भरा था। पिता ने कहा “चोरी दूसरों की चीज की होती है। दुकान मेरी है तो मेरे बेटे का भी उसमें हक है। यदि वह मुझसे बिना पूछे पैसा खर्च करता है, तो उसमें हर्ज क्या है ? आखिर पैसा उसका भी तो है।” इस आत्मीयता और विश्वास का परिणाम यह हुआ कि लड़के के मन में पिता की सम्पत्ति के प्रति ममत्व जाग गया। अब वह पैसे का दुरुपयोग नहीं करता, शौक-मौज के लिए खर्च करना बन्द कर दिया। पुत्र जब पूर्णतया वयस्क हो जाये तो उस पर अनुशासन लादने की अपेक्षा प्रेमपूर्ण सलाह का तरीका अपनाया जाना चाहिए। क्या मजाल कि पुत्र का बिगड़ना बन्द न हो ?

पिता को सन्तान के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए। उनका समुचित निर्वाह करना चाहिए। पारिवारिक जीवन में स्वर्ग का अवतरण इसी आधार पर हो सकता है।

सन्तान पालन की शिक्षा भी चाहिए

मानव-जीवन के अनेक कर्तव्यों में सन्तान उत्पन्न करने और उसे यथायोग्य पालने का कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह एक प्राकृतिक नियम है। इसलिए अनेक व्यक्ति इसके विषय में अधिक सोच-विचार करना आवश्यक नहीं समझते पर यह उनकी बड़ी भूल है। मनुष्य इस समय प्रकृति के नियमानुकूल नहीं रहता, वरन् उसने अपनी बुद्धि से अनेक नये नियमों का आविष्कार किया है और उसका रहन-सहन प्राकृतिक के बजाय कृत्रिम ही अधिक कहा जा सकता है। इसलिए सन्तानोत्पत्ति और सन्तान-पालन को प्राकृतिक कार्य समझकर उपेक्षा करना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। संसार के जीवन-क्षेत्र में जो दृढ़ता के साथ स्थिर रह सके और सफलता प्राप्त कर सके ऐसी सन्तान समाज को देना हमारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।

पर आज अवस्था इसके प्रायः विपरीत दिखाई पड़ रही है। लोग सबसे अधिक महत्त्व खाने-कमाने की समस्या को देते हैं, इसके पश्चात् तरह-तरह के शौकों को पूरा करने, समाज में प्रतिष्ठा और ऊँचा पद प्राप्त करने, भविष्य के लिए कुछ धन-सम्पत्ति जोड़ने आदि बातों की तरफ ध्यान जाता है। पर सन्तान पालन, जो समाज की प्रगति और उत्कर्ष का प्रधान साधन है, उस पर कोई ध्यान नहीं देता। छोटे और साधारण श्रेणी के लोगों में ही नहीं, बड़े-बड़े शिक्षित और बुद्धिमान लोगों में भी यही वृत्ति देखी जाती है। इसी को लक्ष्य करके इंग्लैण्ड के एक बहुत बड़े ज्ञानी व्यक्ति श्री हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने ‘शिक्षा’ नामक ग्रन्थ में कहा है—

“वास्तव में बच्चों के पालन-पोषण के तरीके पर ही उनका जीना-मरना और उनका नैतिक उत्थान या पतन निर्भर करता है, पर उन लोगों को जो कुछ समय बाद माता-पिता बनने वाले हैं, इस विषय का एक शब्द भी नहीं सिखाया जाता। क्या यह एक बड़ी भयंकर बात नहीं है कि एक नई पीढ़ी का भाग्य बुद्धिहीन प्रथाओं, रुचि, विचार आदि के भरोसे छोड़ दिया जाय या उसके सम्बन्ध में मूर्ख दाइयों या पुरानी बुद्धियाओं की सलाहों पर ही भरोसा कर लिया जाय। अगर कोई व्यापारी बिना हिसाब-किताब सीखे व्यापार करना शुरू कर दे तो हम उसकी मूर्खता पर आश्चर्य करते हैं और शीघ्र उसका दिवाला निकलने का अनुमान लगाने लग जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति शरीरशास्त्र का अध्ययन किये बिना ही डाक्टर शुरु कर दे तो हम उसकी धृष्टता पर आश्चर्य करेंगे और उसके मरीजों पर तरस खायेगे। पर माता-पिता सन्तान पालन की किसी प्रकार की शारीरिक,

३. ४९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

नैतिक और बौद्धिक शिक्षा प्राप्त किये बिना ही सन्तानोत्पादन के महत्वपूर्ण कार्य का भार उठा लेते हैं, तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं जान पड़ता।

इस महान् दार्शनिक ने जो बातें अब से कफ़ी समय पहले लिखी थीं, वे आज हमारे देश पर पूरी तरह लागू हो रही हैं। यहाँ के अधिकांश माता-पिता सन्तान-पालन के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं और फिर भी छोटी अवस्था से एक सन्तान पर दूसरी सन्तान उत्पन्न करते चले जाते हैं। उनको न सन्तानोत्पत्ति के पूर्व की जाने वाली तैयारी का कुछ पता होता है और न वे जरा भी उसके पालन-पोषण की ठीक विधि को जानते हैं। इस प्रकार वहाँ के ९५ प्रतिशत बच्चों का निर्माण संयोग पर निर्भर रहता है। अधिकांश माताएँ आरम्भ से बच्चों की नियमित आदतें डालने का प्रयत्न नहीं करती और नतीजा यह होता है कि थोड़े समय बाद ही बच्चा बार-बार रोने और समय-कुसमय खाने को माँगने लग जाता है। माता भी बिना यह विचार किये कि वह भूख से रो रहा है या प्यास से या किसी प्रकार की शारीरिक अस्वस्थता के कारण, झट से उसके मुँह में स्तन या दूध की शीशी दे देती है। इससे बच्चे का उस समय का रोना तो बन्द हो जाता है, पर आगे चलकर यह आदत और भी बढ़ने लगती है।

इसी प्रकार जिस बच्चे को बचपन में मुँह ढककर सुलाया जाता है और खुली हवा से सदैव पृथक् रखा जाता है, उसे आगे चलकर खाँसी, दमा आदि दुःखदायी रोगों को सहन करना पड़ता है। ऐसे अभागे बालक अपने घर वालों के लिये ही भारस्वरूप नहीं बन जाते पर निसत्व और शक्तिहीन बनकर वे बड़े होने पर समाज और देश के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकते। इस प्रकार अज्ञानी माता-पिता अपने लिए तरह-तरह के कष्टों की जड़ जमाकर देश और जाति के प्रति भी शत्रुता का आचरण करते हैं।

भारतीय स्त्रियाँ सन्तान पालन में जो सफल नहीं हो पातीं, उसका एक कारण यह भी है कि यहाँ बालिकाओं का विवाह प्रायः अपरिपक्व अवस्था में ही कर दिया जाता है और उस स्थिति में सन्तानोत्पत्ति होने से उनको जननेन्द्रिय सम्बन्धी अनेक शिकायतें उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे उनका स्वास्थ्य गिर जाता है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और वे कोई पश्चिमसाध्य कार्य करने के अयोग्य हो जाती हैं। फिर उनकी सन्तान भी प्रायः चिर रोगी ही बनी रहती है।

बड़े खेद का विषय है कि हमारी स्त्रियों को नये-नये फैशनों और विदेशी श्रृंगार-सम्मयी की रुचि तो शीघ्र ही लग जाती है, उनके पति भी मेमों की तरह स्वतन्त्रतापूर्वक संग घुमाने में गौरव और प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, पर सन्तानपालन जैसी गृहस्थी को सफल बनाने वाली बात का ज्ञान भी उसे प्राप्त कराया जाय, इसका किसी को

स्वप्न में भी विचार नहीं आता। यह बात नहीं कि उनको अपने बच्चों से प्रेम नहीं होता अथवा वे उनके लिए हर तरह का स्वार्थ त्याग नहीं करते, पर अज्ञानवश वे मोह के नाम पर स्वयं अपने बच्चों का अहित करने वाले बन जाते हैं। इसलिए हमारे देश की शिक्षा में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि लड़के-लड़कियों को आरम्भ से ही इस आवश्यक विषय का महत्व प्रतीत होने लगे और विवाह होने के पहले तो उनको निजी तौर पर या तत्सम्बन्धी ग्रन्थों द्वारा इसका ठीक ज्ञान करा ही देना चाहिए। यह राष्ट्र के उत्थान-पतन से सम्बन्ध रखने वाली बात है और इसकी अवहेलना स्वयं अपना ही अनिष्ट करना कहा जायेगा।

बच्चों की आदतों की जिम्मेदारी—अभिभावकों पर

बच्चों में आलस्य, उच्छ्वंखलता, अनुशासनहीनता, स्वेच्छाचार आदि की जिम्मेदारी अधिकांश माता-पिता या तो बच्चे के साथियों पर डाल देते हैं या फिर पड़ोसियों और वातावरण पर। किन्तु तथ्य यह है कि इनमें से अधिकांश बुराइयों के लिए माता-पिता और अभिभावक ही उत्तरदायी होते हैं।

बच्चों में अनुशासन और आज्ञापालन की प्रवृत्ति के विकास को उत्सुक माता-पिता जब अनुशासन सम्बन्धी आदेश-निर्देश रौब दिखाकर या दबाव डालते हुए देते हैं, उस समय उन्हें स्मरण करना चाहिए कि यह व्यवहार बच्चे में विरोध-विद्रोह की भावना जगायेगा या द्वेष-बुद्धि उभारेगा। यदि प्रारम्भिक उपेक्षा के क्रम में बच्चे ने अनुसूची कर दी, तब तो उत्तेजित माता-पिता मारपीट या चीख-चिल्लाहट पर ही उतर आते हैं। इसकी प्रतिक्रिया बच्चे में बहुत तीव्र होती है और उनमें अनुशासनहीनता के बीज अंकुरित हो उठते हैं।

बच्चे की सुकुमारता और संवेदनशीलता को मात्र तीव्रता से प्यार करते समय ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण व्यवहार के समय याद रखना चाहिए। कोई भी आदेश देते समय यह जरूर देखा जाना चाहिए कि उस समय बच्चा कर क्या रहा है ? और उसकी मनःस्थिति क्या है ? उदाहरणार्थ, बच्चा किसी रुचिकर खेल में लगा है या एकाग्रता के साथ पढ़ रहा है या किसी हानिरहित चेष्टा में मस्त है, किसी अभिनय या अनुकरण की गतिविधि में विभोर है, तो उस समय उसे कभी कोई आज्ञा नहीं देनी चाहिए। छोटे बच्चों को खेल आदि से विरत कराने के लिए उसे कभी सीधी निषेधात्मक आज्ञा नहीं देनी चाहिए। उनके साथ खेल में कुछ देर स्वयं भी लगकर फिर प्रस्ताव या सुझाव रूप में अपनी बात रखनी चाहिए।

बच्चे को आदेश देने का सर्वोत्तम समय वह होता है, जब वह माँ के पास शान्त, स्वस्थ मनःस्थिति में

होता है। आदेश मुख्यतः विधेयात्मक होने चाहिए, निषेधात्मक नहीं। 'यह मत करो,' 'वहाँ मत जाना' जैसे नकारात्मक आदेश बच्चों में वैसा ही करने का कौतूहल पैदा कर देते हैं और वे उन्हें ही करने लगते हैं, जिनके लिए मना किया जाता है। ऐसी आज्ञाओं के स्थान पर उन्हें आकर्षक और प्रशंसापूर्ण भाव से आदेश देना चाहिए—'हमारा मुन्ना या मुन्नी अमुक काम करेगा या करेगी', 'अमुक वस्तु लायेगा या लायेगी' आदि। आज्ञा देने से पूर्व बच्चे से यह न पूछें कि 'क्या तुम यह काम करोगे या करोगी?' क्योंकि ऐसे पूछने पर 'ना' की ही अधिक सम्भावना है और ना कर देने पर फिर उससे जोर-जबर्दस्ती से काम लेने पर प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ेगा। आकर्षक, रचनात्मक शैली में दिये गये आदेश बच्चे की कौतूहल और मनोरंजन की भावना को प्रेरित तथा तृप्त करते हैं।

बच्चे को अनावश्यक रूप में बार-बार टोकना अच्छा नहीं, क्योंकि एक तो बच्चे स्वभावतः चंचल होते हैं, किसी काम पर अधिक नहीं टिकते, फिर टोकाटाकी से तो उनकी उस थोड़ी-बहुत एकाग्रता, तन्मयता में भी विक्षेप पड़ता है। फिर बच्चे के मन पर यदि इस टोकने से उखड़ जाने वाले संस्कार अंकित हो गये, तो उनकी एकाग्रता की शक्ति पर इसका प्रभाव पड़ता है और आगे चलकर वे किसी भी काम पर तन्मय-एकाग्र नहीं हो पायेंगे। अपने सामने उपस्थित काम पर न जम पाने की प्रवृत्ति असफलताओं की ओर ही ले जाती है।

बहुत-से माँ-बाप बच्चों के लिए नियमित, व्यवस्थित जीवन बिताने के लिए बड़े ही सख्त और रूखे नियम बना देते हैं किन्तु इससे अनुकूल परिणाम प्राप्त नहीं होते। बहुत-से बच्चे उन नियमों के अनुसार चलेंगे नहीं या जो थोड़ा-बहुत नियम पालन करेंगे उनकी मौलिकता, आत्मविश्वास की शक्ति कुन्द हो जायेगी। अतः बच्चों पर नियम लादे नहीं जाने चाहिए वरन् स्वयं उन्हीं की राय को महत्व, प्रोत्साहन देकर बच्चों के खाने-पीने, सोने, पढ़ने, खेलने आदि का समय निश्चित कर देना चाहिए। यदि किन्हीं नियमों के कारण बच्चों को किसी तरह की कठिनाई हो तो उन्हें सरल भी बना देना चाहिए। बच्चों को नियमानुवर्ती बनाने से पूर्व स्वयं माँ-बाप को भी नियमित और बँधा हुआ जीवन बिताना आवश्यक है। जो माँ-बाप स्वयं अनियमित जीवन बिताने वाले हैं वे बच्चों को नियमानुवर्ती बनाना चाहते हैं वे भूल करते हैं। यदि बच्चे अभ्यासवश नियम पालन में कोई गड़बड़ी अथवा भूल करें तो उन्हें एकदम धमकाना नहीं चाहिए। बहुत बार एक-सी भूल करने पर कह देना चाहिए।

केवल नियमादि बनाकर बच्चों पर कर्तव्य एवं जिम्मेदारी डालने से काम नहीं चलता। समय-समय पर बच्चों के साथ विचारविमर्श करना, उनकी बात पूछना, उनके कार्यक्रम, जीवनक्रम आदि के बारे में दिलचस्पी

प्रकट करना अपनी सूझबूझ से बच्चों को नवीन तथ्यों का ज्ञान देना भी आवश्यक है।

बच्चों को महत्वहीन समझकर उनसे व्यवहार करने से वे स्वयं को अनुपयोगी-उपेक्षणीय मान बैठते हैं। इससे आगे चलकर उनमें आत्मविश्वास की कमी हो जाती है। अतः किसी कार्य को न कर पाने अथवा काम बिगड़ जाने पर उनकी खिल्ली नहीं उड़ानी चाहिए। ऐसा करने पर वे चिड़चिड़े और उद्विग्न होने लगते हैं।

किसी मामले पर बच्चे द्वारा राय देने पर उसे झिड़के नहीं, भले ही उस राय का कोई अर्थ और महत्व न हो। झिड़कने से उनकी हिम्मत टूटने लगती है और वे सही बात कहने में भी हिचकने लगते हैं। "अजी तुम चुप रहो, अभी बच्चे हो।" बात-बात पर दुहराने से भी बच्चे में कुण्ठा उत्पन्न हो जाती है।

यह सदैव ध्यान में रखा जाय कि बच्चा आखिर मनुष्य ही है और उसकी कुछ अपनी अक्ल भी है। गिरने के डर से किसी बच्चे को चलने से नहीं रोका जा सकता। इसी प्रकार बौद्धिक गलतियाँ करके बच्चा अपनी बुद्धि को विकसित ही करता है।

बच्चे को डाँटने और सजा देने की भी जरूरत पड़ सकती है, पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है कि बच्चा कब कसूर करे, उसी समय उसे डाँटा जाना चाहिए। गलती के एक-दो दिन बाद डाँटने, सजा देने पर बच्चे पर वैसा कसूर न करने का प्रभाव नहीं अंकित हो पाता। अपितु वह ऐसी असमय की डाँट या सजा से चिढ़-सा जाता है। साथ ही, बच्चे की गलती पर ऐसी परेशानी का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, जिससे उसे यह आभास हो जाये कि अच्छा, इन्हें ऐसा करके परेशान किया जा सकता है क्योंकि तब वह ऐसा करने में ही अपना महत्व बढ़ाने का अनुभव करने लगता है। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि बच्चे की जिस हरकत को शरारत समझा जा रहा है, वह उसके अनजान होने के परिणामस्वरूप हो रही हो। आखिर उन्हें हर बात में सही-गलत की जानकारी तो होती नहीं। अतः अनजाने में की गई भूलों को सुधारकर ठीक बात समझाने की आवश्यकता होती है, डाँट-डपट की नहीं।

जिस घर में समानान्तर सरकारें चल रही होंगी, वहाँ बच्चों में अराजकता का ही विकास होगा अर्थात् जहाँ बाप कुछ हुक्म दे, माँ उसकी बात को काटकर दूसरा अथवा माँ का आदेश काटकर बाप दूसरा आदेश दे, वहाँ उच्छृंखलता की प्रवृत्ति ही पनपेगी और बच्चों में चुगलखोरी, चापलूसी तथा फुसलाने की आदत भी बढ़ेगी। वे जान जायेंगे कि माँ को खुश करने के लिए बाप का अमुक कहना न मानने की बात बताना लाभकारी है और आज्ञाकारिता की सौदेबाजी कर माँ-बाप से मन-पसन्द वस्तुएँ ऐंटी जा सकती हैं। जो माँ-बाप अमुक काम कर डालने पर

३. ४३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

अमुक माँग पूरी कर देने की लत बच्चों को लगा देते हैं, वे निश्चय ही उनमें इन दुर्गुणों के विकास के दोषी हैं।

बच्चे में यदि आलस्य की वृत्ति बढ़ती दिखे, तो उसे उस हेतु डाँटना नहीं चाहिए क्योंकि बच्चे स्वभाव से उत्साही, चपल और क्रियाशील होते हैं। अतः आलस्य किसी शारीरिक-विकार का परिणाम हो सकता है। उसकी जाँच कराई जानी चाहिए।

यदि बालक खेल-कूद में उत्साह रखता हो, किन्तु पढ़ने या कार्य करने से जी चुराता हो, तब यही मानना चाहिए कि इसका कारण शारीरिक दोष न होकर पढ़ाई या कार्य में अभिरुचि न होना है। ऐसे बच्चों की रचनात्मक क्षमता उनके अनुकूल कार्य-क्षेत्र मिलते ही प्रकट हो जाती है। अतः जरूरत इस बात की होती है कि बच्चे के व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसकी स्वाभाविक अभिरुचियों का पता लगाया जाये। यहाँ वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन का प्रसंग स्मरणीय है। डार्विन बाल्यावस्था में पाठशाला से बहुत जी चुराता था। उसे कक्षा में कैद होने से चिढ़ थी। इसके स्थान पर जंगलों, पहाड़ों में घूमने निकल जाना उसे भाता। पिता परेशान थे। वे अपने लड़के को डाक्टर बनाना चाहते थे। जब लड़का सुधरता न दिखा तो उन्होंने उसे एक दूसरी पाठशाला में डाल दिया। वह एक मनोवैज्ञानिक प्राध्यापक थे। उन्होंने डार्विन की रुचि का पता लगा लिया और उसके पिता से भी बता दिया कि तुम्हारा लड़का डाक्टर तो नहीं बन सकता, पर बहुत बड़ा प्रकृति विशेषज्ञ अवश्य बन सकता है। पिता ने अनुमति दे दी और डार्विन अपनी रुचि का विषय पाकर तेजी से आगे बढ़ने लगा तथा विश्वविख्यात वैज्ञानिक बना, विकासवाद का सिद्धान्त दुनिया के सामने प्रस्तुत किया।

वस्तुतः बच्चे की आदतों की पूरी जिम्मेदारी माँ-बाप की है। माता ही बच्चे की प्रथम गुरु है। पाँच वर्ष की उम्र तक ही बच्चा योग्य माँ से इतना सीख सकता है, जितना अगले चार वर्ष तक भी स्कूल में न सीख सकेगा। कहानी-किस्से के रूप में बच्चे में डाले गये संस्कार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। माता जीजाबाई ने अपने पुत्र शिवाजी को बचपन में ही रामायण और महाभारत की वीर-गाथाएँ सुनाकर उनमें शौर्य, साहस, संकल्प और आदर्शवादिता के बीज बो दिये थे। यदि बच्चे को श्रेष्ठ संस्कार डाल सकने वाली कहानियाँ सुनायी जायें, तो उन पर उन कहानियों का निश्चित प्रभाव पड़ता है। बच्चों में कहानियाँ सुनने की तीव्र ललक होती है। उसे माँ-बाप नहीं पूरा करें तो वह इधर-उधर पास-पड़ोस में सुनेगा। अतः बच्चों को कहानियाँ सुनाने के लिए समय, हर माँ-बाप को निकालना ही चाहिए तथा भय या निराशा उत्पन्न करने वाली, भूत-चुड़ैल की या किसी राजकुमारी की हत्या आदि की कहानियाँ उन्हें नहीं सुनानी चाहिए। भयावही कहानियाँ

बच्चे की विचारधारा और कल्पना-प्रवाह को भय की ही दिशा में मोड़ देती है और भयप्रद विचारों तथा कल्पनाओं में उलझा बच्चा अकारण ही भयभीत होने लगता है। भय का ही एक दूसरा रूप है—अतिशय झिझक। जो माँ-बाप बच्चों को बात-बात में झिझकते रहते हैं, वे अपने बच्चों में ऐसी झिझक की भावना पैदा कर देते हैं। उनके बच्चे दूसरों से भी बात करने में झिझकते हैं। यह झिझक गहरी आत्महीनता का कारण बनती है और इस आत्महीनता की प्रतिक्रिया में कई बार बच्चे आगे चलकर उद्दण्ड या अपराधी भी हो जाते हैं। अधिकांश उद्दण्ड किशोर भीतर से बहुत डरपोक होते हैं। अतः बच्चों में भय और झिझक की भावनाएँ पैदा ही नहीं होने देना चाहिए और यदि किसी कारण पैदा हो जायें तो मनोवैज्ञानिक ढंग से उसके भय को दूर करने के उपाय तत्काल किये जाने चाहिए। वस्तुतः बच्चे के प्रति माँ-बाप को निरन्तर सतर्क रहना ही होता है। बच्चे के पालन-पोषण का यह अर्थ नहीं है कि उसे रोटी खिला दी जाये, कपड़े बनवा दिये जायें, पुस्तकें-खिलौने आदि ला दिये जायें और पैसे दे दिये जायें। बच्चों के व्यक्तित्व-निर्माण की जिम्मेदारी भी उन्हीं की है। स्कूल खदेड़कर वहाँ किसी मशीन में बच्चे के व्यक्तित्व के ढलकर सुघड़ हो जाने की आशा भी हास्यास्पद है। व्यक्तित्व-निर्माण का प्राथमिक दायित्व माता-पिता का ही है, अतः उस हेतु उन्हें ही प्रयास करने होंगे।

बच्चों की कोमलता को ध्यान में रखने का यह अर्थ भी नहीं है कि उनकी अनुचित माँगों को स्वीकार किया जाये। ऐसा करने से बालक का ही अहित होगा। बच्चे की उचित-अनुचित सभी माँगों को स्वीकार करते जाने का अर्थ है, उसे हठी-दुराग्रही बनाना। साथ ही ऐसे बच्चे की अनुचित इच्छाएँ भी बढ़ती जाती हैं और उनकी पूर्ति के लिए उनमें निगाह बचाकर चोरी करने जैसी बुरी आदतें पैदा हो जाती हैं। अतः बच्चे की अनुचित माँगें कदापि पूरी नहीं करनी चाहिए। इस विषय में पर्याप्त दृढ़ता बरती जानी चाहिये। विशेषकर माताओं को इस दिशा में अधिक सजग रहने की आवश्यकता है। उनका कोमल हृदय बच्चे के रोने-मचलने से विचलित हो उठता है किन्तु उन्हें बच्चे के हित की दूरगामी दृष्टि रखकर अपनी इस कोमलता को कमजोरी नहीं बनने देना चाहिए।

छोटी उम्र से ही बच्चों में कोमल भावनाओं का विकास करना चाहिए। बच्चों में सह-भावना सबके हित का ध्यान रखने की वृत्ति पैदा करना माँ-बाप के ऊपर ही है। जो माँ-बाप दूसरों तथा अपने बच्चों के बीच व्यवहार करते समय कोई भेदभाव नहीं रखते और न किसी तरह का दुराद, छिपाव ही रखते हैं, वे बच्चे अपना ही नहीं सबके अस्तित्व का एक साथ ध्यान रखते हैं। उनमें भेदभाव करने की भावना नहीं रहती।

बच्चों में अनुकरण करने की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति होती है। माँ-बाप अभिभावकों का जीवन उसके लिए निकटतम और आत्मभाव से भरा हुआ प्रतीक, आदर्शों का केन्द्र होता है। इस तरह माँ-बाप के ऊपर ही बच्चों के निर्माण का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। माँ-बाप अपने इस उत्तरदायित्व को समझें और प्रयत्न करें तो इन खिलते हुए कुसुमों में सद्गुण, सद्भावों, अच्छी आदतें, सदाचार, शील, पुरुषार्थ, साहस आदि का सौन्दर्य और सुगन्धि भर जाय तो सामान्य से बच्चों में ही अनेकों महापुरुष निकल सकते हैं। प्रकृति शरीर देती है, किन्तु मनुष्य उसे व्यक्तित्व, मनुष्यता देता है।

बच्चे के हठी, आलसी, चिड़चिड़े, उच्छृंखल, स्वेच्छाचारी, अनुशासनहीन, डरपोक और विषयगामी होने की प्रमुख जबाबदारी माता-पिता पर होती है। दूसरों पर दोष डालकर वे इससे बचे नहीं सकते। बच्चे के पालन-पोषण का अर्थ उसके व्यक्तित्व-विकास की ओर सदा ध्यान दिये रहना भी होता है। जो माता-पिता ऐसा नहीं कर पाते, वे बच्चे के प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं पूरी करते।

बालकों के विकास के प्रति सावधानी बरतें

शिशु ईश्वर के इस उद्यान का सुरभित पुष्प होता है। उसमें अनेक गुण एवं शक्तियाँ जन्मकाल से ही विद्यमान रहती हैं, लेकिन उनका योजनाबद्ध विकास माता-पिता के विवेक और उनकी सूझ-बूझ पर निर्भर करता है।

अभिभावकों को चाहिए कि उनका बच्चा आत्मविश्वासी, निडर, साहसी, परिश्रमी, कर्मशील एवं सहिष्णु बने, इसके लिए उन्हें सतत सावधानीपूर्वक वैसा प्रयत्न करना चाहिए। बच्चे को सदैव यह करो, वह मत करो, अमुक जगह जाओ, वहाँ मत जाओ आदि आदेशात्मक और प्रतिबन्धात्मक वाक्य नहीं कहते रहना चाहिए।

बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में घर का वातावरण भी एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। सुखद, शान्त, आनन्द एवं उल्लासप्रद वातावरण में बच्चे का मानसिक और नैतिक विकास भी श्रेयस्कर ढंग से होता है। बच्चों में अनुकरण एवं जिज्ञासा की प्रवृत्ति स्वभावतः होती है। अतः उनके समक्ष उच्च आदर्श ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए ताकि आगे चलकर वह देश, समाज तथा संस्कृति के लिए महत्वपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण कर सकें।

छोटे बच्चों का मानसिक संस्थान कोमल और सहजग्राही होता है। बचपन में जो संस्कार, स्वभाव वह ग्रहण करता है, प्रायः वह जीवनपर्यन्त किसी न किसी रूप में बना रहता है। इसीलिए मनीषियों ने छोटी आयु में ही

अच्छी आदतों और सदाचरण के अभ्यास डालने पर विशेष जोर दिया है। इस आयु के संगृहीत संस्कार ही युवा और प्रौढ़ावस्था के विचारों की बुनियाद होते हैं। अतः माता-पिता और अभिभावकों को बच्चों के निर्माण में सतर्कता बरतना बच्चे जन्म देने से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

हमारे देश में प्रबुद्ध और शिक्षित वर्ग भी अपने बच्चों के प्रारम्भिक निर्माण में उपेक्षा बरतते हैं। परिणामस्वरूप अनेक बच्चों में हानिकारक मानसिक ग्रन्थियाँ निर्मित हो जाती हैं, जो उनके जीवन में अनेक समस्याओं की जननी होती हैं। अतः बालकों के चरित्र-निर्माण और उसके विकास पर ध्यान देना प्रत्येक अभिभावक का महत् दायित्व है।

अगर बच्चों में अच्छे बनने की प्रतिस्पर्धा की चेतना विकसित की जा सके तो उससे बहुत लाभ होते देखा गया है। परिवार के प्रारम्भ के एक या दो बच्चों में अच्छे संस्कार डाले जा सके तो बाद के बच्चे स्वयंमेव अच्छी आदतें अनुकरण के द्वारा सीखते जाते हैं। परिणामस्वरूप परिवार सुख-शान्तिमय बनता जाता है।

मान लीजिए एक परिवार में दो बच्चे हैं। दोनों को एक-सी पोशाक एक साथ दी जाये और उन्हें कहा जाये कि देखें किसकी पोशाक अधिक समय तक चलती है। चूँकि दोनों बच्चों में अधिक दिनों तक पोशाक को टिकाऊ बनाने की प्रतिस्पर्धा होगी, इसलिए वे उसके उपयोग और रख-रखाव पर अधिक सतर्कता बरतेगे, फलतः उनकी पोशाक भी अधिक दिनों तक चलेगी। इसी तरह उनकी पुस्तकें, लेखन सामग्री, जूते, किफायतसारी आदि में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना देकर सदाचरण की ओर उन्मुख किया जा सकता है। बच्चों को इस तरह स्वावलम्बन का पाठ सिखाने के पूर्व अभिभावकों में उन आदर्शों और गुणों का पाया जाना अति आवश्यक है। ऐसा न होने पर कोरा उपदेश बच्चों के समवेदनशील मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकेगा।

मिट्टी के घरोँदे बनाना, कागज के फूल बनाना, स्लेट पट्टी पर चित्र बनाना, विभिन्न प्रकार के खेल सिखाना आदि के द्वारा बच्चों को निष्क्रियता से बचाया जा सकता है। इससे उसकी प्रवृत्ति बुरी आदतों की ओर बिल्कुल नहीं जा पायेगी।

अभिभावकों को चाहिए कि वे अपने बच्चों के साथियों का भी अध्ययन किया करें। सदैव यह प्रयास करना चाहिए—बच्चे शिष्ट और सदाचारी बालकों के साथ खेलें, शाला जायें और घर में उनके साथ ही पढ़ने-लिखने का अभ्यास करें।

इस दृष्टि से विभिन्न परिवारों के बच्चों से मेल-जोल बढ़ाने देना चाहिये। सदैव गुण ग्राहकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना चाहिये। यदि उसके साथी चोर प्रकृति

३. ४५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

के हैं तो उससे अलग करने के लिये किसी अच्छे बालक का साथ करना अधिक श्रेयस्कर होता है।

बच्चे बाहर से दूसरे की वस्तुएँ घर तो नहीं लाते हैं, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। इतना लाड़-प्यार भी नहीं देना चाहिए कि वह दूसरे के खिलौने या अन्य छोटी-छोटी वस्तुएँ चुपचाप ले आये। सर्वप्रथम तीन वर्ष की अवस्था से ही बच्चे को यह समझाते रहना चाहिए कि अपनी और पराई वस्तु में क्या अन्तर है तथा दूसरों की चीजें क्यों नहीं लानी चाहिए ? चोरी करना क्या है तथा इसका कितना बुरा परिणाम होता है आदि बातें सरल शब्दों में समझा देना चाहिए।

बच्चे की निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अभिभावकों का जेब-खर्च देना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसमें पैसे के उपयोग की योग्यता उत्पन्न करना। यदि बालक का दृष्टिकोण पैसे के प्रति स्वस्थ है तो वह जीवनपर्यन्त धन से अधिकतम आनन्द प्राप्त कर सकेगा।

बालकों में धन सम्बन्धी स्वस्थ दृष्टिकोण भरने के लिए निम्नांकित बातों की जानकारी होनी चाहिए—

१. धन का महत्व अनुभव करना। २. बुद्धिमत्तापूर्वक खर्च करना सीखना। ३. बचत का महत्व समझना।

जब पारिवारिक बजट बनाया जाय तब परिवार के सभी छोटे-बड़े सदस्यों के साथ विचारविमर्श किया जाना चाहिये। प्रत्येक सदस्य की राय से अवगत होने के पश्चात् एक सन्तुलित आय-व्यय बनाना चाहिए, जिसमें सभी सदस्यों को परिवार की आय किस तरह व्यय हो जाती है, उससे तसल्ली तथा सन्तोष हो। बच्चों की आवश्यकताएँ पूरी करने की मदें भी उसमें रखी जानी चाहिए।

भले ही परिवार को बच्चे द्वारा आय प्राप्त करने की आवश्यकता न हो तथापि उसे पैसे का मूल्य सिखाने के लिए परिश्रम के द्वारा पैसे पैदा करने देना चाहिए। बालक छोटा हो तो उसे घर का ही काम करने दें और उसका पारिश्रमिक दें। बड़े होने पर वह समाज का कोई काम कर सकेगा।

धन व्यय करने के पश्चात् यह देखना चाहिए कि जिन वस्तुओं, मदों पर व्यय किया गया है, वह सही है या नहीं। बच्चों के जेब खर्च पर भी निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि वे किस-किस मद में खर्च करते हैं ? यदि वे अनावश्यक वस्तुओं पर व्यय करते हैं तो उनके जेब-खर्च में कटौती कर देना चाहिए।

बच्चों को कोई भी वस्तु उधार मत दिलवाइये। यदि वे सही कार्यों में अपना जेब-खर्च समय से पूर्व कर डालते हैं तो उन्हें कुछ रकम पेशगी देनी चाहिए जिसे अगले माह काट लेनी चाहिए।

आवश्यकता और इच्छा का अन्तर भली-भाँति समझकर बच्चों के लिए व्यय करना चाहिए। मान लीजिए वह बाजार जाता है और कीमती खिलौने, अधिक मूल्य के कपड़े और मिठाइयाँ लेने की जिद करता है तो उसे उसकी सीमित आवश्यकताओं को पूरी कर देने और अनावश्यक वस्तुएँ क्यों नहीं खरीदना चाहिए, का ज्ञान करना चाहिए।

कभी उसने कोई गलती कर ली तो उसके मूल कारण को जानने का प्रयत्न करें। प्रत्येक माता-पिता को यह जानना चाहिए कि बच्चे को कब पुरस्कार, प्रशंसा और कब दण्ड देना—उसके चरित्र-निर्माण में सहायक हो सकता है।

समाज का इन निरपराध बच्चों के प्रति अन्याय क्यों ?

परित्यक्त बच्चे ! माँ, जिनका परित्याग कर देती है, पिता जिन्हें भाग्य भरोसे छोड़ देता है, समाज जिन्हें दर-दर की ठोकरें खिलाता है। ये बच्चे जिनमें से न जाने कितने जवाहर, कितने लालबहादुर और न जाने कितने गाँधी निकलते ? इन बच्चों में से अधिकांश को तो जन्म ग्रहण करते ही स्वर्गवासी बना दिया जाता है और जो बच जाते हैं, उन्हें रात्रि के गहन अन्धकार में गलियों के मोड़ों, अनाथालयों के दरवाजों पर फेंक दिया जाता है, जिनकी करुण आवाज अनाथालयों की चहारदीवारी के अन्दर भी कोई सुनने वाला नहीं होता। जो प्यार और स्नेहिल छत्रछाया इन्हें अपने माता-पिता की मिलनी चाहिए थी, वो उन्हें नहीं मिल पाती।

वे सुकुमार पुष्प जिनकी सुरभि सारे देश में फैलनी थी, वे मुरझा जाते हैं, जो होश सँभालते ही अपने को अनाथालयों, धार्मिक संस्थाओं के दरवाजों पर पड़ा पाते हैं, उन्हें न अपनी माता का पता होता है न पिता का। ऐसे बच्चे अक्सर अविवाहित माताओं या युवा विधवाओं के होते हैं, जो समाज के अत्याचारों का शिकार हो जाती हैं या स्वयं अपनी नासमझी और असंयम की। इन बच्चों की प्रतिभाएँ उचित संरक्षण के अभाव में कुण्ठित हो जाती हैं।

कुछ विवाहित माताएँ भी अपने नवजात शिशुओं को त्याग देती हैं क्योंकि वे उनका उचित पालन-पोषण करने में अपने को असमर्थ पाती हैं। ऐसे बच्चों का पालन उक्त संस्थाओं में होता है। वहाँ ये बच्चे पलकर बड़े होते या फिर बचपन में ही ऐसे बच्चों को गोद ले लिया जाता है, जिनके कोई सन्तान नहीं होती। परित्यक्त शिशुओं को सँभालने, पालने आदि का कार्य देश में मुख्य रूप से ईसाई मिशनरियों द्वारा खोले गये पोषण-गृह अथवा 'फ़ाउण्डलिंग होम' करते हैं।

इन बच्चों को समाज किस दृष्टि से देखता है और बड़ा होने पर समाज में इन बच्चों को क्या स्थान मिलता है, यह बिचारणीय विषय है। परन्तु इससे भी गम्भीर समस्या इन परित्यक्त बच्चों की बढ़ती हुई संख्या है। पोषण-गृहों में प्रत्येक रात्रि को एक बच्चा अवश्य ही यहाँ का सदस्य हो जाता है, कभी-कभी इससे अधिक भी। जहाँ इन बच्चों को माता-पिता का प्यार नहीं मिल पाता।

ऐसा अनाचार हमारी उन्नति का छोटक नहीं हमारे पतन का चिह्न है। यह भारतीय समाज पर एक गहरा कलंक है। आज के प्रगतिशील युग में हम नारी को शिक्षा और पुरुषों के बराबर अधिकार तथा परिवार और समाज में सम्मान देने का दावा करते हैं, तब क्या समाज में बढ़ते हुए इस दुराचार को रोकना हमारा कर्तव्य नहीं ? जिन्हें दुर्भाग्य की देन मानकर स्वयं जिनके जन्मदाता हमेशा-हमेशा के लिए जिनसे मुँह मोड़ लेते हैं बिना यह सोचे-समझे कि उनका भविष्य क्या होगा ?

समाज-कल्याण और बाल-कल्याण कार्य से सम्बद्ध व्यक्ति और कार्यकर्ता इस तथ्य से अनिश्चित नहीं कि परित्यक्त बच्चों की समस्या कितना जटिल है, इसका समाधान आवश्यक है, परन्तु इससे पूर्व इन कारणों को जानना भी आवश्यक है जिनसे ऐसे बच्चे पैदा हो रहे हैं या अविवाहित माता बनने की नौबत आ रही है।

इस दोषपूर्ण स्थिति के सबसे मुख्य कारण दहेज की समस्या, बड़ों की अपने बच्चों पर अनुशासन में ढिलाई, आत्मसंयम की कमी आदि है। इन सबमें दहेज की समस्या सर्वोपरि है।

आज दहेज-विरोधी कानून पास हो चुका है अर्थात् दहेज लेना और देना दोनों कानूनी तौर पर अपराध माने जाते हैं, फिर भी समाज में दहेज खुलेआम दिया और लिया जा रहा है। इससे पैसे वाले लोग तो अपनी कन्याओं का अच्छे वर से सम्बन्ध कर देते हैं क्योंकि वे दहेज के रूप में अच्छी कीमत अदा करके लड़के को खरीद लेते हैं, परन्तु जो इसे पूरा करने में समर्थ नहीं हैं, उनकी लड़कियाँ बड़ी उम्र तक कुंवारी रह जाती हैं या फिर आजीवन अविवाहित रह जाती हैं, क्योंकि उनके पिता दहेज के रूप में मोटी रकम, सोना, स्कूटर, रेडियो, फ्रिज, मकान आदि नहीं दे सकते। कितनी ही ऐसी गुणी लड़कियाँ हैं, जो दहेज के अभाव में बहुधा ब्याही नहीं जातीं।

दूसरा कारण हमारे वयस्कों में व्यावहारिक ज्ञान का अभाव है। अब परम्परागत अन्धविश्वासों तथा खोखली नैतिकता को छोड़कर बच्चों को स्कूल स्तर पर ही सैक्स के बारे में शिक्षा देकर आरम्भ से ही सजगता भरनी होगी, ताकि वे किसी कुचक्र में पड़ने से पूर्व उसकी हानियों को जान सकें।

तीसरा कारण यह है कि हमारे युवा वर्ग में आत्मसंयम की कमी आती जा रही है। आज जबकि लड़के-लड़कियाँ और प्रौढ़ स्त्री-पुरुष मिलकर काम करने, कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य करने और आगे बढ़ने के सुअवसर आते हैं, ऐसे स्थलों पर आत्मसंयम की कितनी आवश्यकता है, यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। उन्नति अच्छी चीज है, परन्तु जहाँ ऐसे अवरोध आ जायें, वहाँ समाज अवनति के गर्त में ही गिरेगा।

अगला कारण बड़ों में स्वयं अनुशासनहीनता तथा बच्चों पर निगरानी रखने में शिथिलता। इसके भी कई कारण हैं। एक आज आजीविका कमाने में संघर्ष करना पड़ता है कि माता-पिता को, विशेषकर पिता को, यदि माता को भी नौकरी के सिलसिले में घर से बाहर रहना पड़ता हो और उनको अधिकांश समय घर से बाहर व्यतीत करना हो तो स्वभावतः बच्चों पर निगरानी कम हो जाती है।

दूसरे हमारे शिक्षक वर्ग के नैतिक स्तर में भी कमी आ गई है। जिससे वे अपने संरक्षण आये बच्चों को चरित्रवान् बनाने में अपना आदर्श उपस्थित नहीं कर पाते। यह एक कटु सत्य है, जिसे आज का अध्यापक वर्ग सहज नहीं कर सकता।

इन परित्यक्त बच्चों, नवजात शिशुओं को समाज में स्थान दिलाने के लिए, इन्हें समाज में पुनः अपनी स्थिति कायम रखने के लिए कानूनी संरक्षण प्राप्त होना बहुत जरूरी है। इन बच्चों के लिए धर्म माता-पिता, धर्म परिवार ढूँढ़े जायें, जहाँ ये बच्चे पोषण गृहों, अनाथालयों आदि से मुक्ति पाकर भली-भाँति पोषण पा सकें। अपने जीवन को समुज्ज्वल बना सकें।

ये मासूम बच्चे निरप्राप्त और निरपराध हैं, आखिर इन्हें समाज किस अपराध की सजा देता है ? इनको आज माता-पिता का प्यार और स्नेहिल छत्रछाया चाहिए, जो इन्हें विकास का उचित अवसर दे सके। नहीं तो ये सुकोमल पुष्प बालअपराधी बनेंगे, चोरी करेंगे, आवागर्दी करेंगे, भीख माँगेगे, जुआरी बनेंगे, शराब पीयेंगे और समाज के लिए कण्टक और सिरदर्द बन जायेंगे।

जब अविवाहित माँ अपने शिशु को छोड़ जाती है, फेंक जाती है, तो उस पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता। तब बच्चा अनाथालयों में भटकता-फिरता है, जहाँ से निःसन्तान माता-पिता उसे गोद ले लेते हैं। उसे संरक्षक तो मिल जाते हैं, किन्तु इस प्रकार के बच्चों को कानूनी रूप से वैध नहीं माना जाता। समाज में भी वे हीन दृष्टि से देखे जाते हैं और आयुपर्यन्त अवैध सन्तान कहलाने की आत्मग्लानि में उन्हें जलना पड़ता है।

ये परित्यक्त बच्चे समाज के हैं और समाज तथा सरकार दोनों का इनके प्रति भारी उत्तरदायित्व है। इससे हम कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र

३. ४७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

तथा मानव-कल्याण के इस आधुनिक युग में, जबकि हम प्रत्येक प्राणी के जीने के अधिकार और हितों के तथ्यों को स्वीकार करते हैं, ऐसे बच्चों की अवहेलना अवांछनीय ही नहीं, सामाजिक अपराध भी है। इस अपराध से मुक्ति पानी ही चाहिए।

बच्चों का समुचित विकास कीजिए

समुचित विकास का अर्थ है बच्चे की शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक वृद्धि। जब तक उसमें इन तीनों शक्तियों का सन्तुलित विकास नहीं होता उसका व्यक्तित्व अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँचता और जब तक व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती, मनुष्य जीवन की महान उपलब्धियों को प्राप्त नहीं कर पाता। समाज उसको या तो समझ ही नहीं पाता या समझने में भूल करता है। जिसका जितना ही उज्ज्वल चित्र समाज के सामने रहता है, वह उतना ठीक पहचाना जाता है।

समुचित विकास के लिए बच्चे को प्रेरणा देने से पहले यह आवश्यक है कि शारीरिक विकास, मानसिक विकास और बौद्धिक विकास का क्या अर्थ है ? यह समझ लेना चाहिए।

शारीरिक विकास का अर्थ है—शरीर का सुन्दर, स्वस्थ और सशक्त होना। मानसिक विकास का अर्थ है मन का प्रसन्न, प्रफुल्ल, निर्भीक, साहसिक, विश्वस्त और स्थिर होना। बौद्धिक विकास का अर्थ है—किसी बात के ठीक-ठीक समझने-समझाने और निर्णय में बुद्धि का सक्षम होना और समुचित विकास का अर्थ है—इन तीनों बातों का साथ-साथ समान रूप से वृद्धि पाना।

सबसे पहले बच्चे का शारीरिक विकास प्रारम्भ होता है। उसके बाद बौद्धिक और तत्पश्चात् मानसिक। इस क्रम से विकास होने के कारण शारीरिक विकास अन्य दोनों विकासों की आधारभूमि मानी जाती है। अतएव अभिभावकों का पहला कर्तव्य है बच्चे के शारीरिक विकास पर समुचित ध्यान देना।

बच्चे को उसकी आयु के अनुरूप शुद्ध और सुपाच्य वस्तुएँ खिलानी चाहिए, क्योंकि प्रौढ़ों की पाचन शक्ति और बच्चों की पाचन शक्ति में अन्तर होता है। अधिकतर सभी घरों में सबको एक ही समान भोजन दिया जाता है। क्या बच्चे, क्या प्रौढ़ एक ही प्रकार की बनी रसोई खाते हैं ? न किसी के अलग भोजन की व्यवस्था होती है और न इसकी आवश्यकता अथवा महत्त्व समझा जाता है।

प्रायः सभी अभिभावक वही चीजें बच्चों को भी खिलाते हैं जो उन्हें पसन्द होती हैं। बच्चा यदि अपनी प्रकृति अथवा आयु के प्रतिकूल यदि कोई चीज नापसन्द भी करता है तब भी उसे थोड़ी-थोड़ी और बार-बार खिलाकर उन चीजों का अभ्यास कराते हैं। वे सदैव यह

चाहते रहते हैं कि बच्चा ठीक उनके ही अनुसार हर बात का अभ्यस्त होकर ठीक-ठीक उनका ही प्रतिरूप बने। समान भोजन का अभ्यस्त बना लेने में उन्हें एक सबसे बड़ी सुविधा यह दीखती है कि बच्चे के लिए अलग से भिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाने का झंझट नहीं करना पड़ता। वे इसमें श्रम, समय और पैसे की बचत की सुविधा देखते हैं, बच्चे के स्वास्थ्य को नहीं देखते। मिर्च-मसालों वाला भोजन भी बच्चे को खिलाने में संकोच नहीं करते। यद्यपि वह मिर्च आदि मुँह में लगते ही रोने-बिलबिलाने लगता है तथापि उनको यह विचार नहीं आता कि यह चीज उसके प्रतिकूल है, नहीं खिलानी चाहिए। इसके विपरीत बहुतों का यह विश्वास होता है कि मिर्च-मसालों से बच्चों की पाचनक्रिया को शक्ति मिलती है और उसकी जुवान खुलती है। यह भूल है। मिर्च-मसाले बच्चे की पाचनक्रिया खराब कर देते हैं और उसके स्वस्थ बनने में बाधक होते हैं।

जब बच्चे का शारीरिक विकास समुचित रूप से होता चलेगा तो अन्य दो विकास भी ठीक-ठीक होंगे। भोजन का प्रभाव मन और मस्तिष्क पर भी पड़ता है। जिस प्रकार का भोजन बच्चे को दिया जायेगा उसी प्रकार का उसका मन और मस्तिष्क बनेगा। “स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन और मस्तिष्क होता है।” इस सिद्धान्त के अनुसार उसे केवल वे ही चीजें खिलाई जानी चाहिए जो उसके शरीर, मन और मस्तिष्क के अनुकूल हों, जिससे शरीर स्वस्थ, मन सबल और बुद्धि प्रखर बने।

बौद्धिक विकास के लिए उसे ऐसे वातावरण में रखना चाहिए जो उसके अनुकूल हो। उससे बुद्धिबर्द्धक बातें की जानी चाहिए और ऐसे खिलाया जाना चाहिए जिससे उसे थोड़ी-बहुत बुद्धि का प्रयोग करना पड़े। व्यावहारिक बातों में, क्या कैसे होता है ? ऐसा क्यों है ? ऐसा क्यों नहीं होना चाहिए आदि तर्क-पद्धति से सोचने और समझने का अभ्यस्त बनाना चाहिए। इससे उसमें विचार-शक्ति का उदय होगा और वह हर बात पर विचार करने लगेगा। बुद्धि का अधिक से अधिक उपयोग ही बौद्धिक विकास का सबसे अच्छा साधन है।

उसे सामान्य रूप से उपयोग और प्रयोग में आने वाली चीजों का प्रारम्भिक ज्ञान कराया जा सकता है। जैसे दूध कैसे प्राप्त होता है ? उसकी क्या उपयोगिता है ? वह कब हानि और कब लाभ करता है ? अच्छे और खराब दूध की क्या पहचान है ? अन्न कैसे उत्पन्न होता है, कौन-सा अन्न कैसा होता है और उसकी क्या पहचान है ? सब्जियाँ कैसे उगाई जाती हैं ? कपड़ा कैसे बनता है ? कापी, कागज, किताबें आदि किस प्रकार इस रूप में आती हैं आदि ? तात्पर्य यह है कि नित्य-प्रति प्रयोग में आने वाली चीजों के माध्यम से उसमें ज्ञानोपार्जन की एक प्रकृति का जागरण किया जा सकता है, जिससे आगे चलकर उसमें अधिकाधिक ज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न हो

जायेगी और वह अध्ययनशील एवं अन्वेषणशील बन जायेगा, जिससे उसके बौद्धिक विकास को पर्याप्त लाभ होगा।

पाठशाला में भेजने से पूर्व बच्चे को साल दो साल घर पर पढ़ा लेना चाहिए, जिससे कि शिक्षा के अनुकूल उसका बौद्धिक धरातल तैयार हो जाये। घर पर शिक्षा देने से इस बात का भी पता लग जायेगा कि किन विषयों में उसकी विशेष रुचि है और कौन-से विषय उसे कठिन पड़ते हैं ? इसका पता लग जाने से शिक्षकों को उससे अवगत कराया जा सकता है जिससे शिक्षक को उसे समझने और पढ़ाने में सुविधा रहेगी। साथ ही जब कोई बच्चा कुछ अपनी योग्यता लेकर घर से पाठशाला जायेगा तो पढ़ना उसके लिए एकदम कोई नई वस्तु न होगी और वह कक्षा में ठीक से चल सकेगा। अधिकतर बच्चे ६, ७ वर्ष की आयु पर पाठी पुत्राकर पाठशाला की ओर हाँक दिये जाते हैं, जिससे वह नये काम और नई जगह के कारण घबड़ाता है, रोता है और बचना चाहता है। नित्य-प्रति पाठशाला जाने के समय अनुरोध का झंझट पैदा होता है, जिससे अभिभावक को झल्लाहट और बच्चे की अरुचि पैदा होती है और कभी-कभी तो माता-पिता परेशान होकर उसे शिक्षा के अयोग्य समझकर इस ओर से उदासीन हो जाते हैं और यह धारणा बनाकर पढ़ने से बिठा लें कि इसके भाग्य में विद्या है ही नहीं। अस्तु, पाठशाला भेजने से पहले यदि उसके अनुकूल उसका बौद्धिक धरातल घर पर ही तैयार कर दिया जाये तो इस प्रकार की सम्भावनाओं का अवसर ही न आये।

शिक्षा के विषय में केवल शिक्षालयों तथा शिक्षा पर ही निर्भर न रहना चाहिए। स्वयं भी देखना चाहिए कि उनका बच्चा पढ़ाई-लिखाई में क्या प्रगति कर रहा है ? कमजोर बच्चों को अभिभावकों को स्वयं पढ़ाई में कुछ न कुछ सहायता करनी चाहिए। साल बचाने के लिए एक कक्षा से दूसरी कक्षा में पहुँचाने के लिए व्यर्थ प्रयत्न न करना चाहिए। शिक्षा को योग्यता के मापदण्ड से नापना चाहिए न कि कक्षा की श्रेणी से। आशय यह है कि बच्चे के लिए शिक्षा की ऐसी अवस्थाओं और व्यवस्थाओं का प्रबन्ध करना चाहिए जिससे कि वे दिनोदिन योग्य बन सकें।

मानसिक विकास के लिए उन्हें अधिक से अधिक प्रश्न एवं विशुद्ध वातावरण में रखने का प्रयत्न करना चाहिए न उन पर इतना नियन्त्रण करना चाहिए कि वे मुरदा-मन हो जायें और न इतनी छूट देना चाहिए कि वे उच्छ्वल हो जायें। इन्हें भय से मुक्त करने के लिए साहस की कथाएँ सुनाई जानी चाहिए और उदाहरण देने चाहिए। उन्हें किसी बात से सावधान तो करना चाहिए किन्तु भयभीत नहीं। धीरे-धीरे कठिन कामों का अभ्यस्त बनाना चाहिए। काम बिगड़ जाने पर उनका उपहास न

करके उसके सुधार की शिक्षा देनी चाहिए और समुचित सराहना से प्रोत्साहित करना चाहिए। उनके सामने क्रोध, लोभ, स्वार्थ अथवा असद्भावनाओं की परिस्थितियाँ न आने देना चाहिए। उन्हें अच्छी बातों के लिए प्रोत्साहित और बुरी बातों के लिए हतोत्साहित करना चाहिए। उनके सामने कभी भी ऐसी बातें न की जानी चाहिए जिससे उनके मन पर कोई बुरा प्रभाव पड़े। अभिभावकों को अपने व्यसनों की तुष्टि उनकी नजर बचाकर करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने से वे भी व्यसनी बन सकते हैं और तब उन पर समझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

बाल-विकास कक्षाओं में नैतिक शिक्षा

सामान्य-ज्ञान और व्यवहार-कौशल इन दो विषयों की स्कूली पाठ्यक्रम में भरमार रहती है। परिस्थितियाँ, घटनाएँ, जानकारीयों अधिक मात्रा में उपलब्ध कराना उनका मुख्य विषय है। शिक्षित व्यक्ति अधिक जानकार होता है, जबकि अशिक्षित को सम्पर्क क्षेत्र द्वारा मिलने वाले सीमित ज्ञान पर ही निर्भर रहकर अपनी गाड़ी धकेलनी पड़ती है। अस्तु, यह उचित समझा जाता है कि उठती आयु में जब तक शारीरिक और मानसिक स्थिति कुछ पराक्रम-उपाजन करने जैसी नहीं होती, तब तक उन्हें स्कूलों में पढ़ने दिया जाय। घर में पढ़ने की अपेक्षा स्कूलों में जन-सम्पर्क अधिक रहता है, इस कारण भी उसे उपयुक्त समझा जाता है फिर घर पर पढ़ाने के लिए स्थान और धन-साधन की भी तो उतनी सुविधा हर किसी के पास नहीं होती। इन्हीं कारणों से स्कूली शिक्षा का औचित्य समझा गया और प्रचलन भी चल पड़ा।

इतने पर भी उसमें कुछ भौतिक कर्मियाँ हैं, जिनकी पूर्ति के लिए हमें अन्य उपचार अपनाने होंगे। कर्मियों में एक यह है कि छात्रों में शालीनता, सुसंस्कारिता विकसित करने, व्यक्तित्व उभरने पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। उसके लिए कोई विशेष कार्यक्रम नहीं रखा गया है जबकि छात्रावस्था ही इसके लिए उपयुक्त समय है। बच्चों को गीली मिट्टी के समान समझा जाता है। इस अवधि में वे किसी भी साँचे में ढल सकते हैं किसी भी भली-बुरी दिशा में मुड़ सकते हैं। ज्ञान-वृद्धि आवश्यक तो है पर व्यक्तित्व निर्माण से अधिक उसकी उपयोगिता नहीं मानी जा सकती। गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से यदि कोई परिष्कृत स्तर का नहीं तो फिर ज्ञानवान एवं सम्पत्तिवान होने पर भी सुखी, समुन्नत रह सकना सम्भव नहीं। अब पुरातनकालीन—गुरुकुलों जैसी परिस्थितियाँ न परिवारों में हैं न स्कूलों में। अस्तु, छात्रों के व्यक्तित्व उस स्तर के नहीं बन पाते जिससे उनका निजी भविष्य उज्ज्वल बने एवं सामाजिक प्रगति में योगदान मिले। इस कमी को पूरा करने के लिए इन दिनों यही उपाय

३. ४९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

उपयुक्त प्रतीत होता है कि ऐसी समानान्तर शिक्षा-व्यवस्था बनायी जाय जो पुरातनकाल के गुरुकुलों की आंशिक आवश्यकता पूरी कर सके। इसके लिए उचित समझा गया है कि स्कूली पढ़ाई पूरी करने के अतिरिक्त गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से भी छात्रों को समुन्नत करती चले। उनकी सत्प्रवृत्तियों को उभारने का भरसक प्रयत्न करती रहे।

स्कूली शिक्षा में दूसरी कमी है—अर्थ उपार्जन का, स्वावलम्बन का रास्ता न दीख पाना। कोई समय था जब हर पढ़े-लिखे को आसानी से नौकरी मिल जाती थी। सस्तेपन का समय रहने से सामान्य वेतन में भी गुजारा चल जाता था। अब वह स्थिति रही नहीं। नौकरी का मिलना तो दूर ऊँचे स्कूली, महत्वपूर्ण विषयों की पढ़ाई के लिए स्थान प्राप्त कर सकना भी सम्भव नहीं। शिक्षित बेकारों की पलटन, दिन-दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ती जाती है। नौकरी के अतिरिक्त और कुछ सूझता नहीं, जो सूझता है वह मिलता नहीं। माँ-बाप की जेबें खाली हो गईं, योग्यता वैसी बनी नहीं, जिसमें कोई उद्योग-व्यवस्था अपनाई जा सके। ऐसी दशा में जब युवकों में निराशा और खिझ बढ़ती है तो वे अवांछनीयता की ओर भटकते हैं।

इसके लिए सोचा गया कि अफसर बनने के दिवास्वप्न से छात्रों को विरत किया जाय और अर्थ स्वावलम्बन के लिए सहकारी उद्योग अपनाने के लिए छात्रों और अभिभावकों की तदनु रूप मनोवृत्ति विकसित करने की व्यवस्था की जाय। इसके लिए कुटीर उद्योगों का सिलसिला आरम्भ किया जाय। भले ही वह घरेलू शाकवाटिका जैसा प्रतीक श्रीगणेश ही क्यों न हो ? दिशा सही होने पर मार्ग मिलता है और लक्ष्य तक पहुँच सकना भी बन पड़ता है।

प्रज्ञापीठों की स्थापना लोकमानस का परिष्कार और सत्प्रवृत्ति-सम्बर्द्धन का महान लक्ष्य सामने रखकर हुई है। उन्हें जन-जाग्रति का केन्द्र बनना है साथ ही अन्य देवालयों के सम्मुख आदर्श भी उपस्थित करना है कि उन्हें लोकमंगल में निरत रहकर अपनी उपयोगिता सिद्ध भी करनी है। धर्म-धारणा का अभिवर्द्धन मात्र पूजा से सम्भव नहीं होता इसके साथ सेवा-साधना का जुड़ा रहना भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इन लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए सभी प्रज्ञापीठों भवन-निर्माण और प्रतिमास्थापन का पूर्वाह्न पूरा करते ही मूल लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रचनात्मक प्रयासों का उत्तराह्न अपना रही हैं। इसके लिए बाल-विकास कक्षाएँ चलाने का प्रथम कदम उठाया गया है। इन कक्षाओं में स्कूली पाठ्यक्रम को पूरा करने के अतिरिक्त स्वास्थ्य-संरक्षण, हरीतिमा-सम्बर्द्धन का कार्यक्रम भी सम्मिलित रखा गया है। प्रभावित अभिभावकों के सहयोग से, सामूहिक श्रमदान से स्वच्छता अभियान चलाने का प्रावधान भी इसी योजना में सम्मिलित रखा गया है।

उपरोक्त शिक्षण-व्यवस्था भले ही सर्वांगपूर्ण न हो। उसका प्रत्यक्ष महत्व कोई बहुत बड़ा प्रतीत न हो पर

उसके पीछे जिस दिशाधारा का सम्बन्ध है, उसमें वे सभी सम्भावनाएँ विद्यमान हैं, जिसके आधार पर स्कूली शिक्षा में रहने वाली दोनों कमियों की पूर्ति के लिए ध्यान मुड़े, प्रयास चले। प्रकाश उगे और मार्ग मिले। इन कार्यक्रमों का प्रत्यक्ष लाभ तो स्पष्ट ही है कि वे सत्प्रवृत्ति सम्बर्द्धन की मौलिक प्रगति एवं सुव्यवस्था की पृष्ठभूमि तो बनाती ही हैं।

प्रज्ञापीठों में पढ़ने वाले छात्रों से तो मिशन के कार्यकर्त्ताओं का सीधा सम्बन्ध रहेगा ही उनके अभिभावकों के साथ भी यदि प्रयत्न किया जाय तो घनिष्टता का रिश्ता जुड़ता है। पढ़ने वाले बच्चों के स्वास्थ्य, स्वभाव आदि के सम्बन्ध में परामर्श करते रहने का सिलसिला चल पड़े तो माता-पिता के समान ही शिक्षकों को भी बच्चों का हितचिन्तक माना जाने लगेगा और यह त्रिगुण तीन देवालयों की तरह बच्चों के भविष्य निर्माण में सर्वतोमुखी योगदान प्रस्तुत कर सकेगा। फिर बच्चों के अतिरिक्त उनके परिवारों, अभिभावकों में भी मिशन के आलोक को प्रवेश करने के लिए नया द्वार खुलता है। न केवल बच्चों में, वरन् उनके परिवारों में भी युगचेतना के अनुरूप आदर्शवादिता के संस्थापन, अभिवर्द्धन का सुयोग बनता है। सेवा क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से इस माध्यम से दूसरा प्रयोजन सिद्ध होता है। बच्चों की तरह अभिभावक भी उनसे प्रभावित होते हैं।

इन दिनों स्कूलों में नैतिक शिक्षा न मिलने की चर्चा आमतौर से होती रहती है। जहाँ कहीं इस सन्दर्भ में छुटपुट प्रयास हुए हैं, वहाँ इतना ही बन पड़ा है कि नीति दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाली कुछ पुस्तिकाएँ छपी हैं और उन्हें पढ़ने-पढ़ाने के भी कुछ प्रयास होने लगे हैं। जहाँ तक सिद्धान्तों का सवाल है वहाँ तक उनकी जानकारी सभी को मोटे रूप से होती है। कोई ऐसा नहीं होता जिसने सच्चाई, ईमानदारी आदि की प्रशंसा न सुनी हो और पूछने पर उनके महत्व के सम्बन्ध में कुछ न बता सके। जहाँ-तहाँ ऐसे कथन प्रतिपादित होते ही रहते हैं। कथा-सत्संगों में से प्रायः ऐसा ही कुछ पढ़ने-सुनने को सहज मिल जाता है। ऐसी दशा में नैतिक शिक्षा का दर्शन बताने वाली एकाध पुस्तक और भी जोड़ दी जाय तो उतने भर से कोई नई बात नहीं बनती। नया अध्याय नहीं खुलता।

होना यह चाहिए कि नैतिकता को व्यापक अर्थ में लिया जाय। इसमें नागरिक कर्त्तव्यों के निर्वाह और सामाजिक उत्तरदायित्व के परिपालन करने से मिलने वाले लाभों का सुविस्तृत विवरण इस प्रकार समझाया जाय कि उसे पुण्य-परमार्थ भर न मानकर निजी प्रगति की दृष्टि से भी सुनिश्चित लाभदायक राजमार्ग माना जा सके। प्रचलन में इन दिनों धूर्तता को कुशलता का पर्यायवाचक और लाभकर माना जाने लगा है। इस अदूरदर्शिता के आधार पर तत्काल लाभ उठा लेने वाला अन्ततः कितना घाटा

उठते हैं, इसे सिद्ध करना और समझना प्रज्ञापीठ के अध्यापकों का काम है। इसके लिए उन्हें आवश्यक सामग्री प्रज्ञासाहित्य के फोल्डरों से मिल सकती है। नोट करें और छात्रों के गले उतारने का प्रबन्ध करें।

जानकारी देनी एक बात है और आदर्शों को स्वभाव, अभ्यास में उतरना दूसरी। प्रस्तुत कक्षाओं में छात्रों की शालीनता की मर्यादाओं को समझने और उन पर आचरण करने के लिए आग्रह करना चाहिए। इन निर्धारणों को अनुशासन कहा जाय और उनके परिपालन हेतु उत्साहित ही नहीं बाधित भी किया जाय। जो इस सन्दर्भ में अधिक प्रगति करें उन्हें प्रशंसा प्रदान करने की दृष्टि से पुरस्कृत भी किया जाय। इसके लिए प्रश्नोत्तरों का क्रम चलता रहे। आचरण, अभ्यास और अनुभव के सम्बन्ध में पूछताछ होती रहे और प्रगति को उजागर किया जाता रहे।

प्रज्ञापीठ के हर छात्र को अनुशासन का पाठ पढ़ाया जाय। समय पर कक्षा में आने का ही नहीं घर पर सोने, उठने, खाने, पढ़ने आदि का समय निर्धारण करके और उस दिनचर्या को जागरूकतापूर्वक निभाने पर बल दिया जाय। समयगत अनुशासन सिखाना बड़ी बात है। इससे आलस्य-प्रमाद में होने वाली बर्बादी से बचा जा सकता है।

हर क्षेत्र में परस्पर शिष्टाचार बरतने, मधुर शब्दों में वार्तालाप करने की शिक्षा दी जाय। नम्रता अपनाने और दूसरों को मान देने में सज्जनता है। कोई उत्तेजित न हो, अपशब्द न कहे, असुरता न बरते। 'अपनी बारी की प्रतीक्षा करो।' बायें हाथ पर पंक्तिबद्ध होकर चलें, लाइन में बैठें। शिष्टता के व्यतिरेक होने का स्मरण आते ही बिना झिझक माफी माँगें।

अपनी सुविधा से अधिक साथियों की सुविधा का ध्यान रखें। कर्तव्यपालन पर अधिक और अधिकार पाने पर कम जोर दें। सम्पदा, पद सफलता पाने से भी अधिक ध्यान मानवी गरिमा अपनाने को अधिक महत्त्व दें।

सादा जीवन उच्च विचार के सिद्धान्त का निरन्तर अभ्यास करें। सादगी और स्वच्छता को श्रेष्ठता का पर्यायवाचक मानें। न गन्दगी को पास फटकने दें और न उद्धत प्रदर्शन का बचकाना ठाठ-वाट ओढ़ें, बनायें। शरीर बन्धन, समाजगत अनुशासन और निवास को स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित करें। इसे कलाकरिता समझें और उसे अपनाने में गौरव अनुभव करें।

कामुकता को भड़काने वाले साहित्य, चित्र एवं कुसंग से बचें। वैसे चिन्तन का मन पर आधिपत्य न जमाने पावें, इसका ध्यान रखें। ब्रह्मचर्य का महत्त्व समझें और प्रौढ़ता आने से पूर्व कामुक छेड़छाड़ से दूर रहें।

परिवार में सभी के साथ शिष्टता बरतें। बड़ों का प्रातः चरणस्पर्श पूर्वक अभिवादन भारतीय शिष्टाचार का

अविच्छिन्न अंग है। स्वभाव में मुसकताहट और विनम्रता का पुट लगाये रहें।

नीति शिक्षा के उपरोक्त संकेत हैं जिनमें स्वभाव, व्यवहार एवं अभ्यास की शालीनता से ओत-प्रोत रखने पर जोर दिया गया है। उन्हें पढ़ने वालों में से कौन कितनी मात्रा में अपना रहा है ? किसी की आनाकानी का क्या कारण है ? इन बातों पर ध्यान रखा जाय। भूल करने वालों को प्यार के साथ समझाया और अनुशासन अपनाने के लिए सहमत किया जाय। जो व्यक्तित्व के परिष्कार में रस लेने लगे उन्हें बताया जाय कि इन सत्त्ववृत्तियों को विकसित एवं परिपक्व करने के लिए उन्हें भविष्य में क्या सोचते, क्या पढ़ते, क्या करते रहना चाहिए ?

प्रज्ञापीठों की नैतिक शिक्षा मात्र बौद्धिक नहीं व्यावहारिक होनी चाहिए और उसे छात्रों के व्यक्तित्व में समाविष्ट करने के लिए जो किया जा सकता है उसे प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए।

बाल-विकास केन्द्रों की स्थापना हो

स्कूली पढ़ाई बड़ी आयु में भी चलती रह सकती है। उस क्रम को आजीवन भी चलाया जा सकता है। स्वाध्याय भी एक प्रकार का अध्ययन ही है, जिसे ज्ञान-प्राप्ति में अमोघ माध्यम माना जाता है। शरीर को नित्य आहार की आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार मस्तिष्क उपयोगी ज्ञान-सम्बर्धन के लिए लालायित रहता है। इस क्षुधा को न बुझा पाने पर चिन्तन क्षेत्र में अनेकानेक विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। वे अनेकताओं, मूढ़-मान्यताओं, सनकों, आवेगों आदि मनोविकारों के रूप में उभरती हैं एवं चेतना-तन्त्र पर आक्रमण करके वे उसे खोखला बना देती हैं। भोजन न मिलने पर शरीर दिन-दिन दुर्बल होकर विकृत होता जाता है और मौत के मुँह में जा पड़ता है। इसी प्रकार जीवन की समस्याओं का समाधान करने वाला स्वाध्याय-सत्संग न मिलने पर चेतना तन्त्र जीर्ण-शीर्ण होने लगता है और उसे गई-गुजरी, दीन-दयनीय स्थिति से घिरना पड़ता है। इसलिए साधना, स्वाध्याय, संयम और सत्संग का अवलम्बन करते हुए स्वयं ही आगे बढ़ना और ऊँचे उठना पड़ता है।

पर यह स्थिति बचपन में नहीं रहती। उसमें अभिभावकों की सहायता अपेक्षित होती है। बालक अपने निर्वाह के साधन नहीं जुटा सकता और न शिक्षा-व्यवसाय के लिए सफलतापूर्वक एकाकी कदम बढ़ा सकता है। उसे पग-पग पर संरक्षकों की सहायता अपेक्षित होती है। किशोरावस्था और भी अधिक विकट है। उसमें रक्त का उबाल जोश तो भर देता है, पर होश विकसित नहीं होता, जो उपयुक्त सम्पर्क एवं दिशा-दर्शन पर निर्भर है। अभिभावक बालकों के लिए अर्थभार वहन करते हुए सुविधा-साधन जुटाते रहते हैं। अध्यापक स्कूली पाठ्यक्रम

३. ५१ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

पूरा कराते रहते हैं। नित्य कर्म और अध्ययन के उपरान्त भी बालकों के पास ढेरों समय बच जाता है। इसे वे स्वच्छन्दतापूर्वक बिताते हैं। साथी ढूँढ़ते और उनके साथ रहकर घूमने-फिरने या दूसरे प्रकार से मनोरंजन करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयास में उन्हें प्रायः ऐसे साथी मिल जाते हैं, जो आवारागर्दी में फिरते और दुर्व्यसनों में फँसे होते हैं। वे ही प्रायः साथी तलाशते और अपने जाल-जंजाल में फँसाते रहते हैं। याद इस कुचक्र से बालकों को न बचाया जा सका तो वे पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं, स्वच्छाचार अपनाते और साथियों जैसे दुर्व्यसनों में जा फँसते हैं। बचपन से लेकर किशोरावस्था के अन्त तक का समय ऐसा होता है, जिसमें अत्यधिक साज-सँभाल की आवश्यकता पड़ती है। यदि उसे स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय, तो उच्छ्वलता के साथ जुड़ी हुई अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियाँ भड़क सकती हैं और उस अनगढ़ का ही नहीं, सम्बद्ध लोगों का भी भविष्य अन्धकारमय बन सकता है। वे अनेकों उलझनों में उलझ सकते हैं।

प्राचीनकाल में गुरुकुल प्रणाली की शिक्षा-पद्धति थी। बच्चे उनमें पढ़ने के साथ-साथ सुनियन्त्रित वातावरण के शिकंजे में भी कसे रहते थे। उनकी समूची दिनचर्या ऐसे शिकंजे में कसी रहती थी, जिसमें मनोविनोद के साथ जुड़ा रचनात्मक क्रिया-कलाप भी मिला रहता था। किशोरावस्था का खतरनाक समय इसी प्रकार बीत जाता था और जीवन विज्ञान के हर पक्ष को समझ लेने के पश्चात् युवावस्था के आरम्भ में वे घर लौटते थे और गृहस्थ जीवन की अनेकानेक जिम्मेदारियों में जुट जाते थे। अवांछनीयता अपनाने के लिए कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं रहती थी, पर अब तो वह प्रणाली उठा ली गयी है। जहाँ-तहाँ उस परिपाटी के खण्डहर भर आकर्षक साइनबोर्डों से सजे दीखते हैं। विद्यालयों के साथ जुड़े हुए बोर्डिंगों में निवास, भोजन जैसी सुविधाएँ तो हैं, पर ऐसा नियन्त्रण, वातावरण, मार्गदर्शन नहीं है, जो वहाँ रहने वाले छात्रों को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाल सके।

यह आवश्यक व्यवस्था आज की परिस्थिति में कैसे बने ? निर्धन लोग भी उसका लाभ लेने में कैसे समर्थ हों ? इसका एक ही उपाय है कि हर जगह बाल-विकास केन्द्र स्थापित किए जाएँ। नित्य-कर्म, भोजन-शयन, स्कूली पाठ्यक्रम के अतिरिक्त जो समय बचे उसे इसी केन्द्र में रहते हुए बिताने का प्रचलन किया जाय।

बाल-विकास केन्द्रों का प्रथम कार्य ही स्कूली पढ़ाई को परिपक्व बनाना है। आज शिक्षायात है कि अध्यापक लोग अपने पौन-पौन घण्टे के लेक्चरों में जो बताते-सुनाते हैं, उसे लड़के गम्भीरता से नहीं लेते। उस पर ध्यान नहीं देते। ज्यों-त्यों करके निर्धारित घण्टे काटते हैं। अध्यापक भी उतनी तन्मयता और गम्भीरता के साथ नहीं पढ़ाते हैं, जो विद्यार्थी के मस्तिष्क में कील की तरह

बैठती चली जाय। ऐसी दशा में पढ़ने-पढ़ाने की चिह्न-पूजा चलती रहती है। उतने भर से ठीक तरह उतीर्ण होना और डिवीजन लाना कठिन पड़ता है। जिनके लिए द्यूशन का प्रबन्ध हो जाता है, उन्हीं की नाव पार लगती है अन्यथा वह मँझघर में डूबती है। द्यूशन की दरें भी बहुत महँगी हो गयी हैं। उनका भार उठा सकना धनी परिवारों के लिए ही सम्भव होता है। गरीबों के लिए ऐसा प्रबन्ध कर पाना असम्भव जैसा है। इन्हीं बिडम्बनाओं में फँसे हुए छात्र अधिकतर विद्रोही बनते हैं। नकल करने के लिए निरीक्षक-परीक्षकों को डराते-धमकाते हैं या प्रलोभन का प्रबन्ध करते हैं।

इस स्थिति से बचने-बचाने का सरल उपाय यही है कि बाल-विकास केन्द्र हर कक्षा के छात्रों के लिए द्यूशन स्तर की पढ़ाई का निःशुल्क प्रबन्ध करें। केन्द्र के खुलने का समय वह रखें जो स्कूली पढ़ाई एवं शरीर व्यवस्था के अतिरिक्त बचता है। गर्मी-सर्दियों में स्कूलों के समय अदलते-बदलते रहते हैं। उसी आधार पर इन केन्द्रों का समय भी बदल दिया जाय। निःशुल्क द्यूशन का लाभ प्राप्त करने के लिए हर समझदार विद्यार्थी और विवेकशील अभिभावक उस व्यवस्था से लाभान्वित होने का कष्ट करेंगे। छात्रों की संख्या सहज ही पर्याप्त हो जायेगी। स्कूल से घर पर करने के लिए भी कुछ काम मिलता है, उसे भी केन्द्र में बैठकर अध्यापकों की सहायता से अच्छी तरह पूरा किया जा सकता है। विषयों के मूल सिद्धान्तों को अधिक अच्छी तरह समझा और हृदयंगम किया जा सकता है। बचपन में इस प्रकार की दुहरी शिक्षा व्यवस्था बन पड़ने से सम्मिलित छात्रों की मेधा-प्रखरता विकसित होना स्वाभाविक है। इस कमाई के आधार पर भविष्य की उच्च शिक्षा के लिए नींव पक्की हो जाती है। प्रतिस्पर्द्धाओं में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आरम्भिक तैयारी बहुत कम आती है। इस आधार पर मिली सफलताओं से बालक का भविष्य उज्ज्वल बनता है। उन्हें महत्वपूर्ण प्रगति कर सकने, सम्मानप्रद स्थान मिलने में उत्साहवर्द्धक सफलता मिलती है।

प्रान्तों में पढ़ाई का वर्ष भिन्न-भिन्न तरीकों से आरम्भ होता है। कहीं जनवरी, से कहीं मार्च से तो कहीं जुलाई से। उसी आधार पर बाल-विकास केन्द्रों का प्रवेश भी उचित होगा।

जहाँ-जहाँ यह पुनीत कार्य आरम्भ किया जा रहा है, वहाँ चाहिए कि परीक्षा तिथि आने से पूर्व ही वर्ष की पूरी पढ़ाई का सर्वेक्षण करें और देखें कि बच्चे की कच्चाई, कमजोरी कहाँ है ? और उसे किस प्रकार पूरा किया जा सकता है ? जो हो, प्रथम ध्यान इस बात पर दिया जाय कि निर्धारित पाठ्यक्रम को अधिक-से-अधिक परिपक्व किया जाय।

नैतिक शिक्षा सम्बन्धी कुछ स्वतन्त्र पुस्तकें प्रकाशित होने जा रही हैं। उनमें नीति, सदाचार, शिष्टाचार आदि सभी बातों का समावेश होगा और समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी के सभी तत्त्वों का समावेश रहेगा। साथ ही स्वास्थ्य-संरक्षण के लिए आवश्यक जानकारीयों तथा खेल, व्यायाम आदि का प्रशिक्षण भी रहेगा। साथ ही समाज सेवा के सन्दर्भ में भी बहुत-सी बातों की अति महत्वपूर्ण जानकारीयों दी जायेंगी।

किन्तु अभी तो कार्यक्रम का आरम्भ भर हुआ है। उसे अच्छी तरह समझना चाहिए और उसी के अनुरूप आद्योपान्त सभी विषयों की पुनरावृत्ति इस प्रकार कराई जानी चाहिए कि जिसमें जो कच्चाई हो, उसे पूरी कराया जा सके।

नैतिक शिक्षा का पाठ्यक्रम कक्षाओं के अनुरूप बन रहा है। आयु का हिसाब भी उसमें जोड़कर रखा गया है और वातावरण का भी। पर वे पुस्तकें इतनी जल्दी तैयार न हो सकेंगी। इसलिए इतना ही पर्याप्त है कि इस कार्यक्रम में सम्मिलित होने वाला छात्र, चाहे वह किसी कक्षा का क्यों न हो, उसे परिस्थितियों के अनुरूप सफाई, शिष्टाचार, मृदुभाषण जैसे सदगुणों का विशेष रूप से अभ्यास कराया जाय। श्रमशीलता, मितव्ययिता, सहकारिता, शिष्टता जैसे सदगुणों के परिणामों से अवगत कराया जाय और यह तथ्य हृदयंगम करने दिया जाय कि नीति-निष्ठा, सज्जनता, की व्याख्या प्राचीन पुस्तकों में भले ही किसी प्रकार की गयी हो, किन्तु आज की परिस्थितियों में समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी के चार गुण ऐसे हैं, जिन्हें अपना लिया जाय, तो व्यक्तित्व को समग्र रूप से विकसित हुआ कहा जा सकता है। इन चारों सदगुणों के जो दूरगामी परिणाम हो सकते हैं, उन सबको ऐतिहासिक घटनाओं, संस्मरणों के आधार पर समझाया जाय।

इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि छात्रों को सेवाधर्म की प्रक्रियाओं और उपलब्धियों को भी उदाहरणों सहित इस प्रकार बताया जाय, जिसे वे न केवल समझें, वरन् उन्हें व्यावहारिक जीवन में किसी-न-किसी प्रकार कार्यान्वित भी करते रहें। सेवाविहीन अनुदार, स्वार्थी, निष्ठुर जीवन एक प्रकार से पशु जीवन है। मानवी गरिमा के साथ वह तथ्य जुड़ा हुआ है कि पवित्रता और प्रखरता को, प्रामाणिकता और सेवा-भावना को वह चरितार्थ करता रहे।

इन विषयों की आवश्यक विवेचना प्रज्ञा साहित्य से पढ़कर समझी जा सकती है और बाल संस्कारशालाओं (बाल-विकास-केन्द्रों) के शिक्षार्थियों को मौखिक रूप से हृदयंगम कराई जा सकती है।

इस प्रकार बाल-विकास केन्द्र की स्थापना, सम्मिलित होने वाले छात्रों का हर दृष्टि से भविष्य उज्ज्वल बनाती

है। उन्हें कुसंग में बर्बादी झेल लेने की गुंजाइश नहीं छोड़ती।

विकास केन्द्र के खुलने का आधा समय स्कूली पढ़ाई की पूर्ति के लिए सुरक्षित रखा जाय। शेष आधे को भिन्न प्रकार के विनोद, खेलकूद में लगाने के लिए सुरक्षित रखा जाय। इस मनोरंजन में भी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ जुड़ी रहें। विनोद के शब्दों में बागवानी अपने ढंग का सर्वोत्तम व्यायाम है। उसमें शारीरिक श्रम, मानसिक मनोयोग का समान रूप से उपयोग होता है। साथ ही रचनात्मक प्रकृति विकसित करने का अतिरिक्त लाभ मिलता है। बागवानी से, शाकवाटिका से, पुष्पोद्यान से कुछ आर्थिक लाभ भी होता है। वह भले ही छात्र को व्यक्तिगत रूप से मिले या केन्द्र को सामूहिक प्रवृत्तियों को बढ़ाने के लिए काम आये।

खेल-कूदों से शारीरिक और मानसिक स्तर का व्यायाम होता है और दोनों क्षेत्रों को परिपुष्ट होने का अवसर भी मिलता है। स्काउटिंग स्तर की प्रवृत्तियाँ साथ में जोड़ देने, फर्स्टएड जैसी कुशलताओं का समावेश रखने से मनोरंजन तो होता ही है, साथ ही सहकारिता उभरती है। पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ती है। मिल-जुलकर काम करने में उत्साहवर्द्धक लाभ का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। फौजी कवायद स्तर की ट्रेनिंग स्वभाव में अनुशासन की स्थापना करती है जो अनुशासन का महत्व समझेगा, वही व्यवस्थित दिनचर्या बनाकर उसका परिपालन करेगा। उसे उच्छ्वलता अपनाकर प्रामाणिकता गँवा बैठने के खतरे की भी जानकारी रहेगी, फलतः वह उस दुर्गति से सावधान रहेगा और बचेगा।

यही समय है कि जिसमें हैंसते-हैंसते जीवन-विज्ञान के तथ्यों और सिद्धान्तों को भी कुशल अध्यापक अपने शिक्षार्थियों को अवगत-अभ्यस्त करा सकते हैं। धर्मोपदेशकों की तरह नीति शिक्षा देने में कड़ियों को अनख भी लगता है और उसे सुनने में अपना अपमान जैसा होता लगने लगता है। अहंकारिता के इस दौर में सभी अपने को सर्वथा पूर्ण समझते हैं। दूसरों के द्वारा दिये गये दार्शनिक उपदेशों को सुन लिया जाय तो भी पीछे व्यंग्य, उपहास का दौर चल पड़ता है। अस्तु, समय को समझते हुए आदर्शवादी शिक्षण सीधे न देकर प्रकरणान्तर से ही देने चाहिए।

सुसंस्कारी परिवारों में अभी भी रात होते बच्चों को कथा-कहानियाँ सुनाते हैं और बड़े भी उसमें रस लेते हैं, भले ही वे बच्चों के साथ न बैठकर अन्य कामों में लगे रहें, पर ध्यान उनका कही जा रही कहानियों की ओर ही रहता है। यह परोक्ष धर्मोपदेश की अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं मनोरंजनपरक हृदयग्राही पद्धति है। इसी आधार पर प्रज्ञा-पुराण की कथाएँ भी लाखों परिवारों में कही-सुनी जाती हैं। वे बोये गये उत्कृष्टता के बीज समयानुसार श्रवणकर्ताओं के चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उभरते हैं।

३. ५३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

इस आधार पर सुसंस्कारिता पनपाने का उद्देश्य जितनी सरलतापूर्वक पूरा होता है उतना और किसी प्रकार नहीं। प्राचीनकाल में कथा-पुराणों का कथन श्रवण एक धर्मकृत्य माना जाता था और उतने घर से पुण्य लाभ मिलने का माहात्म्य बताया जाता था। अब उसे नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान एवं विनोद का सम्मिलित स्वरूप समझा जा सकता है। बाल-विकास केन्द्र के संचालक इस पद्धति को भी अपनायें और उपस्थिति छात्रों में शिष्टता, सज्जनता, नागरिकता, समाज शिक्षा जैसी सत्त्ववृत्तियाँ पनपायें। यदि यह प्रक्रिया जड़ पकड़ ले और सुविस्तृत हो चले तो यह भी हो सकता है कि इस समग्र शिक्षा को संजीवनी विद्या का नाम दिया जाय और उसकी परीक्षाएँ लेने, प्रमाण-पत्र देने का क्रम अपनाकर उत्साहवर्द्धक का एक नया स्रोत खोला जाय।

बाल-विकास केन्द्रों (बाल-संस्कारशालाओं) की स्थापना की वही कार्य-पद्धति है जो प्रौढ़ पाठशालाएँ स्थापित करने के लिए अपनायी जाती है। अध्यापकों की आवश्यकता उदारचेता शिक्षितों से विद्या ऋण चुकाने के लिए समय-दान माँगकर पूरी की जानी चाहिए। अनेक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक प्रवृत्तियाँ चन्दा माँगकर सम्पन्न की जाती हैं। शिक्षा-सम्बर्धन आन्दोलनों को अग्रगामी बनाने के लिए यों धन की आवश्यकता भी किसी न किसी रूप में रहेगी ही, पर अधिक आग्रह शिक्षितों से समयदान का किया जाना चाहिए। स्थान की आवश्यकता भी माँगकर पूरी की जा सकती है। हर स्थान पर ऐसे नर-नारी मिल सकते हैं, जिन्हें निजी काम करने के उपरान्त भी खाली समय रहता है। यदि वे उसे आलस्य-प्रमाद में, विनोद-व्यसन में खर्च न करके बाल-विकास केन्द्र जैसे उच्चकोटि के परामर्श में लगाने लगे, तो जहाँ योजना का सर्वोपरि पक्ष पूरा होगा, वहाँ समयदानी भी सच्चे श्रेय का अधिकारी बनेगा।

रिटायर्ड शिक्षितों के लिए अपने खाली समय का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि मिल-जुलकर इस प्रकार का संगठन बनावें कि हर बच्चों तथा किशोरों के खाली समय की जरा भी बर्बादी न होने पाये। वे इस प्रशिक्षण को एक प्रकार से मनोरंजन क्लब समझने लगे। सभी उसमें स्वेच्छापूर्वक उत्साह के साथ आने लगे तो समय के सदुपयोग के साथ-साथ वह परमार्थ भी सघ जाता है। समय ऐसा ईश्वरीय वरदान है कि यदि उसे सत्त्वयोजनाओं में लगाया जाय तो पारस पत्थर का काम देता है और मनुष्य को विचारशील, सदगुणी एवं प्रगतिशील बना देता है। ऐसे ही लोग संसार में महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त कर सकते हैं। इसके ठीक विपरीत जिन्होंने अपना समय आवागामी में, कुसंग में, अनुपयुक्त वातावरण में रहकर बिताया, समझना चाहिए, उन्होंने अपने व्यक्तित्व को पतन के गर्त में गिरा दिया और भविष्य को अन्धकारमय बना लिया। इसलिए सेवा-धर्म में जिन्हें अभिरुचि है, उन्हें

व्यक्तित्व को सुयोग्य बनाने के कार्य को ही अपने हाथ में लेना चाहिए। दीन-दुःखियों की सेवा करना भी एक काम है पर उसे साधन-सम्पन्न लोग ही कर सकते हैं। बालकों के लिए तो इतना ही संकेत है कि वे अपने को उत्कृष्ट स्तर का बनायें, जिससे जो भी अपने सम्पर्क में आये वह सदगुणी और प्रगतिशील बने। ऐसा वे तभी कर सकते हैं जब उनका निज का चिन्तन, चरित्र और व्यवहार उच्चकोटि का हो।

यह शिक्षाएँ स्कूलों में नहीं हैं। उन्हें पढ़ने और पढ़ाने का प्रबन्ध हमें अलग से करना चाहिए। इस कार्य में कई ओर से प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता है। अभिभावकों को चाहिए कि वे अपने बालकों को और किशोरों को बाल-संस्कारशाला में भर्ती कराने के लिए सिखावन दें और जोर डालें। इसी प्रकार विचारशील लोगों को चाहिए कि वे बालकों की मीटिंग करके या उनसे अलग-अलग सम्पर्क साधकर यह प्रयत्न करें कि वे इस प्रशिक्षण में सम्मिलित होकर मनोरंजन के साथ-साथ सत्त्ववृत्तियाँ उभारने का दुहरा लाभ प्राप्त करें। इस पढ़ाई की महत्ता पूरा जोर देकर उसके लाभ बताते हुए समझानी चाहिए ताकि विद्यार्थी उसे अपने लिए एक बन्धन न मानें वरन् उत्साहपूर्वक इसके लिए तैयार हों। तीसरा पक्ष अध्यापकों का है। रिटायर स्तर के लोग तो ठाली रहते ही हैं। वे बाल-कल्याण में संलग्न होकर अपना मनोरंजन और समयक्षेप तो कर ही सकते हैं साथ ही बाल-निर्माण से अत्यधिक महत्वपूर्ण परमार्थ कार्य भी करते रह सकते हैं। दूसरे, उनकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और प्रशंसा होगी।

जहाँ बूढ़े लोग इसके लिए पूरे उत्साहपूर्वक तैयार न हों, वहाँ युवक एवं प्रौढ़ भी इस कार्य के लिए समयदान देते रह सकते हैं, क्रम-धन्य से तो अधिकांश लोग दिन छिपने से पहले ही निवृत्त हो जाते हैं। इसके बाद समय खाली ही रहता है। देखा गया है कि उसे अधिकांश व्यक्ति, ताश, शतरंज, टी. वी. रेडियो आदि की अनावश्यक बातों में गँवा देते हैं। उस समय में कटौती करके यदि बाल-प्रशिक्षण में लगाना शुरू कर दें तो उससे सुयोग्य नागरिक बनाने का एक महत्वपूर्ण कार्य वे करते रह सकते हैं।

जीवन में सेवा के लिए भी कुछ स्थान होना चाहिए। लोभ, मोह, अहंकार में सोते-जागते सारा समय लोग लगा देते हैं और वे यह भूल जाते हैं कि मानवता के प्रति, राष्ट्र के प्रति कुछ काम भी हमारे हैं। उन जिम्मेदारियों से इन्कार करना एक प्रकार से अपने धर्म कर्तव्य से इन्कार करना ही है। समाज तभी उठ सकता है जब सब व्यक्ति दूसरों को उठाने का प्रयत्न करें। इसमें बड़ों का कर्तव्य छोटे के लिए अधिक बैठता है। युवक एवं किशोर छोटे बच्चों को सुयोग्य, सदगुणी बनावें। युवक और प्रौढ़, किशोरों की जिम्मेदारी अपने कंधों पर लें। बूढ़े प्रौढ़ों को कर्तव्यों का उद्बोधन करायें

और उनका व्यक्तित्व ऊँचा उठाये तो समझना चाहिए कि एक बहुत बड़ा काम चल पड़ा। जो कार्य लाखों-करोड़ों रुपया खर्च करके भी देश की इतनी भलाई का काम नहीं हो सकता, जितना कि बाल-संस्कारशाला की योजना बनाने और उसे उत्साहपूर्वक चलाने से हो सकता है।

उपरोक्त कामों में ही एक काम पौधे लगाने का है। अपने घरों में घरेलू शाक-वाटिका लगाने का शौक बालकों को लगा दिया जाय तो जहाँ उनका ज्ञान, उत्साह बढ़ेगा वहाँ वे घरभर के लिए शाकभाजी उगाकर अपनी योग्यता एवं विशेषता का परिचय भी दे सकते हैं।

हर ऋतु में कोई न कोई शाक-भाजी उगायी जा सकती है। उसके बीज भी बाजार में अथवा नर्सरियों में मिल सकते हैं। जिनके पास थोड़ी भी खाली जगह है, वे उतनी में ही मेहनत करके अपने सारे घर के लिए साग उगा सकते हैं। वे आँगन में छप्परों पर और छतों पर भी बोई-उगाई जा सकती हैं। थोड़े उत्साह की, दिलचस्पी की, मेहनत की आवश्यकता पड़ती है। बालकों में इस कार्य के सहारे उन गुणों का बीजारोपण एवं अभिवर्द्धन किया जा सकता है। यह कार्य अभिभावक बच्चों को साथ लेकर करा सकते हैं। संस्कारशाला के अध्यापक बच्चों के घरों में जाकर उपयुक्त मार्गदर्शन कर सकते हैं। यह एक ऐसा घरेलू उद्योग है, जिसमें कोई बड़ी पूँजी नहीं लगानी पड़ती। यदि जमीन न हो तो गमले, टूटे घड़े, पुरानी पेट्टियाँ आदि इसमें काम आ सकती हैं। साप्ताहिक छुट्टी के दिन अथवा त्योहारों की छुट्टी में बच्चे खाली रहते हैं। उस दिन के लिए इस प्रकार के काम सुरक्षित रखे जा सकते हैं तथा उनके दैनिक कार्य निर्धारण में भी। बच्चों को नए कामों में उत्साह भी होता है। फिर जब उन्हें यह प्रतीत होगा कि उन्होंने परिश्रम से कुछ कमाया भी और उसका लाभ घर के दूसरे लोगों को मिला तो उन्हें और भी अधिक प्रसन्नता होती है। मनोबल और कौशल बढ़ाने के लाभ ऐसे हैं, शाक-सब्जी की कीमत की तुलना में जिनका दूरगामी प्रतिफल और भी अधिक है।

इस प्रकार यदि विद्यालय पुराना हो जाय और लड़के कुछ क्रिया-कुशल दिखने लगे तो टूट-फूट की मरम्मत के कितने ही काम ऐसे हैं, जो सप्ताह में एक या दो दिन अतिरिक्त रूप से सिखाये जा सकते हैं। घर की लालटेन, स्टोव, बक्से, ताले, कुन्दे जैसी छोटी-मोटी चीजें घर में टूटती-फूटती हैं। मरम्मत के लिए दुकानें दूँढ़ते फिरने की अपेक्षा अक्सर उन्हें लोग फेंक देते हैं और नयी खरीद लेते हैं। यदि टूट-फूट की मरम्मत का अभ्यास हो तो अपने घरों की वस्तुएँ लड़के विद्यालय में

ठीक कराने जा सकते हैं। पुरानी चीज नयी हो जाती है, अपने को नये कौशल सीखने को मिलते हैं। साथ ही इस मरम्मत को होते देखकर साथी बच्चों को अभ्यास भी हो जाता है कि वे घर में ऐसे अवसर आने पर उनकी मरम्मत कैसे कर सकते हैं, कीमती कपड़ों को कभी-कभी कीड़े खा जाते हैं और उनमें छेद करके बेकार कर देते हैं। यदि रफू करने का अभ्यास सीख लिया जाय तो कीमती कपड़े नये सिरे से ठीक कराये जा सकते हैं। इस प्रकार के निर्माण कार्यों से मात्र पैसे की बचत ही नहीं होती, व्यक्तिगत कुशलता, हाथ का अभ्यास और दिमाग का स्तर बढ़ता है। ज्ञान मात्र पुस्तकों से ही नहीं बढ़ता। हस्तकला से भी जो कुशलता प्राप्त होती है, वह अपने स्तर की एक विशेषता लिए हुए होती है। उसे पुस्तकीय ज्ञान से कम महत्व का नहीं समझा जा सकता। बाल-संस्कारशाला में जहाँ घर की पढ़ाई को परिपक्व कराया जाय, खेल-कूद व्यायाम से उनका स्वास्थ्य सुधारा जाय वहाँ यदि अवसर मिलता हो तो ऐसे हस्तकौशल भी सीखने का प्रबन्ध करना चाहिए, जो पैसे ही नहीं बचायें वरन् प्रतिभा-कुशलता भी बढ़ाएँ।

इतने प्रकार के मनोरंजन कार्य करते रहने से बच्चों का सर्वतोमुखी विकास होता है। अपने यहाँ यही एक बड़ी कमी है कि पुस्तकों के सहारे सामान्य ज्ञान की जानकारी तो बता दी जाती है किन्तु वह शिक्षण नहीं दिया जाता, जिससे व्यक्ति हस्त-कौशल में शिल्प में प्रवीणता बढ़ा सके और मस्तिष्क की बहुमुखी विशेषताओं में से अन्यान्यों को भी समुन्नत बनाने में सहायक सिद्ध हो सके। इस कमी की पूर्ति हम बाल-संस्कारशालाओं के माध्यम से कर सकते हैं।

दूसरों की चीजें या मेहनत का लाभ खुद उठाने की अनुचित प्रक्रिया एक प्रकार की चोरी है। यह दुर्गुण किसी भी बच्चे में पैदा नहीं होने देना चाहिए। बच्चों को अपने-पराये का भान नहीं होता। सो जिस वस्तु को भी ललचाने वाली देखते हैं, उसे लेने का प्रयत्न करते हैं। खरीदने को पैसे नहीं होते, माँगने पर मिलने की आशा नहीं होती तो वे उसे चुराने लगते हैं। छोटे बच्चों में यह दोष अकारण आरम्भ हो जाता है। आदत पड़ने पर पेंसिल कापी आदि वस्तुएँ साधियों की चुराने लगते हैं। खाने-पीने की कोई मिठाई जैसी वस्तु घर आई हो और बाँटने पर दूसरे भाई-बहिन के हिस्से की अलग रखी होती है तो मौका पाकर उसमें से चुरा लेते हैं। इस आयु में उन्हें नैतिकता-अनैतिकता का ज्ञान नहीं होता। यह भूल उन्हें छोटी उम्र में ही समझा देनी चाहिए कि दूसरों के हक या अधिकार की वस्तु को प्राप्त करने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए। माँगने में अपनी मान-हानि होती है, भिखारी स्तर का समझा जाता है और

३. ५५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बिना पूछे ले लेना चोरी है। चोरी अपराध है। समाज में चोर का अपमान भी होता है और उसे दण्ड भी मिलता है। इसलिए जिस चीज के लिए मन चले उसी को प्राप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। अपना मन रोकना चाहिए। यदि वस्तु जरूरी है तो माँ या पिताजी से आग्रह करके उसे खरीदने या प्राप्त करने का अनुरोध करना चाहिए। यह लत पड़ जाने पर मनुष्य बड़ा होकर बड़ी चोरी करने लगता है और अपना विश्वास खो बैठता है। दण्ड भी पाता है। उस पर से विश्वास उठ जाता है। इतना सतत् समझाए जाने पर क्रमशः सुसंस्कार ज़माने लगते हैं।

इसी प्रकार बचपन में दूसरा दोष झूठ बोलने का पड़ने लगता है। कोई गलत काम करने पर उसका दण्ड मिलने के भय से झूठ बोलते हैं। बच्चों को आरम्भ से ही शिक्षा देनी चाहिए कि वे परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लोभ से किसी की नकल न करें और किसी की फुसलाहट में आकर अपनी शेखी न बघायें। अक्सर छोटे बच्चों में चोरी और झूठ की आदत पड़ जाती है। इन दोनों के कारण कितना अपमान होता है, कितना विश्वास उठ जाता है और कितना दण्ड मिलता है, यह बातें सभी को समझा देनी चाहिए। कोई बच्चा गलती कर बैठा हो तो वस्तु को वापस करने और गलती के लिए माफी माँगने का दण्ड पता चलते ही दे देना चाहिए ताकि वह भविष्य में वैसा न करे। बड़े होने पर दूसरी बुरी आदतें भी पड़ती हैं। गलत बहाना बनाकर या चोरी करके घर से पैसे ले जाते हैं और उन्हें बेकार कामों में खर्च कर देते हैं। कभी-कभी गन्दे लड़कों की देखा-देखी गाली-गलौज देने की आदत सीख जाते हैं। इन कुटुंबों का पता चलने पर उन्हें प्यारपूर्वक यह समझाना चाहिए कि यह आदतें बढ़ जाने पर मनुष्य का कितना तिरस्कार करती हैं और लोगों की दृष्टि में घृणास्पद बनाती हैं।

यह बातें किस्से-कहानियों के माध्यम से भी समझाई जा सकती हैं कि किन बुराइयों के बदले पछताना पड़ता है और किस प्रकार व्यक्ति का मान और विश्वास गिर जाता है। बड़ों का बचपन जैसी पुस्तकें बार-बार पढ़नी व सुनानी चाहिए ताकि वे समझ सकें कि बड़े होने पर महानता प्राप्त करने के लिए छोटेपन से ही अच्छी आदतों का अभ्यास करना कितना आवश्यक है ?

किशोर लड़कों के चाल-चलन पर और भी कड़ी नज़र रखनी चाहिए, क्योंकि वे बुरे लड़कों के कुसंग में और भी कितनी तरह की बुराइयाँ सीख लेते हैं और बुद्धि का विकास होने से वे ऐसी चतुरता बरतते हैं कि गलती पकड़ में न आवे। उन्हें विशेष रूप से कुसंग से बचाना चाहिए और सम्पर्क ऐसे लोगों के साथ रखने का प्रोत्साहन देना चाहिए जिनके साथ रहकर सभ्य व्यवहार, सद्गुण, सभ्यता, सुसंस्कारिता की आदतें सीखें।

स्कूल में हर समय बंधे नहीं रह सकते। घर आने पर इतनी कड़ी नज़र रखी नहीं जा सकती कि वे किन्हीं अनगढ़ कामों में तो नहीं लग रहे। खेल-कूद से भी रोकना नहीं जा सकता। पेड़ों पर चढ़ना, गुल्लो-डण्डा खेलना आदि वैसे ही ऐसे काम हो सकते हैं, जिससे आँख आदि को कोई बड़ी चोट लग जाने का भय हो। ऐसी दशा में यही उपाय सर्वोत्तम रहता है कि बाल-संस्कारशाला का प्रबन्ध अपने या दूसरों के बच्चों का हित-साधन करने की दृष्टि से प्रबन्ध किया जाय। इसमें बच्चों का हित तो है, ही जिनके पास फालतू समय है वे ऐसे रचनात्मक कामों में अपना समय लगाकर समाज का हित भी कर सकते हैं और अपने आप को परामर्श कार्यों में लगाये रह सकते हैं।

पुराने समय में यह प्रथा थी कि अपने दैनिक जीवन में सेवा कार्यों के लिए कुछ समय सुरक्षित रखते थे। समयदान को ऊँचे दर्जे का पुण्य मानते थे। इसे मानवी धर्म-कर्तव्य का अविच्छिन्न अंग मानते थे। पर अब तो समय की परम्परा ही उल्टी हो गई है। व्यक्ति स्वार्थ में ही चौबीसों घण्टे डूबा रहता है। परमार्थ की बात तो सोचता ही नहीं। इस प्रचलन को उलटने की आवश्यकता है।

आधी आयु पर गृहस्थी के लिए आधी आयु परमार्थ के लिए लगाने की नीति वानप्रस्थ परम्परा कहलाती थी और उसे सभी लोग निष्ठापूर्वक पालन करते थे। अब फिर उस देव संस्कृति से सम्बन्धित प्रथा को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। जिनमें कर्तव्य-धर्म की भावना है, उन्हें सबसे सरल विधि बाल-संस्कारशाला चलाने की अपनानी चाहिए। हर गाँव पीछे एक शाला एक प्रकार की तो होनी ही चाहिए। कई लोकसेवी हों और बच्चे अधिक हों तो उसकी कई शाखाएँ बना लेनी चाहिए ताकि अधिक बच्चों को पढ़ाने के लिए अधिक अध्यापकों की आवश्यकता पूरी हो सके।

जहाँ सुविधा हो वहाँ तीन वर्ष के बच्चों में भी यह पाठशालाएँ कक्षाओं के हिसाब से आरम्भ की जा सकती हैं, क्योंकि घरों का वातावरण ऐसा नहीं रहा जिससे छोटे बच्चे भी सुसंस्कार सीख सकें। घर में घिरे रहने पर कुछ न कुछ उपद्रव करते रहते हैं। उनके लिए किण्डर गार्डन, शिशु शिक्षण की छोटी पाठशाला बनाई जा सकती है। इससे बच्चे घरेलू कुसंस्कारों से बचेंगे और अभिभावकों को हर समय उनकी चौकीदारी न करनी पड़ेगी। साथ ही कुछ न कुछ बुद्धिवर्द्धक सुसंस्कारिता की शिक्षा भी प्राप्त करेंगे।

बाल-संस्कारशालाएँ आजकी महती आवश्यकता है। इसके लिए ऐसे सेवा भावी सुशिक्षितों की आवश्यकता है जो अपना बहुमूल्य समय इस पुनीत कार्य में लगा सकें। सेवाभावी न मिलें तो ऐसे लोग ढूँढ़ने चाहिए जो थोड़ा पारिश्रमिक लेकर इस पुनीत कार्य में लग सकें।

मात्र सरकारी स्कूलों के सहारे यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न नहीं कराये जा सकते, क्योंकि वहाँ किसी प्रकार पाठ्यक्रम पूरा करने की ही बात सिर पर सवार रहती है। संस्कारों का वे महत्व ही नहीं समझते। ऐसे अध्यापकों की आवश्यकता तभी पूरी हो सकती थी जब प्राचीन काल जैसी गुरुकुल पद्धति का प्रचलन रहा होता। अब इस पद्धति के अभाव की पूर्ति हमें बाल-संस्कारशालाएँ जनस्तर पर विनिर्मित करके ही पूरी करनी चाहिए।

प्रज्ञासंस्थान कोई भी ऐसा न रहे, जहाँ ऐसी पाठशालाएँ न चलती हों। हर शाखा स्वाध्याय-मण्डल में ऐसी संस्कारशालाएँ चल पड़नी चाहिए।

बाल-विकास हेतु परिवारों की महती भूमिका

मनुष्य जन्म से कोरे कागज की तरह उत्पन्न होता है। सम्बद्ध परिकर से ही वह प्रभाव ग्रहण करता और आयु के साथ-साथ तदनुरूप ढाँचे में ढलता है। बालक उसी मातृभाषा को अपनाते हैं, जो उनके घर-परिवार में बोली जाती है। आहार-विहार में अभिरुचि भी तदनुरूप ही विनिर्मित होती है। सोचने का स्तर और स्वभाव आचरण के निर्माण में भी सम्पर्क क्षेत्र की ही प्रधान भूमिका रहती है। अभिभावक और परिवार के सदस्य परस्पर जैसा कुछ बरतते हैं, उसी का अनुकरण बच्चे करते हैं और अपने को अधिकतर उसी ढाँचे में ढाल लेते हैं।

किशोरावस्था में स्कूल के वातावरण का प्रभाव पड़ता है। वहाँ जैसा कुछ अधिकांश साथियों द्वारा आचरण किया जाता है, उसी को उदीयमान छात्र अपनाने लगते हैं। वहाँ बड़प्पन अध्यापकों के साथ रहता है इसलिए उनका स्तर भी छात्रों को प्रभावित किये बिना नहीं रहता। शैशव में मात्र परिवार ही नवोदितों का मार्गदर्शन करता है। थोड़ा बड़ा होने पर किशोरावस्था में प्रायः विद्यालय ही चरित्र निर्माण में सहायक होते हैं।

इससे आगे जन-सम्पर्क बढ़ता है। घटनाएँ प्रभावित करती हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान से बहुत कुछ सीखा समझा जाता है। यात्राएँ भी अन्यान्य क्षेत्र में जो चलता है उसका अनुमान कराती हैं। इस स्तर की बौद्धिकता विकसित कर देती है कि अपनी मनमर्जी के प्रभाव को स्वीकार या अस्वीकार किया जाने लगे। इन्हीं सब उतार-चढ़ावों के बीच व्यक्तित्व ढलते हैं और वे अपने तथा दूसरों के लिए उपयोगी अनुपयोगी बनते हैं। स्वाध्याय-सत्संग और मनन-चिन्तन की प्रेरणाएँ भी इस शर्त पर प्रभावित करती हैं कि वे प्रामाणिक हों, तर्की, तथ्यों, प्रमाणों, उदाहरणों की कसौटी पर खरी उतरती हों। अप्रामाणिक, अवास्तविक और पतनोन्मुख साहित्य और संगति प्रभावित तो करते हैं पर उसका हेय पक्ष

सामान्यजनों के पल्ले बँधता है। उत्कृष्टता उत्पन्न करने के लिए प्रामाणिक व्यक्तियों का सान्निध्य, परामर्श, अनुशासन एवं साहित्य ही उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ दे सकने में समर्थ होता है।

अतएव व्यक्तित्व के विकास में आदर्शवादी प्रतिभाओं के मार्ग-दर्शन से ही उपयुक्त प्रयोजन की सिद्धि होती है। इसलिए नई पीढ़ी को सुयोग्य, सुसंस्कारी बनाने के लिए आवश्यक है कि उनके लिए उपयुक्त माध्यमों के साथ जुड़ने का प्रबन्ध किया जाये जो अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति में वस्तुतः सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

बात अभिभावकों और परिजनों से प्रारम्भ होती है। उस परिकर में नवोदित प्राणी के सम्मिलित करने के साथ-साथ उसके उच्चस्तरीय निर्माण का दायित्व भी अनुभव करना चाहिए। इसके लिए मौखिक शिक्षण पर्याप्त नहीं। अपना आचरण, व्यवहार, सम्भाषण ही ऐसा वातावरण बनाते हैं कि उसका उठती आयु वाले अनुकरण कर सकें। साँचे के अनुरूप ही खिलौने ढलते हैं। अभिभावकों की बालकों से घनिष्टता रहती है इसलिए उनके आचरण और चिन्तन का प्रभाव भी विशेष रूप से उन्हीं का पड़ता है। इसके साथ ही संयुक्त परिवार में साथ रहने वाले अन्य व्यक्ति जहाँ आपस में उपयुक्त ताल-मेल बिठाकर घर का वातावरण सराहनीय बनाते हैं, वहाँ नवोदित पीढ़ी को भी कम प्रभावित नहीं करते। इस क्षेत्र में बनावट नहीं चलती। बाहर के लोगों को कुछ का कुछ भी समझाया जा सकता है पर निकटवर्ती लोगों पर भला-बुरा प्रभाव डालने का एक ही तरीका है अपनी गतिविधियों एवं आदतों को इस स्तर का बनाना कि उनका प्रभाव, सम्पर्क क्षेत्र के विशेषतया परिवार के कम आयु वालों पर पड़ सके।

प्राचीनकाल में सतयुगी वातावरण तब बन सका था, जब हर छात्र को ऋषि सान्निध्य-गुरुकुल स्तर की शिक्षा मिलती थी और हर दृष्टि से समर्थ बनाने वाली कष्टसाध्य जीवनचर्या अपनाने की शिक्षा मिलती थी। नवरत्न उन्हीं खदानों में से निकलते थे। अब वह प्रचलन नहीं रहा तो परिवारों पर वह दायित्व आया है कि वे घर का वातावरण ऐसा बनायें, जिसमें समान और छोटी आयु वाले भावी जीवनयापन के लिए उन्मुक्त मार्ग-दर्शन प्राप्त कर सकें। यह एक अनिवार्य आवश्यकता है जिसे अपनाकर वर्तमान परिवार और भावी सन्तान का स्तर एवं भविष्य विनिर्मित किया जा सकता है, जो निजी समस्याएँ हल कर सकते हैं, उन्हीं के लिए यह सम्भव है कि एक कदम आगे बढ़ते हुए समाज समुदाय का हित साधन कर सकें। घरों में प्रेरणाप्रद कथा-कहानियाँ नित्य नियमित रूप से कही-सुनी जाती रहें, यह भी आवश्यक है।

३. ५७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

अच्छा होता स्कूलों का वातावरण भी ऐसा बन सका होता कि उनमें गुरुकुल जैसी प्रक्रिया पूर्णरूपेण न सही आंशिक रूप से तो अपनाई ही जा सकती थी। अध्यापक ऐसे ही होते, जो छात्रों को अपनी सन्तानें मानकर पाठ्यक्रम पूरा कराना भर नहीं वरन् गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से भी उन्हें सुसंस्कृत बनाने की कला में अभ्यस्त होते। अच्छा होता पाठ्यपुस्तकों में ऐसी बातें कम की जातीं जो व्यावहारिक जीवन में कभी भी काम नहीं आतीं। इनके स्थान पर पढ़ाई उन विशेषताओं के अभिवर्द्धन की चर्चा से भरी रहती, जिनके आधार पर पढ़ने वालों को नीतिनिष्ठा और समाजनिष्ठा अपनाने का व्यावहारिक मार्गदर्शन मिलता। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की संरचना के लिए जो पाठ्यक्रम नितान्त आवश्यक था, उन्हीं का बाहुल्य पाठ्यपुस्तकों में रहा होता।

प्रस्तुत शिक्षा नीति से एकदम क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सहज सम्भावना बनती दिखाई नहीं पड़ती। गुरुकुल पद्धति के पुनः वापस आने की तरह शिक्षा नीति समग्र व्यक्तित्व विकास पर आधारित हो सकेगी, ऐसा भी कुछ योग फिलहाल है नहीं। ऐसी दशा में परिवारों पर ही उन दोनों आवश्यकताओं को पूरा करने की जिम्मेदारी आती है। वे उसकी उपेक्षा करेंगे तो अनगढ़ पीढ़ियों से समाज को भर देने और वातावरण को विषाक्त बनाने के कलंक से न बच सकेंगे। तब प्रजनन कृत्य प्रसन्नता का बोधक नहीं रहेगा; वरन् मात्र अभिशाप बनकर रहेगा।

परिवारों को संस्कार पाठशालाओं के रूप में विकसित होना चाहिए। भोजन, निवास, विनोद, व्यवस्था, सज्जा आदि के जो उपक्रम घरों में चलते रहते हैं, उन्हीं में काँट-छोट करके ऐसा ताल-मेल बिठाया जाना चाहिए कि व्यक्तित्व विकास की व्यावहारिक शिक्षा व्यवस्था को उसमें समुचित स्थान मिल सके। घर सराय मात्र न रहे उन्हें ऐसा भी बनना चाहिए कि अपने ही आँगन में स्वर्गीय सम्भावनाएँ क्लिककारियाँ भरती दीख पड़ें। इसी क्षेत्र में पलने-बढ़ने वाले यह आपास दे सकें कि वे अगले दिन नर-वानर नहीं, देवमानव बनने के स्वप्न साकार कर सकेंगे।

लोकसेवी संस्थाओं को अपने सेवा-कार्यों में इस योजना को प्रमुखता देनी चाहिए कि स्कूली समय में बची हुई अवधि में बाल-संस्कारशाला नियोजित करें। स्कूली पाठ्यक्रम को पक्का कराने के अतिरिक्त ऐसा प्रबन्ध करें कि सम्मिलित होने वाले छात्रों को श्रमशीलता, शिष्टता, सुव्यवस्था, मितव्ययता, सहकारिता जैसे सद्गुणों का बौद्धिक और क्रियात्मक शिक्षण मिलता रहे।

जिनके पास प्रचार साधन हैं, उनका भी विशेष दायित्व बनता है कि वे लोक-शिक्षण के लिए ऐसा आधार खड़ा करें, जिससे लोकरुचि में सद्गुणों के प्रति, आदर्शों के प्रति निष्ठा का अभिवर्द्धन हो। समाचार-पत्र

हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण ३. ५७

और मासिक पत्रों का तन्त्र इस दिशा में महती भूमिका निभा सकता है।

टेपरिकार्डों, लाउडस्पीकों का समन्वय भी विचारशील वक्ताओं और सद्भावनाओं को उभारने वाले गायकों की आवश्यकता पूरी करते हुए लोकसेवियों के लिए अच्छे प्रचार माध्यम बन सकते हैं। आधुनिक समारोह-सम्मेलन आदि भी इस स्तर के आयोजित होते रह सकते हैं, जो उत्कृष्ट व्यक्तित्वों के उत्पादन-अभिवर्धन में अपने स्तर पर उपयुक्त भूमिका निभा सकें।

हर परिवार में एक ऐसा निजी पुस्तकालय होना चाहिए, जिसमें जीवन को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने के लिए अभीष्ट मार्ग-दर्शन विद्यमान हो। जो इस विद्या में स्वयं प्रवीण रहे हों, ऐसे ही लेखकों के प्रतिपादन दूसरों को प्रेरित-प्रभावित करने में सफल होते हैं। नगर के हर मुहल्लों में इस स्तर के पुस्तकालयों की स्थापना और सुविधा रहनी चाहिए।

प्रेम का स्वरूप और विस्तार विवरण

प्रेम को परमेश्वर कहते हैं। परमेश्वर इन्द्रियातीत है, उसे नेत्र आदि इन्द्रियों से या बुद्धि कल्पना से नहीं जाना जा सकता। भाव संवेदनाएँ ही उसे अनुभव में उतारती हैं। प्रेम निकटवर्ती से होता या निकटवर्ती से प्रेम हो जाता है। हम शरीर को प्यार करते हैं। उसे सुखी बनाने के लिए अधिक से अधिक प्रयास और त्याग करते हैं। यहाँ तक कि वासना-विलासिता के लिए पतन पराभव तक स्वीकार कर लेते हैं। नरक, भव-बन्धन, अपयश, दुर्गति तक स्वीकार करते हैं पर अपने प्रेमी को सुखी-सन्तुष्ट बनाने के लिए उचित-अनुचित तक का विचार छोड़कर प्रेयसी काया के इच्छानुवर्ती बनते हैं। प्रेम में प्रेमी के लिए बहुत सब कुछ करना पड़ता है। सेवा-सहायता करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी जाती।

माता और बच्चे के बीच जो वात्सल्य चलता है उसे प्रेम का सांसारिक उदाहरण समझा जा सकता है। बच्चा अनजान होने के कारण अनेक प्रकार की गड़बड़ियाँ ही उत्पन्न करता रहता है, पर माता उस पर क्षोभ किये बिना सब कुछ सहन करती रहती है। अपना लाल लहू सफेद दूध के रूप में परिणत करके बालक को पिलाती है पर प्रतिदान की बात कभी सोचती तक नहीं। कृतज्ञता व्यक्त किये जाने की भी आशा नहीं करती है। उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने में कुछ उठा नहीं रखती। दूसरे सभी के बच्चों से अपना बालक कहीं अधिक सुन्दर लगता है। उसे आँखों का तारा समझती रहती है। हँसता देखकर प्रमुदित हो उठती है और उदास देखकर चिन्ता में डूब जाती है। प्रेम तो प्रेम जो उठेगा। उसके साथ अनन्य आत्मीयता घुली रहती है। चिड़िया के घोंसले में से जब बाज झपट्टा मारकर अण्डा या बच्चा उठा ले जाता है, तो चिड़िया उसे छुड़ाने के लिए बाज के पीछे

दौड़ती और आक्रमण करती है। तब उसे यह भय नहीं होता कि समर्थ बाज उलटकर उसका भी कचूर निकाल सकता है। चिड़िया का रौद्र रूप देखकर बाज को भी भागते ही बनता है। प्रेम के आवेश में प्रेमी जो भी त्यागकर बैठे कम है। लैला-मजनू, शीरी-फरियाद, हीर-रौंझा आदि कथानकों में इसी तथ्य को प्रकट किया गया है कि प्रेम अपने प्रेम पात्र के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी कर सकता है।

प्रेम की यथार्थता और गहराई इस कसौटी पर कसकर जानी जा सकती है कि प्रेम-पात्र के प्रति कितनी सघन आत्मीयता है ? उसकी सेवा, सहायता तथा प्रगति के लिए कितना सोचा और कितना किया गया ? जहाँ इस प्रकार की भाव-संवेदना का अभाव हो, समझना चाहिए कि वहाँ प्रेम नाम की कोई वस्तु नहीं।

माता बच्चे के प्यार में असलियत होनी चाहिए। भेदभाव का विष उसमें नहीं घुलना चाहिए। लड़की की उपेक्षा और लड़के को दुलारना ऐसे भेदभाव का प्रतीक है, जिससे प्रेम शब्द कलंकित होता है। लड़की को हेटी समझना भौतिकवादी अर्थशास्त्र का प्रतिपादन है। लड़की पराये घर जाती है। साथ में विवाह के साथ कुछ देहेज सौगात भी ले जाती है। इसके विपरीत लड़का दासी जैसी बहू लाता है। कमाई से घर की समृद्धि बढ़ाता है। बुढ़ापे का सहारा बनता है आदि विचारणाएँ ऐसी ही हैं जैसी पशुओं का मोलभाव उनकी उत्पादन शक्ति के आधार पर किया जाता है।

बच्चों के बारे में हमारा दृष्टिकोण मानवीय होना चाहिए। सृष्टि के दोनों घटक गाड़ी के दो पहिये के समान हैं। दोनों के मिलने से ही परिवार बनता है। परिवार की छत्रछाया में उसके सभी सदस्य आश्रय प्राप्त करते हैं। निर्वाह और विकास की प्रक्रिया उसी कल्पवृक्ष उद्यान में बनती है। पुरुष आदि प्रत्यक्ष व्यवसाय चलाता है और रुपयों के रूप में कमाई घर लाता है, तो नारी अपने ढंग से उस संस्थान को सुसम्पन्न करने में कम योगदान नहीं करती। चौबीस घण्टे के नौकर बाजार में कदाचित् ही कभी किसी को मिल पाते हैं। पर गृहिणी उस भूमिका को निभाती है। चौबीस घण्टे की चौकीदारिन बनकर रहती है। दोनों वक्त की रसोई बनाना उसी के जिम्मे रहता है। बीच-बीच में चाय, स्वागत आतिथ्य के लिए उसी को कुछ न कुछ बनाना पड़ता है। कपड़े धोना उसी के जिम्मे रहता है। चौकीदारिन, रसोईदारिन, घोबिन के रूप में उसका बाजार भाव आँका जाय तो वह उतना ही जा पहुँचता है, जितना पुरुष दुकान पर कमाई करके लाता है। इसके अतिरिक्त उसकी वफादारी असंदिग्ध रहती है। विश्वास के आदमी, प्रामाणिक मित्र किसे मिलते हैं ? जिसके हाथ घर की सारी पूँजी सौंपी जा सके। ऐसा सहचर पाकर मनुष्य अनुभव करता है कि उसने कोई देवी अनुदान प्राप्त कर लिया है। लड़की जिस घर में

जाती है, उसमें प्रेम भाव का, संवेदना का झरना बहा देती है। पति को इतने उच्चकोटि की प्रणय संवेदनाएँ मिलती हैं, जिन्हें पाकर वह अपनी अपूर्णता को पूर्णता में विकसित हुआ अनुभव करता है। घर के अन्य सदस्य भी उनका अभिनव आतिथ्य, सत्कार, सम्मान पाकर सोचते हैं कि उनके मुश्किल जीवन में बसन्ती माहौल ने प्रवेश किया है। इन सब संवेदनाओं का मूल्यांकन भौतिक धन सम्पदा के रूप में नहीं किया जा सकता है। यह आत्मिक अनुदान है, जिसकी तुलना कल्पवृक्ष से ही की जा सकती है। ऐसी महत्त्वपूर्ण सन्तान उत्पन्न करने के उपलक्ष्य में माता को पिता को समूचे परिवार को असाधारण आनन्द अनुभव करना चाहिए, पर दुर्भाग्य यह है कि उसका उलटा मूल्यांकन किया जाता है। इतना श्रेय सम्पादित करने वाली, दूसरे के घर में गृहलक्ष्मी बनकर प्रवेश करने वाली लड़की की क्यों उपेक्षित किया जाय ? क्यों तिरस्कृत ? क्यों उसका मूल्य गिराकर आँका जाय ?

अपनी लड़की दूसरे के घर जाती है तो दूसरे की लड़की अपने घर भी तो आती है। कन्या के रूप में एक हाथ विवाह के समय उसे विदा करते हैं तो दूसरे हाथ से किसी दूसरे के घर से उसे वधू के रूप में प्राप्त भी तो कर लेते हैं। यह मात्र अदला-बदली हुई। यह कहाँ हुआ कि अपना उत्पादन चला ही गया हो और उसके बदले कुछ न मिला हो। यदि कन्याओं का उत्पादन घट जाय या समाप्त हो जाये तो वंश वृद्धि के लिए जो लालसा व्यक्त की जाती है, उसका जड़-मूल ही नष्ट हो जाये। वंश चलाने का कठिन कार्य एकमात्र वधू को ही वहन करना पड़ता है। पुरुष का तो उसमें क्रीड़ा-कौतुक जैसा योगदान होता है। गर्भधारण, प्रसव, स्तनपान, संरक्षण, भरण-पोषण तो जननी के जिम्मे ही रहता है। पुरुष तो इस सब में दूरवर्ती भागीदार होता है। ऐसी दशा में पुत्र की कामना करने वाले, वंश चलाने की, बुढ़ापे की लकड़ी खोजने वालों की भी इस मनोकामना की पूर्ति के लिए मन्शा पूर्ण करने वाली मंसा देवी नारी का ही अनुग्रह प्राप्त करना पड़ता है। सन्तान चाहे लड़की हो या लड़का, नारी के शरीर और अन्तराल में से निकला अनुदान ही है। ऐसे अमृत फल देने वाली को हेय, उपेक्षित समझा जाय और उसकी अवज्ञा की जाय, यह चिन्तन अदूरदर्शिता से भरा हुआ एकपक्षीय ही कहा जा सकता है।

घरों में जब कन्या का जन्म होता है तो उदासी छा जाती है और जब लड़के का जन्म होता है तो खुशियाँ मनायी जाती हैं। बर्षाई बाँटी जाती है। दैनिक व्यवहार में भी कन्या के भोजन, वस्त्र, दुलार, शिक्षा, चिकित्सा आदि में भी कमी की जाती है। बच्चे वस्तु स्थिति को समझते हैं। विशेषतया भावनाओं का अन्तर तो उनकी समझ में और भी जल्दी आ जाता है। अबोध

३. ५९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

समझी जाने वाली बच्चियाँ भी ताड़ जाती हैं कि उन्हें घटिया माना जा रहा है और भार समझकर पाला जा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया उनके मनोबल को गिराती है। आत्महीनता का बीजांकुर जमाती है। वे अपने को भाग्यहीन और अश्वरे भविष्य वाली मानने लगती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनका व्यक्तित्व जिस स्तर तक उभर सकता था उतना उभर नहीं पाता। वे आजीवन दबी, पिंसी, पिछड़ी, गई-गुजरी मनोभूमि की बनी रहती हैं। जिस घर में जाती हैं उस परिवार की भी उतनी सेवा-सहायता नहीं कर सकती जितनी कि वे विकसित व्यक्तित्व साथ लेकर जाने पर कर सकती थीं। शरीर से अपंग व्यक्ति की आधी शक्ति मारी जाती है। उसी प्रकार दबे-कुचले मन वाला व्यक्ति भी अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का एक बहुत बड़ा अंश गँवा बैठता है। यह वैसी ही निर्दयता है जैसे कि कुछ निष्ठुर भिखारी अपने बच्चे के अंग तोड़-मरोड़कर इस लायक बना देते हैं कि वे आजीवन भीख माँगें। उनके विकास के लिए उन्हें कोई जिम्मेदारी न उठानी पड़े। रोते-कलपते भाग्य को दोष देते, वे भी अपने दिन काटें और हो सके तो अभिभावकों की आरम्भ से ही कुछ सहायता करें। लड़की के भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा में की गई कटौती इसी प्रकार की बचत मानी जाती है।

नारी का अवमूल्यन समूची मनुष्य जाति का अवमूल्यन है, उसकी प्रतिभा, विशिष्टता एवं समृद्धि प्रसन्नता में प्रत्यक्ष कमी करना है। लड़की का व्यक्तित्व यदि घटिया रहने दिया गया तो वह जिस भी परिवार में जायेगी, जिस भी लड़के के साथ रहेगी उसकी उतनी सहायता न कर सकेगी जितनी कि विकसित होने की दशा में कर सकती थी। घटिया मनःस्थिति रहने पर विचार-पद्धति घटिया रहती है और क्रिया-कलाप भी गये-गुजरे बन पड़ते हैं। ऐसी दशा में बाप के घर उपेक्षित रही लड़की ससुराल में जाकर भी न महत्वपूर्ण हो सकती है न यशस्वी। उसे पाकर ससुराल वाले भी उतने प्रमुदित नहीं होते जितना कि वधू के प्रतिभावान होने पर हो सकते हैं। जिसके द्वारा अपेक्षा से कम लाभ मिलता है उसका मान, मूल्यांकन भी कम होता है। पिता के घर मिली उपेक्षा ससुराल में भी साथ जाती है और जैसा अपमान पिता के घर सहना पड़ा था वैसा ही ससुराल में भी सहना पड़ता है। फसल बोने, उगाने, सींचने, बड़ा करने की जिम्मेदारी तो अभिभावकों के घर पूरी हो जाती है। ससुराल वाले तो फसल काटने आते हैं। यदि बुवाई, निराई-सिंचाई, रखवाली में उपेक्षा बरती गयी है तो उस फसल का समुचित लाभ काटने, बटोरने वालों को भी कैसे मिल सकता है और अपने भाग्य को कैसे सहारा जा सकता है ? बच्चों के नामकरण घर वाले ही करते हैं, जो नाम अभिभावकों ने रखा है, उसी से बाहर वाले भी पुकारते हैं। यदि माता-पिता कन्या के अवतरण को भाग्यहीनता का चिह्न मानते रहे हैं तो

पड़ोसी, सम्बन्धी, ससुराल वाले ही क्यों उसे भाग्यवान समझने लगे और क्यों सम्मान देने लगे ? इस प्रकार अपनी कन्या का भविष्य अन्धकारमय, गया-गुजरा बनाने की जिम्मेदारी प्रकारान्तर से उन अभिभावकों की ही पड़ती है जिन्होंने उसे दुर्भाग्यसूचक माना और लड़के की तुलना में अपेक्षाकृत गया-गुजरा व्यवहार किया।

माता के लिए तो इस प्रकार की मान्यता और पक्षपात भरी नीति अपनाना और भी बुरा है। वह स्वयं भी तो नारी है। किसी नारी के ही पेट से पैदा हुई है। यह उसकी अपनी बिरादरी है। देखा गया है कि समान गुण स्वभाव वाले अधिक जल्दी हिल-मिल जाते हैं और एक-दूसरे के साथ प्रसन्नता अनुभव करते, सहायक बनते हैं। इस परम्परा के अनुसार महिला बिरादरी को तो कन्या जन्म पर अधिक प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए क्योंकि उन्हीं की बिरादरी में संख्या वृद्धि हुई है। पर देखा उल्टा जाता है। पुरुष भले ही इस बात को अधिक महत्व न दें पर स्त्रियाँ सिर आसमान उठा लेती हैं। दादी, चाची, ताई, बुआ आदि सबके मुँह पर उदासी छा जाती है। जननी को कोसती, लांछन लगाती भी देखी जाती हैं। उन्हीं का अनुकरण पड़ोसी-सम्बन्धी भी करते हैं। इस प्रकार उस जननी को उल्टा लांछित होना पड़ता है, जिसने इतना कष्ट सहकर उस बालक को जन्म दिया। जान जोखिम उठाई। शरीर को निःस्वत्व बनाया। ऐसे लांछन को सरासर अत्याचार ही कहना चाहिए।

कुछ समय पहले किन्हीं विशेष वर्गों में कन्या को जन्मते ही मार देने का रिवाज था। अंग्रेज सरकार ने इसके विरुद्ध कानून बनाया था। अब नया रिवाज चला है। नयी मशीनें ऐसी आयी हैं, जो गर्भकाल में ही लड़के-लड़की का पता लगा लेती हैं। इसका परीक्षण कराने वालों में से कितने ही ऐसे निष्ठुर अभिभावक होते हैं जो कन्या का पता चलने पर उसका गर्भपात करा देते हैं। यह भी एक प्रकार का कन्यावध ही हुआ। अल्प आयु में विवाह करके अपने कूड़े को पराये आँगन में पटक देने जैसा हुआ। इससे अभिभावक सोचते हैं कि उनकी रोटी-कपड़े की बचत हुई। ससुराल वाले सोचते हैं कि बालकपन से ही क्रम में जुटेगी तो उसी ढाँचे में ढल जायेगी, बड़ी होने पर आना-कानी न करेगी। पढ़ने-पढ़ाने का झंझट भी न रहेगा, जिससे कुछ कह सकने या कर सकने की बात न सोच पायेगी और सिर न उठा पायेगी।

पालतू कबूतरों के पैर पंगु कर दिये जाते हैं। वे उड़ नहीं सकते। आँगन में या पिंजड़े में ही घूमते-फिरते रहते हैं, काबू से बाहर नहीं हो पाते। पालने वाले उनका चाहे जब चाहे जैसा उपयोग कर सकते हैं। उड़ जाने, हाथ से निकल जाने का कोई खतरा नहीं रहता। ओछी बुद्धि यही सोचती है कि स्त्रियों के स्वावलम्बी, शिक्षित एवं सुयोग्य बनने में उनसे खतरा है। वे किसी सीमा

तक स्वतन्त्रता की माँग कर सकती है। स्वावलम्बी होने की सामर्थ्य संचय कर सकती है, इसलिए उन्हें कई तरह के बन्धनों में आरम्भ से ही बाँध दिया जाय। उन्हें पढ़ने-लिखने की सुविधा न दी जाय। घूँघट पर्दे में, घर के पिंजड़े में कैद रहने का आदी बना दिया जाय। छोटी उम्र में बननी बना दिया जाय और बच्चों का भार लाद दिया जाय। ऐसी दशा में उनकी पराधीनता पूरी तरह पक्की हो जाती है। जिस भी स्थिति में रखा जाय, जैसे भी रहना पड़े उसी में उन्हें बिना सिर हिलाये रहना पड़ता है। यह स्थिति इसलिए भी पैदा की जाती है कि नारी, नर की तुलना में सुन्दर होती है। अनेक मनचले उनकी ओर दृष्टि डालते हैं। बहकाते, फुसलाते हैं। इस फेर में नारी का मन बदलने न लगे इस आशंका को ध्यान में रखते हुए उसे हर दृष्टि से पराधीन, दुर्बल, असमर्थ, अपंग स्तर की बना दिया जाता है ताकि वह विपत्ति में फँसी रहने पर भी रोने-कलपने के अतिरिक्त और कुछ सोच या कर न सके।

यह है अभिभावकों का कन्या के प्रति अत्याचार जिसे पाशविक कहा जा सकता है। पशु-पक्षी बच्चों को जन्म देने के बाद कुछ ही दिन सँभालते हैं। अपने पैरों चलने-फिरने योग्य होने पर अपनी जिन्दगी जीने और अपनी मौत मरने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देते हैं। ऐसा व्यवहार लड़कों के साथ नहीं पर लड़कियों के साथ अवश्य किया जाता है। इसमें दोषी पुरुष भी है, जो वैसा करने से रोकते नहीं, पर अधिक दोषी घर की समर्थ महिलाएँ हैं। वे स्वयं जिस प्रकार का प्रताड़ित जीवन जीती रही हैं, उसी भड़स को नवानुत्क, लड़कियों या वधुओं पर निकालना चाहती हैं। जो बच्चे स्कूल में मास्टर्स से अधिक पीटते रहते हैं वे ही बड़े होने पर जब मास्टर बनते हैं तो अपने छात्रों को पीटते हैं। इसमें उनके बचपन के संस्कार जो दबे हुए थे उभरते हैं और पीटने वाले मास्टर से बदला न ले पाने पर छात्रों को सताकर पुरानी रंजिश निकालते हैं। इसी प्रकार बड़ी आयु की महिलाएँ अपने बचपन में जो सहती रही हैं, उसी का बदला अबोध बालिकाओं से चुकाती हैं।

इस कुचक्र को तोड़ा जाना चाहिए। महिलाएँ अपना आत्म-गौरव स्मरण करें। कर्तव्य मानें कि बच्चों में लड़की-लड़के का फर्क न करें। दोनों को समान महत्व का, समान उपयोगी और समान स्नेहभाजन समझें। दोनों के विकास एवं दुलार में पूरी-पूरी दिलचस्पी एवं भाव-संवेदना रखें। प्यार का विस्तार शरीर और परिवार की तरह बालकों में भी होना चाहिए। अपनी निष्कपटता के कारण सचमुच वे ही सच्चे प्यार के अधिकारी हैं।

भावना और व्यवहार का

विवेकयुक्त समन्वय

भावना जीवन वृक्ष की जड़ है और उसके द्वारा खींचा जाने वाला पोषक पदार्थ व्यवहार। दोनों के समन्वय से ही परिवार को उपयुक्त परिपोषण मिलता है। जमीन में उर्वरता और नमी न हो, तो जड़ें खुराक कहाँ से खींचें, इसी प्रकार पोषक-तत्त्वों का जमीन में बाहुल्य होते हुए भी यदि जड़ें सड़ी-गली हों तो पौधे को आहार पाने और बढ़ने का अवसर कैसे मिले ? एकांगी स्थिति अपर्याप्त है। दिन-रात, नर-नारी, ताना-बाना, ऋण-धन मिलकर जिस तरह की संयुक्त शक्ति बनते और गाड़ी के दो पहियों की तरह गतिशील बनते हैं, ठीक उसी तरह परिवार में सर्वतोमुखी प्रगति का वातावरण बनाने के लिए भावना और व्यवहार के दोनों ही पक्षों को उच्चस्तरीय होना चाहिए।

भावना में आत्मीयता की सघनता होती है। उससे दूसरों को लाभ पहुँचाते समय उल्लास और उनका दुःख बँटाते समय सन्तोष की अनुभूति होती है। परिस्थितियाँ दोनों ही प्रकार की आती हैं। निपटना तदनुकूल पड़ता है, पर भावनाशील को घाटा कहीं भी नहीं पड़ता। उतार और चढ़ाव में उसे तृप्ति मिलती ही रहती है, कभी खड़ी, कभी मीठी। मैत्री का स्थायित्व आत्मीयता पर अवलम्बित है। वह दूसरी ओर से समुचित प्रक्रिया न होने पर भी एकपक्षीय चलता ही नहीं, बढ़ता भी रहता है। मूर्तिपूजा उसका उदाहरण है। प्रतिमा न कोई उत्तर देती है न कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। इतने पर भी भावना उसका आश्रय लेकर अपने बलबूते बढ़ती और परिपक्व होती रहती है। मीरा के कृष्ण, एकलव्य के द्रोण और रामकृष्ण परमहंस की काली ने जिस समर्थता का परिचय दिया उसे भक्त की भावना का चमत्कार ही कह सकते हैं। देवता की अनुकम्पा नहीं, भावना अपने आप में आत्मा की तरह ही पूर्ण है, पर उसको भी तो व्यवहार का शरीर चाहिए। शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व कैसे प्रकट हो ? व्यवहार का आश्रय पाये बिना भावना की बेल ऊँची कैसे चढ़े ?

परिवार निर्माण में उस आचार-संहिता को भी महत्व और प्रश्रय देना होगा जो भावनाओं के अनाचार को रोकती है। रेलगाड़ी की सामर्थ्य कितनी ही बड़ी क्यों न हो पटरी की मर्यादा में उसे अनुशासित न रखा जाय तो वह कहीं से कहीं बहकेगी और अन्ततः अपना तथा दूसरों का विनाश करेगी। भावुक अक्सर ठगे जाते हैं इसका कारण यह नहीं कि भावना की श्रेष्ठता में कोई सन्देह है वरन् यह है कि व्यवहार और मर्यादाओं का नियन्त्रण न रहने से उस दिव्य-संवेदना का दुरुपयोग होता है। धूर्तों को इस कला में प्रवीणता प्राप्त होती है कि वे भावुकता भड़काकर किस प्रकार उस संवेदनशील मनोभूमि

३. ६१ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

का लाभ उठाये, विपत्ति की सम्भावना बताकर ज्योतिषी और चिकित्सक किस प्रकार उनके स्वजन, परिजनों का अनुचित दोहन करते हैं, इसके प्रमाण-उदाहरण हर जगह उपलब्ध हो सकते हैं। शिशु वात्सल्य की अतृप्त भावना को पूर्ण करने के लिए पराये बच्चे दत्तक लिये जाते हैं। इस दुर्बलता को वे बच्चे थोड़ी-सी समझ आते ही भीप लेते हैं और अपने परिपालकों का बुरी तरह शोषण ही नहीं करते, त्रास भी देते हैं।

युवक-युवतियों के प्रेम-प्रसंगों में भावुकता की उड़नें ही आकाश में पतंगों की तरह उड़ती दीखती हैं। सन्ध्या काल की रंगीनी आकाश के पश्चिम भाग में कितनी मनोहर लगती हैं, पर उसका न तो कोई अस्तित्व होता है और न आधार। ऐसा ही उन्माद इन तथाकथित प्रेम-प्रसंगों के मूल में रहता है। न औचित्य समझ में आता है और न यथार्थ। नशे पर नियन्त्रण कौन करे ? सपनों की सीमा कैसे बाँधे ? प्रेमोन्माद भी लगभग ऐसा ही होता है। बेल मगरे तो चढ़ती नहीं, चढ़ती है तो एक ही झौंके में लुढ़ककर छितराती और अस्त-व्यस्त दीखती है। इस उभार में उन बालकों को निन्दित तिरस्कृत बनना पड़ता है। अप्रामाणिकता का कलंक सिर पर बँधता है और उस क्षति की पूर्ति कदाचित् ही कभी हो पाती है। इन प्रेमोन्मादी बालकों के परिवारों पर क्या बीतती है और उन्हें कितने प्रकार की कितनी हानि सहनी पड़ती है ? इसका अनुमान लगा सकना यदि उस उन्माद के दिनों किसी प्रकार सम्भव रहा होता तो वे अपनों की दृष्टि से इतने न गिरते और इतनी क्षति एवं व्यथा न सहते जितनी कि ऐसे कुछ प्रसंगों में अन्ततः उन्हें सहनी पड़ती है। आमतौर से भावुक लड़कियाँ ही इस प्रकार के शोषण का शिकार बनाती हैं। धूर्त उन्हें ललचाते और अन्ततः उन्हें भारी विपत्ति में धकेलकर छोड़ते हैं।

मैत्री के नाम पर कितना शोषण होता है, इसका अपना एक अलग ही क्षेत्र है। पुराने जमाने में शत्रु आमना-सामना करते लड़ाई लड़ते और हानि पहुँचाते थे। आज के जमाने का आधुनिकतम आविष्कार यह है कि मित्रता गाँठी जाय, बफ़ादारी का प्रमाण दिया जाय और रंगीन सपने दिखाकर अथवा अपनी कठिनाई जताकर मित्र का शोषण आरम्भ कर दिया जाय। दाव लगते ही उसे चित्त-पट्ट करके रफूचककर बना जाय। भावुकता की ऐसी-ऐसी शतरंजें जहाँ-तहाँ बिछी देखी जाती हैं। हिरन और साँप को पकड़ने वाले बेहिलिया बीन बजाया करते हैं। मछली को आटा और पक्षी को दाना दिखाकर पकड़ा जाता है। मित्रता की नशीली चाट खिलाते और बेहोशी आते ही जेब काट लेने वाले धूर्तों की कहीं कमी नहीं है। यह सब भावुकता के सहारे चलने और पनपने वाले अनाचार हैं, जो अपने दुःखदायी दुष्परिणाम हर क्षेत्र में उत्पन्न करते रहते हैं।

परिवार के क्षेत्र में भावुकता की प्रौढ़ता रहना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। उसके औचित्य एवं महत्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता, पर देखना यह भी होगा कि कहीं उसका व्यतिक्रम तो नहीं हो रहा है और सदाशयता की आड़ में कोई विष वृक्ष तो नहीं पनप रहा है। इस जागरूकता के समर्थन में ही दूरदर्शी सदा यह कहते रहे हैं कि 'एक आँख दुलार की और दूसरी सुधार की' रखी जाय तभी प्रेम की सार्थकता है अन्यथा अमृत की भी अनावश्यक मात्रा विष का काम करती देखी गई है।

पति-पत्नी की द्विधासत्ता को एकत्व में परिणत कर देने का प्रधान कारण आत्मीयता की सघन भावुकता ही है। यही पतिव्रत और पत्नीव्रत की उच्च सच्चरित्रता के रूप में परिलक्षित होती है। एक-दूसरे के प्रति परिपूर्ण बफ़ादारी का आधार यही है। एक-दूसरे को बहुत कुछ सब कुछ देने की उमंगें इस सन्दर्भ में उठती भी हैं और उठनी भी चाहिए किन्तु यदि यह उभार औचित्य की मर्यादा लाँघने लगे तो समझना चाहिए कि अर्थ का अनर्थ होने जा रहा है। सम्पन्न लोग पत्नी को कुछ भी शारीरिक श्रम न करने देने के लिए, नौकरों की व्यवस्था करते हैं। शृंगार और विनोद के अनेकानेक साधन जुटाते हैं। इसके प्रबन्ध के पीछे उनका उद्देश्य पत्नी पर भारी स्नेह होने का परिचय देना भर होता है। इस एकांगी चिन्तन में अन्ततः पत्नी की स्वस्थता, समर्थता, प्रखरता और प्रतिभा को बुरी तरह क्षति पहुँचती है और वह अन्ततः किसी कृषक, मजदूरों की श्रमजीवी पत्नी से भी अधिक घाटे में रहती है। गुड़िया बने रहने में उसने क्या खोया और क्या पाया ?

पति के प्रसन्न करने के लिए उसे कामुकता की मनमानी छूट देना न तो पतिभक्ति है और न भाव समर्पण है। जिसमें दोनों की ही शारीरिक और मानसिक क्षति होती है। उसके लिए परिपूर्ण सद्भावना के साथ समझाने-बुझाने से लेकर असहयोग, विरोध करने तक का उपक्रम चल सकता है। नरोबाजी, जुआ, यारवाशी, अवारागर्दी जैसे कुटेबों में फँसे हुए पति को उसकी मनमर्जी करते रहने देना, रोकथाम न करना, देखने में पतिभक्ति, स्वामिभक्ति जैसी बात भले प्रतीत होती हो वस्तुतः वैसी है नहीं। प्यार में जहाँ हित कामना, शुभेच्छा सहकारिता आदि अनेक अनुकूलताओं का समावेश है। वहाँ अनौचित्य को बदलने, सुधारने का तथ्य भी पूरी तरह संयुक्त है। इसे हटा देने पर तो आधी भावुकता ही शेष रह जायेगी और उसमें निरन्तर टोकने लगने का खतरा बना रहेगा।

कितने ही घरों में नववधुएँ संयुक्त परिवार से पृथक् रहने का आग्रह अपने पतियों से इसलिए करती हैं कि उन्हें पति की स्वामिनी बनने और कमाई का लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। संयुक्त परिवार में तो यह

उपलब्धियाँ प्रत्यक्षतः बँट ही जाती हैं। भले ही बाद में उसके सत्परिणाम अनेक गुने होकर मिलते रहें। भावुकता-वश पति भी उनके आग्रह को मानते हैं और उत्तरदायित्वों से विमुक्त होते देखे गये हैं। मोटी दृष्टि से यह पति-पत्नी का एक-दूसरे के साथ दूध पानी हो जाने जैसा हुआ, किन्तु दूरदर्शिता के आधार पर देखा जाय तो उस आग्रह और स्वीकृति के पीछे अनोखी ही काम करती दिखाई पड़ेगी। जिस परिवार ने अपनी समृद्धि और सद्भावना का एक बड़ा अंश लड़के की शिक्षा-दीक्षा पर कमाऊ बनाने की स्थिति तक पहुँचाने पर लगाया है। उसे प्रतिफल के समय ऐसी बेरुखी का सामना करना पड़े तो इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जायेगा। इसमें सारे परिवार का अर्थ-सन्तुलन एवं भविष्य बिगड़ता है। दाम्पत्य प्रेम का परिचय देने की भावुकता और समूचे परिवार की सुव्यवस्था में से क्या चुनना चाहिए, इसका निर्णय करने में यदि पत्नी का आग्रह अस्वीकार करना पड़े तो भी विवेक की कसौटी यही नहीं कहेगी कि दाम्पत्य प्रेम के साथ जुड़े कर्तव्य की अवहेलना की गई।

छोटों का अधिक काम करना बड़ों को अधिक आराम देना सहज शिष्टाचार है। छोटों का कर्तव्य है कि वे बड़ों से ऐसा कहें भी और उसके लिए प्रयत्न भी करें, किन्तु यह शिष्टाचार पूर्णतया व्यवहार ही बन जाये यह आवश्यक नहीं। बड़े कुछ भी न करें तो उनका शरीर और मन अपनी गतिशीलता निरन्तर खोता चला जायेगा और वे कुछ ही दिनों में कूड़ा-करकट जैसे निरर्थक बन जायेंगे। इस बेकारी में वे अपना समय तो गवाँयेंगे ही, किसी और साथी को तलाशकर उसे भी गम्पबाजी या ताश, शतरंज जैसे शुगल में फँसा देंगे। बड़ों को आराम देने का अर्थ उन्हें आलसी और दुर्व्यसनी बना देना है तो उससे कहीं अच्छा यह है कि उन्हें व्यवस्था, शिक्षा एवं लोकसेवा जैसे किसी उपयोगी काम में जुटाये रखने का ताना-बाना बुना जाय। देखने में यह बड़ों के प्रति अनुदारता बरतने जैसा प्रतीत होता है, किन्तु दूरदर्शिता यही कहेगी कि सद्भावना और सुव्यवस्था का समावेश हर दृष्टि से उचित है।

मोहवश बच्चों को दूर पढ़ने भेजने से अभिभावकों को विशेषतया माताओं को कतराते देखा गया है। बच्चा प्यारा है। इसलिए उसे आँखों के सामने ही रहना चाहिए। यह भावुकता का तकाजा है, विवेक का नहीं। प्राचीनकाल में बालकों को सुदूर गुरुकुलों में पढ़ने के लिए खुशी-खुशी भेज दिया जाता था। इसका अर्थ यह नहीं कि उनके अभिभावक प्यार नहीं करते थे। इसका अर्थ इतना ही है कि हित-चिन्तन को प्रथम और मोह-ममता को द्वितीय स्थान दिया जाता था। इसमें बालकों को भी अभिभावकों की ही तरह विछोह-कष्ट होता होगा, पर अन्ततः भावुकता ही तो सब कुछ नहीं है। यदि औचित्य और कर्तव्य की उपेक्षा की जाने लगे तो फिर सेना में

भर्ती होने के लिए न तो कोई व्यक्ति स्वयं ही तैयार होगा और न उसके घर वाले ही ऐसे जोखिम भरे दुस्साहस के लिए सहमति देंगे। यदि ऐसे ही प्रचलन चल पड़े तो फिर वानप्रस्थ परम्परा का अन्त ही हुआ समझना चाहिए। परिवार से छूटने व छोड़ने की असुविधा सर्वविदित है। मोह की प्रधानता रहते ऐसी व्यवस्था बन ही नहीं पड़ेगी ऐसी दशा में व्यक्ति और समाज को ऐसी क्षति उठानी पड़ेगी, जिसकी पूर्ति और किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त परिवारी लोगों के साथ ही रहना, उन्हीं के लिए मरना-खपना यह दिखाता है कि परिवार प्रेम की कितनी सघनता थी, फिर भी उस भावुकता के पीछे विवेक व्यवहार का समावेश न रहने से सराहना नहीं, भर्त्सना होगी।

जो कमाया जाय उसका उत्तराधिकार सन्तान को ही मिले, यह प्रचलन हर दृष्टि से निन्दनीय है। इसमें सन्तान को मुफ्तखोरी की लानत उठानी पड़ती है और संचयकर्तियों को मोहग्रस्त कहा जायेगा। औचित्य इतना ही है कि अभिभावक अपनी सन्तान को समर्थ, सुसंस्कृत बनाने के साथ अपने कर्तव्य की इतिश्री समझें और सन्तान भी अपने पूर्वजों से इससे अधिक की आशा न करें। असमर्थ आश्रितों को ही पूर्वजों की कमाई पर गुजारा करने का अधिकार रहना चाहिए, पर जो अपने बाहुबल से कमाने में समर्थ हैं, उन्हें स्वावलम्बनपूर्वक निर्वाह क्यों करना चाहिए ? बिना परिश्रम की कमाई चाहे वह चोरी में, लाटरी में या उत्तराधिकार में या किसी दूसरे रास्ते मिली हो, तथ्यतः अनैतिक है। जो कमाएँ सो खायें, यही सिद्धान्त सही है। इसमें इतना ही परिशिष्ट जोड़ा जा सकता है कि असमर्थ, आश्रित अपने पूर्ववर्ती की सम्पदा से निर्वाह प्राप्त करें। समर्थों को मिला उत्तराधिकार उनके लिए मुफ्त का माल होने से बेरहमी के साथ खर्च होगा। दूसरे ऐसे धन पर स्वभावतः लोक-मंगल का जो अधिकार है उससे उस क्षेत्र को वंचित रहना पड़ेगा और असंख्यों सत्त्ववृत्तियों को जो उस पोषण के सहारे पनपने का लाभ मिल सकता था उससे उन्हें वंचित रहना पड़ेगा।

मोहग्रस्त अभिभावक, भावुकतावश अपनी संचित कमाई का उत्तराधिकार अपने वंशजों के लिए छोड़ते हैं तो प्रचलन के अनुसार इसे स्वाभाविक ही कहा जायेगा किन्तु जहाँ तक विवेक एवं औचित्य का प्रश्न है, इस हस्तान्तरण का कोई औचित्य नहीं है। कृषि, उद्योग आदि के तन्त्र पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते और रहें, उनके सहारे परिवार को क्रम मिलता रहे यह व्यवस्था अलग है, इसका समर्थन भी हो सकता है, किन्तु जहाँ ऐसा कुछ नहीं बाप की कमाई बेटों को बँटनी भर है, वहाँ निश्चित रूप से भावुकता का अनुचित उपयोग ही है। इसमें देने वाले और लेने वाले दोनों पर ही औचित्य की भावुकता के दुरुपयोग का कलंक लदता है। ऐसा धन विशुद्ध रूप से सार्वजनिक उपयोग के लिए प्रयुक्त होना चाहिए। भले

३. ६३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

ही उसे मृत्यु टैक्स के रूप में सरकार वसूल करे अथवा प्राचीनकाल की श्राद्ध व्यवस्था के अनुसार उसे स्वेच्छापूर्वक धर्म प्रयोजन के लिए वितरित कर दिया जाय।

इन दिनों भी परिवारों में भावना का अस्तित्व किसी न किसी रूप में विद्यमान है। भाव संवेदनाएँ घटती तो जा रही हैं, पर वे आधी भी समाप्त नहीं हुई हैं। जो विद्यमान हैं वह बताता है कि मनुष्य ही मूल प्रवृत्ति का अस्तित्व इस गई-गुजरी स्थिति में भी अपनी सत्ता बचाये हुए है, अब जो करने योग्य है वह यह है कि उस दैवी तत्त्व का उपयोग विवेकपूर्वक होने दिया जाय। पारिवारिकता अपने सही स्वरूप में पनपे, उसे मोहग्रस्तता की विकृत स्थिति में न रहना पड़े। भावना और व्यवहार में यदि उत्कृष्टता का समावेश बना रहे, तो सच्चे अर्थों से पारिवारिकता पनपेगी और उस आधार पर सर्वतोमुखी प्रगति एवं समृद्धि का पथ-प्रशस्त होगा।

समानता का भ्रान्त अर्थ न लें

लड़के-लड़की दोनों ही समान हैं, दोनों में कोई किसी से हीन या उत्कृष्ट नहीं, यह मान्यता पूरी तरह सत्य है किन्तु जब समानता के इस सिद्धान्त का भ्रान्त अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है, तो फिर वास्तविकता से दूरी बढ़ती जाती है। दोनों की प्रकृतिगत भिन्नताओं को भुलाना ही समानता का ऐसा भ्रान्त अर्थ करता है। इन दिनों ऐसी ही भ्रान्ति के कारण लड़के-लड़कियों का ऊपरी भेद पूरी तरह मिटा डालने की प्रतिस्पर्धा चली हुई है और समझा यह जाता है कि यदि दोनों को एक-सी शिक्षा दी जाय, एक से वातावरण में, एक-से रहन-सहन में ढालकर रखा जाय, तो दोनों के बीच का अन्तर पूरी तरह मिट जायेगा। इस मान्यता के अनुसार लड़के और लड़की का भेद पर्यावरण तथा व्यवहार में बरते जाने वाले भेद का परिणाम है। आन्तरिक दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं और दोनों की कार्य-क्षमता, संवेदन-क्षमता बिल्कुल एक-सी हो सकती है।

मनोविज्ञानी रिचर्ड एम. रेस्टक ने अमरीका में बच्चों की मस्तिष्कीय क्षमता पर किये गये अनुसन्धानों से प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए इन मौलिक भिन्नताओं पर भलीभाँति प्रकाश डाला है। ये अनुसन्धान वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों के कई समूहों द्वारा किये गये।

इन अनुसन्धानों से पता चला है कि लड़कों के सोचने और महसूस करने का ढंग ही लड़कियों से भिन्न होता है।

लड़के और लड़कियों के बीच की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ नवजात शिशुओं में ही विद्यमान होती हैं। बच्ची ध्वनि-सम्बन्धी संवेदनाओं के प्रति बच्चे की तुलना में बहुत अधिक जागरूक होती है। विशेषकर अपनी माँ की आवाज को एक बच्ची बहुत बारीकी से पहचान लेती

है, जबकि बच्चा ऐसा नहीं कर पाता। इसके विपरीत बच्चे की कल्पनाशक्ति अधिक विकसित पायी गयी। इसी प्रकार बच्चे में स्वच्छन्दता और ऊटपटांगपन की प्रवृत्ति अधिक पायी गयी, जबकि बच्चियों में सुव्यवस्था की प्रवृत्ति आश्चर्यजनक रूप से विकसित पायी गयी। देखा गया कि एक नहीं बच्ची जहाँ अपनी माँ की आवाज को सुनकर उसके प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करेगी और थोड़ी देर को खेलना बन्द कर देगी, वहीं नन्हा बच्चा यदि रंगीन लड्डू से खेलने में मग्न हो, तो वह माँ की आवाज की अवहेलना कर देगा। इसी प्रकार, बच्चा दानों-गुरियों को पंक्ति में सजाने के स्थान पर उन्हें बिगाड़ने में ज्यादा रुचि लेगा, जबकि छोटी-सी बच्ची भी उन्हें सिलसिले से जमाने-सजाने में तन्मय हो जायेगी।

आगे चलकर भी, बच्चे कल्पना में अधिक डूबना पसन्द करते हैं, जबकि बच्चियाँ व्यावहारिक अधिक होती हैं। चेहरे और आवाज की विशेषता, बोलने की शैली, इनको लड़कियाँ बहुत बारीकी से समझतीं और संवेदनात्मक प्रतिक्रिया करती हैं। यह प्रवृत्ति उनमें आजीवन अधिक विकसित रही आती है। बच्चों की तुलना में वे एक निश्चित लय में गुनगुनाना बहुत जल्दी शुरू कर देती हैं। बोलना भी लड़कियाँ लड़कों से कम उम्र में शुरू कर देती हैं। उनकी शब्द-शक्ति लड़कों से अधिक विकसित होती है और वे अधिक शुद्ध बोलती हैं। हकलाहट, प्रायः लड़कों में ही अधिक पायी जाती है। लड़के, लड़कियों की तुलना में अधिक अशुद्ध ढंग से बोलते देखे गये। लड़कियाँ भाषिक दक्षता में अधिक प्रवीण होती हैं। वे विदेशी भाषाएँ लड़कों से अधिक जल्दी सीखती हैं। भाषा और ध्वनि सम्बन्धी यह विशेषता लड़कियों में आजीवन बढ़ी-चढ़ी रहती है और वे पुरुषों की तुलना में बहरी भी कम होती है तथा देर से वृद्धा होती है। इससे प्रकट है कि ध्वनियों, शब्दों को ग्रहण करने की उनकी क्षमता लड़कों-पुरुषों से अधिक विकसित, अधिक सशक्त होती है।

लड़के कल्पनात्मक उड़ानों, तार्किक ऊहापोहों में लड़कियों से बहुत विकसित होते हैं। इसी प्रकार, सम्पूर्ण शरीर को संचालित करने और धमाचौकड़ी मचाने में वे बढ़े-चढ़े होते हैं। खेल के मैदान में बच्चियाँ बताये गये तरीकों से ही खेलना पसन्द करेंगी, जबकि लड़के मनमानी करना। पाँच साल के लड़के-लड़कियों का समूह यदि एकत्र है और उन्हें एक-से वातावरण में पाला गया है तो वहाँ बाल पकड़कर खींचने, कागज बगैरह फेंककर मारने या दूसरे पर दाग-धब्बा लगा देने में लड़के ही अधिक प्रवृत्त पाये जायेगे। मनोविज्ञानिकों के अनुसार इसका कारण यह नहीं है कि लड़कियाँ कम 'एक्टिव', कम चुस्त या संकोची होती हैं या झिझकती हैं, वरन् उनकी प्रवृत्ति ही भिन्न होती है। वे उसी समय व्यवस्था में या दूसरी चीजों में अधिक रुचि ले रही होती हैं।

दोनों के ध्यान को आकर्षित करने वाली प्रवृत्तियाँ, गतिविधियाँ ही भिन्न होती हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार लड़के-लड़कियों के व्यवहार की यह भिन्नता वातावरण या प्रशिक्षण का परिणाम नहीं, उनके सोचने और अनुभव करने के ढंग में ही भिन्नता का परिणाम है। इसीलिए अब पश्चिमी देशों में यह मॉडल जोर पकड़ चुकी है कि व्यक्तित्व एवं बुद्धिलब्धि परीक्षाएँ (आई. क्यू. टेस्ट्स) तथा बौद्धिकक्षमता की परीक्षाएँ (इण्टेलिजेंस टेस्ट्स) लड़के और लड़कियों की भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि दोनों की बौद्धिक योग्यता का मूल स्वरूप ही भिन्न-भिन्न होता है। सबसे बड़ा अन्तर तो तीव्र बुद्धि लड़कों और तीव्र बुद्धि लड़कियों के परीक्षण के उपरान्त पाया गया। अब तक के सभी परीक्षणों में मनोवैज्ञानिकों ने यही पाया है कि सर्वाधिक बौद्धिक क्षमता वाली लड़कियाँ बेझिझक, अधिक चपल, अधिक हलचल करने वाली और कुछ बेफिक्र-सी होती हैं। जबकि लड़कों में जो कम विकसित बुद्धि के, कम मेधावी होते हैं, उनमें ही ये विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो उन्हें वातावरण की सुविधा के कारण उद्धत-उद्धण्ड तक बना देती हैं। विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न, मेधावी लड़कों में ये विशेषताएँ कतई नहीं होतीं और वे सदैव अधिक शान्त, कुछ-कुछ संकोची, अनाक्रामक और विचारों में डूबे-डूबे से होते हैं। इसलिए यदि व्यवहार की बाहरी प्रवृत्तियों को आधार बनाकर एक-सी बुद्धिमापक परीक्षाएँ ली गईं, तो मेधावी लड़कियों और कम विकसित बुद्धि के लड़के एक ही श्रेणी में आयेगे तथा मेधावी लड़कों और कम विकसित बुद्धि वाली लड़कियों में बहुत कुछ साम्य प्रतीत होगा। अतः दोनों की जैविक, मानसिक संरचनाओं तथा 'ब्रेन बिहेवियर' को ध्यान में रखकर ही बौद्धिक परीक्षाओं का अलग-अलग स्वरूप तय किया जाना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक गवेषणाएँ अभी निरन्तर जारी हैं और जो तथ्य आज सामने आए हैं, उनमें विस्तार एवं विकास की बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं। अतः इन तथ्यों को अन्तिम या निर्विवाद नहीं मान लेना चाहिए। लेकिन यह तो निर्विवाद रूप से मानना ही होगा कि लड़के और लड़कियों की मस्तिष्कीय विशेषताएँ ही भिन्न-भिन्न होती हैं तथा दोनों के बीच बाहरी दृष्टि से समानता लाने या समान कसौटी निर्धारित करने पर दोनों में से एक वर्ग के साथ अवश्य अन्याय होगा और इस प्रकार ऊपर से जो समानता दिखती है, वह वस्तुतः विषमतापूर्वक अनुचित व्यवहार-प्रणाली सिद्ध होगी। दोनों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को समझते हुए, उन विशेषताओं के अनुरूप विकास के समान अवसर देना ही सच्ची समानता सिद्ध होगी। समानता का भ्रान्त अर्थ तो अनर्थ ही करेगा।

किन्तु यहाँ, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नर-नारी के बीच जो अन्तर इन दिनों समझे जाते हैं, उनमें से अधिकांश रूढ़, सतही और अवास्तविक हैं तथा उनका

कारण सांस्कृतिक परिवेश में विद्यमान विषमता ही है। इस विषमता को समाप्त करना ही चाहिए। विशेषकर, दोनों में से किसी एक वर्ग को अधिक श्रेष्ठ, दूसरे को कम श्रेष्ठ या घटिया बताना पूरी तरह गलत है। ऐसी मान्यताएँ सांस्कृतिक विघटन और अनीति का परिणाम हैं किन्तु जो आधारभूत प्रवृत्तिगत भिन्नताएँ, विशेषताएँ हैं, उन्हें अनदेखा करना भी अनर्थकारी सिद्ध होगा। उन भिन्न-भिन्न विशेषताओं को समझकर, उनके विकास के समान अवसर तथा समान महत्त्व देना ही सच्ची समानता है।

क्या पुत्र-जन्म वास्तव में सौभाग्य है ?

भविष्य जानना आमतौर से अहितकर ही सिद्ध होता है। वस्तुतः भवितव्यता का कोई निश्चय नहीं। वह अनुमान पर आधारित होती है। विधि का विधान ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य के अपने स्वभाव और कर्म ही भली-बुरी परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। यदि प्रवाह को बदल दिया जाय तो जिस सम्भावना के लक्षण दीख पड़ रहे थे, उनमें आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगता है।

आलसी, अपव्ययी, व्यसनी, दुर्गुणी का भविष्य सहज बुद्धि के आधार पर दुःख भरा समझा जा सकता है। मित्र सम्बन्धी वैसा ही अनुमान लगाते हैं, पर यदि दृष्टिकोण, स्वभाव एवं कार्यक्रम में उपयोगी परिवर्तन कर लिया जाय तो स्थिति उलटने में भी देर नहीं लगती। इसी प्रकार सज्जन सज्जे जाने वालों का भविष्य उत्तम माना जाता है, पर यदि वे किसी कुचक्र में फँसकर कुमार्गगामी गतिविधियाँ अपना लें, तो भविष्य सम्बन्धी पूर्वमान्यता में अप्रत्याशित परिवर्तन हो सकता है।

वाल्मीकि, अजामिल, गणिका, अंगुलिमाल, विल्वमंगल आदि अपने कुख्यात क्रिया-कलाप को बदलकर सन्त और ऋषि जैसा जीवन बिताने लगे। दूसरी ओर विश्वामित्र, दुर्वासा ऋषि अपनी भूलों के कारण बदनाम हुए। मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता आप माना गया है क्योंकि वह चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में यथोचित परिवर्तन करने में समर्थ है। भाग्य कर्म की ही परिणति है। उस कर्म का प्रवाह यदि बदला जा सके तो भवितव्यता में भी अन्तर आ सकता है।

जो प्रत्यक्ष नहीं है उसकी पूर्व सम्भावना का किसी भी आधार पर अनुमान लगाया जाय, उसका शत-प्रतिशत सुनिश्चित होना सम्भव नहीं, फिर भी अनुमान के आधार पर कुँ खोदे जाते हैं। आरम्भ करते समय आशा की जाती है कि यहाँ जल स्रोत निकलेगे, पर कितनी ही बार ऐसा भी होता है जो चाहा गया वह पूरा नहीं होता। खोदे गये गड्ढे सूखे ही पड़े रहते हैं। वर्षा ऋतु सूखी निकल जाती है और कभी-कभी असमय में हो भारी वर्षा का संयोग बन जाता है। पूर्व अनुमानों में से सभी सही

३. ६५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

निकलते हों ऐसा कहाँ होता है ? यदि किसी के जन्म-मरण की बात निश्चित हो तो उससे न तो बचने की आवश्यकता समझी जाय, न सफलता के लिये प्रयत्न के लिये प्रयत्न किया जाय और न संकट का निवारण ही सम्भव हो सके। जो अकस्मिक है, उसे कैसे काटा जाय ? पर ऐसा होता नहीं। प्रकृति प्रवाह भी बदलते रहते हैं और संचित कर्मों का भी आकस्मिक उदय-अस्त होता रहता है। भाग्य पत्थर की लकीर नहीं है फिर यदि हो भी तो मनुष्य को न तो उसका पूर्व परिचय ही होता है और न नियति को बदलने के लिए उसके पास कोई सुनिश्चित साधन ही रहता है। इसलिए विज्ञानों ने सदा यही परामर्श दिया है कि भविष्य की चिन्ता न करें, भूत को याद करते रहने के फेर में न पड़ें, मात्र वर्तमान पर ही ध्यान केन्द्रित करें और जो सामने है उसी से निपटें।

आकांक्षाओं में से अनेकों ऐसी होती हैं जो परिस्थितिवश, पुरुषार्थ या सहयोग के अभाव में चाहते हुए भी पूरा नहीं हो पातीं। ऐसी दशा में यही अच्छा है कि आकांक्षाओं को संयम में रखें। उन्हें अत्यधिक न उभरने-मचलने दिया जाय। अच्छी से अच्छी आशा जरूर करें पर बुरी से बुरी सम्भावनाओं के लिए भी तैयार रहें।

यहाँ यह प्रसंग है कि बच्चे उत्पन्न हों और उनमें भी मात्र पुत्र की उपलब्धि हो। लोकमान्यता इसी प्रकार की है। हर व्यक्ति यह चाहता है कि उसकी पत्नी पुत्र ही जने। कन्या उत्पन्न होने पर दुर्भाग्य समझा और दुःख मनाया जाता है किन्तु प्रकृति के क्रम विधान को क्या किया जाय जो वंश परम्परा चलते रहने के प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए बच्चों में से आधे नर और आधे मादा वर्ग के जनती हैं। यदि ऐसा न हो तो नर-मादा के जोड़े न मिलें। एक वर्ग की अधिकता और दूसरे की कमी पड़ जाने पर परिवार बसना और व्यवस्था का चलना ही सम्भव न हो। विग्रह खड़े हों और छीन-झपट का सिलसिला चल पड़े। फिर अगली पीढ़ियों का सन्तुलन बिगड़े। नारी पक्ष अधिक हो और नर की संख्या कम होने पर भी जनसंख्या असन्तुलित रूप से बढ़ती रहेगी। इसी प्रकार नरों का बाहुल्य हो नारी कम पड़े तो प्रजनन क्रम उस अनुपात में न रह सकेगा, जिससे उचित मात्रा में नर-नारी सन्तुलन बना रहे। ऐसे ही अनेक कारण हैं जिन्हें ध्यान में रखते हुए प्रकृति ने ऐसा संविधान बनाया है कि दोनों पक्षों का उत्पादन समान रूप से बना रहे। यदि इस व्यवस्था को झुठलाकर लोग चाहें कि उसके पुत्र ही हों तो उस मनोकामना का प्रतिफल समूची मानव जाति के लिए अहितकर ही होगा। सभी लड़के जन्मने लगे तो उन्हें अविवाहित रहना पड़ेगा। ऐसी दशा में उसी पीढ़ी में मानवी अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

पुत्र की इच्छा को बढ़ी-चढ़ी उत्कण्ठा के स्तर तक पहुँचाये रहने वाले यह भूल जाते हैं कि उनकी माता भी नारी थी और पत्नी भी नारी है। यदि वे न रही होती तो

न उनका जन्म सम्भव था और न गृहस्थ बनना। नारी ही है जो वंश-परम्परा चलाये रहती और नर-रत्नों के उत्पादन में महती भूमिका निभाती है। फिर पुत्री के रूप में यदि वह घर में अवतरित होती है तो इसमें अनख मानने की क्या आवश्यकता है।

पुत्र कमाऊ होते हैं। वंश चलाते हैं। बुढ़ापे का सहारा बनते हैं। उनका दिया हुआ पिण्डदान मृत पूर्वजों को पहुँचता है। इन मूढ़-मान्यताओं में तथ्यतः कोई दम नहीं है। लड़कियों को भी लड़कों की तरह यदि सुशिक्षित, सुयोग्य, समर्थ और सुसंस्कृत बनाया जाय तो वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का, वरिष्ठता का परिचय दे सकती हैं। इतना ही नहीं, अभिभावकों को भी कृत-कृत्य बना सकती हैं। सीता, शकुन्तला, जीजाबाई, लक्ष्मीबाई आदि पुरातन नाम इस गरिमा का स्मरण दिलाते हैं। विर-पुरातन काल में सावित्री, सुकन्या, अनुसूया, अरुन्धती, शत्रुघ्ना, कौशल्या आदि का नाम मूर्तिमान होकर सामने आ खड़ा होता है। इन दिनों भी इन्दिरा गाँधी, सरोजनी नायडू, महादेवी वर्मा, मदर टैरेसा, थैचर, गोल्डामेयर, भण्डार-नायके, ऐक्वीनो आदि के नाम यह स्मरण दिलाते हैं कि अवसर मिले तो वह सुयोग्यतम नरों से भी अधिक अग्रगामी भूमिका निभा सकती हैं। देवताओं के युगों में नारी की ही प्रधानता रही है। लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि में नारी को प्रथम और नर को द्वितीय स्थान मिला है। नर कमाता जरूर अधिक है पर बचत, व्यवस्था और कला-सुसंस्कारिता जैसे अति महत्वपूर्ण पक्ष नारी के ही हाथ में हैं।

सामन्तकाल की कुरीतियों में मनचले गुण्डे सुन्दर कन्याओं का अपहरण कर ले जाते थे। साथ ही उस परिवार में लूटपाट भी करते थे। इसलिए कन्याओं को मुसीबत समझा जाता था और उन्हें जन्मते ही कुछ समुदायों में गला घोटकर मार दिया जाता था। स्थिति की भयकरता को देखते हुए अंग्रेज सरकार ने कन्यावध के विरुद्ध कानून बनाया था। समाज सुधारकों ने इस अनर्थ के विरुद्ध जनमत भी जाग्रत किया था।

लगता है कि वह अनाचार नये रूप में फिर वापस लौट रहा है। ऐसी मशीनें बनी हैं जो जन्म से पूर्व ही भ्रूण के सम्बन्ध में यह बता देती हैं कि पेट में लड़की है या लड़का। लड़की की जानकारी मिलने पर उससे पीछा छुड़ाने के लिए प्रसव से पूर्व ही बहुतेरे गर्भपात करा देते हैं। यदि इस प्रचलन ने जोर पकड़ा तो स्थिति ऐसी बन जायेगी जिसके लिए समूची मनुष्य जाति को पश्चाताप करना पड़ेगा।

पुत्र और पुत्री में अन्तर क्यों ?

दिन और रात के मिलने से समय का चक्र घूमता है। सुख और दुःख के तानों-बानों से जीवन का निर्माण होता है। ईंट और गारे के सम्मिश्रण से एक आलीशान

इमारत निर्मित होती है। यही स्थिति हमारे समाज की भी है। इसमें अच्छाइयाँ-बुराइयाँ दोनों हैं, जब कभी अच्छाइयों की वृद्धि होती है तो समाज का वातावरण स्वर्गोपम बन जाता है और प्रत्येक मनुष्य में देवत्व की झाँकी दृष्टिगोचर होती है। इसके विपरीत जब बुराइयों का आधिपत्य स्थापित हो जाता है तो यही स्वर्गतुल्य समाज नरक के सदृश बन जाता है। देवता कहलाने वाले मनुष्य राक्षसी प्रवृत्तियाँ अपना लेते हैं। चारों ओर दुःख, क्षोभ, विषमता की घटाएँ छाने लगती हैं।

ऐसी विषम स्थिति में श्रेष्ठ पुरुष, महामानव समाज का सन्तुलन बनाने के लिए आगे आते हैं और सर्वस्व की बाजी लगाकर समाजोद्धार एवं राष्ट्रोत्थान का कार्य पूर्ण करते हैं। जब भी ऐसा समय आया—नारियाँ पीछे नहीं रहीं वरन् पुरुषों के समकक्ष होकर प्रत्येक कार्य में अपना योगदान देती रही हैं। चाहे वह पारिवारिक, सामाजिक, लोकसेवा या अन्य कोई भी क्षेत्र क्यों न हो।

दुर्गा शक्ति के अवतरण की कथा सर्वविदित है। असुरों और देवताओं के युद्ध में जब देवताओं की पराजय होने लगी तो उन सबकी विशेषताओं के संयोग से दुर्गा का अवतरण हुआ। उस महाशक्ति के सम्मुख राक्षसों की दाल न गली और वे नष्ट हो गये। नारी में अद्भुत सामर्थ्य है। देवी अनुसुइया का जीवन-चरित्र इसका प्रमाण है। एक बार महर्षि अत्रि ने चित्रकूट को अपना प्रयोग स्थल बनाया। वहाँ पानी की कठिनाई थी। अनुसुइया ने उस कठिनाई का हल निकालने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और भगीरथ की तरह तप करके 'मन्दाकिनी' नामक नदी को इस क्षेत्र में प्रवाहित कर दिखाया।

इसी प्रकार ज्ञान और विवेक, शौर्य और साहस के क्षेत्र में भी नारी के अपने अनोखे कीर्तिमान हैं। लेकिन आज इससे ठीक उल्टी स्थिति दिखाई देती है। कहाँ तो भारत की वह गौरवमयी परम्परा जब नारी तप, ज्ञान आदि से लेकर युद्ध क्षेत्र तक में अपने चमत्कार दिखलाती थी और कहाँ आज की यह स्थिति कि वह कुण्ठित एवं अविकसित होने के कारण दैनिक जीवन की साधारण-सी समस्याओं का समाधान भी नहीं निकाल पाती। कहने को भारतीय नारी जीवित अवश्य है पर वह बुरी तरह मनोमृत हो चुकी है। आज नारी समाज का मूल्य और महत्व बहुत गिर चुका है।

नारी वर्ग की वर्तमान दुर्दशा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मुँह से चाहे जैसे भी नारी की गरिमा का बखान किया जाता है और शास्त्रों में उनके सम्बन्ध में चाहे कैसी भी उच्च बातें लिखीं हों पर व्यवहार में उनको वास्तव में हीन समझा जाता है। इसका प्रमाण कन्या का जन्म होते ही मिल जाता है। जब किसी घर में लड़की पैदा हो जाती है तो वहाँ का वातावरण एकदम उत्साहरहित और नीरस बन जाता है। ऐसा लगता है मानो उनके ऊपर कन्या रूप में कोई भारी तथा बेकार

का बोझ आ पड़ा है। यदि पुत्र का जन्म होता है तो बधाइयाँ दी जाती हैं, बड़ा उत्सव मनाया जाता है, घर का प्रत्येक सदस्य फूला नहीं समाता।

आज हमारे हिन्दू समाज में बहुत कम व्यक्ति ही ऐसे होंगे जो पुत्री का जन्म होने पर भी पुत्र के जन्म की भाँति ही प्रसन्नता का अनुभव करें। अधिकांश व्यक्ति तो पुत्री के जन्म को एक अभिशाप मानते हैं। इतना ही नहीं कन्या को एक बड़ी डिक्करी की उपमा दे दी जाती है और उसे पराये घर का कूड़ा मानकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है।

जैसे-जैसे लड़की बड़ी होती है वैसे-वैसे यह भेदभाव भी अधिक प्रत्यक्ष होता जाता है। लड़के-लड़की के पालन-पोषण, खेलने-कूदने, शिक्षा-दीक्षा में सर्वत्र लड़के को ही प्रधानता दी जाती है। यहाँ तक कि खाने के मामले में भी बेटे का विशेष ध्यान रखा जाता है। इस असन्तुलन की सीमा इतनी बढ़ जाती है कि बेटा तो खूब अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खाता रहता है और बेटा ललचाई आँखों से देखती व तरसती रहती है या फिर उसे बचे-खुचे पर ही सन्तोष करना पड़ता है।

इस प्रकार की भेद-भाव की ओछी बातों को, पुरानी निरर्थक मूढ़-मान्यताओं को मानने वाली महिलाएँ और भी बढ़ावा देती हैं। वे कन्या को छोटपन से ही तरह-तरह के ताने सुनाया करती हैं। साधारण-सी बातचीत में भी उसे अनेक अपमानजनक कटुशब्द कहकर तिरस्कृत करती रहती हैं। वे अपने व्यवहार से यह प्रकट करती हैं कि वह परिवार पर एक भारस्वरूप है। हँसने-हँसाने के अवसर पर भी उसे हँसाने का मौका न देकर कुलीनता का उलाहना देते हुए चुप रहने के लिए मजबूर किया जाता है। इन सब बातों का प्रभाव कन्या के भावुक तथा कोमल मन पर ऐसा पड़ता है कि वह अपने आप को सदा के लिए दीन-हीन, कमजोर और पराश्रित समझने लगती है। उसकी यह भावना कायरता का रूप धारण कर प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर देती है।

हमारे समाज में जिन कुप्रथाओं और जिन कुरीतियों ने अपनी जड़ें जमा ली हैं, उनके कारण जनमानस में यह मान्यता प्रबल हो गयी है कि कन्या जन्म से लेकर मरण तक खर्च ही कराती रहती है और बेटा सारी उम्र कमाई खिलाता तथा वंश चलाता है। केवल इतना ही नहीं, बुढ़ापे में सेवा करता है और मरणोपरान्त दान देकर स्वयं का अधिकारी बनाता है, जबकि यथार्थता इससे बिलकुल भिन्न है। कुछ ही पुत्र ऐसे होते होंगे जो अपने प्रति माता-पिता की भावनाओं को तथा माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्यों को समझकर उन्हें पूरा करते हों। अधिकांश की मान्यता तो यही रहती है कि माता-पिता ने यदि हमारे लिए कुछ किया तो इसमें एहसान की क्या बात है ? यह तो उनका कर्तव्य था क्योंकि उन्होंने हमें जन्म दिया।

३. ६७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

कुछ ऐसे होते हैं जो समझते तो हैं किन्तु यह कहकर टाल देते हैं कि “उनके प्रति केवल हमारे ही नहीं बड़े अथवा छोटे भाइयों के भी दायित्व है।” पुत्रों के ऐसे क्रिया-कलाप माता-पिता की काँच जैसी उज्ज्वल भावनाओं और आशाओं को चकनाचूर कर डालते हैं, जबकि बेटी कहीं भी किसी भी स्थिति में क्यों न हो, अपने माता-पिता एवं आत्मीयजनों के दुःख-कष्टों की बात जानकर विह्वल हो उठती हैं। उनके कष्टों को दूर करने के लिए वह हर सम्भव प्रयास करती है और स्वयं की सुख-सुविधाओं को क्षणभर में तिलांजलि दे देती है।

यह सब समझते हुए भी हर एक माता-पिता के मन में यही ललक लगी रहती है कि बेटा अवश्य होना चाहिए। बेटे के बिना तो सब कुछ व्यर्थ है। पढ़े-लिखे और समझदार कहे जाने वाले लोग भी दीवाने से बने ओझाओं-ज्योतिषियों के दरवाजे की धूल फाँकते, देवी-देवताओं की मूर्तियों, मन्दिरों के सम्मुख नाक रगड़ते और मनौतियाँ मनाते देखे जाते हैं। उन समझदारों की इस नासमझी को मन की संकीर्णता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?

प्रत्येक माता-पिता को लड़की के प्रति पराई का भाव और उपेक्षा का व्यवहार रखने की मूढ़ता से मुक्त होना चाहिए। लड़की परिवार और समाज के लिए एक अभिशाप है—इस मान्यता को त्यागकर यह समझना चाहिए कि लड़का अथवा लड़की जिसकी भी आन्तरिक वृत्तियाँ नीच प्रकृति की होंगी, जो भी अयोग्य और खराब स्वभाव का होगा वही समाज का अहित करेगा तथा उसके प्रसन्न प्रवाह में क्लेश, कलह, कटुता का विष बीज बोयेगा। फिर लड़की का अविकसित और अयोग्य होना तो और भी हानिकारक है, क्योंकि वही तो समाज की भावी पीढ़ी का निर्माण एवं विकास, सुचारु-सन्तोषजनक रीति से कर सकने में समर्थ होती है। एक लड़की दो कुलों से सम्बन्धित होती है। यदि उसे आरम्भ से ही बोझ न समझकर सद्व्यवहार करने वाली, सद्गुण सम्पन्न बनाने की ओर ध्यान दिया जाय, अपने कर्तव्यों का बोध कराया जाय तो वह दोनों परिवारों की उन्नति तथा कल्याण में सहायक सिद्ध हो सकती है।

कन्या शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाय

सभ्यता का प्रकाश और ज्ञान का आलोक जैसे-जैसे फैलता जा रहा है वैसे-वैसे लोग शिक्षा की आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं। अनपढ़, अशिक्षित माता-पिता भी अपने बच्चों को सभ्य, शिक्षित और सुसंस्कृत देखना चाहते हैं। जहाँ ज्ञान की एक किरण भी नहीं पहुँच पायी है वहाँ की बात और है अन्यथा कोई भी अभिभावक अपने बच्चे को असभ्य, अशिक्षित और असंस्कृत देखना

पसन्द नहीं करते। यह जानकर सन्तोष किया जा सकता है कि लोग शिक्षा की आवश्यकता अनुभव करने में लगे हैं। गरीबी और अभाव के कारण जो लोग अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाते, पढ़ने जाते दूसरे बच्चों को देखकर कसक तो उनमें भी उठती ही है।

मध्यम वर्ग के लोग तो अपने बच्चों की शिक्षा पर अवश्यमेव ध्यान देते हैं, लेकिन ये सभी सन्तोषजनक फल लड़कों से ही सम्बन्धित हैं। लड़कियों की स्थिति आज भी जहाँ की तहाँ है। मध्यम वर्ग के परिवारों में भी उनकी शिक्षा पर नहीं के बराबर ध्यान दिया जाता है। यह खेदजनक ही है कि हम एक ही माँ की कोख से जन्मे पुत्र व कन्या से भेद बरते। लड़के की शिक्षा को तो इतना आवश्यक समझ लें कि उसके लिए यदि हमें अपना पेट भी काटना पड़े तो नागवार नहीं लगे और लड़की को स्कूल भेजने का अर्थ धन के अपव्यय से लगायें।

क्या लड़की को शिक्षा की आवश्यकता नहीं है ? क्या उसके लिए शिक्षा की कोई उपयोगिता नहीं है ? आदि ऐसे प्रश्न हैं जो कन्या के लिए शिक्षा की उपेक्षा करते समय उठने चाहिए लेकिन आमतौर पर माता-पिता अपनी कन्या की उपयोगिता एक ऐसी गृहिणी से अधिक नहीं आँकते हैं, जिसके जिम्मे केवल खाना खाने और चौक-चूल्हा सँभालने का ही कार्य है। इन कार्यों की परिधि से हटकर उसका कोई दूसरा क्षेत्र ही नहीं है।

लड़की की पढ़ाई की उपेक्षा इसलिए भी की जाती है कि अभिभावक सोचते हैं कि आखिर लड़की को पढ़ा-लिखाकर कोई नौकरी तो करानी नहीं है और नौकरी करेगी भी तो क्या हम उसकी कमाई का लाभ उठा सकेंगे। उसकी कमाई तो उसी परिवार में चली जायेगी जिसमें कि वह बहू बनकर रहेगी। यह संकीर्ण दृष्टिकोण ही कन्या शिक्षा की उपेक्षा का कारण बन जाता है।

शिक्षा व्यक्ति की अन्तर्निहित क्षमताओं के विकास का अभ्यास है। एक सुशिक्षित व्यक्ति और अपनी योग्यता के बल पर जिस कार्य को सुथरे और सुन्दर ढंग से सम्पन्न कर सकता है उतने अच्छे ढंग से अशिक्षित और फूहड़ व्यक्ति नहीं कर सकता क्योंकि शिक्षा कोई भी कार्य सुन्दर और कलात्मक ढंग से सम्पन्न करने की योग्यता विकसित करती है। शिक्षित गृहिणियों और अशिक्षित गृहिणियों के घर मकान से लेकर उनके रहन-सहन और बच्चों तक में अन्तर देखा जा सकता है।

बेटी को यदि हम अपने ही शरीर का एक अंग, अपनी ही आत्मा समझते हैं, उसमें कोई फर्क नहीं करते तो उसके विकास पर ध्यान क्यों नहीं देते ? स्वच्छताप्रिय व्यक्ति कभी अपने हाथ-पैर के उस भाग को गन्दा-गलीज नहीं रखता जिन पर कि वस्त्र पहने रहते हैं। हालांकि वे भाग किसी के दीखने में नहीं आते। कन्या भी परिवार शरीर का एक हिस्सा है, उसे अशिक्षित, फूहड़ और

गँवार रखना वैसा ही बन जाता है जैसा कि छाती कौन देखता है कि उस पर मेल है। अतः उसे वैसा ही रहने दिया जाय यह सोचने वाला इस दृष्टि से तो शायद ही कोई सोचता है, पर कन्या के सम्बन्ध में वैसा व्यवहार करने वाले बहुतेरे हैं। कन्या पढ़ी-लिखी है या नहीं यह कौन पूछने जाता है ? वह जैसी भी है उसका लाभ या हानि तो ससुराल वाले ही उठायेगे।

लाभ ससुराल वाले उठायेँ और प्रयत्न तथा परिश्रम हम करें—यह सोचना भी गलत है। बेटी अपनी है तो उसे योग्य और कुशल बनाने का फर्ज हमारा है, तभी तो सही अर्थों में कन्यादान हो सकेगा। विवाह के समय कन्या का दान किया जाता है और स्मरणीय है दान हमेशा पवित्र तथा पूर्ण वस्तुओं का किया जाता है। अपूर्ण, भंग और खण्डित वस्तुओं का दान, पुण्य नहीं पाप बताया गया है, क्योंकि उस प्रकार दाता उन खण्डित वस्तुओं से मुक्त होने तथा दान का पुण्य भी लूटने की दोहरी चालाकी करता है और धर्म तथा पुण्य के क्षेत्र में चालाकियों से काम नहीं चलता, वे उल्टे परिणाम उपस्थित करती हैं। कन्यादान भी करना है, तो उसे योग्य और सुशिक्षित बनाकर ही करना चाहिए।

लड़की की शिक्षा का लाभ दूसरे लोग उठायेँ तो पढ़ाना क्या जरूरी है—यह संकीर्ण दृष्टिकोण शिक्षा के प्रति हमारी गलत मान्यताओं के कारण ही जन्म लेता है। शिक्षा को व्यक्तित्व के विकास का माध्यम समझने वाले लोग नहीं के बराबर हैं। अधिकांश तो यही समझते हैं कि शिक्षा की उपयोगिता केवल नौकरी मिल जाना ही है। जिन लोगों ने शिक्षा के महत्त्व को समझा है, उनमें से अधिकांश की दृष्टि शिक्षा को जीविका मिलने का एक माध्यम भर देखती हैं और इसी कारण अधिकांश अभिभावक अपने बच्चों को केवल नौकरी के उद्देश्य से पढ़ाते हैं। जो लोग अपने बच्चों को पैतृक व्यवसाय में लगाने का ध्येय रखते हैं, वे अपने बच्चों को सामान्य कक्षाओं तक पढ़ा कर ही रुक जाते हैं।

शिक्षा को रोजगार का माध्यम समझने के कई दुष्परिणाम हैं। एक तो शिक्षित व्यक्ति केवल नौकरी के आश्रित ही रह जाता है, दूसरे व्यवसाय में खप सकने की उसमें न योग्यता होती है और न ही वह आवश्यक समझता है, क्योंकि पन्द्रह-सोलह वर्ष तक जो युवक शिक्षा को दुधारू गाय समझकर उसे दुहने की घड़ी की प्रतीक्षा करता रहा वह अन्य कार्य में क्यों लगना चाहेगा। चूँकि लड़की को पढ़ा-लिखा कर नौकरी नहीं करवानी है तो उसे पढ़ाने की आवश्यकता भी व्यर्थ लगती है।

इस मान्यता को बदलने के साथ-साथ कन्या शिक्षा की उपेक्षा के अन्य दुष्परिणामों को भी समझाना चाहिए, प्रायः समझा जाता है कि लड़की एम. ए. पास हो या प्राइमरी अथवा एकदम अनपढ़, तो भी वह जिस घर में शिक्षा के कारण न तो उसका स्थान ऊँचा उठ जाता है,

और न ही नीचा रह जाता है। यहाँ यह भी देखना चाहिए कि लड़की जितनी पढ़ी-लिखी होगी, उसी स्तर के परिवार में उसका ब्याह होगा। सुशिक्षित और सभ्य लोग अनपढ़ या अल्पशिक्षित लड़कियों के सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते। पढ़ा-लिखा लड़का अपने बराबर भी न सही तो श्रेणी कम शिक्षित लड़की से ही विवाह करना पसन्द करेगा। यह नहीं कि वह एकदम अनपढ़ लड़की से विवाह करने को राजी हो जाय। अर्थात् परिवार और पति का चुनाव उसके बराबर या समकक्ष कक्षा तक शिक्षित वर्ग में से ही होता है।

कदाचित् पैसे, पद या प्रतिष्ठा के बल पर कम पढ़ी-लिखी लड़की का उच्चशिक्षित युवक से विवाह कर भी दिया जाय तो दोनों की पटरी नहीं बैठती। गाड़ी का एक छोटा पहिया और एक पहिया बड़ा हो तो गाड़ी गड्डे में गिरेगी ही, सवार को भी ले बैठेगी। समझ-बूझ कर एक-दूसरे का निर्वाह करने वाले दाम्पत्य संख्या में कम हैं। अतः प्रेम के बल पर ही दाम्पत्य जीवन चलते रहने की सम्भावना भी क्षीण हो जाती है।

अशिक्षित माता अपने बच्चों का पालन-पोषण और देख-रेख कर लेती है पर उनका निर्माण करने में असमर्थ रहती है, क्योंकि बालकों के निर्माण में सूझ-बूझ और समझ-विवेक की आवश्यकता है, वह अशिक्षित माताओं में प्रायः अनुपस्थित रहती है, अतः लड़कियों को शिक्षा और भी अधिक आवश्यक है इसलिये कहा गया है कि एक लड़का पढ़ लिख गया तो उसका लाभ केवल उसे ही मिलेगा। पर एक माँ यदि शिक्षित और समझदार हो तो समझना चाहिए कि सारे परिवार के लिए ही सुशिक्षा का आधार बन गया।

कन्या शिक्षा की उपेक्षा कराने वाला संकीर्ण दृष्टिकोण यथासम्भव शीघ्र ही बदलना चाहिए और नारी आवश्यकता को समझना चाहिए। पिता, पति और भाई सबको इसी दिशा में चेष्ट हो जाना आवश्यक है। पिता अपनी लड़कियों की शिक्षा के मामले में उपेक्षा न करे, पत्नी अनपढ़ हो तो उसे पति पढ़ाये और भाई अपनी बहिन की शिक्षा पहल करें। सुयोग्य पुरुष और सुयोग्य स्त्री दोनों मिलकर ही इस प्रकार समाज में सुखद परिस्थितियाँ बना सकेंगे।

छात्राओं का अनुकरणीय उदाहरण

लड़कियों के बारे में यह मान्यता बन गई है कि वे आत्म-रक्षा व अनेकिकता के प्रतिरोध में कुछ नहीं कर सकतीं। मध्य युग में सामाजिक व्यवस्था कुछ रही भी ऐसी कि नारी जाति के किसी भी गुण के विकास पर ध्यान नहीं दिया गया। उसके फलस्वरूप उनमें हीनता की कठिन ग्रन्थि पड़ गई। इसी के कारण उनमें स्वयं कुछ करने का प्रयास तो दूर विचार भी आने बन्द हो गये। आज स्त्री समाज को थोड़ा बढ़ावा दिया जाने का

३. ६९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

प्रयास किया जा रहा है—फिर भी उसमें पर्याप्त मात्रा में आत्मनिर्भरता की भावना का समावेश नहीं हो सका है। इसी दुर्बलता का लाभ उठाकर मनचले, बदमाश, गुण्डे अपनी हरकतें महिलाओं के बीच में करने में जरा भी भय नहीं खाते हैं किन्तु वे थोड़ा भी प्रयास करें तो बदमाशों के कारनामे बहुत अंशों तक रुक सकते हैं। इसका एक उदाहरण बम्बई विश्वविद्यालय की छात्राओं ने दिया।

कुमारी नीलम बी. नाइक नामक विश्वविद्यालय की छात्रा सोने की एक जंजीर पहने थी। एक बदमाश की निगाह उस पर पड़ी। हाथ की सफाई से जेब के पैसे या पहने हुए आभूषण निकालने में एक वर्ग पर्याप्त कुशल है किन्तु उस बदमाश को इस प्रकार सतर्कतापूर्ण तरीके की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। आस-पास मनुष्य थे नहीं और लड़कियों को भला क्या पिनती ? वह तो थोड़ा भय दिखाने से चीखना भी भूल जाती है, विरोध तो दूर की बात है। बस यह विचार करके उसने एक ओर साइकिल टिकाई तथा सामान्य रूप से टहलता हुआ उक्त छात्रा के पास पहुँचा। छात्रा प्रश्न भरी दृष्टि से उसके प्रयोजन को समझने का प्रयास करने लगी। जब तक वह कुछ पूछे शोख निजार नामक उस बदमाश ने हाथ बढ़ाकर एक झटके से उसकी जंजीर तोड़ ली। इशारे से चुप रहने की धमकी देकर लपककर अपनी साइकिल उठा ली।

कुमारी नीलम ने स्थिति समझ ली। एक क्षण की देरी होते ही बदमाश का निकल भागना निश्चित था। थोड़ी ही दूर उसकी तीन और सहेलियाँ थीं। उन्हें सहायता के लिए पुकारते हुए उसने झपटकर साइकिल पर चढ़ते हुए बदमाश की साइकिल पीछे से पकड़ ली। बदमाश को इसकी आशा नहीं थी। उसने एक हाथ से साइकिल संभालते हुए एक हाथ से कु. नीलम की पकड़ छुड़ाने का प्रयास किया, किन्तु कु. नीलम कोई छुई-मुई तो थी नहीं जो इशारे से ही सिमिटकर रह जाती। एक हाथ के प्रयास, लाल-लाल आँखों तथा मार डालने की धमकी का भी उस पर कोई प्रभाव न हुआ। खीझकर शोख ने साइकिल का हैण्डल छोड़कर घूमकर सीट को अपने शरीर का सहारा देते हुए जोर का प्रहार अपने हाथ से छात्रा की कलाई को लक्ष्य करके किया। बदमाश का हाथ कलाई पर चोट कर सके इसके पूर्व ही छात्रा ने फुर्ती से हाथ खींच लिया। बार खाली जाने से हाथ में झटका खाकर बदमाश संभले तब तक साइकिल आगे खिंच गई। कु. नीलम की सहेलियों ने उसका हाथ छूटते ही आगे से हैण्डल पकड़कर साइकिल को उसके अधिकार से ले लिया था।

शोख को अपनी चतुराई महँगी पड़ रही थी। देर होने का अर्थ था पकड़े जाना। वह एकदम आक्रामक हो उठा किन्तु उधर भी छात्राएँ चार थीं—वह भी संघर्ष के

लिए तत्पर। वह न तो साइकिल छुड़ा सका और न उसे छोड़कर ही भाग सका। संयोग से तब तक और व्यक्ति उधर पहुँच गये तथा बदमाश पर पूरी तरह काबू पा लिया गया। उसे पकड़कर चारों सहेलियाँ सहायक व्यक्ति के साथ थाने ले गईं तथा अपनी चेन बरामद कर ली। उक्त रिपोर्ट भी दर्ज करने का आग्रह किया।

यहाँ घटना ने एक ओर नया मोड़ लिया। शोख निजार एक सिपाही का लड़का निकला। पुलिस ने उसे बचाने का प्रयास किया। छात्राओं को सलाह दी कि माल मिल ही गया। अब उस मामले को अधिक न बढ़ाना ही उचित है। मामला बढ़ने से कोर्ट आदि के हजारों झंझट खड़े हो जाएंगे। छात्राओं ने वहाँ प्रतिवाद करना उचित न समझा। अपराधी उन्हीं के सामने डॉट-फटकार के बाद छोड़ दिया गया।

ऐसी स्थिति में अपराधी को दण्डित कराने की बात की उपेक्षा बड़े-बड़े समझदार व्यक्ति कर जाते। भला पुलिस से बुराई कौन मोल ले ? किन्तु ऐसा सोचने वाले यह भूल जाते हैं कि पुलिस की सीमा बड़ी है तथा उसमें कर्तव्यपरायण अधिकारी भी कम नहीं हैं। छात्राओं ने उक्त काण्ड की सूचना समाचार-पत्रों को दी। समाचार-पत्रों में घटना छपी तो उच्च अधिकारियों का ध्यान उस ओर स्वतः खिंचा। घटना की जाँच हुई तथा अभियुक्त पुनः पकड़ लिया गया। मजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित किया जाकर दण्डित भी हुआ। पुलिस कमिश्नर ने उक्त अधिकारी, जिसने रिपोर्ट दर्ज करने में हीला-हवाला करके अपराधी को बचाया था, को भी नहीं छोड़ा। अपराधों को बढ़ावा देने तथा कर्तव्य की उपेक्षा का अभियोग लगाकर उस पर विभागीय कार्यवाही की गई।

छात्राओं के साहस तथा सूझ-बूझ से अपराधी पकड़ा गया तथा दण्डित किया जा सका। ऐसी वृत्तियों को बढ़ावा मिलना ही चाहिए। बढ़ावा मिलने से सत्कार्य करने वाले का उत्साह बढ़ता है तथा अन्यो को वैसा करने की प्रेरणा मिलती है। बम्बई की पुलिस ने सिटी कॉलेज की उक्त छात्राओं के सम्मान में एक स्वागत समारोह सामान्य स्तर पर किया। समारोह में कुमारी नीलम बी. नाइक तथा उसकी सहेलियों की बहादुरी और समझदारी की सराहना की गई। विभाग की ओर से हर छात्रा को २५ रुपया नगद पुरस्कार तथा एक-एक प्रमाण-पत्र देकर सम्मानित किया गया। यदि इसी प्रकार से हमारी बच्चियाँ अनीति के प्रतिरोध हेतु कटिबद्ध हो जावें तो उन्हें बकरी जैसी निरीह समझकर अनाचार करने वालों को अच्छी सीख मिले और अपराधों की संख्या में कमी के साथ समाज व्यवस्था में वृद्धि हो।

पुत्र और पुत्री के बीच विषमता

पुत्र जन्मा तो बहार आ गई, हँसी-खुशी राग-रंग बधाइयाँ, भोज, दावतें और न जाने क्या-क्या ? पुत्री जन्मी तो पतझर, दुःख, निराशा और भाग्यहीनता के उच्छ्वास। हमारी भारतीय संस्कृति में नारी की दयनीय दशा की करुण कहानी यहीं से प्रारम्भ होती है और अन्त तक दुःखान्त ही चली जाती है। यह गाथा उस देश, धर्म और संस्कृति से सम्बन्ध रखती है, जिसमें पुरुष परमेश्वर और नारी परमेश्वरी, पुरुष शिव और नारी शक्ति की संज्ञा से विभूषित है।

पुत्र का नामकरण संस्कार किया जाता है, अन्न-प्राशन संस्कार कराया जाता है, विद्यारम्भ और यज्ञोपवीत आदि संस्कार धूमधाम से कराये जाते हैं और कल्पना की जाती है कि यह संस्कार बालक के जीवन में शक्ति, शुचिता और तेजस्विता का अभिवर्धन करेंगे किन्तु कन्या को इस संस्कारों से वंचित रखा जाता है। तात्पर्य यह है कि अपने आदर्श शास्त्रीय मान्यताओं तक ही सीमित हैं व्यवहार में कन्या के उज्ज्वल पक्ष की बात भी सोचना भारतीय परम्परा के विपरीत हो गया है। नर और नारी दोनों आत्मिक परिपूर्णता का समान उद्देश्य लेकर ही मनुष्य शरीर प्राप्त करते हैं। एक को मार्ग-दर्शन मिले, प्रकाश मिले, संबल मिले और दूसरे को प्रेरणा व प्रोत्साहन तो दूर मानवीय जीवन की गरिमा ही समझने न दी जाये यह कहाँ का न्याय और कैसी सभ्यता है ?

बेटे का पालन-पोषण, लाड़-प्यार इस तरह किया जाता है जैसे उसे अगले दिनों राजगद्दी मिलने वाली हो, कन्या को तो जीवन निर्वाह की सुविधाएँ प्रदान कर दी जाती हैं यही क्या कम उपकार है उसके लिये ?

शहरों की बात दूसरी है जहाँ सामाजिक जीवन अब नई करवट लेता जा रहा है, पर गाँवों में आज भी स्थिति यह है कि यदि किसी ने बच्ची को पढ़ाने-लिखाने का साहस दिखाया तो कक्षा ७-८ या अधिक से अधिक सुविधा वाले क्षेत्रों में कक्षा १० तक पढ़ा दिया और इस पढ़ाई तक पहुँचने से पूर्व ही उसके लिए सौकल तलाश दी। बेचारी ने जरा साँस ली कि गले में विवाह का बन्धन डाल दिया। लड़के आवारागर्दी करें तो भी माँ-बाप की यही इच्छा रहती है कि बेटा पढ़-लिखकर कुछ हो जाये। उधर कन्या पढ़ने-लिखने की हार्दिक अभिलाषा को कुचलकर मन मसोस रह जाती है। फिर वह चाहे कितनी ही बौद्धिक क्षमता सम्पन्न क्यों न हो ?

छोटे भाइयों की, भाइयों के बच्चों को, चाचा-ताऊ के बच्चों को पढ़ाने का अधिकांश भार बेचारी यह कन्याएँ ही उठाती हैं। चौक्रे-चूल्हे का बोझ इन कोमल कलियों पर डालकर भी माँ-बाप का फतवा होता है 'अजी, घर में नहीं सीखेगी तो क्या ससुराल में सीखेगी ?' घर वालों की नाक न कटे इस अपयश के भय से किशोरी कन्याएँ मन

में आत्महीनता की भावनाएँ लिए घर में अपमान भरा जीवन जीती और वहाँ से यथा शीघ्र निकाले जाने की प्रतीक्षा करती रहती हैं। यह है अपनी सुसंस्कृत कही जाने वाली जाति की सुघड़ व्यवस्था और परम्परा जिसे हम लम्बे समय से लादे हुए चले आ रहे हैं।

समाज इस दयनीय दुर्दशा का हर्जाना भी उसके माँ-बाप से खूब अच्छी तरह वसूल करता है। कन्या को स्वस्थ और प्रकाशपूर्ण वातावरण में रखा गया होता उसे शिक्षित, स्वावलम्बी और स्वाभिमानी बनाया गया होता तो लड़के वाले नाक रंगड़ते और लड़की वालों के दरवाजे पर हाथ जोड़े खड़े रहते हैं कि यह कन्या हमें मिल जाये तो सुनसान घर में रोशनी आ जाये। कूड़े-कचरे को उठाने के लिए तो मुआवजा चाहिए, सो लड़के वाले अच्छी तरह से वसूल करते हैं और कन्या को दयनीय स्थिति में रखने का पाप उसके माँ-बाप भी अच्छी तरह भुगतते हैं नहीं तो एक बार यही करके देख लिया जाये कि शिक्षित कन्याएँ यह प्रतिज्ञा कर लें कि वे दहेज लेने वालों या कन्याओं को द्वितीय श्रेणी का नागरिक समझने वालों के घर नहीं जायेंगी चाहे अविवाहित ही क्यों न रहना पड़े तो दहेज चुटकी बजाते बन्द होता है या नहीं ?

पर यहाँ तो सब कुछ उल्टा है। कन्या विदा होती है तो माँ-बाप इसलिए दुःखी नहीं होते कि घर से घर की शोभा, घर का विनोद, घर की चहल-पहल जा रही है अपितु इसलिए कि अब बच्चों को कौन खिलायेगा ? घर कौन साफ करेगा या चूल्हे में मुँह कौन फूँकेगा ?

कन्या के अभिभावक तो छोटी लड़कियों पर आर्थिक दृष्टि से कुछ खर्च ही अधिक करते हैं और श्रम का लाभ कम उठाते हैं पर ससुराल में तो वैसी स्थिति नहीं है। वहाँ सयानी कन्या दिन-रात कोल्हू के बैल की तरह जुतती है और रोटी-कपड़े की कीमत पर कठोर श्रम करती है। इस लाभ के बदले कम से कम वहाँ उसे थोड़ा सम्मान तो मिलना ही चाहिए था पर देखा जाता है कि वहाँ इसमें पूरी कृपणता बरती जाती है। सास-ननद से लेकर पति देवता तक उस पर गरजते-बरसते ही रहते हैं। इसी नीरस जीवनक्रम में बन्दिनी की तरह उसे अपनी साँसें किसी प्रकार रोते-झींकते पूरी करनी पड़ती है। यही है भारतीय नारी की करुण कहानी।

यह दयनीय स्थिति तब तक सुधरेगी नहीं जब तक कन्या को भी पुत्र की ही तरह स्नेह, सम्मान एवं शिक्षण के समान सुविधा प्राप्त नहीं होती। जब तक प्रचलित विषमता हटेगी नहीं तब तक जातीय जीवन की उन्नति और सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास की कल्पना करना व्यर्थ है। आधे शरीर को पक्षाघात मार जाये तो आधा शरीर भी सुखी कैसे रह सकता है ? सुख-समुन्नति का आधार तो उभयपक्षीय सन्तुलन है। एक की उपेक्षा करके दूसरे की प्रगति न आज तक कभी हुई और न आगे होने वाली है।

बच्चों के मूल्यांकन का आधार

गुणवत्ता हो, रूप नहीं

सुन्दरता एक वरदान है, वह सभी को प्रिय है। किसी बच्चे का सौन्दर्य हमें सहज आकर्षित करता है। उसकी भोली, सौम्य चितवन से झाँकती मोहकता से, उसके सुडौल, स्वस्थ अंग-अंग से फूटते लावण्य से प्रभावित हो हम उस बालक को गोद में उठाकर प्यार करने लगते हैं, यह स्वाभाविक है।

इसके विपरीत उसी स्थान पर दूसरा बालक उतना सुन्दर न हो तो कोई उसे उस ललक और प्यार से स्पर्श न करेगा, जिससे उस सुन्दर बालक के प्रति सहज श्रवित हो अपना वात्सल्य उड़ेलता था। बहुधा माता-पिता भी सुन्दर बालक के प्रति अज्ञात रूप में पक्षपात करते हैं। यदि कहीं दोनों बालकों में लड़ाई होती है और सुन्दर बच्चा कुरूप बच्चे को मार देता है तो वह रोता हुआ माँ के पास शिकायत लेकर आता है तो माँ को क्रोध तो बड़ा आयेगा, आवेश में भड़क उठेगी, लेकिन जब सुन्दर बच्चा उतरा चेहरा लेकर, अपनी रोनी सूरत में माँ के सामने आकर खड़ा होता है तो उसकी मोहक आकृति पर सहज पिघल जाती है और भीतर से उसका मन सजा न देने को कहता है। वह सोचती है कि यदि इसे दण्ड दिया जायेगा तो इसका गुलाब-सा चेहरा मुरझा जायेगा, वह भाव जागते ही वह उसे बाहर क्रोध दिखाकर भी, उसके प्रति उदार हो जाती है और उसे तनिक-सी डाँट बताकर छोड़ देती है, आगे ऐसा काम न करने की हिदायत देकर अपना काम समाप्त करती है।

माता-पिता का जाग्रत विवेक ही सुन्दर और कुरूप बालकों के बीच पनपते वैमनस्य को मोड़ दे सकता है। माता-पिता का पहला दायित्व है कि वे अपने बच्चों के बीच ऐसा कोई भेदभावपूर्ण व्यवहार न करें, जिससे उनकी सन्तान में वैर-विद्वेष के बीज पड़ें।

मनोवैज्ञानिकों का ऐसा अनुभव है कि अधिकांश सुन्दर बालक योग्यता तथा कर्तव्य-परायणता में साधारण बच्चों से कम होते हैं, पढ़ाई-लिखाई, गाना-बजाना तथा अन्य कलाओं में साधारण रूप वाले लड़के और लड़कियाँ ही विशेष निपुण पाये जाते हैं।

ऐसे बच्चे ही सुखी जीवन आदर्श गृहस्थ का उदाहरण रखते हैं। रूपवान बालक अधिकतर असहनशील और बेपरवाह होते हैं, उनकी प्रकृति में मधुरता, नियमपालन की लगन का अभाव होता है। बिना सुन्दर स्वभाव के रूप फीका प्रतीत होता है।

अनेक घरों में बालकों के प्रति पक्षपात अनजाने ही प्रारम्भ हो जाता है। लोग दावत, प्रीतिभोज, विवाह आदि में सुन्दर बालकों को ही साथ ले जाते हैं, विद्यालयों में भी उन्हीं को अभिनय, वाक् प्रतियोगिता और खेल-कूद में

आगे रखा जाता है। घर में जो मित्र या परिजन आते हैं वह सुन्दर बालकों को मिठाई, खिलौने आदि वस्तुओं को देकर उन्हीं पर प्यार दिखाते हैं, ऐसे अवसरों पर माता-पिता भी कुरूप बच्चों को सबके सामने कम ही निकालते हैं।

लेकिन रूप के मद में पले गर्वीले स्वभाव का परिणाम दुःखदायी होता है। रूप में जादू करने की अद्भुत क्षमता है, वह थोड़ी-सी सजावट और साज-सँवार से सुन्दर लगता है। सौन्दर्य के प्रभाव से समाज में प्रशंसा और सहानुभूति सहज ही मिल जाती है। जीवन-यात्रा में सहयोग और सहकारिता सहज ही सर्वत्र प्राप्त होते हैं, परन्तु देखा यह जाता है कि माँ-बाप भी अपने रूपवान बच्चे को सही मार्ग पर ले जाने में असफल ही रहते हैं। वे बच्चे के प्रति मोहविष्ट हो जाते हैं, बच्चा उधण्ड हो जाता है। यह प्रभाव उसे आगे के जीवन में असफल बना देता है।

ऐसे बालकों का चरित्र प्रायः खराब हो जाता है, वे कुमार्गगामी हो जाते हैं। जब तक यौवन का नशा और नये रक्त का लावण्य उसके चेहरे पर खेलता है, तब तक तो उल्टे-सीधे कार्य करने पर उसका निर्वाह, मौज और मजे से होता है परन्तु जैसे ही उसका यौवन ढलता है और बाह्य आकर्षण क्षीण होता है, तब ऐसे रूप प्रताड़ित आत्म-प्रशंसा प्रिय बालक मर्यादा का उल्लंघन करने लगते हैं, उनकी आत्म-प्रशंसा सुनने की कामना भड़कती रहती है, जबकि उसकी शक्ल भयावह दिखाई देती है। ऐसे रूप पीड़ित घमण्डी बालकों का अन्त बड़ा दुःखद होता है।

एक सज्जन के दो पुत्रियाँ हैं, एक पिता के समान सुन्दर और दूसरी माता के समान बिल्कुल सामान्य। रूपवती कन्या माता-पिता दोनों की लाइली थी। उसने पढ़ने-लिखने और गृहकार्य में कोई व्यावहारिक ज्ञान नहीं प्राप्त किया। इसके विपरीत जो देखने में साधारण है, वह अपनी कक्षा में सदैव प्रथम, घर के कार्यों में सदैव सक्रिय रहकर, स्वभाव और व्यवहार में मधुर रहकर अपनी परिश्रमी वृत्ति से आज लेडी डाक्टर बनी हुई है, उसका गृहस्थ जीवन सुखी और आदर्श है।

परन्तु दूसरी जो रूप के प्रदर्शन और फैशन की होड़ में आगे रही, वह शिक्षा में तो आगे बढ़ ही नहीं सकी, वह साधारण व्यवहार में अधकचरी और नाजुक मिजाज में सबसे आगे है, जिसका फल है—नवयुवक उससे विवाह करने को तैयार नहीं होते, उसे चहकती चिड़िया, बुलबुल और इन्द्रपरी की उपाधि मिली हुई है। अधिकांश युवकों का मत है, वह एक अच्छी गृहिणी बनने की सामर्थ्य खो चुकी है, माँ-बाप भी परेशान हैं। वे पछताते हैं कि बचपन में पक्षपात न किया होता और इस प्रकार उसके मस्तिष्क को सातवें आसमान पर न

चढ़ने दिया होता तो वह अपने सुखी जीवन के साथ एक रूपवती, कर्तव्य-परायण, सुगृहिणी बन सकी होती।

लोगों को, विशेषतः नारियों को अपने रूप की प्रशंसा सुनने की हमेशा चाह रहती है, रूप की प्रशंसा से वे कभी तृप्त नहीं होतीं। एक महिला के विषय में पता है कि उसे अपने बचपन से ही अपने रूप की प्रशंसा सुनने की आदत पड़ी हुई है, अतएव वह बड़ी होकर रूपगर्विता बन गई है। उसके परिचित उसकी इस कमजोरी को जानते हैं, उन्हें जब भी कोई काम निकालना होता है, उसके रूप की प्रशंसा किसी न किसी बहाने करने लगते हैं, जो लोग उसकी इस दुर्बलता से अवगत नहीं हैं, वे कभी भी उसके घर से आदर-सम्मान नहीं पाते।

सुन्दर बालकों के माता-पिता को नीचे लिखी बातों पर ध्यान देना चाहिए। उन पर अमल करने पर बच्चों के चरित्र बन सकेंगे—

१. बालकों में रूप-रंग के कारण कोई भेदभाव और पक्षपात न किया जाय। २. बच्चों की परस्पर तुलना किये बिना प्रोत्साहन दें। बच्चे की योग्यता, क्षमता तथा गुण और रुचि और दृष्टि में रखकर मार्गदर्शन हो। ३. सुन्दर बच्चों को ऐसे कार्य दें जहाँ वे अपने रूप और व्यक्तित्व का चमत्कार दिखा सकें। ४. उन्हें सादगी और स्वच्छता की ओर मोड़ देकर प्रभावशाली बनने की प्रेरणा दी जाय। ५. उन्हें अन्य साधारण बच्चों के गुणों को परखने तथा उनके प्रति सम्मान भावना का व्यवहार करना सिखायें। ६. रूप का घमण्ड और आत्म-प्रशंसा से बचाया जाये, जिससे बड़े होकर ऐसे बच्चे दूसरों की अवहेलना और ईर्ष्या न करें। ७. अधिक सुन्दरता जीवन को शापित बनाती है, इतिहास-पुराण इसके साक्षी हैं। सुन्दर बच्चा अधिकांश में ईर्ष्या का पात्र बन जाता है, क्योंकि उसके कारण अन्य बच्चों की उपेक्षा होती है।

प्रायः देखा जाता है जो बच्चा बचपन में सुन्दर और भोला लगता है, रूप का अहंकार उसे प्रौढ़ होने पर आकर्षणविहीन बना देता है। ऐसे दशा में वह अपनी आकर्षण क्षीणता का अनुमान तो लगा नहीं पाता वरन् आडम्बरी जीवन में फैसकर नाज-नखरे दिखाता है और उपहास का पात्र बनता है, जबकि साधारण रूप वाला बालक अपने सुन्दर, शील-स्वभाव के कारण बड़ी आयु में भी शोभाशील और आकर्षक प्रभाव बनाये रहता है। परिवार, विद्यालय, मित्र परिकर सभी ओर अन्तः की सुन्दरता को बढ़ाने के प्रयास होने चाहिए। मूल्यांकन गुणवत्ता, प्रतिभा के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि बाह्य सौन्दर्य के आधार पर।

कन्या की गरिमा पुत्र से कम नहीं

लड़का बुढ़ापे का सहारा होता है, उससे वंश चलता है, पिण्डदान मिलता है आदि तर्क प्रस्तुत करते हुए यह आशा की जाती है कि घर में जब भी प्रसव हो, तब लड़का ही जन्मे। ऐसी अभिलाषा प्रकृति परम्परा के विपरीत है। प्रत्येक प्राणी नर और मादा समान अनुपात में जन्म लेते हैं। इससे साथी बनने में सहायता मिलती है। यदि लड़का ही होने की अभिलाषा पूरी होती रहे, तो एक ही पीढ़ी में यह सारा संसार समाप्त हो जायेगा। मात्र नर ही जन्में तो भावी सन्तानोत्पादन की व्यवस्था कैसे बने ?

लड़की का लड़के से कम महत्व नहीं। किसी के घर की लड़की अपने यहाँ वधू बनकर आती है, तो अपनी लड़की किसी और का घर बसाती है। इस प्रकार सन्तुलन बना रहता है। न कोई घर खाली होता है और न भरता ही चला जाता है।

वंश चलने वाली बात को लड़के के साथ जोड़ना व्यर्थ है। प्रसव तो नारी करती है। पेट में गर्भ को वही रखती है। दूध पिलाकर पाल-पोसकर बड़ा भी वही करती है। इसलिए सन्तान पर शत-प्रतिशत उसी का अधिकार है। बच्चों को सुयोग्य बनाने में भी माता का योगदान पिता से अधिक रहता है। राजा जनक की पुत्री जानकी कहलाई। उनकी जो भूमिका रही वह किसी लड़के से कम नहीं थी। इसलिए शासकारों ने कहा है—

“दश पुत्र समा कन्या, यास्यात् शीलवती सुता।” अर्थात् यदि कन्या शीलवान हो तो वह दस पुत्रों से बढ़कर है। उदाहरण के लिए इन्दिरागंधी, गोलडा मायर, भण्डारनायके, चैचर, एक्विनो आदि की राजनैतिक प्रशस्ति से सभी परिचित हैं। झॉसी की रानी किंसी योद्धा से कम न थी। सरोजनी नायडू, विजय लक्ष्मी पण्डित, कमला चट्टोपाध्याय, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि की महत्ता इसलिए कम नहीं हुई कि वे लड़कियाँ नहीं थीं।

जीवनयापन के आधारों में सबसे बड़ा है परिवार। उसमें रहकर ही छोटे-से लेकर बड़े तक का भरण-पोषण एवं निर्वाह होता है। परिवार को सुव्यवस्थित रीति से चलाने में नारी की ही प्रधान भूमिका रहती है। परिवार का वातावरण यदि समुन्नत रहे तो उसे ‘नर-रत्नों की खदान’ कहा जा सकता है। पुरुष तो खरदत्ता भर है जहाँ से रत्न निकलते हैं उसे नारी ही कहना चाहिए।

नर पश्चिमी और चतुर हो सकता है। इस आधार पर वह लड़ सकता है और कमा सकता है किन्तु स्नेह, सहयोग, श्रद्धा, समर्पण, वात्सल्य जैसे उच्चस्तरीय गुणों से नारी ही भरी-पूरी होती है। यह विभूतियाँ उसे जन्मजात रूप से मिली हुई हुआ करती हैं। स्पष्ट है कि इन आध्यात्मिक विभूतियों का रसास्वादन किए बिना जीवन नीरस, असन्तुष्ट, अतृप्त एवं अशान्त ही बना रहता है। इस आवश्यकता की पूर्ति नारी जननी, भगिनी, पुत्री एवं

३. ७३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

धर्मपत्नी के रूप में करती है। इस माधुर्य के अभाव में मनुष्य की स्थिति कर्कश जैसी ही बनी रहती है। पत्नी की आवश्यकता पति को जितनी रहती है उससे कहीं अधिक बालक को माता की रहती है। मातृहीन बालक भावना की दृष्टि से अविकसित ही रहते देखे गये हैं।

नारी को प्रतिबन्धित एवं सम्मोहित स्थिति में रखा जाता है। इसलिए उसकी प्रतिभा का विकास नहीं हो पाता। यदि नर जैसी सुविधा एवं स्वतन्त्रता नारी को मिले तो वह अपेक्षाकृत कहीं अधिक विकसित एवं सफल सिद्ध हो सकती है। परीक्षाओं में लड़कियाँ जितने अच्छे नम्बर लाती हैं, उतने लड़के नहीं।

सेवा-भावना में भी लड़के की अपेक्षा लड़कियाँ, वधुएँ ही बड़े-बूढ़ों की अधिक सेवा-सहायता करती देखी गयी है। लड़के तो व्यस्त और मस्त रहते हुए उपेक्षा ही बरतते हैं।

यदि दायित्व सौंपे जाएँ और समुन्नत बनाने की दृष्टि रहे। उसके लिए वातावरण, कार्यक्रम बनाया जाय, अनुरूप प्रशिक्षण और अवसर दिया जाय तो कोई कारण नहीं कि वह ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा का परिचय देकर नर के अपूर्णेपन को दूर न कर सके। उसे शिशु-पालन का ही कौशल नहीं आता, अवसर मिले तो वह अपने परिवार-पड़ोस को—सम्बन्धी और परिचितों को भी शालीनता की शिक्षा देकर उसे मानवी गरिमा का संवाहक बना सकती है।

चिरकाल से पुरुष के अहंकार और औद्धत्य को परिपोषण मिलता रहा है। इसलिए उसने व्यक्तित्व की गरिमा बढ़ाने के स्थान पर दर्प और दमन का परिचय दिया। इसी कुचक्र में उसकी शक्तियाँ नियोजित रहीं। उसने कलह बीज बोये और आनन्दवादी क्रिया-कलाप अपनाये व युद्ध खड़े किये।

इतिहासवेत्ताओं ने अनुमान लगाया है कि ईसा पूर्व ३६०० वर्षों से लेकर अष्टावधि तक छोटे-बड़े १४,५९३ युद्ध लड़े गये। इनमें सब मिलाकर प्रायः ३ अरब व्यक्तियों को किन्हीं की सनकों को पूरा करने के लिए अपने प्राण गँवाने पड़े। इन युवाओं के धरती पर से उठ जाने पर उनके आश्रितों-सम्बन्धियों को कितना त्रास सहना पड़ा, इसका अनुमान लगायें, यदि उन कल्ल होने वालों को अपने-अपने समय में समाज को समुन्नत बनाने वाले कर्षों में जुटाने का अवसर दिया गया होता, तो आज की स्थिति कितनी समुन्नत स्तर की रही होती। इसकी कल्पना से सिहरन होती है।

अपराधी प्रवृत्तियों में पुरुष ही आगे रहता है। सौ पुरुष अपराधियों के पीछे एक महिला को उस मार्ग पर चलते देखा गया है। कारण दूँदने पर उस एक प्रतिशत में भी मजबूरियों का दबाव ही वैसा करने के लिए विवश करता पाया गया है। स्वभावतः नारी सहिष्णु,

संवेदनशील और निश्छल है। उसके हाथ में समाज की बागडोर रहे तो अनीति भरी अहंता को कार्यरूप में परिणत होने का अवसर ही न मिले।

नारी की उपेक्षा होती रही है, तो भी वह सहिष्णुता सन्तुलन और सदभावना के क्षेत्र में अभी भी पुरुषों से बढ़कर रही है। यही कारण है कि जटिल शारीरिक मानसिक रोगों से ग्रसित होने में उसे अपेक्षाकृत कहीं कम त्रास सहना पड़ता है। आहार-विहार में भी पुरुष की तुलना में उसके साथ उपेक्षापूर्ण बर्ताव ही होता रहता है, फिर भी विश्व की औसत आयु में नर की तुलना में नारी दो वर्ष अधिक जीवित रहती पाई गयी है। बालकों में लड़कों की मृत्यु-दर कहीं अधिक होती है और लड़कियों की उनकी तुलना में कहीं कम। युवतियों को बार-बार 'मेजर आपेरेशन' जैसे प्रसव कष्ट सहने पड़ते हैं। मासिक स्राव और स्तनपान में भी उनकी स्वास्थ्य सम्पदा घटती है। इस पर भी प्रकृति उन्हें घाटे में नहीं रहने देती। क्षति की जल्दी भरपाई कर देती है। निर्यति का ऐसा भाव भरा अनुदान पुरुषों को कदाचित् ही मिल पाता है।

अगले दिनों युद्ध और प्रपंच नहीं होंगे। तब शान्ति और प्रगति के निमित्त ही कौशल का नियोजन होगा। इस निमित्त नर की तुलना में नारी का व्यक्तित्व ही अधिक उपयुक्त एवं सफल सिद्ध हो सकता है। उनकी वरीयता भूतकाल में भी इसी धरती पर स्वर्ग की संरचना करती रही है। अगले दिनों उन्हीं के बलबूते भावी सृजन और उत्कर्ष की बात सोची जा रही है। साथ ही यह भी सोचना होगा कि नारी को पिछड़ी पंक्ति से बदलकर अग्रिम मोर्चे की कमान उसे सौंपी जाय। पुत्र की तुलना में कन्या को किसी भी प्रकार हेय न समझा जाय।

“दश पुत्र समा कन्या.....”

बच्चे जितने कम और जितनी देर में हों, उतने ही अच्छे, पर यदि कुछ प्रजनन होने वाला ही हो तो ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि पुत्र न होकर पुत्री ही जन्मे। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। नारी का दर्जा नर की तुलना में हजार गुना ऊँचा है। उसकी सहायता के बिना नर हजार गुना अधूरा है। शिवजी तक सहचरी के बिना गुजारा न कर सके। सभी ऋषियों और देवताओं की पत्नियाँ थीं। पत्नियाँ ही नहीं माताएँ, भगिनियाँ और पुत्रियाँ भी। सीताराम, राधेश्याम, लक्ष्मीनारायण, उमामहेश आदि युगों में नारी साथ जुड़ी हुई है और प्रथमतम है।

शास्त्रकारों का कथन है—“दश पुत्र समा कन्या यस्य शीलवती सुता” अर्थात् शीलवती पुत्री का होना दस पुत्रों के समान है। लड़कियों को शीलवती आसानी से बनाया जा सकता है। स्वभावतः वे होती भी वैसी ही हैं। जबकि लड़कों को कठिनाई से ठोक-पीटकर गुरुकुलों में वनवास का दण्ड देकर काबू में लाना पड़ता था।

प्रचलन में पुत्र को अधिक महत्व मिलता है और उसके जन्म पर खुशियाँ मनायी जाती हैं, बधाइयाँ बाँटी जाती हैं, जबकि कन्या के जन्म पर मुँह लटका लिया जाता है, मानो किसी विपत्ति ने घर में प्रवेश किया है। यह मान्यता उस जमाने की है, जब जंगल काटकर खेत बनाने पड़ते थे और घर के पुरुष सदस्यों की कड़ी मेहनत से उत्पादन के साधन जुटते थे। वनों में शाकाहारी और माँसाहारी पशु रहते थे। उनके आक्रमण से खेत नष्ट होते थे और व्याघ्र पालतू पशुओं और मनुष्यों पर दूट पड़ते थे। उन्हें भगाना पड़ता था। इसमें पुरुष की शरीरगत बलिष्ठता अधिक कारगर सिद्ध होती थी। दस्युओं और सामन्तों के आक्रमण भी सदगृहस्थों पर होते रहते थे, उनसे निपटने के लिए लड़ाकू स्वभाव और कौशल की आवश्यकता होती थी। इस दृष्टि से पुत्र की, पुरुष की आवश्यकता अधिक थी। संयुक्त परिवार प्रणाली से ही कृषि पालन, सुरक्षा प्रबन्ध हो सकता था। उस पद्धति में पुरुष प्रधानता ही कारगर थी।

पर अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली पश्चिम में पूरी तरह दूट गयी है। भारत जैसे कृषि प्रधान देशों में वह किसी प्रकार लँगड़ा-लँगड़ाकर चल रही है। शिक्षित नौकरी करते हैं, तबादले पर जाते हैं, पत्नी-बच्चे साथ रहते हैं। ऐसी दशा में संयुक्त परिवार कहाँ रहा ? भाइयों तक का होना इसलिए अखरता है कि वे कठिनाई के समय उनसे सहायता की माँग करते हैं। सास-बहू में पटती नहीं। ऐसी दशा में देर-सबेर में यूरोप यहाँ भी बनेगा और संयुक्त परिवार 'लार्जर फैमिली' के रूप में ही किसी प्रकार जीवित रहेगा। उसमें नर और नारी की उपयोगिता एवं स्थिति समान रहेगी।

पुराने समय में पैतृक सम्पत्ति केवल लड़कों को ही मिलती थी। वे ही बहिन, भानजों के लिए कुछ सहायता करते रहते थे और घर का दीपक वंश परम्परा का प्रवाह चलता रहता था। अब लड़कियाँ भी पिता की सम्पत्ति में हिस्सेदार हो गयी हैं। तब बहिन-भाइयों में ठनने लगी है। ऐसे ही अब पत्नी और बच्चों तक ही परिवार रह गया है। बहिन-बेटियों की सहायता भाई या चाचा, ताऊ करेंगे, उनसे मधुर सम्बन्ध रखेंगे, ऐसी आशा नहीं की जाती।

पिता-माता के लिए आज के लड़के बुढ़ापे की लकड़ी बिल्कुल नहीं हो सकते हैं। कमाई करना बन्द होते ही यह आशा की जाती है कि वे लोग जल्दी विदा हों। न सहायता करने का भाव है, न सेवा का। घर में जगह घेरना भी अखरता है और मन में यही चाहना रहती है कि यह बला यमपुरी जितनी जल्दी चली जाय, उतना ही अच्छा है। यूरोप में बूढ़ों के लिए अनाथालय बने हुए हैं और वे वही शासकीय अनुदान के सहारे अनाथों की तरह दिन गुजारते हैं। यहाँ भी वही स्थिति होने वाली है। सरकार समर्थ नहीं इसलिए विवशता और

लोकलाज के हिसाब से ही कोई-कोई बूढ़ों के प्रति जिम्मेदारी निभाते हैं। आँख से ओझल रहता हो तो उसकी आशा भी नहीं की जा सकती। माँ-बाप से मरते समय तक कुछ बचा-खुचा हो तो झपट लेने की ललक रहती है। सेवा तो अस्पताल के मेहतर घर वालों से कहीं अच्छी कर देते हैं। अब श्रवणकुमारों और राम-भरत की चर्चा ही शेष है। वैसे उदाहरण खोजना बेकार है। यह स्थिति सुधरनी तो क्या बिगड़ेगी ही। स्थिति को देखते हुए बूढ़े भी सोचने लगे हैं कि बुढ़ापे के लिए कुछ बचाकर रखना चाहिए अन्यथा उस असहाय स्थिति में लड़कों की उपेक्षा बेतरह खटकेगी।

अब परलोक में पिण्डदान बेटे के हाथ का दिया हुआ ही मिलता है, इस मान्यता पर भरोसा करने वालों की संख्या दिन-दिन घटती जा रही है। इसी प्रकार वंश डूब जाने से पितरों की दुर्गति होगी इस बात पर भी कोई बिरला ही विश्वास करता है। अपनी करनी ही साथ जाती है, इस प्रतिपादन को ही लोग अधिक सही मानते हैं।

कन्या वस्तुतः वैसी निरर्थक नहीं है जैसी मानी जाती है। इसकी गरिमा निश्चय ही पुत्र की तुलना में कहीं अधिक है। विवाह न करे तो शिक्षित कन्या पिता के समस्त आश्रितों का पालन कर सकती है, जबकि बेटे अपने बड़े हुए परिवार की चिन्ता ही में मरते-खपते रहते हैं।

लड़की को पराये घर का कूड़ा इसलिये समझा जाता है कि उसके विवाह में न जाने कितनों के सामने नाक रगड़नी पड़ती है। वह चिन्ता जन्म के दिन से ही अभिभावक को सताने लगती है और बेटे का जन्म दुर्भाग्य लगता है किन्तु आज जो कठिनाई है वह अधिक दिन टिकने वाली नहीं है। इस संकट का एक-मात्र कारण है अपनी छोटी जातियों और उपजातियों के दायरे में ही लड़का तलाश करना।

समय के परिवर्तन से जातिवाद की संकीर्णता मिट रही है। विशेषतया उपजातियों के घेरे से तो सभी समझदार इन्कार कर रहे हैं। ब्राह्मण के ब्राह्मण में, बनिये के बनिये में, कायस्थ के कायस्थ मात्र में विवाह होने लगे हैं। इसका औचित्य दिन-दिन अधिक अच्छी तरह समझा जायेगा, जाति बन्धन पूरी तरह टूटने में भले ही कुछ देर लगे। उपजातियों की सीमा-संकीर्णता के तो जल्दी ही बन्धन टूटने वाले हैं। ऐसी दशा में लड़कों की तलाश में नाक नहीं रगड़नी पड़ेगी और न दहेज के लिए बर्तन बेचने पड़ेंगे। सुधार कितना तेजी से हो रहा है, परिवर्तन कितनी तेजी से आ रहा है, जो इसे देख पा रहे हैं वे जानते हैं कि कन्या विवाह अब समस्या बनकर नहीं रहेगा। अनेक जातियों में लड़के वाले अभी भी लड़की माँगते हैं और अनुनय-विनय करते हैं। वह स्थिति पूरे समाज में आकर रहेगी। जो दिन जा रहे हैं वे ही बोझिल हैं। अगली पीढ़ी में लोग लड़की को महत्व देंगे, उसे शिक्षित एवं सुयोग्य बनायेंगे। उसे स्वावलम्बी

३. ७५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बनने देंगे। ऐसी दशा में किसी घर में उसे दासी के रूप में धकेलना न पड़ेगा। वह जहाँ जायेगी मानपूर्वक जायेगी और गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी बनकर रहेगी। ऐसे समय का आगमन एक प्रकार से निश्चित ही है।

नारी मानसरोवर है, नर हंस। नारी खदान है, नर कुदाल। इसलिए पाठकों में से प्रत्येक को यह आशा करनी चाहिए कि उसके घर में कोई इन्दिरा गाँधी, अहिल्या, सरोजिनी नायडू जन्मेगी और विद्योत्तमा की तरह पढ़कर कालिदास को सुयोग्य बना देने के उदाहरण प्रस्तुत करेगी।

अब सृजन का, प्यार का, सहयोग का युग आ रहा है। यह विशेषताएँ जन्मजात रूप से नारी में ही प्रकृति ने दी हैं। वह श्रद्धा है, मेधा है, प्रज्ञा है, सीता है, दुर्गा है और वह जिसकी आज की स्थिति में तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमें पुत्रियों को पुत्र से कम नहीं, अधिक ही मान देना चाहिए। हमारी माता, हमारी पत्नी आखिर किसी की बेटी ही थी, जिसने दूसरे के घर आकर उसमें नव-जीवन संचार की सफल साधना कर दिखाई।

लड़की जन्मे या लड़का ?

कुछ समय में यह प्रश्न उठना या उठाना निरर्थक हो जायेगा कि घर में लड़की जन्मे या लड़का। लड़के को अनावश्यक महत्त्व मिलना इस बात पर निर्भर है कि वह कमाकर घर भरेगा और विवाह में बहू ही नहीं, दहेज भी लेकर आवेगा। वह आर्थिक दृष्टि से लाभदायक समझा जाता है और लड़की के बारे में सोचा जाता है कि उसे पाल-पोसकर बड़ी करने में खर्चा तो उठाना ही पड़ेगा। साथ ही विवाह का कमर-तोड़ बोझ भी उठाना पड़ेगा। लड़की को बुलाना-चलाना, नेग-जोग, उसके बच्चे होने पर खर्च उठाने जैसे अनेकों झंझट पीछे भी लगे रहते हैं। वे उन लोगों के लिए विशेष रूप में भारी पड़ते हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है।

ऐसे ही कुछ कारण हैं, जिनसे लड़के का जन्म खुशी का विषय माना जाता है और लड़की जन्मने पर उदासी छाती है।

यह हमारे प्रचलनों और परम्पराओं का दोष है। वे बनी रहें, तो एक न सही दूसरी तरह की कठिनाई बनी रहेगी। पिछड़े वर्गों में आदिवासियों में लड़की के बदले लड़के वालों से रकम वसूल की जाती है। चीन और मध्य पूर्व के देशों में भी लड़कियाँ बिकती हैं, लड़के नहीं। ऐसी दशा में परेशान लोग देर-सबेर में इस समस्या का हल करेंगे, क्योंकि सभी के घर में लड़के भी होते हैं और लड़कियाँ भी। इसलिए नफ़-नुक़सान हर किसी को अपने-अपने समय में उठाना पड़ता है।

उपयोगिता की दृष्टि से नारी का महत्त्व नर की अपेक्षा कहीं अधिक उच्चस्तरीय है। सौन्दर्य, स्नेह, कला, सहिष्णुता, स्फूर्ति आदि गुणों में नारी, नर से कहीं आगे है। उसका बुद्धि-कौशल भी निश्चित रूप से अधिक है। प्रजनन का, शिशु पालन का, परिवार व्यवस्था का भार नारी ही उठाती है। प्रकृति ने उसी को बहुमत भी दिया है। इसलिए वोटों की दृष्टि से वह पुरुष को पछाड़कर शासन-सत्ता अपने हाथ में ले सकती है। नर तो आतंकवादियों की तरह उस पर हावी रहता है। आर्थिक स्रोत अपने हाथ में रखकर भी वह नारी को पराधीन बनाता और शोषित करता है, पर यह अंधेर अधिक समय चलने वाला नहीं है। न अब दासियाँ बिकती हैं, न बहुत विवाह होते हैं और न बन्धन में जकड़े रहने के लिए कानून साथ देता है। ऐसी दशा में नर का दर्जा नीचा नहीं तो अधिक से अधिक नारी के समान ही रह सकता है। यह भी ऐच्छिक रहेगा कि नारी, नर के घर रहे या नर, नारी के। बर्मा आदि देशों में कई आदिवासी कबीलों में नर को ही नारी के पितृगृह में बंधुआ मजदूर की तरह रहना पड़ता है। निकट भविष्य में परिस्थितियाँ इस प्रकार बदलने जा रही हैं कि लड़के या लड़की में से दोनों का ही आर्थिक एवं सामाजिक महत्त्व एक जैसा हो जायेगा। न किसी को दुर्भाग्य माना जायेगा और न सौभाग्य। माता-पिता प्रजनन पर संयम बरतेगे। यदि कुछ पल्ले बँधा, तो उसी पर सन्तोष करेंगे। किसी के जन्म-दिवस पर न बतासे बँटेंगे और न किसी के लिए आँसू बहाये जायेंगे।

आज बच्चा न होने का दोष नारी को ही दिया जाता है। न हो तो भी वही दोषी और लड़कियाँ ही होती चले तो भी वही दोषी, किन्तु परीक्षाओं से दूसरी ही बात सिद्ध होती है। दुर्बलता पुरुष में ही अधिक होती है। शुक्राणु यदि दुर्बल हों अथवा न्यून मात्रा में हों, तो नारी के स्वस्थ-समर्थ होते हुए भी गर्भ स्थापित न हो सकेगा। ऐसी दशा में पुरुष को नहीं, सन्तानोत्पादन के इच्छुकों में से नारी को ही छूट होनी चाहिए कि वह दूसरा विवाह कर ले। यदि ऐसा न करना हो तो भी दोषारोपण नारी के पल्ले नहीं बँधना चाहिए। न वह बन्धुत्व की दोषी होती है और न लड़कियाँ जन्मने में उसका कोई कसूर रहता है।

सच्चाई यह है कि बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए समझदारों में से कोई विरले ही प्रजनन का जोखिम अपने सिर उठाना चाहेंगे। इस कुचक्र में नारी अपने स्वास्थ्य से हाथ धो बैठती है। प्रसव की मरणासन्न कर देने वाली असाध्य वेदना में से ज्यों-त्यों करके उबरती है। पुरुष को भी इससे क्या लाभ मिलता है ? नारी को अशक्त बनाकर वह उसके बदले का काम करता है। इसके अतिरिक्त एक कोमल नये मेहमान के नियमित अतिथि सत्कार का आर्थिक बोझ तो बढ़ता ही है।

लड़की को कनिष्ठ और लड़के को वरिष्ठ जिस तराजू पर ठहराया गया था, उसे अब बदला जायेगा। न्याय की तौल धर्मकाँटे पर होगी। औचित्य और विवेक को तिलांजलि देकर मनमानी बरतने का दौर पिछले दिनों रहा होगा। विधवाओं की तरह विधुरों को भी एकाकी रहना पड़ेगा या फिर दोनों को ही ऐच्छिक स्वतन्त्रता मिलेगी।

सन्तान न होने के दोषी पुरुष होते हैं। इसके लिए इतिहास साक्षी है। दशरथ ने तीन विवाह किये, पर वे एक से भी इच्छित सफलता प्राप्त कर न सके। दिलीप भी निःसन्तान थे। उन्हें अपना उपचार वशिष्ठ के आश्रम में जाकर उसी प्रकार करना पड़ा, जिस प्रकार कि श्रृंगी ऋषि की कृपा से पुत्रेष्टि यज्ञ द्वारा दशरथ का मुख उज्ज्वल हुआ था। नारियों में एक प्रतिशत ही बन्ध्याएँ पाई गई हैं। हतवीर्य तो पुरुषों में ही अधिक होते हैं।

प्रजनन के वैज्ञानिक कारणों में गुणसूत्रों को आधार माना गया है। उनके 'एक्स' और 'बाई' जोड़े गुंथे होते हैं। इन्हीं की न्यूनाधिकता पुत्र-पुत्री का अन्तर करती रहती है। यह प्रयत्न अभी चल ही रहा है कि जैव चुम्बक से प्रभावित करके एक को सबल और एक को मूर्च्छित कर दिया जाय। यदि यह परीक्षण सफल हुआ, तो यह सम्भव हो सकेगा कि इच्छित लिंग की सन्तान उत्पन्न की जा सके, पर अभी तो इसी पर सन्तोष करना पड़ेगा कि दैव योग से जो भी जन्मे उसे सम्मानपूर्वक शिरोधार्य किया जाय और समता को प्रश्रय देते हुए उनके पालन में कोई अन्तर न होने दिया जाय।

अधिकांश दम्पति पुत्र प्राप्त करने के लिए इच्छुक या उत्सुक रहते हैं। यदि यह कामना फलवती होने लगे, तो लड़कों का अनुपात बढ़ जायेगा और फिर विवाह का सौभाग्य किन्हीं विरले ही लड़कों को मिल सकेगा। वंश वृद्धि रुक जायेगी और मानवी विवेक फिर इस दिशा में वापस लौटेगा कि वृद्धि कन्याओं की ही होनी चाहिए, लड़के कम संख्या में रहें, ताकि परिवार संस्था यथावत् बनी रहे अन्यथा बढ़ते हुए पुरुष सरायों में ठहरते, खाते और सोते पाये जायेंगे। घर का आनन्द गृह लक्ष्मी के ही हाथ में है, वहीं छोटे से घरौंदे में स्वर्ण का वातावरण विनिर्मित करती है। इसलिए उसे हर दृष्टि से प्राथमिकता और वरिष्ठता दी जानी चाहिए।

कुमारी कन्याओं की आध्यात्मिक

गरिमा

साधु और ब्राह्मण की गरिमा इसलिए बताई गई है कि उन्होंने सात्विकता की मात्रा अपने भीतर सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक धारण की होती है। असल में साधु-ब्राह्मण की गरिमा किसी वंश या वेश की नहीं वरन् साधनात्मक प्रयत्नों द्वारा उनके बढ़े हुए सतोगुण की ही है।

यही गरिमा स्वभावतः कन्याओं में होती है। नर की अपेक्षा नारी में सात्विकता की मात्रा अधिक होना सर्वविदित है। वह मात्रा ब्रह्मचारिणी, अविवाहिता कन्याओं में और भी अधिक होती है। इसलिए कन्याओं को स्वभावतः वह स्थिति प्राप्त है, जो ब्राह्मण और साधुओं को बहुत प्रयत्न एवं साधन करने के उपरान्त प्राप्त होती है।

नवरात्रि की साधना के उपरान्त कन्या-भोज का प्रचलन है। ब्रह्मभोज के समान ही कन्या-भोज है। आज की परिस्थिति में तो कन्या का महत्त्व ब्राह्मण से भी अधिक है। कारण कि ब्रह्मचर्य पालन, बालसुलभ निर्मलता एवं कन्या-तत्त्व की स्वाभाविक विशेषता के कारण वे आज के नाम-मात्र के ब्राह्मणों की अपेक्षा कहीं आगे हैं। इसलिए विवेकशील लोग आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण भोजन की अपेक्षा कन्या भोजन को अधिक उपयुक्त मानते हैं।

साधना विज्ञान में कुमारी को भगवती दुर्गा का ही स्वरूप माना गया है और इसी नाम से उसकी प्रतिमा स्थापित करके पूजा-विधान बनाया गया है। बाल-गोपाल को भगवान् कृष्ण का सर्वोत्तम प्रतीक माना जाता है। युवावस्था के उभार उतारों से सात्विक नहीं रहते जितने बालकपन के होते हैं। इसलिए सतोगुणी निष्ठा वाले भक्त साधक सदा भगवान् के बाल रूप को ही अपनी ध्यान प्रतिमा में स्थापित करते हैं और उसी रूप की प्रतिमा बनाते हैं।

युवावस्था की देवियों की अपेक्षा 'कुमारी' पूजन को इसलिए शक्ति-साधना में प्रमुख स्थान है कि उसमें विकारों का उद्भव न होने से सात्विकता की मात्रा अधिक रहती है। जहाँ अन्य देवियाँ विवाहित होने के कारण रजोगुणी क्षेत्र में प्रवेश कर चुकी हैं, वहाँ 'कुमारी' का ब्रह्मचर्य एवं शैशव उसकी गरिमा को सहज ही बढ़ा देता है। शक्ति उपासना क्षेत्र में कुमारी पूजन को प्राथमिकता इसलिए दी गई है।

कुमारी कन्याओं में सात्विकता का अंश अधिक रहने से उन्हें उपासना क्षेत्र में प्राथमिकता दी गई है तो यह उचित, तर्कसंगत एवं तथ्यपूर्ण ही है। जप, अनुष्ठान, पाठ, पूजन आदि में कन्याएँ जितनी अधिक सफलता प्राप्त करती हैं, उतनी अन्य किसी आयु में सम्भव नहीं होती।

शान्तिकुन्ज (हरिद्वार) में कुमारी कन्याओं द्वारा अखण्ड दीपक पर अखण्ड गायत्री जप कराया गया है। २४ लक्ष के २४ पुरश्चरण ६ वर्षों में पूरे हुए। यह अनुष्ठान ब्राह्मणों की अपेक्षा कन्याओं द्वारा इसलिए कराया गया कि कुमारिकाओं की सात्विकता अभीष्ट परिणाम में अधिक सुनिश्चित रूप से सफल होगी।

३. ७७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

कुमारी कन्याओं की सतो गुणी विशेषताओं के कारण शास्त्र में उन्हें पूजा के योग्य ठहराया गया है—

महाराज प्रयत्नेन सर्वसिद्धिफलप्रदम्।
सर्वयज्ञोत्तमं भूप कुमारीपूजनं शृणु॥
कृते यस्मिन्महालक्ष्मीरचिरेण प्रसीदति।
आमन्त्रयेददिने पूर्वे कुमारीं भक्तिपूर्वकम्॥
पूजादिने सप्ताह्य कुमारीमाद्यदेवताम्।
कुमारीपूजनं कृत्वा महालक्ष्मी प्रसीदति॥

—वृहज्जोतिषार्णक धर्मस्कन्ध

कुमारिकाओं का पूजन बिना जाति भेद के करे। जो उनमें जाति भेद का विचार करता है तो वह भूल करता है।
कुमारी पूज्यते यत्र स देशः क्षितिपावनः।
महापुण्यतमो भूयात्समन्तात्क्रोशार्चकम्॥

—योगिनी तन्त्र

जहाँ कन्या की पूजा होती है वह स्थान पवित्र हो जाता है। पाँच कोस तक उस स्थान की पवित्रता बिखरी रहती है।

अन्ते च प्राप्यते तेन परं निर्वाणमुत्तमम्।
कुमारीपूजने काले साधकः शिवतां व्रजेत्॥

—योगिनी तन्त्र

कन्या पूजन करने वाले को शिवत्व की प्राप्ति होती है और वह निर्वाण पद का अधिकारी बनता है।

कुमारीपूजनफलं वक्तुं नार्हामि सुन्दरि।

जिह्वाकोटिसहस्रेषु वक्त्रकोटिशतैरपि॥

तस्माच्च पूजयेद्बालां सर्वजातिसमुद्भवाम्॥

जातिभेदो न कर्तव्यः कुमारी पूजने शिवे॥

अर्थ—भगवती गायत्री देवी की उपासना में कुमारी कन्याओं के पूजन का महान् फल होता है। भगवान् शंकर स्वयं मुख से कहते हैं—हे सुन्दरि ! मैं तो कुमारी के पूजन का फल सहस्र करोड़ जिह्वा तथा शत कोटि मुखों से भी नहीं कह सकता हूँ। इसलिए सभी जातियों की कन्याओं का पूजन करे। हे शिवे ! कुमारी कन्या के पूजन में जाति के भेद का तो ध्यान कभी करना ही नहीं चाहिए।

जातिभेदान्महेशानि नरकान् निवर्त्तते।

विचिकित्सा परो मन्त्रा ध्रुवञ्च पातकी भवेत्॥

देवी बुद्ध्या महाभक्त्या तस्मिन्तां परिपूजयेत्॥

सर्वविद्यास्वरूपा हि कुमारी नात्र संशयः॥

एकाहि पूजिता बाला सर्वं हि पूजितं भवेत्॥

अर्थ—कुमारी कन्या के पूजन में जाति-भेद का विचार करने पर घोर नरक में जाकर गिरता है और वहाँ से कभी भी वापस नहीं लौटता है। मन्त्रवान मनुष्य यदि संदिग्ध होकर कर्म किया करता है तो महापातकी हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है। अतएव परमोत्कृष्ट भक्ति की भावना से कुमारी कन्या को साक्षात् देवी सावित्री का ही स्वरूप समझकर उसकी सांगोपांग अर्चना करनी चाहिए। कुमारी कन्या सर्वविद्या स्वरूपिणी होती है—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

पृथ्वी पर शयन करे और नित्य कुमारी कन्याओं का पूजन करे। क्रमशः एक पूजन के लिए कन्या नौ दिन तक बढ़ाता जाय।

कुमारी पूजन से दुःख-दारिद्र्य का और शत्रुओं का नाश होता है तथा धन आयु और बल की वृद्धि होती है। देव तत्त्व का स्रजन करने वाली इन कुमारियों की देवी रूप से पूजा करे। कन्याओं को वस्त्र, अलंकार, माला, गन्ध एवं मन्त्रों से पूजा करनी चाहिए। कुमारी कन्याओं के पूजन सहित यह नवरात्रि का व्रत सब प्रकार श्रेयस्करो है।

असुरों का संहार करने वाली उस कुमारी रूप देवी की सभी ने पूजा की, देवताओं ने फूल बरसाये। तब से कुमारी पूजा चल पड़ी।

कुमारी पूजा करने वालों की काया कंचन जैसी हो जाती है और वह भैरव की तरह प्रसन्न रहता है।

लड़के और लड़की में भेदभाव

मत कीजिए

पुराने लोगों का आज भी यह ख्याल है कि औरतों की कोई आजादी नहीं हो सकती, न वे अकेली कहीं जा सकती हैं, न घूम-फिर सकती हैं लेकिन आज का नौजवान इसे मानने से इन्कार करता है। हमारे लड़के अब कॉलेजों में पढ़ने लगे हैं और वे चाहते हैं कि उनके साथ उनकी औरतों को भी आगे बढ़ना चाहिए। इस मामले में माँ-बाप की दस्तन्दजी लड़कों को अखरती है। आज के नौजवान अपने लिए अपनी ही तरह पढ़ी-लिखी पत्नियाँ चाहते हैं और सुखी और सन्तोषी जीवन के लिए यत्नशील हैं।

कोई कितना ही धनवान और ऐश्वर्यवान् क्यों न हो, दिनभर की मेहनत के बाद घर आने पर वह थोड़े सुख की कामना जरूर करता है लेकिन अगर घर में गृहिणी अनपढ़ और अनाड़ी है, तो वह कभी सुखी हो नहीं सकता। ऐसा गृहिणी के बुरे संस्कार बच्चों पर भी असर डालते हैं और इस तरह हमारी भावी प्रजा का भविष्य धुँधला हो जाता है। जिस घर की यह हालत हो,

वहाँ अकेला पैसा क्या कर सकता है ? बड़े-बड़े महलों और वस्त्राभूषणों का क्या मूल्य रह जाता है ?

मकान में जो महत्त्व दीवारों का है, समाज में वही महत्त्व लड़कों की शिक्षा का है, लेकिन लड़कियों की शिक्षा तो मौलिक चीज है और उसका सम्बन्ध जड़ से है—बुनियाद से है। कॉलेजों की शिक्षा भी जीवन को सँवारने-सँजोने के लिए ही है। इसलिए लड़कियों की शिक्षा पर ही ज्यादा से ज्यादा जोर दिया जाना चाहिए।

हमारे समाज में माता-पिता लड़के और लड़की के बीच बड़ा भेदभाव रखते हैं। पक्षपात की हद हो जाती है। उनका ख्याल होता है कि लड़की पराये घर जाने वाली है। उसे कौन-सी पुस्तकें पढ़नी हैं और कचहरी जाना है ? इसीलिए पढ़ाने में भी माँ-बाप भेद करते हैं। खिलाने-पिलाने और पहनाने-उढ़ाने में भी यह भेद अपना काम करता है। लड़कों को अच्छा खिलाया जाता है, अच्छी से अच्छी शिक्षा दिलायी जाती है, जब लड़कियों को घरों में बन्द रखा जाता है। यह निरा अन्याय है। भगवान ने तो लड़कों और लड़कियों में एक-सी ताकत रखी है। दो आँखों में कोई भेद कैसे कर सकता है ? पुराने जमाने में लोगों ने न जाने कैसे इसको शुरू किया और सह लिया ? लड़की बेचारी को दो पैसे की वसीयत भी नहीं मिलती और लड़के अकेले लाखों की दौलत उड़ाते हैं। एक को बैठे बिठाये लाखों मिल जाते हैं, जबकि दूसरी पर हजार-पाँच सौ का खर्च करके, उसे पराये घर भेज दिया जाता है, अगर इसे इस नजर से भी देखें तो यह जरूरी मालूम होता है कि चूँकि लड़की माँ-बाप के घर कुछ ही साल रहती है, इसलिए उसका पालन-पोषण ज्यादा अच्छा होना चाहिए।

लड़कियों की शिक्षा में केवल उनकी पढ़ाई-लिखाई का ही सवाल नहीं आता, बल्कि और बातें भी आती हैं। जरूरी है कि हर एक कन्या पाठशाला के आहाते में कन्याओं के लिए खेल-कूद और कसरत के साधन प्रस्तुत किये जाएँ। मैं समझता हूँ कि हर मदरसे में लड़कियों के दौड़ने के लिए लम्बे-चौड़े मैदान, झूलने के लिए झूले और खेल-कूद के काफी सामान होने चाहिए। आजकल हमारे औरतों की तन्दुरुस्ती दिन-दिन गिरती जा रही है। सुबह-शाम चूल्हा फूँककर और धूल-धुएँ में रहकर वे काफी दुर्बल हो रही हैं। उनकी गिरती हुई तन्दुरुस्ती को मजबूत बनाने के लिए कन्याशालाओं में शुरू से खेल-कूद और कसरत के साधनों का होना आवश्यक है। पुराने लोगों का कहना है कि हमारी सन्तान दिन-दिन कमजोर होती जा रही है। पुराने समय में स्त्रियाँ घर में और बाहर काफी मेहनत कर लेती थीं। घर-गृहस्थी के और खेती-बारी के कई काम मेहनत तलब होते थे और इन सब कामों में वे पूरा-पूरा हाथ बँटाती थीं। लेकिन अब ये बातें नहीं रही, नये-नये परिवर्तन हो रहे हैं। इसलिए अब ये सुधार आवश्यक हो गये हैं।

यह हो सकता है कि लड़कियाँ कन्या पाठशालाओं में इतिहास-भूगोल वगैरह न सीखें लेकिन यह मुनासिब नहीं कि वे कमजोर रहें और अपंग हो जायें। सच पूछा जाय, तो आवश्यकता मन-मस्तिष्क और हृदय तीनों की शिक्षा की है। आज हमारे स्त्री-समाज में मस्तिष्क की शिक्षा का कौनों पता नहीं है। यही कारण है कि हमारे महिला जगत का जितना विश्वास भूत-प्रेत, झाड़-फूँक और जन्त-मन्तर में है, उतना वैज्ञानिक उपचार में नहीं। घर में किसी बालक या बड़े के बीमार पड़ते ही डाक्टर और वैद्य के बदले ओझी और पण्डित को बुलाया जाता है और झाड़-फूँक या गण्डे-डोरों से रोग को मिटाने की कोशिश की जाती है। इसका मतलब यही है कि बुद्धि की शिक्षा का अभाव है।

जब लड़कियों के मदरसे में संगीत सिखाने या कसरत कराने की बात चलती है, तो अल्पबुद्धि लोग आज भी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। मैं पूछना चाहता हूँ कि वह कैसी बात है कि हमारे लड़के तो गा भी सकते हैं और कसरत भी कर सकते हैं लेकिन लड़कियाँ इनके पास तक नहीं फटक सकतीं ? आखिर संगीत में और कसरत में नुकसान क्या है ? भगवान ने जिन्हें सुन्दर कण्ठ दिया है, वे सब गा सकते हैं। लड़कियों को इन्कार तभी किया जा सकता है, जब लड़कों को भी इनसे वंचित रखा जाय अन्यथा यह कैसा विचित्र न्याय होगा कि लड़के सब कुछ कर सकें और लड़कियाँ कुछ न कर सकें ?

परमात्मा ने भेदभाव के लिए ये लाल नहीं दिये हैं। हम तो परमेश्वर की तरफ से अपने इन नौनिहालों के ट्रस्टी हैं और ट्रस्टी के नाते हमारा कर्तव्य हो जाता है कि जो चीज हमें सौंपी गयी है, हम उसकी पूरी-पूरी चिन्ता रखें।

लाख, दस लाख रुपयों की वसीयत छोड़ जाने की अपेक्षा यह कहीं आवश्यक और अच्छा है कि अपने बच्चों को सच्ची और अच्छी शिक्षा देकर उन्हें उत्तम नागरिक बनाया जाय।

लड़कों और लड़कियों के साथ माँ-बाप को एक-सा बर्ताव करना चाहिए। खाने-पीने पहनने-ओढ़ने, धूमने-फिरने और लिखने का सारा प्रबन्ध लड़कियों के लिए भी हो। लड़कों और लड़कियों, दोनों को एक-सी शक्ति और आत्मा दी है। अतः उन्हें विकास का समान अवसर देना चाहिए। कहा जाता है कि लड़कियाँ लक्ष्मी की अवतार हैं। यदि उन्हें घरों में और मदरसों में अच्छी शिक्षा मिली तो वे इस संसार में स्वर्ग का निर्माण कर सकेंगी।

कन्या पर विशेष ध्यान दें

गीली मिट्टी से क्या बने, यह निर्णय करना कुम्हार का काम है। वही उसकी कल्पना करता है और निर्माण

के लिए हाथों को सक्रिय करता है। कच्चे बर्तनों को पक्के बनाने के लिए अवाँ लगाने की व्यवस्था भी उसी को करनी पड़ती है। इतना करने के बाद ही बर्तन वैसा बन्दू है, जैसा कि चाहा गया था।

यह बात बच्चों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। वे कोरे कागज की तरह साफ होते हैं। उन पर किस स्याही से क्या लिखा जाय, इसकी पूरी जिम्मेदारी लेखक के हाथ में होती है। बच्चे का व्यक्तित्व कैसा बने, इसकी योजना यदि पूर्व निर्धारित हो, तदनुकूल साधन जुटाया जाय, वातावरण बनाया जाय तो उसे कल्पना के अनुरूप निर्धारित ढाँचे में ढाला जा सकता है। यह कार्य प्रधानतया अध्यापकों, अभिभावकों का है। परिवार के अन्य सदस्य भी इस पुण्य-प्रयोजन में अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी भूमिका निभा सकते हैं। बात मात्र बालकों की ही नहीं है। महिलाओं के सम्बन्ध में भी यह बात पूरी तरह लागू होती है। छोटी आयु में वह पितृगृह से न केवल पोषण प्राप्त करती है, वरन् स्वभाव-संस्कार का ढाँचा भी बहुत कुछ इसी अवधि में ढल जाता है। बच्चों से भी अधिक सतर्कता बच्चियों के बारे में बरते जाने की आवश्यकता है। कारण कि उन्हें ससुराल में जाकर अपना व्यक्तित्व गृहलक्ष्मी जैसा प्रस्तुत करना पड़ता है। परायों को अपना बनाना पड़ता है। पराये घर पर अपना प्रभुत्व अधिकार जमाना पड़ता है। यह बड़ा टेड़ा काम है। इसके लिए अभीष्ट प्रतिभा का बड़ा भाग पितृगृह में ही अर्जित करना पड़ता है। यदि यह योग्यता अभिभावक अपनी बालिकाओं में उत्पन्न न कर सकें तो उनका भरण-पोषण एक प्रकार से अधूरा रहा यही समझा जा सकता है।

आमतौर से लड़कियों को लाड़-चाव से गुड़िया बनाने, सजाने का प्रयत्न किया जाता है। जहाँ उन्हें कूड़ा-करकट माना जाता है, वहाँ ये उपेक्षा के कचरे में पड़ी रहती हैं। लड़कों को उच्च शिक्षा की, बड़ा अफसर बनाने की बात सोची जाती है, किन्तु लड़कियों को परिपक्व होने से पहले विवाह कर देने की बात सोची जाती है। ताकि उनके पालन-पोषण में आने वाले खर्च से जल्दी छुटकारा पाया जा सके। सयानी लड़की के लिए अच्छे लड़के खोजने में परेशानी होती है। उससे बचने के लिए सस्ते बाल-विवाह को अपना लिया जाता है और उसे ससुराल धकेल दिया जाता है। जहाँ उसे अपरिचित विधि-व्यवस्था का सामना करना पड़ता है। यह स्थिति भावुकता बढ़ी-चढ़ी होने पर बहुत विषम हो जाती है। उन्हें वहाँ बन्दीगृह जैसा अनुभव होता है। कच्ची आयु में यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है। अनुभव का अभाव और नई विधि-व्यवस्था से अपरिचित होने के

कारण सौंपे गये कार्य भी ठीक तरह नहीं बन पाते। ऐसी दशा में उन्हें उलाहने-ताने सहने पड़ते हैं, जिनके कारण मन और भी अधिक टूट जाता है। प्रेम, प्यार, प्रयास की गलियों में से गुजरने की कोई रूपरेखा ही मन में नहीं उठी। ऐसी दशा में पति का हृदय जीत सकना भी उनके लिए कठिन पड़ता है। उस अजनबी घर में वे नौकरानी, बेगारिन जैसी बनकर रहती हैं और अन्य कोई चारा न होने से जिस भी परिस्थिति में रहना पड़े उसी में मन मारकर रहना पड़ता है।

यदि पितृगृह में वर्तमान और भावी जीवन की भिन्नता का आभास कराया जाता रहे, उसके लिए संकेत रूप में प्रशिक्षण किया जाता रहे तो उस शिक्षा का लाभ आजीवन मिलता रहेगा।

लड़के प्रायः बड़ी उम्र तक घर में ही रहते हैं और बचपन तथा यौवन के अन्तर को समझने, तदनुकूल ढलने में परिवार के वयस्कों का मार्गदर्शन प्राप्त करते रहते हैं। भूल करते रहने पर भी वे परिवार द्वारा निभा लिये जाते हैं। कारण कि वे उपार्जन में योगदान देने लगते हैं। कमाऊ होने के कारण उनके सौ गुनाह माफ होते हैं, किन्तु घर की महिलाओं की स्थिति इससे भिन्न होती है। वे अपने श्रम से घर खर्च को आधा-चौथाई भले ही कर देती हों, पर नकदी के रूप में बाहर से लाकर घर में जमा करने जैसा वे कुछ भी नहीं करतीं। दहेज ही उनकी आजीविका का एकमात्र स्रोत होता है। वह विवाह के दिनों कुछ समय तक खुला रहता है, पर जब वे घर-गृहस्थी वाली हो जाती हैं, तो पितृपक्ष हलकी रिश्तेदारी भर बनकर रह जाता है। बुलाते-चलाते रहना अलग बात है, पर वहाँ से सदा कोई इतनी बड़ी राशि जल्दी-जल्दी मिलती रहे, जिससे ससुराल वाले प्रसन्न रह सकें, यह सम्भव नहीं। ऐसी दशा में औसत नारी पैसे की दृष्टि से पराधीन रहती है, बच्चे जनते रहने के कारण वह शरीर से खोखली और आये दिन बीमारियों की शिकार बनकर भी रहती है। पग-पग पर दबोची और तिरस्कृत होती रहने के कारण उसका मनोबल भी टूट जाता है। ऐसी दशा में कोल्हू के बैल की तरह किसी प्रकार मौत के दिन पूरे करने में ही उसका समय पूरा हो जाता है। इस दयनीय स्थिति से उबारने का एक ही उपाय है कि लड़कियों को स्वावलम्बी बन सकने जितनी शिक्षा-दीक्षा का अनुदान दिया जाय। मात्र पढ़ाया ही नहीं, उन्हें गुनाया भी जाय। गुनाने का अर्थ है—गुण वाली, अनुभवी बनाना। यह कार्य प्रधानतया पितृगृह का ही है कि वे लड़कियों में इस प्रकार की रुचि उत्पन्न करें कि वे मनोरंजन, वेश-विन्यास की अपेक्षा अपने ज्ञानवर्द्धन और स्वावलम्बन को इतना परिपक्व बनायें कि वह उन्हें आश्रयदाता की तरह आजीवन समर्थ और सम्मानित बनाये रह सकें।

कम ही भाग्यवान लड़कियाँ ऐसी होती हैं, जिन्हें ससुराल में गृहलक्ष्मी की भूमिका निभाने का अवसर मिलता है। जिन्हें सम्मान और सहयोग की कमी नहीं रहती, जो परिवार की वरिष्ठ एवं महत्वपूर्ण इकाई बनकर रहती हैं। आमतौर से तो उन्हें भारवाहक की जिन्दगी गुजारनी पड़ती है। शेष में से १० प्रतिशत को गया-गुजरा जीवन बिताना पड़ता है।

बच्चों से कई बार माताओं को लम्बी-चौड़ी आशाएँ उनके बचपन से रहती हैं, पर जब वे बड़े होने लगते हैं, तो समुचित वातावरण और मार्गदर्शन के अभाव में वे उजड़ु स्तर के बनते जाते हैं। कितने ही दोष-दुर्गुण उनमें पनप जाते हैं। ऐसी दशा में वे अपना भविष्य तो बिगाड़ते ही हैं, अभिभावकों के लिए विशेष रूप से सिर-दर्द बनते हैं। इनमें भी माता की स्नेहविरक्तता और दुर्बलता का वे विशेष रूप से लाभ उठाते हैं। उसे ही अतिरिक्त रूप में हैरान करते हैं। ऐसी दशा में पुन-जन्म से लेकर कई वर्ष तक जो आशाएँ सँजोई जाती हैं, निराशा ही हाथ लगती है। वयस्क लड़के कर्तव्यों को भूल जाते हैं और अधिकारों की लड़ाई आपस में ही नहीं अभिभावकों के साथ भी लड़ते हैं। घर द्वन्द्वयुद्ध का अखाड़ा बन जाता है। पति से तिरस्कृत-उपेक्षित रहने पर जो मनोव्यथा होती थी, उस पर मरहम लगाने की बात बच्चों के बड़े होने पर सम्भव होती दिख पड़ती थी, पर समय आने पर वह डाली भी झुक जाती है, जिसका सहारा लेने, जिनकी छाया में बैठने के सपने सँजोये गये थे। विवाह के बाद आमतौर से पति संयुक्त परिवार की घिच-पिच और नियन्त्रण के बीच नहीं रहना चाहते। वधू के साथ स्वच्छन्दता का आनन्द लेने और अपनी कमाई का लाभ दो तक ही सीमित रखने के मूड में होते हैं। वे अलग घर बसाते अथवा नौकर होने की दशा में अन्यत्र बदली करा लेते हैं। ऐसी दशा में माता-पिता की वही हालत होती है जैसे मानो पाले हुए तोते हाथ से उड़ गये हों। लड़कों को विशेष रूप से दिया गया दुलार, उठाया गया खर्च और सँजोया गया स्वप्न सभी कुछ बेकार हो जाता है कि लड़की-लड़के के बीच किया गया अन्तर सर्वथा व्यर्थ रहा। लड़कियाँ दहेज में थोड़ा-बहुत पाकर अपने घर चली जाती हैं, पर लड़के तो जिन्दगी भर दोहन करते और अपमानित, उपेक्षित करने में कमी नहीं रहने देते।

अच्छा यही है कि लड़की-लड़कों को समान दृष्टि से देखा जाय। इससे भी अच्छा यह है कि लड़की को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जाय, क्योंकि उससे अपना, अपने परिवार का, साथी का, सम्पत्ति का विविध-विविध निर्माण करना है। साथ ही वह अबला होने के कारण पितृगृह से इतनी समर्थता पाने की हकदार रहे, जिससे

आड़े समय में अपनी नाव खेकर स्वयं पार लगा सके। यों पैतृक सम्पत्ति में उसे अधिकार पाने का हक है, पर व्यवहारतः यही देखा जाता है कि घर की सम्पदा पर भाई ही कब्जा जमा लेते हैं और बहिन को कुछ भी देने की उदारता नहीं दिखाते। उसे तो विवाह से पूर्व जो कुछ मिल चुका वस्तुतः वही उसका हक हिस्सा है, पीछे तो यदा-कदा कभी कुछ भेंट-उपहार ही उसके हिस्से में आते हैं।

कभी-कभी तो ऐसी दुर्घटना घटित हो जाती है कि अघेड़ आयु में पति चल बसता है और असहाय पत्नी के कंधों पर चार-पाँच बच्चों को भार सौंप जाता है। उस दशा में मैके और ससुराल वालों का व्यवहार बड़े विचित्र स्तर का बन जाता है। दोनों पक्षों में से कोई भी उसे आश्रय देने को तैयार नहीं होता। उनके अपने बच्चों और परिजनों की जिम्मेदारियाँ भी तो बढ़ी-चढ़ी होती हैं। स्थान भी इतना नहीं होता। फिर सहानुभूति की तो और भी कमी रहती है। जो कुछ उसका विधवा के पास बचा-खुचा था उसे सुरक्षा के नाम पर अपने पास रख लेते हैं और फिर जरूरत पड़ने पर भी कभी वापस नहीं लौटाते। इन परिस्थितियों में उस असहाय अबला पर क्या बीतती है ? इसे कोई भुक्तभोगी ही बता सकता है। उसे पग-पग पर अपमानित होना पड़ता है और बच्चों का भविष्य अन्धकारमय बन जाता है।

इस सम्भावित विपत्ति से पूर्व सुरक्षा कर लेना बुद्धिमत्ता है। उन उपायों में एक तो यह है कि लड़की को इतना पढ़ाया जाय कि वह आड़े वक्त में अपनी विद्या के सहारे आजीविका कमा सके। कोई छोटे शिल्प उद्योग भी ऐसे हो सकते हैं कि आजीविका का साधन घर में रहते हुए ही जुट सके।

दूसरा यह है कि जो कुछ दहेज में देना हो, जो उत्तराधिकार में देने की इच्छा हो, उसे लड़की के नाम लम्बे फिक्स डिपॉजिट में किसी बैंक के हवाले कर दिया जाय और उसमें शर्त लगा दी जाय कि दस वर्ष तक कोई उसे निकाल न सकेगा। इतने दिनों में घर की स्थिति कुछ उभरकर ऊपर आ जाती है। दाम्पत्य-जीवन सफल रहा या असफल ? ससुराल वालों के साथ तालमेल बैठा या नहीं। आजीविका की दृष्टि से गुजारे का क्रम ढर्रे पर आया या नहीं। इन सब बातों का तुरन्त तो पता लगता नहीं, पर दस वर्ष जैसी मध्यम दूरी की अवधि बीत जाने पर पता चलता है कि उसे नये परिवार ने आत्मसात् किया या नहीं। यदि नहीं तो क्या उसके लिए आत्मनिर्भरता का द्वार खुला हुआ है अथवा बन्द हो गया है, ऐसी दशा में लड़की अपनी उस स्वावलम्बन क्षमता का भी उपयोग कर सकती है, जो उसे पितृगृह से बुद्धिमान अभिभावकों द्वारा उपलब्ध करायी गयी थी।

इतना तो बेटियाँ भी किया करें

स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का कार्यक्षेत्र कुछ अधिक दुरूह, जटिल और कठिनाइयों से पूर्ण होता है। अकेले श्रम की ही बात होती तो सम्भवतः उतनी जटिलताएँ पुरुष वर्ग के सामने न होतीं किन्तु लोक-व्यवहार, लेन-देन, गृहस्थी के लिए आपा-धापी, धन-जुटाना, कचहरी-मुकदमे आदि करना, इनमें उसे बार-बार निराशा का सामना करना होता है। कितनी ही जगह उसे लताड़ें मिलती हैं, कई जगह अपमान होता है। कहीं थकावट, कहीं पीड़ा, दिनभर तमाम मुसीबतों, कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इतनी सारी परेशानियों का बोझ सिर पर उठाकर चलना निःसन्देह पुरुष का ही काम है। सचमुच उसे अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

दिनभर का हारा-थका आदमी अपनी पत्नी तथा बच्चों से स्नेह और आत्मीयता की आशा रखकर घर पहुँचता है। सोचता है—घर पहुँचते ही पत्नी उसका स्वागत करेगी, कुछ ममत्व प्रकट करेगी, अपने दुःख को सुनकर कुछ प्रबोध देगी, धीरज बँधायेगी तो कुछ सान्त्वना मिलेगी। थके हुए आदमी को एक लोटा जल मिल जाता तो उसका सारा श्रम दूर हो जाता है। पत्नी के इतना पूछ लेने से “आज आपका मुख उदास क्यों है, कुछ कष्ट तो नहीं है।” मनुष्य की सारी बेचैनी दूर हो जाती है। अपना जीवन-साथी, चिर-सहचर होने का यही अर्थ तो है कि एक के दुःख-दर्द को दूसरा बँटाये, आपत्ति में कुछ धैर्य दे और उसकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझकर कुछ सेवा-सुश्रूषा करे।

इतना करना तो दूर रहा यदि स्त्रियाँ अपने पुरुषों से ठीक तरह बात भी न करें, उन्हें बात-बात पर ताने, झिड़कियाँ देती रहें तो उस मनुष्य को कितनी पीड़ा, कितनी व्यथा होती होगी यह वह बेवस भुक्तभोगी ही समझता होगा। ऐसी दशा में क्या कभी दाम्पत्य-जीवन सुखी रह सकता है ? क्या कभी स्त्रियाँ यह कल्पना कर सकती हैं कि उन्हें पुरुष का प्यार मिलेगा ? ऐसे परिवारों में कभी सौजन्यता रहती होगी यह सोचा भी नहीं जा सकता।

मानते हैं स्त्रियों के अपने भी कुछ अधिकार हैं। उन्हें भी अपनी भावनाएँ व्यक्त करने के लिए आवश्यक वस्तुएँ चाहिए। उन्हें भी काम करना पड़ता है, उनके लिए मान-सम्मान का भी एक क्षेत्र है किन्तु अपनी परिस्थितियों को भी तो देखना, समझना ही चाहिए। अपनी आमदनी यदि सिर्फ इतनी है कि कठिनाई से बाल-बच्चों का पेट-पालन हो सके, किन्तु स्त्री अधिक अच्छे कपड़े, जेवर-गहनों की माँग करे तो फिर कर्ज ही तो लेना होगा। यह नहीं तो कहीं चोरी-झपटी करनी पड़ेगी। इन अशुभ कृत्यों के दण्ड से क्या सारे परिवार का वातावरण दुःखमय, बोझयुक्त और मलिन नहीं बनता ? इस तरह

की माँगें कभी भी उचित नहीं कही जा सकतीं। स्त्रियाँ अपने लिए उतनी ही अपेक्षा कर सकती हैं, जितना सम्भव है। नाजायज की कल्पना करना बेजा है। इसमें सम्पूर्ण गृहस्थी चौपट होने का भय रहता है।

चिन्ताओं से घिरा हुआ मनुष्य कभी ठीक तरह से सोच भी नहीं सकता। उसकी कार्यक्षमता दिन-प्रतिदिन घटती जाती है। शरीर गिर जाता है। कई व्यक्ति तो हार मानकर घर छोड़कर भाग जाते हैं, कई आत्म-हत्याएँ कर डालते हैं। कितने ही अपने शरीर को सुखा-सुखाकर अकाल मौत के घाट उतर जाते हैं, स्त्रियों को पुरुषों के मस्तिष्क में इस प्रकार की चिन्ताएँ पैदा करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

इतना तो कम शिक्षित क्या अनपढ़ स्त्रियाँ भी समझती हैं कि जैसी भी कुछ परिस्थिति है, जैसा भी कुछ रूप-कुरूप आदमी है, है तो अपना ही। अपनों के साथ भी यदि प्रेमपूर्ण व्यवहार न किया जाय तो गृहस्थ-जीवन में सरसता कैसे आयेगी ? हर व्यक्ति अपनी पत्नी-बच्चों से अपेक्षाकृत अधिक मधुर तथा सहृदय व्यवहार की आशा रखता है। यदि वह प्यार और आत्मीयता उसे न मिले तो मनुष्य गृहस्थी के मामलों में भी पूरी लगन से दिलचस्पी न लेगा। वह परिवार सदा डाँवाडोल परिस्थिति में ही पड़ा रहेगा।

क्या हमारी बेटियों की अवस्था सती शांडिली से भी गई-बीती होगी। अपने कोढ़ी पति को सम्पूर्ण प्यार उत्सर्ग कर देने वाली इस सती-कन्या से बढ़कर विपरीत परिस्थिति आज तक शायद ही किसी नारी को मिली होगी। सहज स्नेह, स्वाभाविक निश्छलता और मधुर व्यवहार स्त्रियों के आभूषण हैं। नम्रता, विनयशीलता तथा मधुर शब्दों से वह अपने दुष्ट से भी दुष्ट पतियों के हृदय जीत सकती हैं। उनकी महानता पुरुष को पुरुष बनाने में है, न कि उन्हें शीतान। यह उत्तरदायित्व बहुत कुछ स्त्रियों पर भी है। उन्हीं के गौरव से आज भी भारत का गौरव है। उन्हीं की शक्ति और तपश्चर्या के प्रभाव से भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है और युगान्तरो तक अमर रहेगी।

किन्तु इन दिनों परिस्थिति विपरीत होती जा रही है। अशिक्षा और रूढ़िवादी अन्धपरम्पराओं के फलस्वरूप अब स्त्रियों में भी वह कर्तव्यभावना घट रही है। पुरुष स्वभाव से कुछ अधिक स्वाभिमानी होते हैं। थोड़ा-सा भी यदि मान-सम्मान उन्हें अपनी पत्नियों से मिलता रहे तो दाम्पत्य-जीवन के अधिकांश कलह दूर हो सकते हैं।

दाम्पत्य-जीवन का सच्चा सार है—पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति और आत्मीयता। उन्हें यह दृढ़ प्रतिज्ञा लेनी चाहिए कि हम प्रत्येक स्थिति में प्रेम, सहानुभूति, त्याग, शील, आदान-प्रदान, आशा, विश्वास, सहिष्णुता आदि का

परित्याग नहीं करेंगे और इसका सजगता के साथ निर्वाह करना चाहिए।

भावना की दृष्टि से स्त्रियाँ अधिक कोमल होती हैं, किन्तु पुरुषों में कार्यक्षेत्र की जटिलता के कारण कठोरता कुछ अधिक होती है। अतः गृहस्थ को सुखी रखने की अधिकांश जिम्मेदारी स्त्रियों पर आती है। उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु, मधुर-भाषी तथा व्यवहारकुशल होना चाहिए। स्त्री को अनन्य भावना से पति में लीन हो जाने में ही सुख मानना चाहिए। समर्पण नारी का बड़प्पन है, इससे उसे सम्मान भी मिलता है, प्रेम भी। सारा परिवार जो सुख से भरा-पूरा रहता है, वह इस तरह के स्त्री-पुरुषों के आध्यात्मिक सम्मिलन से ही होता है।

जीवन-संघर्ष में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का सम्पर्क अधिक होता है। पुरुषों का क्षेत्र रोजगार तथा कमाई-धन्ये तक ही सीमित है, किन्तु स्त्रियाँ समाज का निर्माण करती हैं। अतः उनके शिक्षित होने का महत्व अधिक है। उनके लिए कल्पनामूलक शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है। घर में तथा समाज के यथायोग्य निर्माण का काम नारी को करना पड़ता है, इसलिए उसे कर्तव्यमूलक शिक्षा की आवश्यकता होती है। इसके लिए यह जरूरी है कि उन्हें स्कूली शिक्षा के साथ रचनात्मक व्यवहार की भी शिक्षा मिलनी चाहिए।

हमारे धर्म-ग्रन्थों और विज्ञानों का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि गृहस्थ जीवन का और इस दृष्टि से मनुष्य समाज का सुचारु रूप से संचालन, सदगुणी पत्नियों पर ही आधार रखता है। इसलिए स्त्रियों को सुयोग्य गृहिणी का पद प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करनी चाहिए। बालकों के निर्माण और इस दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्र के निर्माण का उत्तरदायित्व स्त्रियों पर आता है। यह जिम्मेदारी सचमुच बहुत बड़ी है। इसका निर्वाह पूर्ण समझदारी के साथ ही किया जा सकता है।

आज सम्पूर्ण नारी जाति का कर्तव्य है कि निन्दनीय वातावरण छोड़कर आगे बढ़ें और समाज-सुधार, नैतिक, उत्थान तथा धार्मिक पुनर्जागरण का सन्देश मानवता को दें। उन्हें इस ढंग से कार्य करना होगा कि पुरुषों को बल मिले, उनकी खोई हुई शक्तियाँ जागें। इसके लिए उन्हें पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर आगे बढ़ना होगा। अपने कार्य-क्षेत्र का सफलतापूर्वक निर्वाह किये बिना विकास की गति को स्त्रियाँ प्रवाहमान नहीं रख सकतीं। उन्हें सारे उत्तरदायित्व समझदारी से निभाने पड़ेंगे।

यह शिक्षा हमारी बच्चियों को प्रारम्भ से ही मिलनी चाहिए। सुशील, सुन्दर, आचरणयुक्त एवं मधुर-भाषिणी स्त्रियाँ जहाँ भी जाती हैं, वहीं स्वर्ग उतर आता है। विपरीत परिस्थितियों, गरीबी और अभाव में भी विनम्र पत्नियाँ घरेलू वातावरण को खुशहाल तथा उल्लासमय बना सकती हैं। हमारी बेटियाँ सत्य, शिव और सौन्दर्य

गुणों को धारण करें तो हमारा देश पुनः वही प्राचीन गौरव प्राप्त कर सकता है।

कन्या की उपेक्षा-तिरस्कार न हो

लड़की और लड़के दोनों ही भगवान के दो हाथों से दिये गये उपहार हैं। दोनों की गरिमा और महत्ता समान है। सब पूछा जाय तो इन दोनों में लड़की की महत्ता अधिक है, क्योंकि वह यदि सुयोग्य बनाई जा सके तो सीताजी की तरह दो परिवारों को यशस्वी बना सकती है।

लड़कियों में कोमलता, भावुकता और स्नेह-भावना की मात्रा कहीं अधिक होती है। इसलिए उसे गोदी में लेते हुए, खेलते-खिलाते हुए अपेक्षाकृत अधिक ही आनन्द आता है कम नहीं।

लड़कियाँ पराये घर का कूड़ा होती हैं। यह कहने वाले सोचें कि यदि उनकी माता न होती तो उनका जन्म ही न हुआ होता। यदि उनकी पत्नी न होती तो घर भूतों का-सा डेरा होता। अपनी माता और पत्नी भी तो आखिर किसी की लड़की ही हैं। उन्हें पाकर जब पोषण, स्नेह और सहयोग पाकर यदि हम धन्य होते हैं, तो यह क्यों सोचें कि उनका घर में आगमन संकट या दुर्भाग्य है। वे भी बड़ी होकर जब किसी की जननी या पत्नी बनकर उस परिवार को हरा-भरा, फलता-फूलता उद्यान बनावेंगी तो समाज का कितना हित-साधन होगा ? इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकारों ने कन्यादान को उच्चकोटि का पुण्य-परमार्थ कहा है।

आत्म-कल्याण की दृष्टि से तो कन्या देवी की साक्षात् मूर्ति है। उसके नाम के साथ 'देवी' शब्द को जोड़ा भी जाता है। यह इसलिए कि उसकी शिक्षा-दीक्षा, भरण-पोषण, विवाह-शादी में जो समय, श्रम, मनोयोग, पैसा खर्च होता है, वह दान स्वरूप दूसरे के घर जाता है, इस प्रकार यह प्रत्यक्ष पुण्य हुआ। इससे विपरीत लड़के के सम्बन्ध में दृष्टिकोण सर्वथा दूसरा रहता है। वह अपना वंश चलायेगा, पिण्डदान देगा और कमाई ला-लाकर हाथ पर रखेगा आदि मान्यताओं के साथ विशुद्ध स्वार्थ जुड़ा हुआ है। उसके लिए जो कुछ समय, श्रम, स्नेह, धन खर्च किया गया वह एक प्रकार से लाभदायक व्यवसाय में लगाने जैसी बात हुई। लेकिन वह व्यवसाय भी तो नहीं रहता। जुआ, लाटरी जैसा सिद्ध होता है। सैकड़ों-हजारों के पीछे एकध क मनोरथ पूरा होता है। अन्यथा कल्युगी लड़कों की कथा-गाथा सर्वविदित है कि वयस्क होने तक पढ़ाई और शौक-मौज में घर का सारा पैसा खर्च करा लेते हैं, जब कमाने योग्य होते हैं तो पत्नी के आते ही छुटकर अलग हो जाते हैं और भाई-बहनों की सहायता करने के नाम पर अँगूठा दिखाते हैं। नजर पसारकर यह दृश्य सर्वत्र चरितार्थ होते हुए देखा जा सकता है।

३. ८३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

आर्थिक दृष्टि से लड़का महंगा पड़ता है। जन्मोत्सव, मुंडन, यज्ञोपवीत और विवाह में बार-बार उत्सव-आयोजन करने पड़ते हैं या किसी तीर्थ विशेष में इन कृत्यों के लिए जाना पड़ता है। इन सभी आयोजनों में खर्च ही खर्च है। विवाह में बेटे वाले को बदनामी के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। गाजे-बाजे, धूमधाम, बारात को खिलाना और दूसरे की छाती पर ले जाने में मार्ग व्यय आदि का खर्चा बेटे वाले को ही उठाना पड़ता है। वधू के लिए कीमती कपड़े और जेवर बनवाने पड़ते हैं। देहेज में जो मिलता है उसमें कपड़े, मिठाई, फर्नीचर आदि तो ऐसे ही घर-गृहस्थी के काम आ जाते या बँट जाते हैं। नकदी के रूप में जो मिलता है, उससे धूमधाम, प्रीतिभोज का खर्च भी पूरा नहीं पड़ता उल्टा घर से लगाना पड़ता है। शोषक और डाकू आदि के रूप में निन्दा होती है सो अलगा।

जीवन भर की कमाई बेटे-पोतों के लिए उत्तराधिकार में छोड़नी पड़ती है। ऊँची पढ़ाई कराने और नौकरी लगवाने में जो खर्च पड़ता है, उसका ब्याज भी लड़के से मुश्किल में मिलता है। उसमें भी नई बहू के साथ शौक-मौज का खर्चा ही चल पाता है। परिवार की सहायता कर सकने की स्थिति किन्हीं बिरलों की ही होती है। यह सब घाटा ही घाटा तो रहा।

बेटी की शिक्षा में उतना खर्च नहीं पड़ता। फिर अब नया युग आने में देर नहीं। बिना देहेज और बिना जेवर की शादियों का प्रचलन होने में अब ज्यादा देर नहीं। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से भी लड़की सस्ती पड़ती है और जो उसके निमित्त लगा है सो पुण्य-परमार्थ में गिना जाता है। इसके विपरीत लड़के के लिए जो कुछ किया जाता है, उसके पीछे विशुद्ध स्वार्थ ही जुड़ा रहता है। यह भाग्य की बात है कि वह प्रतिफल न मिले। ऐसे तो किसान के खेतों को भी पाला मार जाता है और भाग्य खोटा समझकर सन्तोष ही करना पड़ता है, पर उस कार्य में जो लगा सो व्यवसाय ही कहा जायेगा। उस व्यवसाय में से भी पाँच प्रतिशत ही कुछ पल्ले पड़ता है अन्यथा उसे अपना अधिकार समझकर हथिया लेते हैं और बाप को निराश ही करते हैं। बड़े लड़कों के लिए सब कुछ खर्च कर डालने पर छोटे बच्चे-बच्चियों की शिक्षा, शादी तथा अपनी शेष जिन्दगी काटने की चिन्ता बुढ़ापे में स्वयं ही करनी पड़ती है। तब पता चलता है कि बेटा बुढ़ापे का सहारा होता है या नहीं।

देश का भविष्य कन्याएँ ही बनायेंगी। वे यदि संस्कारवान हैं तो अपने सदगुणों को सन्तान में स्थानान्तरित करके उन्हें सुयोग्य नागरिक बनाते हुए मातृभूमि के चरणों में कहने लायक श्रद्धांजलि प्रस्तुत करेंगी। इस कार्य में माता की भूमिका ही प्रधान होती है। बाप पैसा खर्च कर सकता है, पर समय के अभाव में तथा इतनी घनिष्टता न रहने के कारण वह बच्चों को

आदर्शवादिता की ओर अप्रसर नहीं कर सकता। यह उद्देश्य माताएँ ही पूरा करती हैं।

लड़की को सुयोग्य, स्वावलम्बी न बनाया जाय, उसे उपेक्षित-तिरस्कृत रखा जाय, छोटी उम्र में विवाह करके कूड़े के धूरे पर डाला जाय तो बात दूसरी है अन्यथा गुणवती कन्या अपने जीवन की नाव खेती है और उसमें बिठाकर समुद्राल के परिवार को पार करती है। आवश्यकतानुसार छोटे भाई-बहनों की सेवा-सहायता करके पिता की चिन्ताओं को हल्का करती है।

देश का पिछड़ापन नारी का पिछड़ा होने के कारण है। अशिक्षित, असमर्थ स्थिति में ही उसे घर के पिंजड़े में कैद रहना पड़ता है और प्रताड़नाएँ सहते हुए रोना-सिसकना पड़ता है। यदि पिता लड़की के विवाह में खर्च होने वाली राशि उसकी योग्यता बढ़ाने में लगा दे तो समझना चाहिए कि दो परिवारों की ही नहीं राष्ट्रीय प्रगति में भी असाधारण सहायता की। कम्युनिष्ट देशों की महिलाएँ पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करती हैं। शिक्षा, चिकित्सा आदि के काम पूरी तरह से संभालती हैं। इससे इन देशों में प्रगति कहीं से कहीं पहुँची है।

लड़की का तिरस्कार और उपेक्षा करने पर जब वह असहाय, अशक्त और अयोग्य रह जाती है, तब वह अपने लिए, पिता के लिए, समुद्राल के लिए, देश के लिए दुर्भाग्य एवं चिन्ता का विषय बनती है। अच्छा ही है कि हम कन्या का सम्मान करें, उसे सच्चे अर्थों में देवी बनाने का प्रयत्न करें। यह पितृपक्ष और समुद्राल दोनों का ही समान रूप से कर्तव्य है। उसके सम्मान में रतीभर भी कमी न आने देनी चाहिए।

बच्चियों को सच्चे अर्थों में देवी

बनाया जाय

नारी को नर से विशिष्ट और वरिष्ठ माना गया है। भगवान मनु ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा है कि जिस घर में नारी की पूजा होती है उस घर में देवता निवास करते हैं।

ऐसी नारी जिसे देवी कहा जा सके, प्रयत्नपूर्वक सुसंस्कारिता के ढाँचे में ढाली जाती है। जन्म से तो सभी नर-नारी अपने साथ अनगढ़पन-अल्हड़पन साथ लेकर आते हैं। शिक्षण और वातावरण के आधार पर उनमें परिवर्तन होता है।

नारी को प्रकृति ने सुन्दरता, आकर्षण और सद्भावना दी है। इस शक्ति के आधार पर वह पति की ही नहीं समूचे परिवार की प्रिय बन सकती है। इसके लिए एक वस्तु बाहरी भी चाहिए और वह है—सुसंस्कारिता। वह जन्म के साथ नहीं आती, वरन् प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न की जाती है।

बड़प्पन का निखार गरिमा के अनुरूप आचरण करने से ही होता है। यह अनायास ही किसी के मन में से कदाचित् ही उभरता है। इसके लिए भाव भरे प्रयास करने पड़ते हैं। अन्य बातें सिखाने के लिए अपने विषय के निष्णात् व्यक्ति भी सफल हो जाते हैं, पर सुसंस्कारों की शिक्षा में आत्मीयता भरे सद्भावों की आवश्यकता होती है।

लड़कियों को देवी मानते हुए पितृ परिवार में आरम्भ से ही श्रेष्ठ सद्गुणों के विकास का प्रयास चलते रहना चाहिए। लड़की को ढालने के लिए भी इसी उपाय की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए आवश्यक है कि परिवार का विचार, व्यवहारस्वरूप और प्रचलन ऐसा हो जिसका अनुकरण बच्चे कर सकें। जिन परिवारों में दुर्गुण और दुर्व्यसन भरे रहते हैं, उनमें जन्मे एवं पले बालक संस्कारवान सद्गुणी हो सकेंगे, ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

दुर्गुणी परिवारों को बच्चे उत्पन्न नहीं करने चाहिए। यदि बच्चे उत्पन्न करने हों तो दुर्गुण छोड़ देने चाहिए। परिवार के वातावरण में बच्चों को भला-बुरा ढालने की सामर्थ्य होती है। साँचे के अनुरूप ही खिलौने ढलते हैं। माता-पिता ही नहीं संयुक्त परिवार का समूचा ढाँचा ही एक प्रकार का साँचा होता है। नयी पीढ़ियाँ उसी में ढलती हैं।

नर-नारी के दो पक्षों में जहाँ तक पीढ़ियों के ढालने और बच्चों को सुसंस्कारी बनाने का प्रश्न है। उसमें नारी को भूमिका अपेक्षाकृत अधिक बढ़ी-चढ़ी है। जब तक बच्चे घर के वातावरण में अधिक समय बिताते हैं, तब तक वे महिलाओं, साथी बच्चों के सम्पर्क में ही अधिक रहते हैं। यह कच्ची आयु ही स्वभाव और संस्कार ढालने की दृष्टि से सबसे अधिक संवेदनशील है। परिवार में रहने और उसका स्वरूप ढालने की कला, दायित्व सँभालने वाले उस समुदाय के सभी सदस्यों को आनी चाहिए विशेषकर महिलाओं को। पुरुष अपने प्रभाव से बड़ी आयु वालों को समझाने या डाँटने में सफल हो सकते हैं पर जहाँ तक छोटे बच्चों का सम्बन्ध है, वहाँ तक महिलाओं को ही प्रमुखता दी जा सकती है।

दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि इतना सारा साहित्य छपता है पर उसमें परिवार निर्माण के विषय पर जिसे उपयुक्त कहा जा सके नहीं के बराबर दृष्टिगोचर होता है। फिर ऐसे अध्यापक या उपदेशक भी नहीं हैं, जो परिवार को समुन्नत बनाने का व्यावहारिक मार्गदर्शन कर सकें।

जो हो जहाँ तक बच्चियों का सम्बन्ध है वह तो विशेषतया महिलाओं को ही सँभालना और सुधारना चाहिए। इसमें पितृपक्ष का गौरव है और ससुराल का आनन्द और उनके द्वारा विनिर्मित पीढ़ियों द्वारा समूचे समाज का अभ्युदय।

भाई-बहिन के सम्बन्धों की गरिमा

नर और नारी के अनेक रिश्ते होते हैं। माँ-बेटा, पिता-पुत्री, पति-पत्नी, देवर-भाभी, ससुर-बहू, दादी-पोती, नाना-नातिन, नानी-नाती आदि जितने भी सम्बन्ध हैं, उनमें भाई-बहिन का रिश्ता हर दृष्टि से बेजोड़ और अनुपम है। भाई-बहिन का सम्बन्ध सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में जो प्रेम एवं सम्मान है वह अन्यत्र सहज सुलभ नहीं। एक ही माँ के पेट से जन्मे या एक ही कुटुम्ब में पले बच्चे-बच्चियाँ ही इस प्रेमल और आदृत सम्बन्धों में आबद्ध होते हों, ऐसा नहीं है। यह सम्बन्ध जाति एवं धर्म से परे भी कहा जा सकता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह सम्बन्ध कितना निर्मल और कितना असीम है, जिसमें जाति, वर्ग तथा समुदाय भी आड़े नहीं आते, इतिहास की धारा को मोड़ने वाली ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनमें विधवा क्षत्राणी रानियों द्वारा मुगल सम्राट को रक्षाबन्धन प्रेषित किया और वे सम्राट इस प्रस्ताव से इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने मुँहबोली बहिन को भातोचित सहायता प्रदान की।

हमारे अनेक धर्म जो सद्भावना एवं सदाशयता की प्रगाढ़ता को सुदृढ़ करने के लिए भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में गढ़े गये हैं, उसमें अनेक ऐसे पर्वोत्सव हैं जो मात्र भाई एवं बहिन के सम्बन्ध सूत्रों को प्रगाढ़ बनाये रखने के लिए चिरकाल से आज तक अबाधगति से उल्लासपूर्वक मनाये जाते हैं, जिसमें रक्षाबन्धन और भाईदौज ऐसे पर्व हैं, जो वर्ष में दो बार मनाये जाते हैं और इसमें मात्र भाई एवं बहिन परस्पर निकट से निकटतर एवं निकटतम होते चले जाते हैं। रक्षासूत्र का दर्शन वस्तुतः भाई का बहिन के प्रति नैतिक संरक्षण प्रदान करता है।

अनेक पौराणिक आख्यानो में इस पवित्र सम्बन्ध की महत्ता तथा उपादेयता पर अनेक तरह से बल दिया गया है। आचरण और व्यवहार में भी यह देखा जा सकता है। हमारा दृष्टिकोण यदि दूषित नहीं है तो दो भाई-बहिनों के पारस्परिक विनोद, संलाप तथा वार्तालाप से सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि ये भाई-बहिन हैं, जो अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान नहीं हैं अथवा जिन्हें भाई-बहिन के सम्बन्धों की निर्मल स्नेह और पवित्र प्रेमपूर्ण विशेषताओं का ज्ञान है, वे समझते हैं कि परिवार के जिस आप्रय-स्थल में यह पवित्र सम्बन्ध अंकुरित होता है, वह किस प्रकार निरन्तर पल्लवित तथा पुष्पित होता रहता है ?

बचपन में छोटे भाई तथा छोटी बहिन खिलौनों से खेलते हैं, किन्तु उस समय भी भाई में बहिन के प्रति इतना अधिक स्नेह उपज चुका होता है कि क्या मजाल जो कोई अन्य व्यक्ति भाई के समक्ष बहिन को संतस्त कर दे। जिन्हें बहिनें न हों, हो सकता है वे इस अनुभव

३. ८५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

से, शून्य हों किन्तु जिस परिवार में बहिन और भाई रहते हैं, वहाँ का वातावरण निःसन्देह कठोर हृदय को भी कोमलता में परिणत कर देने में सक्षम होता है।

किन्तु इस तरह के वातावरण की सृष्टि में माता-पिता का योगदान ही प्रमुख रहता है क्योंकि माता-पिता ही परिवार-संस्था के संस्थापक, संचालक और व्यवस्थापक होते हैं। यदि उनके द्वारा पुत्र और पुत्री के बीच जरा भी वैषम्य भाव बैठता गया तो भाई-बहिनों के सम्बन्ध में दरार पड़ते देर नहीं लगती और वह निरन्तर चौड़ी ही होती जाती है। इस भेदभाव के कारण बहिन में हीनता और अलगाव की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होने लगती है। इसके विपरीत यदि माता-पिता समान रूप से पुत्र-पुत्री को प्यार करें, दुलार दें, समान-सुविधाएँ दें और उनके लिए दिशा विकास तथा प्रोन्नति की समुचित व्यवस्था करें तो भाई-बहिन के सम्बन्ध प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होते चलते हैं।

भाई-बहिन के सम्बन्ध जहाँ इतने सौहार्दपूर्ण होंगे, आत्मीयता से ओत-प्रोत रहेंगे, वहाँ भाई-बहिन के परिवार में यदि किसी नूतन सदस्य की अभिवृद्धि होती है, भाई की पत्नी अर्थात् बहिन की भावज आती है तो वह भी परिवार के वातावरण में व्याप्त सौम्यता और सहृदयता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगी। इस वातावरण को आत्मसात् करने में या स्वयं को परिवार में खपा देने में वह भी सुख और शान्ति की अनुभूति करती है। जिस प्रकार आत्मज को आत्म से, स्वयं से उत्पन्न हुआ माना जाता है, उसी प्रकार भावज का सम्बन्ध भावजन्य है, उसे परिवार के एक ऐसे रूप में जाना जा सकता है, जो कल तक तो भिन्न और अपरिचित था किन्तु अब भाव संवेदना की स्थापना से अभिन्न और आत्मीय बन गया है। इस प्रकार की भाव-संवेदना जहाँ अनुभव होगी, वहाँ सहज ही नवागत सदस्य सुख-शान्ति का अनुभव करेगा और इस अनुभूति में, आचार-व्यवहार की इस मधुरता में भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होगा। दूसरी ओर भाई-बहिन के सम्बन्धों में यदि किसी भी प्रकार की ग्रन्थि होगी तो परिवार में आने वाले नये सदस्य का उस पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा और तानेबाजी, छींटकशी की जो घटनाएँ आरम्भ में कोई महत्त्व न रखें बाद में पारिवारिक विघटन का कारण बनाने वाली स्थिति तक जा पहुँचती हैं।

भाई-बहिन के सम्बन्धों का एक सामाजिक पक्ष भी है। परिवार में रहकर ही भाई-बहिन वह प्रशिक्षण पाते हैं। जो शनैः-शनैः विस्तृत होता जाता है। इसी आधार पर समस्त संसार में वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श चरितार्थ होने की कल्पना की जाय तो यह अस्वाभाविक नहीं होगा। जैसे-जैसे भाई-बहिन की आयु में वृद्धि होती जाती है, उनका विकास होता चलता है, उनके कार्य व उत्तरदायित्व अलग-अलग होते जाते हैं। वैसे उनमें

बालसुलभ चपलता और चुहलबाजी वाले गुण तो सीमित होते जाते हैं पर सौहार्द, सद्भाव एवं प्रेम का प्रवाह बढ़ता ही चलता है आयु बढ़ जाने, व्यक्तित्व का परिपक्व विकास हो जाने और उत्तरदायित्व तथा कार्य बँट जाने से स्थितियाँ भले ही भिन्न हो जाएँ, परन्तु उससे सम्बन्धों के निर्वाह में भावनाओं और संवेदनाओं का अविरल प्रवाह बहता और बढ़ता ही चलता है। बाह्य रूप से भले ही कोई भेद दिखाई दे, परन्तु उनमें आन्तरिक रूप से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

इस तरह यदि समझदारी से काम लिया जाए तो भाई-बहिन के सम्बन्धों में कदाचित् ही कोई बिगाड़ उत्पन्न हो पाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि बहिन का सम्बन्ध जब किसी सम्पन्न परिवार में हो जाता है तो 'प्रभुता पाई काहि पद नाहि' वाली उक्ति चरितार्थ होने लगती है। उस स्थिति में बहिन, भाई के प्रति विवाह से पूर्व वाला सद्भाव व्यक्त करने में असफल हो जाती है। इसी प्रकार बहिन यदि सम्पन्न परिवार से विपन्न परिवार में विवाहित होती है तो उस स्थिति में भी भाई द्वारा बड़प्पन का प्रदर्शन बहिन के प्रति उपेक्षा का प्रदर्शन करता है। उथली मनोभूमि में ऐसी विसंगतियाँ उत्पन्न हो ही जाती और उसे भी उथली मनोभूमि का परिचायक ही कहा जायेगा कि भाई-बहिन के सम्बन्ध को लेम-देन एवं उपहारों के आदान-प्रदान से तौला जाता है।

लेन-देन एवं उपहारों के आदान-प्रदान की अपेक्षा भाई, बहिन को अपना निश्छल, निष्कपट प्रेम बनाये और बढ़ाते रहने पर ही ध्यान रखना चाहिए। बहिन का एक ही अभीष्ट रहे कि भाई सुखी एवं प्रसन्न रहे तो इससे बड़ा सद्भाव एवं सम्पदा कुछ और हो ही नहीं सकती। स्मरण रखा जाना चाहिए कि सम्बन्धों में वस्तुओं का विनिमय करने की वृत्ति की अलगावोन्मुख प्रवृत्ति का कारण बनती है। भाई-बहिन का सम्बन्ध मात्र स्नेहाभिव्यक्ति का ही प्रतीक नहीं है वरन् आत्मा के सम्बन्धों की दुहाई है जिसमें एकरूपता, एकानुभूति तथा सामंजस्य एवं सहानुभूति के स्वर निनादित होते रहते हैं।

भाई-बहिन का रिश्ता कितना पवित्र ?

स्वामी विवेकानन्द को अमेरिका में हो रहे विश्व धर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म पर बोलने को कहा गया तो उन्होंने सभा को सम्बोधित 'सिस्टर्स एण्ड ब्रदर्स !' अर्थात् "बहिनो और भाइयो !" कहकर किया। फिर क्या था, इन्हीं शब्दों पर तालियों की गड़गड़ाहट से सारा हॉल गूँज उठा। अमेरिकावासी 'लेडीज एण्ड जेण्टलमेन' को सुनने के आदी थे, उन्होंने पहली बार एक भारतीय प्रवक्ता के मुँह से सुना "भाइयो और बहिनो !" कितना सम्मान, कितना प्यार और कितनी पवित्रता भाई और

बहिन के बीच भरी पड़ी है, उपरोक्त घटना से ही प्रतिपादन हो जाता है। इस भाई-बहिन के रिश्ते ने इतिहास को मोड़ा है तथा दो विभिन्न संस्कृतियों को हिन्दू और यवनों को निकट लाने का प्रयत्न किया है।

इस रिश्ते का पोषण परिवार में होता है। परिवार में भाई-बहिन के आते ही चहचहाट-सी मच जाती है। इनके रहने से माता-पिता के प्रतिनिधित्व का अनुभव होता है। घर में एक नवीन पवित्र रिश्ते के आ जाने से घर में प्रेममय वातावरण की स्थापना हो जाती है। छोटे-छोटे भाई-बहिन घर के घरोर में निश्चल भाव से पलते-पोषते रहते हैं। छोटी उम्र में भाई-बहिन का रिश्ता अधिक निकट आता रहता है। कहना चाहिए यहीं से सामाजिक प्रेम सीखने की ओर मानव प्रवृत्त होने लगता है। परिवार ही तो वह पाठशाला है, जहाँ मनुष्य हर बात सीखता है। समाज में तो वह प्रयोग करता है।

जैसे-जैसे भाई-बहिन की उम्र बढ़ती है। उनके अध्ययन, उनके कार्य व उनके उत्तरदायित्व अलग विभाजित हो जाते हैं। इस कारण प्रेम की अन्तरधारा के प्रवाह में तो कहीं रुकावट नहीं होती, पर समय के अभाव और आयु के दबाव में वह चुहलबाजी कम हो जाती है। इस समय यदि माता-पिता के मन में लड़के और लड़की के प्रति भेदभाव रहा तो लड़की के मन में विपरीत ग्रन्थि इनमें लग जाती है। जैसा कि परिवारों में लड़की के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार देखा जाता है। इससे भाई अपने आपको बहिन से श्रेष्ठ समझने लगता है। इस ऊँच-नीच की भावना से जन्म के भाई-बहिन के प्रेम में थोड़ा-अन्तर आने लगता है। लेकिन यह भेद भीतर ही भीतर रहता है, बाहर तो बहुत कम अवसरों पर उभर कर आता है। इन क्षणों में माता-पिता को लड़के-लड़की के प्रति समान व्यवहार करने में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए।

सम्बन्धों का निर्वाह सम्वेदनों और भावनाओं के सहारे होता है। इनका अविरल प्रवाह बने रहने से सम्बन्धों के बीच कंकड़, पत्थर आ जाने पर भी वे भीतर दब जाते हैं, बाहर तो प्रवाह आगे ही बढ़ता रहता है, किन्तु जब कहीं ऊँची चट्टान आ जावे या बाँध, बाँध दिया जावे तो प्रवाह की गति में अवरोध उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भाई-बहिन के रिश्ते में आ जाती है। वहीं से रिश्ते के प्रेम में विपरीत भाव जाग्रत होने लगते हैं। यदि भाई, बहिन से बड़ा हुआ तो उसका विवाह पहले हो जाता है। बहिन को बड़ी खुशी होती है कि उसके एक भाभी अर्थात् हम सहेली घर में आई। भाभी के मन में लगभग ऐसा ही भाव गुदगुदाता रहता है, किन्तु धीरे-धीरे भाई अपनी पत्नी की ओर खिंचता रहता है और उसके सन्तान हो जाती है। इससे उसका प्रेम पत्नी और सन्तान की ओर बँट जाता है तो स्वाभाविक ही है, इससे घर के अन्य

सदस्यों के प्रति प्रेम में थोड़ी कमी होगी। इसका अर्थ कभी-कभी बहिन लगा लेती है कि अब भाई अपनी बहिन से प्रेम सम्पर्क क्यों रखें ? इस परिस्थिति में भाई निर्दोष भी हो सकता है, क्योंकि उत्तरदायित्व बढ़ जाने से सबको समान प्रेम नहीं भी दे पाता हो। ऐसे समय में बहिन को सहृदयतापूर्वक भाई के साथ व्यवहार करना चाहिए और भाई को भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं बहिन उसे रूखा न समझ ले। यहाँ तक तो ठीक है, पर भाभी के स्वभाव में धीरे-धीरे अन्तर होने लगता है। इसका कारण तो नन्द का अधिकार भरा स्वभाव जैसा कि परिवारों में नन्द व्यवहार करती है या नन्द के प्रति घर में अधिक प्यार भरा वातावरण देखकर भाई के हृदय में ईर्ष्या जाग्रत होने लगती है। ऐसे क्षणों में भाई को बड़ी बारीकी से प्रेम को बनाये रखने में सहायता करनी चाहिए, किन्तु घर में भाई हर क्षण नहीं रहता है, काम तो भाभी से ही पड़ता है। फिर छोटी-छोटी बातों में भाई से शिकायत करना भी परिवार की शिष्टता के विपरीत ही है। आये दिन घरों में यह भी देखा जाता है कि भाई अपनी पत्नी की ओर से दहेज आदि अच्छा मिल गया, पत्नी पढ़ी-लिखी मिल गई और उभर नौकरी ऊँची मिल गई। इससे उसमें अहंकार आ जाता है। यह अहंकार ही बहिन से क्या, माता-पिता से भी दूर कर देता है। इस अवसर पर भाई-बहिन के रिश्ते का निर्वाह बहिन एक तरफ प्यार देकर भी पूरा करने का प्रयत्न करे तो किसी दिन भाई के अहंकार पर प्रेम की चोट अवश्य पड़ेगी। भाई-बहिन तालमेल मिलाते हुए, परस्पर के प्रेम के स्रोत को सूखने नहीं देवे तो अन्य परिस्थितियाँ उनके प्रेम में व्यवधान उत्पन्न नहीं कर सकती हैं।

अब बहिन का विवाह हो जाता है। वह अपने माता-पिता तथा भाई-बहिन से विदा ले लेती है। बहिन का उत्तरदायित्व भी नये घर में जाकर बँट जाता है। भारतीय परिवार में बहिन को माता-पिता के परिवार का प्रमुख सदस्य मृत्यु-पर्यन्त समझा गया है। ऐसी परिस्थिति में रक्षाबन्धन आदि त्योहारों पर उसे बुलावा भेजा जाता है। यदि सौभाग्यवश बहिन अमीर खानदान में चली जाती है तो ऐसी दशा में दो परिणाम सामने आते हैं या तो बहिन अपने इस अनायास बड़प्पन को पाकर विनम्र हो जाती है या उसमें थोड़ा अहंकार बढ़ जाता है। विनम्रता आने पर भाई-बहिन के रिश्ते में कहीं रुकावट का प्रश्न नहीं आता है। लेकिन जब उसमें अमीरी का अहंकार उफाने लगता है तो भाई-बहिन के प्रेम पर आँच आ जाना स्वाभाविक है। यदि भाई की स्थिति समकक्ष हुई तो ठीक, अन्यथा अपने ही भाई के प्रति बहिन का प्रेम कम हो जाता है। वह अपने भाई के घर जाना तक पसन्द नहीं करती है। यदि गई भी तो वह अपनी अमीरी का प्रदर्शन इस ढंग से करती है कि भाई को कभी-कभी नीचा देखना पड़ता है। वह अपने नाज-नखरे ऐसे करती है कि भाई के घर में व्यर्थ का तनाव उपस्थित हो जाता

३. ८७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

है, जबकि ऐसे समय में तो अमीर बहिन को अपने पूर्व के दिनों को याद बनाये रखना चाहिए। उसी के अनुसार समय-समय पर भाई भाभी के साथ विनम्रतापूर्वक तथा प्रदर्शनरहित प्रेम बनाये रखना चाहिए। सम्भव हो तो बहिन किसी न किसी रूप में अपने भाई के परिवार को सहायता भी पहुँचा सकती है। यदि भाभी का स्वभाव या बहिन के पति का स्वभाव प्रतिकूल हो तो सहायता नहीं, तो दुःख-दर्द में काम आकर भाई-बहिन के सम्बन्ध का निर्वाह करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि बहिन नारी है, वह भावना की प्रतिमा होती है और उसमें प्रेम की धारा अविरल बहती रहती है। इन गुणों के कारण बहिन को हर दशा में भाई के प्रेम को सूखने नहीं देना चाहिए।

दूसरी ओर भाई अमीर और बहिन गरीब खानदान में दी गई तो भी भाई-बहिन के सम्बन्ध को निभाने में बड़ी सावधानी रखी जानी चाहिए। कहीं-कहीं परिवारों में भाई-भाभी और उनके बच्चों को अपनी अमीरी का इतना अहंकार होता है, जिसके सामने बहिन का प्रेम टिक नहीं पाता है। बहिन का भाई के यहाँ आना-जाना तो जैसे-तैसे बना रहता है, किन्तु वही अमीरी का प्रदर्शन देख-देख बहिन के मन में हीन ग्रन्थि बनने लगती है। यदि अधिक ऐसा प्रदर्शन चलता रहा तो बहिन का आना-जाना केवल खास अवसरों पर औपचारिक मात्र रह जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि बहिन की ओर से भी व्यर्थ ही अपने ननदपने का दिखावा होता हो जबकि भाई-भाभी अमीर होते हुए भी बहिन के साथ सहयोग और सदभावपूर्ण व्यवहार करते हैं। कहना चाहिए, ऐसे अवसरों पर भाई को अपना प्रेम का हाथ बहिन के लिए बढ़ाये रखना चाहिए। बहिन के बच्चों को लाड़-प्यार और सहायता देवें। कभी-कभी बहिन का पति बुरे स्वभाव का हुआ तो भाई के मन में चोट पहुँचती है, पर फिर भी बहिन की ओर देखकर अपने प्रेम का निर्वाह करते रहने से भाई-बहिन का सम्बन्ध बना रहता है।

वर्तमान समय में बहिनें लेन-देन को प्रेम मान बैठी हैं। जो भाई देता-लेता है, उससे प्रेम भाव बनाये रखना और जो अपनी आर्थिक स्थिति के कारण न दे पावे तो उससे प्रेमभाव में कमी कर देना। इस प्रकार का प्रेम भाई-बहिन के बीच संवेदनपूर्ण नहीं है, वह तो एक व्यापार हो गया है। बहिन को तो लेन-देन को प्रधानता नहीं देनी चाहिए। यह तो एक ही आकांक्षा रखें कि मेरा भाई सुखी रहे और समय-समय पर एक-दूसरे से मिलते-जुलते रहें। इससे भाई का हृदय बहिन की ओर बढ़ा हुआ रहता है।

ऐसे अवसर भी घरों में आते हैं और सुनने को भी मिलते हैं, कि गरीब भाई यदि अमीर बहिन के लिए शक्ति के अनुसार कोई वस्तु लाकर देता है। वह वस्तु उसके लिए तो कोई मूल्य की नहीं रहती है। ऐसा

समझ, वह उस वस्तु की नुक्ताचीनी करेगा। ऐसा करने से भाई-भाभी का हृदय काँच के समान टूट जाता है। भला, ऐसे समय में तो बहिन को कहना चाहिए कि भाई क्या आवश्यकता है इस वस्तु की ? फिर कभी किसी अवसर पर ले लूँगी। यदि अधिक आग्रह ही देखे तो बड़े आदर के साथ उसे स्वीकार करें और कहें कि भइया, तुमने हमने तो ऐसी ही गरीब परिस्थिति में समय निकाला है। इतना भर कह देने से भाई का हृदय गद्गद हो जाता है।

भाई-बहिन का सम्बन्ध लेन-देन, वस्तु, अर्थ, अमीरी-गरीबी आदि पर नहीं टिका हुआ है। यह सम्बन्ध तो इतना पवित्र है कि जिसकी जड़ें भाई-बहिन के परस्पर संवेदन और प्रेम की गहराइयों में हैं। यदि ऐसा समझकर भाई-बहिन इस रिश्ते की पावनता को बनाये रखें, जिससे इसका महत्व अक्षुण्ण बना रहे। उधर भाभी अपने मन में यह भाव बनाये रखे कि वह भी किसी भाई की बहिन है। यदि उसमें भी भगिनीत्व जाग्रत रहा तो वह कभी भी भाई और बहिन के रिश्ते में कटुता को उपस्थित नहीं होने देगी, बल्कि ऐसे अवसर आने पर दोनों को जोड़ने का ही काम करेगी।

बहिन यह समझती है रहे कि उसका कच्चा धागा उसके भाई को सदैव प्रेम के सूत्र में जोड़े रहेगा और उसकी रक्षा करता रहेगा तो भाई समझता रहे कि वह इस कच्चे धागे में बँधे प्रेम को टूटने नहीं देगा। वह अपनी बहिन की रक्षा में हर क्षण तत्पर रहेगा। उसे सहयोग देने के लिए अधीर रहेगा और सदभावना देने के लिए अपने हृदय में अपनी प्यारी बहिन को बिठा लेगा।

बाप-बेटी के रिश्ते की सुखती संवेदनाएँ

बाप और बेटी का परिवार में सम्बन्ध बाप-बेटे के सम्बन्ध से भिन्न होता है। इस भिन्नता का कटुतापूर्ण प्रारम्भ यद्यपि स्वयं माता-पिता द्वारा बाल्यावस्था से ही कर दिया जाता है, किन्तु यदि माँ-बाप इस दृष्टि-वैषम्य का परिचय न भी दें और समान भाव से ही पुत्र-पुत्री का पालन-पोषण करें, तो भी पुत्र एवं पुत्री के सम्बन्धों का आन्तरिक स्वरूप भिन्न रहेगा ही। पुत्र को पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनना है, जबकि पुत्री को पराया घर बसाना है। यह अन्तर कुछ कम नहीं।

पिता परिवार का अधिष्ठाता एवं संरक्षक होता है। बच्चों में उनके प्रति आदर-युक्त आकर्षण का भाव रहता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे ही 'फ़ादर इमेज' कहते हैं। प्रत्येक बच्चे के स्वस्थ विकास के लिए उसके मन की यह 'पिता-प्रतिमा' भी आवश्यक है, क्योंकि इससे बालक के मन में निर्भयता तथा अनुशासन का समन्वित भाव विकसित होता है। एक ओर तो बच्चा पिता को

सर्वसमर्थ मानकर निर्भय बनता है, अपने समर्थ संरक्षण की भावना उसे प्रखर एवं उन्मुक्त बनाती है। दूसरी ओर अनुचित कार्य करने पर पिता के रुष्ट होने एवं उनके द्वारा दण्डित किये जाने की सम्भावना का बच्चे को स्मरण रहता है, जो उसे अनुशासित बनाता है। यही प्रवृत्ति धीरे-धीरे आत्मानुशासन का रूप ले लेती है। देहातों में इस आशय की लोकोक्तियाँ प्रायः कही जाती हैं कि “पिताहीन सन्तान निरंकुश बन जाती है।”

पिता बच्चे का शुभचिन्तक, मित्र, मार्गदर्शक, जीवनरक्षक तथा हितैषी होता है। उसकी करुणा, उदारता, संगठन, कुशलता तथा वात्सल्य-भावना से सन्तान को पोषक रस मिलता है।

पुत्री के मन में पिता के प्रति आदर का भाव पुत्र की तुलना में अधिक ही होता है। अपनी स्वाभाविक विनम्रता तथा शील-संकेच के प्रशिक्षण के कारण पुत्री, पिता से कभी भी उद्धत व्यवहार नहीं करती, जबकि पुत्र ऐसा करते देखे भी जाते हैं। प्रत्येक पुत्री के मन में पिता के प्रति बड़ी कोमल और मधुर भावनाएँ होती हैं, जिन्हें वह अधिक व्यक्त भी नहीं करती। अपितु अमूल्य धाती की तरह सँजोए रहती है तो भी ‘बाप का घर’ उसके मन में अनेकों भावमयी संवेदनाओं का केन्द्र होता है। समुलाल में आकस्मिक विपत्ति, अप्रत्याशित अपमान या असह्य यन्त्रणाओं की स्थिति में बेटी को बाप का ही घर याद आता है। वही आश्रय-स्थल प्रतीत होता है। अपने पिता की तथा पिता के घर की बुराई कोई भी लड़की नहीं सह सकती। अति सहिष्णु नारी में भी बाप का उलाहना देते ही आक्रोश आ जाता है। उद्दण्ड-असह्य समुलाल-पक्ष वाले भी जब बहू को डाँटते-फटकारते हैं तो यही कहते हैं कि “क्या यह तुम्हारे बाप का घर है।” इस अशिष्टता में भी यह संकेत तो छिपा ही है कि बाप का घर बेटी के लिए सर्वाधिक सुरक्षित-निरापद स्थान है। समुलाल की आदर्श स्थिति वही मानी जायेगी, जहाँ कि वह घर भी बहू के लिए बाप के घर जैसा ही हो जाय।

विवाह-संस्कार के समय कन्यादान की प्रथा है। आज तो उसका अर्थ ही भुला दिया गया है, वस्तुतः कन्या-दान का अर्थ किसी वस्तु की तरह कन्या को वर को सौंप देना नहीं है। कन्या-दान के समय जो मन्त्र कहे जाते हैं, उनका आशय समझें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि पिता वर-पक्ष को यह धाती इस विश्वास के साथ सौंपता है कि उनकी बेटी की भावनाओं एवं व्यक्तित्व का वैसा ही ध्यान रखा जाय, जैसा अब तक पितृ-गृह में रखा जाता रहा है। इस प्रकार कन्यादान की प्रक्रिया मूल रूप में पुत्री की गरिमा की प्रतिष्ठा की प्रक्रिया है।

संयुक्त-परिवारों में अभी भी यह स्थिति विद्यमान है कि यदि किन्हीं कारणों से लड़की को परित्यक्ता का जीवन जीना पड़े, या कि दैव-संबोध से वह विधवा हो जाये, तो वह अपने बच्चों समेत मायके में ही रहती है

और आर्थिक संकट का अकेले समाधान करने की विपत्ति से बच जाती है। इस प्रकार पिता और पिता का घर लड़की के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भावनाशील नारी इस महत्त्व को अपने अन्तःकरण में भली-भाँति समझती है, स्मरण रखती है कि पिता उसकी कोमल संवेदनाओं का एक केन्द्र होता है।

किन्तु प्रायः पिता में इन दिनों इसके अनुरूप उच्चाशयता की बहुत कमी देखी जाती है। कमाऊ पूत के प्रति पक्षपात की भावना माताओं में भी होती है। लोक-रूढ़ि से मुक्त वे भी नहीं रह पाती। पोषण के मामले में तो पुत्र-पुत्री के बीच पक्षपात मुख्यतः माताएँ ही करती हैं, किन्तु लड़की के समुलाल जाने पर कलेजे के उस एक टुकड़े की स्थिति के प्रति कभी भी उदासीन नहीं हो पाती। उसके दुःख-सुख की वह बराबर उसी संवेदना से खोज करती रहती है।

किन्तु प्रायः पिता विवाह के बाद पुत्री के प्रति बड़ी सीमा तक उदासीन हो जाते हैं। ‘सिर का बोझ टला, चिन्ता दूर हुई’—ऐसे भावों के साथ वे पुत्री के प्रति अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान बैठते हैं। यह संवेदन शून्यता ही तो है।

बेटे के लिए बाप जीवनभर खटता है। मजदूरी करता है, खेतों में जो-तोड़ मेहनत करता है, नौकरी करता है। पुत्र के भावी जीवन की सुख-सुविधा के लिए वह स्वयं कष्ट सहकर बचत करता है। सम्पत्ति जुटाता-बढ़ाता है, पर बेटी के लिए वह क्या करता है ? बेटी न तो जायदाद में हिस्सा बँटाने वाली है, न ही शादी के बाद पिता के प्रति कठोर हो जाने वाली है, तो भी बेटी की शिक्षा एवं सुविधा में होने वाला ‘खर्च’ पिता को अखरता ही रहता है, जबकि तटस्थ ढंग से देखा जाय तो यह सिर्फ दृष्टि-भेद का परिणाम है, स्वयं की भावनाओं का खेल है। बेटे से ही पिता को क्या मिल जाता है ? पाल-पोसकर बड़ा कर दिया। शिक्षा-दीक्षा दिलाई, विवाह में धूमधाम की, धन्ये-नौकरी के लिए दौड़-धूप की। बेटा समर्थ बन गया। उसकी पत्नी की आकांक्षाएँ बढ़ीं। उसके अपने बेटे हो गये। अब वह बस बहानों की तलाश करने लगा और कोई न कोई बहाना हाथ लगते ही बाप से अलग हो गया। जायदाद बँटा ली। उसमें तो समान हिस्से की माँग करने लगा, ऊपर से इस ताक में भी रहने लगा कि बाप अपने हिस्से की सम्पत्ति अधिक न खर्च कर पाये। उसके मरने की बाट जोहने लगा और मरते ही उस शेष सम्पत्ति पर भी कब्जा कर लिया। त्याग, बलिदान, कर्तव्य-धर्म में समानता की आकांक्षा किसी-किसी बेटे में ही उठती है। अपनी भोग लिप्सा के लिए आवश्यक सुविधा-उपकरणों के जुटाने के लिए तो सम्पत्ति में हिस्सेदारी का स्मरण सबको रहता है। पितृ-ऋण चुकाने, अपने ऊपर पिता के त्याग-बलिदान

३. ८९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

का जो भार चढ़ा है, उसे उतारने, कर्तव्य-पालन में हिस्सा बैठाने की याद कितने लोग कर पाते हैं ?

विचार कर देखा जाय तो इस कृतघ्नता के बीज उस समय ही बो दिये जाते हैं, जब पिता पुत्र-पुत्री के बीच विषमतारूपी विकृति को ही संस्कृति का अंग मान बैठता है। अपने प्रत्येक व्यवहार तथा शब्दों से पिता प्रायः यह स्मरण दिलाता रहता है कि बेटी तो पराया धन है, इसके बोझ से तो जैसे-तैसे मुक्त होना है। उधर बेटे को यह बोध कराया जाता रहता है कि जो कुछ है, सब उसी का है। वही इस सारी सम्पत्ति का हकदार है। वही घर की ज्योति है। माँ-बाप के भाग्य का सितारा है। इस विषम चिन्तन तथा आचरण से बेटे का दम्भ प्रतिपल फलता-बढ़ता रहता है। वह उन सब पर अपना स्वाभाविक अधिकार समझने लगता है। इतने अधिक सुविधा-साधनों को जुटाने वालों के प्रति वह कृतज्ञता की कोई अनुभूति नहीं कर पाता, क्योंकि उसे यही सिखाया गया है कि यह उसका है ही।

इस दूषित दृष्टिकोण का परिणाम पिता-माता को तो वृद्धावस्था में भोगना पड़ता ही है। लेकिन पुत्री को प्रारम्भ में ही यह मंद विष खिला-खिलाकर उसे कमजोर किया जाता रहता है। उसके मुक्त उल्लास और स्वतन्त्र विकास पर हीन भावना की काली परछाई प्रतिपल डाली जाती रहती है। इससे उसका व्यक्तित्व बहुत कुछ पंगु बनता जाता है। आत्महीनता की ग्रन्थि उसकी सम्भावनाओं को सीमित करती रहती है। उसके व्यक्तित्व को जकड़ती-दबोचती रहती है।

इसके विपरीत जो लोग स्वस्थ दृष्टि वाले होते हैं, पुत्री के व्यक्तित्व-विकास की भी वैसी ही व्यवस्था करते हैं, जैसी पुत्र की। उन्हें पुत्रों से रखी जाने वाली सारी अपेक्षाएँ तो पुत्री से मिलती ही हैं, साथ ही कोमलता एवं निर्मल स्नेह के वे अनुपम उपहार भी प्राप्त होते हैं, जो नारी होने के कारण पुत्री की स्वाभाविक विशेषता होते हैं। समर्थ पुत्रियाँ पिता का नाम तो प्रसिद्ध करती ही हैं, असमर्थता की स्थिति में उनकी सहायता के लिए भी सदा ही आगे आती हैं। स्नेह, संवेदना और सौम्य व्यवहार से वह पिता-माता के चित्त को वृद्धावस्था में शीतल, प्रफुल्ल बनाती हैं। उनकी अनुभूतियों, आकांक्षाओं को वह बारीकी से समझती हैं। पति-गृह में रहने पर भी कोई पुत्री पिता-माता से उदासीन तो नहीं ही रहती। समर्थ पुत्री तो अपनी संवेदना को मूर्त रूप भी दे सकती है। आड़े वक्त में वह हर प्रकार की मदद कर सकती है। सेवा-सुश्रूषा, सौहार्द-सद्भाव से वह विपत्तिग्रस्त माता-पिता को सुरक्षा एवं सुख देती है।

यों, सारी विषमताओं के बीच भी पिता-पुत्री के बीच निर्मल स्नेह की धारा तैर बहती ही रहती है, किन्तु पिता के रक्ष या उपेक्षापूर्ण व्यवहार का ताप उसे अत्यन्त क्षीण बनाता चला जाता है। आवश्यकता इस बात की है

कि उन बहुमूल्य संवेदनाओं का प्रवाह सूखने तो नहीं दिया जाय। उनका महत्त्व समझकर, उन्हें विस्तृत, गतिशील एवं अधिकाधिक मधुर बनाया जाय। इससे स्वयं पुत्री को तो मानसिक तृप्ति प्राप्त होगी ही, पिता भी बेटे में ही केन्द्रित संवेदनाओं की संकीर्णता के दुष्परिणामों से बचेगा और समतापूर्ण स्वस्थ दृष्टि से अन्तःकरण में स्वाभाविक रूप से उमड़ने वाले उल्लास के साथ ही पुत्री की भावप्रवणता, स्नेहपूर्णता एवं सौजन्यशीलता से जीवन में सरसता का अनुभव करेगा। अभी जैसे तनाव, शुष्कता एवं एकाकीपन जो बेटों के रूखे व्यवहार से उन्हें डसते चले जाते हैं, फिर उन्हें न घेर पायेंगे।

कन्या और वधू को भी लड़के

जितना दुलार मिले

माता और बच्चे के बीच जो वात्सल्य होता है, उसे मनुष्य-मनुष्य के बीच पाये जाने वाले प्यार में सर्वोत्तम स्तर का कहा जा सकता है। यह एकाकी होता है। बच्चा तो प्रेम का स्वरूप, महत्त्व तक नहीं जानता। प्रतिदान की तो सम्भावना ही कहीं रहती है ? माता को अकेले ही अपना प्रेमपक्ष चरितार्थ करना पड़ता है। वही अपनी आत्मीयता का आरोपण बालक के ऊपर करती है और उसके सुख-दुःख में साझीदार रहती है। अपने अन्तराल से निकला प्रेम, बालक से टकराकर वापस लौट आता है। इसे अपनी ही आत्मा की प्रतिध्वनि, प्रतिच्छाया भी कह सकते हैं।

मनुष्य के एक सिरे पर दिव्य सम्भावनाओं से भरा-पूरा मस्तिष्क है तो दूसरे पर मल-मूत्र के दुर्गन्ध भरे छिद्र भी। एक पक्ष में देवता का निवास तो दूसरे में शैतान भी रहता है। माँ बच्चे के प्रति वात्सल्य प्रकट करती है, तब वह देवता होती है, किन्तु जब कन्या पुत्र का अन्तर करके एक को दुलार, दूसरे को तिरस्कार देने लगती है तो उसका शैतान पक्ष उभर आता है। बालक ईश्वर की प्रतिमूर्ति है। छल-छिद्र से, दोष-दुर्गुण से रहित हृदय सन्त-साधुओं का होता है। उन्हीं में भगवान की झाँकी मिलती है। ईसा के शिष्यों ने जब भगवान के दर्शन कराने का आग्रह किया तो उन्होंने एक छोटे बालक को गोदी में उठाया और कन्धे पर बिठाकर सबको दिखाया कि मनुष्य आकृति में यही भगवान है। उसका कथन सच था। निर्मल अन्तःकरण वाला शिशु भगवान ही हो सकता है। इस विशेषता में कन्या लड़के की अपेक्षा कहीं उत्कृष्ट होती है। ऐसी ही भावनाओं के कारण नर की तुलना में नारी को अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु, विनम्र, संयमी, सेवाभावी बताया है। वे बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की दृष्टि से भी कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी होती हैं। अपराधों की गणना में नारी को दस प्रतिशत और पुरुष को नब्बे प्रतिशत अनाचारों में लिप्त पाया गया है। छोटी कन्याओं में तो मृदुलता, सुषमा और भी

अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है। इसलिए दुलार-संरक्षण, उन्नयन न्यायानुसार उन्हीं का अधिक होना चाहिए, पर होता ठीक इससे उल्टा है। पिता के अतिरिक्त परिवार के अन्य पुरुष भी लड़की के जन्म को दुर्भाग्य मानते हैं, क्योंकि वह पालने-पोसने के बाद दूसरे घर की हो जाती है और साथ ही कुछ दान-दहेज भी साथ ले जाती है। इस अर्थ-प्रधान दुनिया में लड़की के प्रति एक समय उपेक्षा भाव समझ में आता है, पर दूसरी ओर जब दृष्टि दौड़ाई जाती है कि किसी दूसरे की पाली-पोसी लड़की वधू के रूप में अपने घर में आई है और वह कितनी उपयोगी सिद्ध हो रही है। तब यह समझा जा सकता है कि किसी के घर कन्या न जन्मी हो तो अपने घर में वधू कहाँ से आ जाती है। अपनी कन्या दूसरों के घर जाती है तो दूसरे की लड़की अपने घर आती भी तो है। यह तो आदान-प्रदान मात्र हुआ। इसमें घाटा कहाँ ? लाभ कहाँ ? अदूरदर्शिता ही ऐसी दृष्टि उत्पन्न करती है, जिसमें लड़की घटिया प्रतीत होती है और लड़का बढ़कर। वस्तुतः हर दृष्टि से लड़की का दर्जा ही बड़ा है। लड़के शिक्षा, शादी और व्यवसाय उत्तराधिकार में घर खाली करा लेते हैं और जैसे ही कुछ कमाने योग्य होते हैं, पत्नी को लेकर अलग रहने लगते हैं। छोटे भाई-बहिनों की शिक्षा, शादी में कदाचित् ही परिवार को कुछ सहायता देते हैं। जवानी में ही बूढ़े-बाप का कारोबार हथिया लेते हैं और उन्हें एक-एक पैसे के मुहताज बना देते हैं। अधिकांश परिवारों में यही उपक्रम अपनाया गया दीखता है। सतयुगी श्रवणकुमार लड़के तो कदाचित् ही किसी भाग्यवान के घर में उत्पन्न होते दिखाई देते हैं। तिरस्कृत, उपेक्षित, असमर्थ माता-पिताओं की सेवा समर्थ लड़कियाँ भी कर सकती हैं। यह रिवाज तो मनुष्यों ने उस दृष्टि से बनाया है, जब वे ससुराल वाले होते हैं और चाहते हैं कि कन्या के घर से सदा मिलता ही मिलता रहे। ऐसी नौबत न आवे कि कन्या पक्ष के मुसीबत में फँस जाने पर उनकी कहीं सहायता न करनी पड़े। वस्तुतः ऐसी कुछ बात नहीं है। बेटी और बेटे में कोई अन्तर नहीं। असमर्थ माता-पिता की लड़कियाँ भी उसी प्रकार सेवा-सहायता कर सकती हैं जैसे कि लड़के करते हैं। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे अनुचित कहा जा सके।

विपन्न परिस्थितियों में कितनी ही जगह ऐसा भी होता है कि पिता के न रहने पर कमाई का स्रोत बन्द हो जाता है, तब बड़ी आयु की लड़कियाँ नौकरी करके अपने छोटे-भाई बहिनों का निर्वाह तथा शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करती हैं। अपनी आयु ऐसी ही कुमारी अवस्था में बिता देती हैं। इन आदर्शों को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि लौकिक दृष्टि से भी कन्या का महत्त्व लड़कों से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

आश्चर्य तो तब होता है जब घर की महिलाएँ भी कन्या जन्म पर बुरा मानती हैं। वे यह भूल जाती हैं कि वे स्वयं भी किसी की लड़की हैं। किसी महिला के पेट से ही जन्मी हैं। जब वे अपने अस्तित्व को सही मानती हैं तो नई जन्मी कन्या को ही क्यों असह्य ठहराती हैं ? होना यह चाहिए कि पुरुषों द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत नारी को उसकी बिरादरी द्वारा तो समर्थन मिले ही, हिमायत और सिफारिश के लिए उनका वर्ग तो आगे आये ही, पर होता-उल्टा है। विवाह-शादी के समय लड़कों के लिए अधिक सुन्दर और अधिक मालदार लड़की तलाशने में महिलाएँ ही सबसे अधिक नुक्ताचीनी करती हैं। वे यह भूल जाती हैं कि यदि उनकी लड़की असुन्दर रही होती, यदि वे दहेज की लम्बी रकम देने में असमर्थ होते तो उन पर क्या बीतती ? दहेज कम मिलने पर, बहू के असुन्दर आने पर तानाकशी सास ननदें ही अधिक करती हैं। उस समय उन्हें अपनी बेटी की स्थिति ध्यान में नहीं रहती। घरेलू लड़ाई-झगड़ा में भी सास-बहू के बीच ही खटकती रहती है। इसमें दोष सास का अधिक और बहू का कम होता है। सास द्वारा यदि बेटी जैसा दुलार देकर गलतियों को प्यार से समझाने और हल्के-फुल्के सुधारने, सिखाते रहने की नीति अपनाई जाये, तो वधू अल्हड़ होने पर भी कुछ दिनों में सुधर जाती है, पर यदि बात का बर्तगड़ बनाया जाय, अपमानित और लांछित किया जाये, तो बात बढ़ने और स्थिति खटकने जैसी हो जाती है।

इन सबके पीछे उस मूल मान्यता का ही हाथ है, जो महत्त्वपूर्ण प्रसंग की तरह अन्तराल में घर कर गई होती है और जिसके अन्तर्गत लड़की को कनिष्ठ और लड़के को वरिष्ठ, एक को अयोग्य एवं दूसरे को सुयोग्य मानने का पूर्वाग्रह निहित होता है। यदि इस भेदभाव से ऊपर उठकर दोनों को समान रूप से स्नेह और सहयोग लड़के जितना दिया जा सके, तो कोई कारण नहीं कि वे अपनी प्रतिभा और क्षमता का परिचय न दे सकें।

उठती उम्र में सतर्कता बरती जाय

सज्जन और दुर्जन बनने की नींव उठती उम्र में पड़ती है। बड़े होने पर तो मनुष्य आदतों का गुलाम हो जात है, स्वभाव का अभ्यासी। फिर उसका बदलना, सुधरना अगम्य नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।

यों मनुष्य स्वयं चाहे तो अपनी संकल्प-शक्ति के सहारे अपने को कभी भी सुधार की दशा में अग्रसर कर सकता है, अनगढ़ स्थिति से उबरकर सज्जन, सभ्य एवं सुसंस्कृत बन सकता है, पर इसके लिए निजी मान्यता, भावना के परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे लोग सिखा-समझाकर बदलना चाहें तो बड़ी आयु के व्यक्ति पर उसका प्रभाव कम पड़ता ही देखा गया है। गीली

३. ९१ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

लकड़ी को आसानी से मोड़ा जा सकता है, पर उसके पक जाने पर परिवर्तन का प्रयत्न किया जाय तो उसमें कठिनाई से ही थोड़ी-बहुत सफलता मिलेगी। उपयुक्त समय उठती उम्र ही है। माली अपनी पौधों की काट-छाँट आरम्भिक दिनों में ही करता है। बड़े वृक्ष बन जाने पर उनके स्वरूप में सुधार थोड़ा-बहुत ही हो पाता है। किसी पेड़ से कलम काटकर किसी में लगाई जाय तो वह कार्य तभी तक ठीक तरह पूरा हो पाता है, जब तक कि वे पौधे नये हैं। बड़े वृक्षों में कलम कहाँ लगती है ?

रहन-सहन, दिनचर्या, परम्परा, व्यवहार, भाषा, पहचान आदि के लिए दस वर्ष की आयु में ही सुधार-परिवर्तन होते हैं। इसमें घर के वातावरण का ही प्रधान प्रभाव रहता है। अभिभावकों की सतर्कता उन्हीं दिनों पूरी तरह काम करती है। इसके बाद बच्चा स्कूल जाने लगता है। अध्यापकों के प्रभाव से प्रभावित होता है। साथियों की भली-बुरी आदतों को भी वह अपनाने लगता है। इसे सामाजिक जीवन का आरम्भ कह सकते हैं। समाज में भले लोग कम और बुरे अधिक हैं। बच्चों में भी वैसी ही आदतें पारिवारिक वातावरण में तथा पारस्परिक मेल-जोल से प्राप्त होती देखी गई हैं। यही समय है जब उन्हें बुराइयों से बचाया और अच्छाइयों के प्रति आस्थावान-अभ्यस्त बनाया जा सकता है।

आमतौर से सभी को अपने बच्चे प्यारे लगते हैं। जो प्रिय होता है, उसमें गुण ही दिखाई देते हैं। दोष या तो दीखते नहीं या फिर दर-गुजर होते रहते हैं। इस उपेक्षा का प्रतिफल यह होता है कि दोषों का आक्रमण जो होने लगा था उसकी न तो जानकारी मिल पाती है, न समीक्षा होती है और सुधार की चेष्टा तो ऐसी स्थिति में चल ही नहीं पाती। रोग इसी प्रकार पलते और पनपते हैं। आरम्भ उनका बहुत छोटे रूप में होता है, पर उपचार न होने पर वे जड़ें जमाते रहते हैं और प्रकट तब होते हैं, जब उनका विकराल रूप सामने आता है। यही बात दुर्गुणों के सम्बन्ध में भी है। वे साधारण होने पर हँसी-खेल जैसे लगते हैं, पर उनकी जड़ें जब आदतों के रूप में पकने-पनपने लगती हैं, तब स्थिति ऐसी बन जाती है कि उपचार-सुधार अतिशय कठिन बन गया होता है।

बड़ी आयु में जो दुष्ट, दुरात्मा, कुकर्मी, असभ्य अपराधी के रूप में सामने आता है, वे दुर्गुण उनमें यकायक प्रकट नहीं होते, वरन् बहुत पहले से ही धीरे-धीरे उनकी जड़ें स्वभाव का अंग बनने लगती हैं। तब वे छोटी होने के कारण समझ भी नहीं पड़ती और भयंकर भी नहीं लगती, पर समय के साथ-साथ उनका जब विकास-विस्तार और परिपाक होने लगता है तो स्थिति ऐसी बन जाती है कि सुधार परिवर्तन में असाधारण कठिनाई का सामना करना पड़े। जैसे-जैसे समझदारी बढ़ती चले, वैसे-वैसे ही बच्चों के प्रति

अभिभावकों को, अध्यापकों को, परिवार वालों को अधिक सतर्कता बरतनी चाहिए और जहाँ कहीं अवांछनीयता पनपती दिखाई पड़े उसकी रोकथाम के लिए सचेष्ट होना चाहिए।

बालकों में समझ कम होती है। वे भलाई-बुराई का अन्तर ठीक तरह कर नहीं पाते। अनुकरण में उत्साह अधिक होता है। जिन्हें भी अपने से वरिष्ठ देखते हैं, उनकी चाल-ढाल को अपनाने लगते हैं। यह उनकी सहज प्रवृत्ति होती है। गुण-दोष का विश्लेषण करना उन्हें नहीं आता। परिणामों का अनुमान भी वे नहीं लगा पाते। ऐसी दशा में किसी दोष पर उनकी प्रताड़ना करने से भी कुछ काम नहीं बनता। वे प्रताड़ना का कारण, उद्देश्य समझ नहीं पाते, मात्र अपने तिरस्कार को, कष्ट मिलने की बात को ध्यान में रखते हैं और धीरे-धीरे प्रताड़ना देने वालों के प्रति दुर्भाव बनाने लगते हैं। बच्चों और अभिभावकों के बीच प्रेम सम्बन्ध ही वह शृंखला है जिसके आधार पर उनका मनोबल बढ़ता है और उत्साह स्थिर रहता है। प्रताड़ना उस मर्मस्थान पर चोट पहुँचाती है, फलतः वे अपने को एकत्र की उपेक्षित अनुभव करने लगते हैं। इस मनःस्थिति में उसमें कई प्रकार की अन्य कुण्ठाएँ पनपने लगती हैं, जो विकृत दुर्गुणों से कम भयंकर नहीं होती हैं। ऐसी दशा में सुधार प्रयत्न करने वालों की दुहरी जिम्मेदारी बढ़ जाती है।

बच्चों का मन ही सब कुछ होता है, उनकी बुद्धि सीमित होती है। न वे व्यवस्था बना पाते हैं और न विकृतियों को सुधारने में ही अपने बलबूते समर्थ हो पाते हैं। इसके लिए उन्हें दूसरों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। छोटे बच्चे तो मल-मूत्र तक की सफाई नहीं कर पाते। थोड़े बड़े होने तक उनके कपड़ों को धोना, पुस्तकों, जूतों को, बालों को सँभालना भी प्रायः बड़ों के जिम्मे ही होता है। सफाई एवं व्यवस्था की अन्य जिम्मेदारियों को भी प्रायः घर वाले ही सँभालते हैं। इसी प्रकार एक और दायित्व भी घर वालों को ही उठाना चाहिए कि वे बच्चों में पाई जाने वाली बुरी आदतों को सुधारें। अच्छी आदतें सिखाने के लिए सचेष्ट रहें। दोनों के बीच रहने वाले अन्तर की परिणति, प्रतिक्रिया समझावें। यह कार्य भी अक्षर ज्ञान सिखाने और शिष्टता के आरम्भिक चरण में प्रवेश कराने की तरह ही आवश्यक है। इस प्रकार की सतर्कता न बरती जाने पर वैसा उपक्रम न चलने पर प्रायः बालक उजड़ु, अनगढ़ रह जाते हैं और यही असभ्यता धीरे-धीरे पलती रहने पर बड़े होने पर ऐसी बन जाती है कि उसे सुधारना कठिन हो जाता है। उनका स्वभाव बेतुका बन जाता है। शालीनता से दूर हटते जाते हैं और सम्पर्क रखने वालों के लिए सिर-दर्द बनते जाते हैं। तिरस्कार सहते और असहयोग के भाजन बनते हैं।

यह सब होता इसलिए है कि संरक्षकों ने दुलार तो दिया, पर उनके सुधार की आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया। अभिभावक यदि बच्चों की सफाई पर ध्यान न दें, उन्हें सुन्दर, सुसंस्कृत बनाने के लिए प्रयत्नशील न रहें तो हर बालक गन्दा दिखाई देगा। यही बात स्वभाव के सम्बन्ध में भी है। यदि उसे आरम्भ से ही सँभाला नहीं गया है तो वह बड़ा होने पर बुराइयों का गड्ढा बन जायेगा। अपने भविष्य को अन्धकारमय बना लेगा। दूसरों का स्नेह, सम्मान, सहयोग प्राप्त न कर सकेगा। यही अनगढ़ स्थिति आगे चलकर दुर्व्यसनों, अनाचरणों की ओर मुड़ सकती है और किसी समय में भोला-भाला बालक दुष्प्रवृत्तियों से ग्रस्त हो सकता है। अपराधों की दिशा में अग्रसर हो सकता है। असभ्य, असामाजिक, अनैतिक बन सकता है।

जन्म दे देना कर्तव्य की इतिश्री नहीं है, वरन् अनेकानेक उत्तरदायित्वों को सँभालने का शुभारम्भ है। इसके लिए अभिभावकों को पहले से ही तैयारी करनी चाहिए। बच्चे को सदगुणी-सुसंस्कृत बनाने के लिए क्या-क्या करना पड़ेगा ? इसकी रूपरेखा पहले से ही बनानी चाहिए अन्यथा उन्हें अन्न-वस्त्र देने, ठाली समय में खेल-खिलवाड़ करते रहने के अतिरिक्त और कुछ न तो सूझ पड़ेगा और न कुछ करते-धरते। यह मुसीबत तब और भी अधिक बढ़ जाती है। जब बच्चों की संख्या बढ़ जाती है और वे जल्दी-जल्दी पैदा होने लगते हैं। उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी करते रहने में ही सारा ध्यान और समय लगा रहता है। पनपने वाली बुराइयों की ओर ध्यान ही नहीं होता फिर उनके सुधार का उपाय भी समझ में नहीं आता। गाली-गलौज करने, कोसेने, मारने-पीटने से बच्चे सहम या डर तो जाते हैं, पर यह समझ नहीं पाते कि उनसे क्या भूल हुई और उसे सुधारने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए ? मारपीट से बच्चे डीठ और बागी हो जाते हैं, जो मर्जी होती है उसे इस प्रकार छुपकर करते हैं कि घरवालों को उन हरकतों का पता न चलने पाये। यह एक और नई मुसीबत की बात है। जब तक वे सीधे-सरल रहते हैं, तब तक उनकी गलतियाँ आसानी से देखी-समझी जा सकती हैं, पर जब वे छिपकर अनौचित्य बरतने की ओर बढ़ते हैं, तो उनमें चोरी की, धूर्तता की नयी कुटेबें आरम्भ होती हैं। ऐसी दशा में सुधार और भी अधिक कठिन देखा गया है। इन्हीं परिस्थितियों में बच्चे अक्सर घर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं और दुष्टों के चंगुल में फँसकर जो नहीं सीखा था, वह भी सीख लेते हैं। प्रायः ऐसी ही आवारागर्दी में पले और बड़े हुए लड़के बड़े होकर अपराधी प्रकृति के बन जाते हैं।

अपराधों की दो धाराएँ हैं—एक चोरी-ठगी और दूसरी आवारागर्दी, गुण्डागर्दी। साहस के अभाव में चोरी-ठगी ही बन पड़ती है, पर जो उद्दण्ड प्रकृति के

होते हैं, वे सीनाजोरी करने लगते हैं। लूट, आक्रमण, अपहरण, आतंक, हत्या, षडयन्त्र, गिरोहबन्दी के कुचक्र रच लेते हैं। आदत जब परिपक्व हो गई तो उन्हें समझाने-बुझाने से भी नहीं बदला जा सकता है। धर्मोपदेश बेकार होते हैं। नीति, सदाचार, सज्जनता का सिखावन और महत्त्व उनके गले ही नहीं उतरता। इसे वे कायरता का चिह्न मान बैठते हैं। समझ लेते हैं कि यह आक्रमण के लिए उपयुक्त शिकार है। जंगलों के हिंसक जन्तु प्रायः दुबले और भोले प्राणियों पर ही आक्रमण करते हैं। सज्जनता की दुहाई देने वालों को उद्दण्ड व्यक्ति प्रायः इसी दृष्टि से देखते हैं। विनय करने को वे गिड़गिड़ाना मानते हैं और उन्हें लम्बे समय तक शिकार करते रहने की सुरक्षित पूँजी समझ लेते हैं, जिन्हें कभी भी धमकैया और कभी भी दुहा जा सकता है। इस प्रकार गुणों के सम्मुख सज्जन अधिक घाटे में रहते हैं। उनकी तुलना में वे कम हानि उठाते हैं, जो गुराँते और सीना तानकर चलते हैं। झुकने का अर्थ आतंकवादियों की दृष्टि से सवारी करने के लिए पीठ झुकाना माना जाता है।

इन परिस्थितियों में प्रतिकार के उपाय ही करगर होते हैं। यह दूसरी बात है कि उसके लिए किस प्रकार की रणनीति किन परिस्थितियों में किस, प्रकार अपनाई जाय ?

यह संघर्ष का प्रसंग हुआ। अच्छा यह है कि समय से पूर्व चेता जाय। दुष्टता की विषवेल उगने, पनपने और फैलने से पहले ही उसके उन्मूलन का प्रयत्न किया जाय। इसके लिए सर्वसुलभ उपाय यह है कि किशोरावस्था में प्रवेश करते ही हर अभिभावक अपने बालकों की समीक्षा करना सीखें। इस तथ्य का ध्यान रखें कि उनमें दुष्प्रवृत्तियाँ तो नहीं पनप रही हैं। यदि ऐसा कुछ चल रहा है तो गम्भीरतापूर्वक समझाने, कड़ी नजर रखने, अनौचित्य को रोकने से काम चल जाता है। उगते अंकुरों को उखाड़ देना सरल है, पर जब पेड़ की जड़ें गहरी धँस जाती हैं और तना मजबूत हो जाता है, तो फिर उसे उखाड़ना सरल नहीं रहता।

इस रोकथाम का अच्छा तरीका यह है कि कुसंग में पड़ने का अवसर ही न आने दिया जाय। इसका उपयुक्त उपाय यह है कि उनके लिए अच्छी संगति में रहने, अच्छे वातावरण में समय गुजारने की व्यवस्था बनाई जाय। उस प्रकार का अवसर उपलब्ध कराया जाय। किशोरों के सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योंकि यही आयु ऐसी होती है, जिसमें व्यक्तित्व तेजी से विनिर्मित होता है। इन्हीं दिनों उसके पकने की फसल होती है। यदि यह आयु सँभल सकी तो समझना चाहिए कि अवांछनीयता अपनाने और भविष्य को अन्धकारमय बनाने की आशंका टल गई।

किशोरावस्था भटकाव में न पड़े

दूध में जब उपन्न आता है तब उस समय उसकी पूरी देखभाल करने की आवश्यकता होती है अन्यथा बर्तन का दूध चूल्हे में गिरकर आग बुझा सकता है, स्वयं बर्बाद हो सकता है। चासनी बनने के समय भी ऐसी ही सतर्कता अपेक्षित है अन्यथा वह कच्ची रहने पर या जल जाने पर उस पकवान का मजा ही बिगाड़ देती है, जिसके लिए पकाया गया है। खेत की बुवाई में अवधि निकल जाये तो मौसम बदल जाता है और आगे-पीछे बोलने पर पैदावार कम होती है। बगीचे में फल जिन दिनों पकते हैं, उन दिनों उनकी पक्षियों से रखवाली पूरी सावधानी के साथ अपेक्षित होती है अन्यथा एक भी फल साबुत नहीं बच सकता। लगाने वाले को खाली हाथ रहना और हाथ मलते रह जाना पड़ता है।

ठीक यही उक्ति किशोरावस्था के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उठती हुई आयु, बढ़ता आवेश नये रक्त का अनुदान है। इन दिनों व्यक्ति भावुक भी रहता है और उत्तेजित भी। बढ़ोत्तरी के दिनों में साहस भी बढ़ना स्वाभाविक है और महत्वाकांक्षा का दौर भी। यह सब उपलब्धियाँ उत्साहवर्द्धक हैं। बढ़ोत्तरी के दिनों में ऐसा होना उचित भी है। स्थिरता और समझदारी परिपक्वता आने पर ही उभरती है। किशोरावस्था में भी जोश अधिक, होश कम होता है। इसलिए इन दिनों इस आयु के बालकों का विशेष रूप से संरक्षण, मार्गदर्शन एवं नियन्त्रण आवश्यक होता है। यदि स्वेच्छाचारिता बरती जाने लगे तो उसमें किशोरकाल की अनुभवहीनता के कारण सर्वनाश होता है। उनके स्वजन-सम्बन्धी भी मुसीबत में फँसते हैं।

छोटे बच्चे जब घुटनों के बल चलते और पेट के बल रेंगने लगते हैं, तब उनमें एक नई आदत उभरती है कि जो कुछ चमकदार आकर्षक वस्तु दीखे उसे पकड़ने का प्रयत्न करें। साथ ही जो छोटी चीज पड़ी दीखे उसे खाने की वस्तु समझकर मुँह में डालने का प्रयत्न करें। देखा गया है कि वे पकड़ने खींचने के कौतुक में कई बार बहुमूल्य वस्तुओं को भी गिरा देते हैं। खाने की ललक में चीटे, कीड़े, तिनके, कील, कैंटे आदि भी मुँह में रख लेते हैं, यदि उस आयु में बच्चों पर कड़ाई के साथ निगरानी न रखी जाये तो कुछ भी अनर्थ कर सकते हैं। सीढ़ियों से उतरने का प्रयास करते हुए लुढ़ककर नीचे गिर सकते हैं। ऐसी दुर्घटना होने पर दोष बच्चों को नहीं दिया जाता, वरन् संरक्षक को ही बुरा-मला कहा जाता है कि उन्होंने क्यों कड़ी निगरानी नहीं रखी ? अनुचित कदम उठाते समय उन्हें रोका क्यों नहीं ?

किशोरावस्था भी ऐसी ही असमंजसभरी वय है। भूतकाल का कोई अनुभव इतिहास होता नहीं। भविष्य में होने वाले परिणाम का सही निष्कर्ष निकाल सकने योग्य

उनकी समझदारी होती नहीं। वर्तमान का उत्साह देखते ही बन पड़ता है। उत्साह में सक्रियता तो होती है साथ ही उसमें आत्मगौरव का भी आभास होता है। जोखिम ओढ़ने का कुछ कर दिखाने और स्वेच्छाचार बरतने का मन होता है। नियन्त्रण उन्हें अत्याचार जैसा प्रतीत होता है। इसमें उन्हें अपनी हेटी लगती है। अनुशासन को वे ऐसा समझते हैं जैसे किन्हीं अवांछनीय बन्धनों से कसा जा रहा है। यही वह मनःस्थिति है जिसमें दूरदर्शी परामर्श देने वाले स्वजन-सम्बन्धी भी रोकथाम करने पर शत्रुवत प्रतीत होने लगते हैं। उनकी अवज्ञा, उपेक्षा करते भी उन्हें डर नहीं लगता। ऐसी विचित्र मनःस्थिति हो जाती है किशोरावस्था की खुमारी का दौर चढ़ने पर।

तेरह-चौदह से लेकर बीस वर्ष तक की आयु प्रायः ऐसे ही उतार-चढ़ावों की बीच बीतती है। इसका उचित उपयोग अध्ययन में संलग्न रहकर जीवन को उज्ज्वल बनाने वाले सपने देखते हुए किया जाना उचित है। स्कूल में खेलकूदों का, स्काउटिंग का, सांस्कृतिक कार्यक्रमों का भी प्रावधान रहता है। उनमें उन्हें मनोरंजन और प्रोत्साहन भी मिल जाता है और अवांछनीयता की दिशा में भटकने का अवसर कम रह जाता है। जहाँ छात्र कल के उत्तरदायित्वों को ठीक से समझ जाता है, वहाँ शारीरिक सुदृढ़ता, मानसिक प्रबुद्धता और गुण, स्वभाव की शालीनता का अर्जन ठीक रीते से चलाता रहता है। इस स्तर के अनुशासन में अध्यापकों, अभिभावकों के सतर्क मनोयोग की आवश्यकता है। उन्हें न केवल स्कूल भेजने या निर्धारित पाठ्यक्रम का स्वरूप समझाना होता है, तथा यह भी देखना होता है कि किशोर की निजी चेष्टाएँ, किस दिशा में अग्रसर हो रही हैं, उनमें जितना औचित्य जुड़ा हुआ हो उसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, किन्तु ध्यान में यह भी रखना चाहिए कि कोई अवांछनीयता तो उनके चिन्तन और चरित्र में प्रवेश नहीं कर रही। कारण कि इन दिनों समझदारी की अपेक्षा नासमझी का दौर अधिक बढ़ा-चढ़ा होता है। उत्साह का आवेश के रूप में परिणत हो जाने का खतरा अधिक रहता है।

किशोरों का घर के वातावरण में लगाव घटता जाता है। दस-बारह वर्ष तक उन्हें प्रायः उसी चहारदीवारी और छोटे समुदाय के बीच रहना पड़ता है। इससे ऊब और नीरसता लगने लगती है। स्कूल जाने के साथ-साथ घर से बाहर निकलने और नये-नये दृश्य देखने का अवसर मिलता है। पढ़ाई के साथ-साथ कक्षा के छात्रों से परिचय बढ़ता है और भावुकता के माहौल में जल्दी ही मित्रता के रूप में बदल जाता है, कई मित्र बन जाते हैं और न केवल स्कूल में, वरन् उसके बाहर भी खेलने सैर करने का मन चलता है। इस आधार पर घर और स्कूल के बीच का कुछ समय दोस्तों के साथ बीतने लगता है। इस समय में मौजमस्ती ही नहीं कभी-कभी तो आवागमनी भी जुड़ जाती है। वह साधारण, स्वाभाविक

एकाकीपन में किशोर दोष-दुर्गुण सीखते हैं

निर्दोष हो तो कोई हर्ज भी नहीं पर देखा यह जाता है कि इसी बीच कुसंग पनपता है और लड़कों से मैत्री अनेक प्रकार की बुराइयों का बीजारोपण भी कर देती है।

इन दिनों का वातावरण विचित्र है। उन पर बड़ों से लेकर छोटों तक के कुप्रभावों से प्रभावित करने वाली हवा का प्रभाव बहुत जल्दी ही नहीं, असाधारण रूप से पड़ता है। प्रचलन में नीतिमत्ता कम और अनीति का बाहुल्य देखा जाता है। दुष्प्रवृत्तियों का प्रचलन ऐसा है कि अनुचित और उचित का भेद ही एक प्रकार से मिटता जाता है। ऐसे वातावरण में रहकर नई आयु के बच्चों का उस प्रचलन को ही परम्परा समझकर अपना लेना कोई आश्चर्य नहीं माना जा सकता है। बुराइयाँ छूत की तरह बढ़ती हैं। विशेषतया उठती उम्र के बालकों को वे प्रबल वेग से अपनी चपेट में लेती हैं। इस माहौल में किशोरों में वे दुष्प्रवृत्तियाँ अधिक तेजी से उभरकर आती हैं, जो उन्होंने अपने परिवार में तथा साथियों में घटित होती देखी हैं।

मित्रता अच्छा गुण है। अवांछनीय वातावरण में बच्चे भी उससे अछूते नहीं रहते, मित्रता के माध्यम तब और भी अधिक विषम हो जाते हैं, जब कुछ बिगड़ल लड़के अपनी छूत किन्हीं के मित्र बनकर उनके सघन, घनिष्ठ बनते और सर्पदंश की तरह उनमें अपना विष प्रवेश कर देते हैं। लड़कों में आवारागर्दी की छूत इसी माध्यम से प्रायः लगती है। पता चलता नहीं। घर वाले झूझारवश विश्वास करते रहते हैं और भीतर ही भीतर सर्वनाश का संरंजाम जुटता रहता है। पता तब चलता है जब किशोर अनेक कुटेवों का शिकार होकर अपना सर्वनाश कर चुके होते हैं।

इन दिनों अति आवश्यक यह है कि अभिभावकों और अध्यापकों के बीच तालमेल रहे और दोनों ही अपनी कड़ी दृष्टि से यह देखभाल करते रहें कि कहीं अनौचित्य तो नहीं पनप रहा है। स्थिति पर समय रहते काबू पा लिया जाये तो उसी में सब प्रकार की भलाई है।

अच्छे स्वभाव वालों की मित्रता एक-दूसरे को प्रोत्साहन देती और मनोबल तथा अनुभव बढ़ाती है। जहाँ ऐसे अवसर हों वहाँ रोकथाम करने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो प्रोत्साहन ही मिलना चाहिए, पर अधिक अच्छा यही है कि अभिभावक अपने परिवार के किशोरों में सत्प्रवृत्तियाँ उभारने के लिए स्वयं प्रयत्नशील रहें। परिवार का वातावरण ऐसा बनाएँ, जिससे बालकों पर अच्छी छाप पड़े। कन्याएँ तो प्रायः कुसंग में नहीं पड़तीं, पर किशोरों पर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि लड़कियों के साथ उनकी घनिष्टता न बढ़ने लगे। इसी में सबकी भलाई है।

किशोरों की सभी मानसिक विकृतियों का उद्भव केन्द्र कुसंग होता है। अतः उनकी संगति का ध्यान रखा जाना अत्यावश्यक है।

किशोरों के सन्दर्भ में दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए एक तो यह कि किशोर के अन्दर नई शक्ति की अभिवृद्धि हुआ करती है। वह नूतन शक्ति-स्फूर्ति हर समय उनके अंग-प्रत्यंगों में हिलोरती रहती है। वे हर समय कुछ न कुछ करते रहना चाहते हैं। खाली बैठ सकना उनके लिए सबसे कठिन होता है।

दूसरे यह कि इस आयु में उनका कार्यक्षेत्र घर से अधिक बाहर हो जाता है। वह समानवय के अधिकाधिक लोगों से मैत्री एवं प्रेम के सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। विपरीत लिंगी समवयस्कों के प्रति भी उसमें तीव्र आकर्षण पैदा होता है। सौन्दर्य, श्रेष्ठता, अग्रगमिता के प्रति वह तेजी से खिंचाव महसूस करता है। इन क्षेत्रों में उसे जो लोग बड़े-चढ़े दीखते हैं, उनसे वह व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना चाहता है।

यदि समाज का वातावरण उत्कृष्ट की प्रधानता वाला हो और समाज में सचमुच श्रेष्ठ लोगों की ही प्रतिष्ठा हो तब तो किशोरों के लिए अधिक चिन्ता की आवश्यकता अभिभावकों को न पड़े। वे स्वयं श्रेष्ठता की प्रतिस्पर्धा में जुट जायें, किन्तु अभी तो स्थिति सर्वथा भिन्न है। अपराधियों, गुण्डों, चरित्रहीनों की भी धन, पद, आतंक आदि के बल पर प्रतिष्ठा है। उनके लड़कों के प्रति सर्वत्र पक्षपात दिखाई पड़ता है। महँगे कपड़े निष्क्रियता एवं प्रसाधन-सामग्री की अधिकता से पला-पुसा शरीर, विलासी रहन-सहन, अनुचित सुविधाएँ पाने वाली स्थितियाँ, इन सबके प्रति अभिभावकों, अध्यापकों, युवकों, समवयस्कों में खिंचाव तथा प्रशंसा का भाव हर पग पर देखता है। अतः उसको यही सब मनुष्य ही वास्तविक विभूतियाँ प्रतीत होने लगती हैं। वह वैसे ही जीवनक्रम को अपनाने में शौर्य और शान समझ बैठता है। सत्संग का वातावरण तो कहीं है नहीं। अकेला और खाली वह रह नहीं सकता।

ऐसी स्थिति में अभिभावकों का कर्तव्य हो जाता है कि वे किशोर के प्रति तनिक भी उपेक्षा न बरतें। उनकी व्यस्तता एवं विकास दोनों का ध्यान रखें।

व्यस्तता के लिए उन्हें खेलकूद, व्यायाम और अन्य सामूहिक गतिविधियों में अधिकाधिक भाग लेने की प्रेरणा दी जाये। सामूहिक खेलों एवं अन्य सामूहिक कार्यक्रमों में अच्छाइयाँ ही होती हैं। उनसे सदा कुछ न कुछ सत्प्रेरणा एवं सत्प्रशिक्षण ही प्राप्त होता है।

दोष-दुर्गुणों को कोई भी खुलकर नहीं सिखाता। अपराधी-दुष्कर्मी भी सबके सामने अच्छी बातें ही करते हैं। गलत प्रवृत्तियाँ अकेले में सीखी-सिखायी जाती हैं। जब दो-चार गलत प्रवृत्तियों वाले किशोर और युवक एकत्र होते हैं और वह भी अकेली, सुनसान जगह में तभी गन्दी बातों की चर्चाएँ होती हैं और व्यवहार भी सिखाया जाता है।

अतः एक ओर जहाँ कुसंग के डर से किशोरों का घर से बाहर निकलना ही न बन्द कर दिया जाये, वहीं उन्हें इस तरह की एकाकी संगति का भी मौका न दिया जाय। प्रयास यह रहे कि सामूहिक गतिविधियों में तो वह खुलकर भाग लें, किन्तु व्यक्तिगत घनिष्टता वह लोगों से अधिक न बढ़ा सकें। इस हेतु घर का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि उसका एकाकीपन वहाँ दूर हो। घर में उसकी रुचि एवं योग्यता के ऐसे काम दिये जाएँ, जिनसे उसकी शक्ति का उपयोग हो, उसमें सत्संस्कार पड़ें, उसके मनोवेगों को सही दिशा मिले और उसका मनोरंजन भी हो। घर में ही कई तरह के सुगम खेलों की व्यवस्था हो। घर के लोग मिलकर खेलें—'इनडोर' और 'आउटडोर' दोनों तरह के खेलों की घर में ही व्यवस्था अधिक कठिन नहीं। जहाँ कबड्डी, बालीबाल आदि के लिए मैदान घर के पास न हों, वहाँ बैडमिन्टन, टेबिल टेनिस, खो-खो जैसे कई खेल घर के ही एक बड़े कमरे में खेले जा सकते हैं। कैरम, शतरंज भी घर में मनोविनोद का साधन बन सकते हैं, किन्तु इस बात का भी ध्यान रहे कि घर के सदस्यों में इन खेलों का नशा न हो। जो पिता या भाई-बहिन शतरंज-कैरम खेलने में तल्लीन होकर खाना-पीना या आवश्यक काम निपटाना ही भुला बैठते हैं, वे किशोरों की इनमें वैसी अतिरेकी रुचि जगने से उन्हें रोक नहीं सकते, जिसके कारण अध्ययन एवं नियमित दिनचर्या पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

अनेक देशी खेल हैं जो घर में मिल-जुलकर आसानी से खेले जा सकते हैं। बागवानी, सिलाई-कढ़ाई, अन्य विविध गृह-शिल्प, नाटक-एकांकी, प्रहसन-अभिनय एवं अध्ययन-वाचन के अभ्यास की भी घर में व्यवस्था जुटाई जा सकती है—बिना अधिक खर्च के। जहाँ जैसी सुविधा-साधन हो, वहाँ वैसी व्यवस्था की जाये, किन्तु किशोरों को न तो खाली, बेकार रहने दिया जाय, न ही मनमाने तौर पर घूमने दिया जाय।

यदि लड़का किसी धनी या बड़े पद वाले व्यक्ति के बेटे से समीपता बढ़ाता है, तो माता-पिता को न तो प्रसन्न होना चाहिए, न ही निश्चिन्त। संगति में पिता का पद नहीं, उस पुत्र की प्रकृति देखनी चाहिए, जिससे अपने बेटे की घनिष्टता बढ़ रही है। धनवान या अफसर के बेटे-बेटियों की संगति अच्छी हो यह आवश्यक नहीं। उल्टे, ऐसे घरों के लाइली-लाइलों में प्रायः अनेक

दुर्गुणों की भरमार रहती है। अतः लड़के की प्रकृति देखी जाय, उसकी पैतृक सम्पन्नता नहीं।

सत्संग का ध्यान रखने के साथ ही किशोरों की अन्तरंग आवश्यकताओं का भी स्मरण रखना चाहिए। इस आयु में किशोर-किशोरियों के भीतर विशेष रासायनिक परिवर्तन होते हैं, मौन-भावना का विकास होता है। यौनांगों में भी परिवर्तन होता है। अतः उन्हें यौन-स्थानों की स्वच्छता की जानकारी दी जाय अन्यथा वहाँ गन्दगी से गरमी और उत्तेजना पैदा होती है।

यौनांगों की स्वच्छता की जानकारी देने के साथ ही उन्हें उनसे सम्बन्धित सामान्य जानकारी भी दे दी जाएँ। यदा-कदा मौन-उत्तेजना की स्वाभाविकता बताई जाये। इसके प्रकृतिगत कारण समझा दिये जायें। उन्हें बताया जाय कि शरीर के भीतर पैदा होने वाले नये हारमोन्स ही इस आवेग के आधार हैं। इनमें बहुत अधिक शक्ति होती है। इस शक्ति को बचाकर रखने से धृति, स्मृति, बल, विवेक की वृद्धि के लिए आवश्यक ऊर्जा संचित-संगृहीत होती है। उन्हें इस शक्ति का सदुपयोग करने वाले महापुरुषों के बारे में बताया जाय। किशोर-किशोरी में जो प्रवृत्ति प्रधान हो, उस प्रवृत्ति के विकसित स्वामी महापुरुषों के बारे में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से बताया जाय। इससे सम्बन्धित अच्छा साहित्य पढ़ने को दिया जाय। यौन-शक्ति के दुरुपयोग से होने वाली हानियाँ भी विस्तार से समझाई जायें। स्वास्थ्य-नाश, मन का बिखराव, बुद्धि की दुर्बलता, ओजहीनता से जीवन में उत्पन्न होने वाले हर प्रकार के अपावों और आपदाओं तथा हताशा-कुण्ठाओं का वर्णन किया जाये। किशोर-किशोरियों में यौन-वृत्तियों का उभार तो होना ही है, अतः उससे सम्बन्धित लाभ-हानि की जानकारी उन्हें देनी जरूरी है।

कन्याओं को तो इसके बारे में और अधिक जानकारी देनी चाहिए। लड़के-लड़कियों दोनों को समझाया जाय कि इस वयःस्थिति में अकेलेपन से बचना आवश्यक है। उन्हें बता दिया जाय कि अकेलेपन का आग्रह उनके प्रति किसी अविश्वास का द्योतक नहीं है, अपितु उनके हित चिन्तन और शरीर-मन के अनिवार्य आवेगों के सन्दर्भ में ही, यह परामर्श दिया जा रहा है, क्योंकि अकेले में यदि भीतर कसमसा रही शक्ति को किसी कारण से उत्तेजना मिल ही गई, तो उसे सँभालना कठिन हो जाता है। अतः एकाकीपन से सदा बचें। जब कभी उत्तेजना उत्पन्न हो, तो बाहर निकल पड़ें, भीड़ में या समूह में पहुँच जायें, टहलने लगें, ठण्डे जल से स्नान कर लें, कोई अच्छी पुस्तक पढ़ने लगें या किसी महापुरुष आदर्श पुरुष के बारे में विचार करने लगें, उनका ध्यान करें।

अकेले तो सगे रिश्तेदारों के साथ भी नहीं रहने देना चाहिए। प्रायः परिवार के विकृत-चित्र चाचा, ताऊ, बड़े लड़कों को यौन-दुर्गुण सिखाते हैं। नौकर-नौकरानियों

के साथ तो अकेले घूमने देना उन्हें सर्वनाश के गड्ढे में धकेलना है। कच्ची उम्र, भोलापन और अबाध स्फूर्ति उन्हीं गड्ढों की ओर उन्हें बहा ले जाती है, जिधर जाने की लालच भरी प्रेरणा दी जाती है।

लड़कियों को तो एकान्त में किसी के साथ कदापि न रहने दिया जाय, अन्यथा कभी भी खतरनाक और भयंकर दुर्घटना घट सकती है। ताऊ, चाचा, भतीजे, भाई आदि रिश्ते तक इस मामले में पूर्णतः अविश्वस्त माने जाने चाहिए। एकाकीपन तो बाप तक के साथ खतरनाक मानना चाहिए। जिनके परिवार में ही अकेलापन है, माँ नहीं है बाप भर हैं, तो कोई बात ही नहीं, किन्तु यदि छोटे भाई-बहिन हैं तो सबके साथ ही वह रहे, सोये, घुमे।

भाई-बहिन के नकली रिश्ते कभी भी लड़कियों को कायम करने हेतु उत्साहित न किया जाये। ऐसे रिश्ते हो भी जायें तो भी अकेले उन दोनों को कदापि न रहने घुमने दिया जाय। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब राखी बंधवाने के बाद भी ऐसे नकली भाइयों ने बहिनों के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित किये एवं दुराचरण किया। ऐसी घटनाओं और वस्तुस्थितियों की स्पष्ट जानकारी दी जाये तथा एकाकी संग को वर्जित करार दिया जाये।

प्रेम-पत्र के खतरे भी लड़कियों को ठीक से समझा दिये जायें। एक तो, स्वयं के शील की रक्षा के लिए सौजन्य एवं सौम्यता बनाये रखने पर निरन्तर बल दिया जाय। पर, साथ ही यह भी बताना आवश्यक है कि यदि कभी अध्ययन, पुस्तकों के आदान-प्रदान आदि सम्बन्धी भी कोई चर्चा करनी हो तो मुँह से ही की जाय। लिखकर एक शब्द भी किसी को कभी न दें, अन्यथा भ्रष्ट, लम्पट, गुण्डे विवाह के बाद आजीवन ब्लैकमेल करेंगे, रिश्वत माँगेंगे और जीवन को नरक बना डालेंगे। नवीन उत्साह में लड़कियाँ सामान्य पत्र-व्यवहार को मामूली समझ बैठती हैं और फिर जन्म भर पछताती हैं। इन सारी बातों की जानकारी देकर, आवश्यक सतर्कता एवं निगरानी बरतते हुए किशोरों के व्यक्तित्व के ठीक से विकसित होने में मदद करनी चाहिए।

किशोरावस्था को खतरों से बचायें

दस वर्ष की आयु तक के बच्चे प्रायः अपने घर-परिवार वालों से ही लिपटे रहते हैं। उसी परिधि में खेलते, कूदते, बोलते, व्यवहार करते हैं। अपनी इच्छा, आवश्यकता की वस्तुएँ माँगते हैं एवं प्राप्त करते हैं।

प्रायः पाँच वर्ष से स्कूली पढ़ाई आरम्भ हो जाती है। इसके साथ ही वे अपनी कक्षा के कुछ को मित्र, घनिष्ठ बना लेते हैं और उनके साथ भी मैत्रीपरक व्यवहार करने लगते हैं, जिन्हें पाँच वर्ष से कम आयु में बाल सेवा-सदनों में भर्ती होने का अवसर मिल जाता है, उन्हें

वहाँ भी ज्ञानवर्द्धक कार्यों में समय बिताने का मनोरंजक अवसर मिल जाता है। इस प्रकार दस वर्ष की आयु अभिभावकों, अध्यापकों के सहकार पर अवलम्बित रहती है। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः ऐसा ही देखने में आया है। इसके उपरान्त धीरे-धीरे उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास होने लगता है। निज की इच्छाएँ भी जगने लगती हैं और वातावरण के अनुरूप अनुकरण के आधार पर आदतें भी पकने लगती हैं। यही है वह अवसर जिसे पौषे का पल्लवित होना कह सकते हैं। इससे पहले की आयु एवं स्थिति का अंकुर उगने के समतुल्य समझा जा सकता है।

अंकुर के पल्लवित होने की आयु शैशव कहलाती है। जन्म से दो-तीन वर्ष तक के बच्चे तो अपने शरीर की आवश्यकताएँ पूरी कराने के फेर में ही रहते हैं उनकी इच्छा, आवश्यकता तो प्रकट होती है पर न तो स्वतन्त्र व्यक्तित्वों का विकास होता है और न उचित-अनुचित का बोध। वे अपना हित-अनहित भी नहीं समझते। इसलिए प्रायः ऐसी हरकतें करते रहते हैं, जो उनके लिए तो कुछ करने की उमंग में उत्पन्न हुई हलचलें ही कही जा सकती हैं, पर उनमें तोड़-फोड़ होने लगती है। इस प्रसंग में बच्चों को शारीरिक क्षति भी पहुँचती है। उनके काम आने वाली वस्तुएँ भी टूटती-फूटती हैं। घर वालों को भी इस तोड़-फोड़ में हानि उठानी पड़ती है। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए अभिभावक जहाँ उन्हें दुलार देते हैं, वहाँ इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि उनका सहज उत्साह विपत्ति का कारण न बने। सजाने, सँभालने, दुलारने के अतिरिक्त उनकी हर बात का भी ध्यान रखा जाता है।

आयु बढ़ने के साथ जीवनक्रम में नया मोड़ आता है। दस से बीस वर्ष तक की आयु ऐसी है, जिसमें नये रक्त का उफान अधिक रहने के कारण जोश बहुत रहता है, पर अनुभव के अभाव में अपनी शारीरिक, मानसिक शक्तियों का कब, क्या, किस प्रकार उपयोग किया जाय, इसका सुनियोजन नहीं होता। सम्पर्क में जो व्यक्ति आता है, वैसी घटनाएँ घटित होती दीखती हैं, जिस स्तर के वातावरण में रहना पड़ता है, उसका चमकीला पक्ष उन्हें आकर्षित कर लेता है। हवा के रुख में उड़ने वाले पत्तों की तरह वे भी उसी प्रवाह में बह चलते हैं। इस प्रकार वे अपना व्यक्तित्व एवं भविष्य स्वयं नहीं बनाते वरन् परिस्थितियाँ उन्हें इधर-उधर घसीट ले जाती हैं।

इन दिनों बहुसंख्यक लोग विकृत चरित्र-चिन्तन वाले होते हैं। उनकी आदतें, क्रियाएँ भी ऐसी होती हैं, जिन्हें शालीन, सज्जनोचित नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार जो घटनाएँ घटित होती रहती हैं, वे भी ऐसी नहीं होती कि अच्छा प्रभाव छोड़ें। विशेषतया नवोदित किशोरों का उपयोगी मार्गदर्शन करें। किशोरों में कई आवारागर्दी के अभ्यस्त होते हैं। वे शिक्षा में, स्वास्थ्य-सम्बर्द्धन में, गृह

३. १७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

कार्यों में हाथ बँटाने में अपना समय न लगाकर ऐसे कृत्यों में रुचि लेते हैं, जिनमें अनौचित्य का आकर्षक पक्ष उभरा रहता है। ऐसे कार्यों का मनोरंजन तब बनता है जब उनके जैसे साथियों की मण्डली न बने। उनका प्रयास यह भी रहता है कि भोले किन्तु उत्साही लड़कों से दोस्ती गाँठें, उन्हें साथी बनायें और घर से पैसे चुरा लाने की सलाह देने से लेकर अपने साथ दुर्व्यसनों में सम्मिलित करते हैं। इस कुसंग में अनेक नवोदित किशोरों को कुटेवों का शिकार बनना पड़ता है और उस कारण उनके व्यक्तित्व की बुरी तरह बर्बादी होती है।

अभिभावक उन पर पूरा ध्यान दे नहीं पाते। उन्हें इसके लिए समय का अभाव ही रहता है फिर यह भी सोचते हैं कि बच्चा समझदार हो गया तो अपना भला-बुरा भी सोचता होगा। दुलार के कारण अविश्वास भी करते नहीं बन पड़ता। चुपके-चुपके उन्हें कुसंग का घुन खोखला करता रहता है। पता तब चलता है, जब शिकायतों के ढेर सामने आ खड़े होते हैं। उनके स्वभाव में बोये हुए कुसंस्कार बढ़कर विष वृक्ष के रूप में फलित होते हैं।

किशोरों में उच्छ्वंखलता भी पाई जाती है। वे अपनी इच्छा, रुचि एवं आदत कार्य-पद्धति को ही सब कुछ मानते हैं। समझाने, रोकने पर अपमान समझते और प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर विग्रह खड़ा करते हैं। इसी कहने-सुनने में कई बार तो घर से भाग जाने, पढ़ाई छोड़ बैठने जैसे विनाशकारी कदम उठा लेते हैं। उनके लिए समूचे परिवार को कष्ट होता है। बदनामी का कारण बनना पड़ता है तथा आर्थिक दृष्टि से हानि उठानी पड़ती है। समय बीतने पर तो वे लड़के भी अपनी भूल के कारण बिगड़े भविष्य को समझते हैं। साथ ही साथ पछताते भी हैं। पर तब तक अवसर निकल चुका होता है। बुरी आदतें उन्हें इस तरह जकड़ चुकी होती हैं कि उनसे पीछा छुड़ा सकना भी सम्भव नहीं रहता।

सभी किशोर तो ऐसी कुचक्र में नहीं फँसते, पर सम्भावना हर किसी के शिकार हो जाने की रहती है। उनके दोस्त ही प्रकारान्तर से दुश्मन बन जाते हैं और भविष्य बिगाड़ने के निमित्त कारण बनते हैं।

अच्छा हो कि सभी अभिभावक, अध्यापक, संरक्षक इस सन्दर्भ में सतर्क रहें। उनकी निगरानी रखें और रोक-टोक करते रहने की अपेक्षा यह अच्छा है कि इस आयु में खाली रहने वाले समय और कुछ करने के उत्साह को उपयुक्त दिशा दी जाय। उन्हें ऐसे कामों में लगने का अवसर दिया जाय, जो सदगुणों को विकसित करते हों, सत्प्रवृत्तियाँ उभारते हों। इससे उनका उत्साह, श्रम एवं समय ऐसे कार्यों में लग सके जो सन्तोष एवं श्रेय प्रदान करें।

स्थानीय किशोर समुदाय के बालचर, स्कूट, सेवादल जैसे संगठन बनने चाहिए और उनमें आयु

विभाजन के हिसाब से वर्ग बनने चाहिए ताकि उनकी क्षमता के अनुरूप बहुत कुछ ऐसा सीखने को मिलता रहे, जो उनकी निजी प्रगति में सहायक हो और सेवा-भावना को भी विकसित करे। समाज सेवा के कार्यों में रुचि लेने लगने पर चिन्तन की दिशा मिलती है। चरित्र में सदगुणों की स्थापना होती है। इसके अतिरिक्त मनोरंजन के लिए भी काफी अवसर मिलता है। खेल-कूदों से स्वास्थ्य, सुदृढ़ होता है। 'कैम्प फायर' जैसे आयोजनों से व्यावहारिक ज्ञान तथा कौशल निखरता है।

ऐसे सेवादल संगठन कुछ समय पूर्व बड़े उत्साह से बने और कार्यरत हुए थे, पर अब इस सम्बन्ध में उपेक्षा बरती जाने लगी है। एक समय था जब स्काउटिंग स्कूलों में ऐच्छिक विषय होते हुए भी अध्यापकों एवं अभिभावकों के समर्थन से अनिवार्य जैसा बन गया था। साथियों को उसमें सम्मिलित होते देखकर जिनके मन अनुत्सुक थे, उनमें भी चेतना आती, सक्रियता उभरती थी। जो स्काउटिंग में सम्मिलित नहीं होते थे, उनका उपहास, तिरस्कार होता था। इस दबाव से उत्साही, अनुत्साही सभी उन संगठनों में सम्मिलित होते थे।

उपयोगिता की दृष्टि से ये स्थापनाएँ अभी भी उतनी ही उपयोगी हैं। इससे किशोरावस्था को खतरों से बचाकर प्रगति पथ पर अग्रसर करने में भारी सहायता मिल सकती है।

किशोरों के विकास में अधिक

सतर्कता की आवश्यकता

मनुष्य की मानसिक विकास की दृष्टि से चार अवस्थाएँ होती हैं—(१) बाल्यावस्था, (२) मध्यावस्था, (३) किशोरावस्था, (४) प्रौढ़ावस्था।

बाल्यावस्था सामान्यतः पाँच वर्ष तक रहती है। इसके उपरान्त बारह वर्ष तक की आयु मध्यावस्था कहलाती है। १२ से १८ वर्ष तक की आयु किशोरावस्था और १८ से ऊपर प्रौढ़ावस्था प्रारम्भ होती है।

१२ से १८ वर्ष की किशोरावस्था ऐसी आयु है जिसमें न तो वह छोटा बच्चा माना जाता है न बड़ा प्रौढ़, समझदार ही। वास्तव में यह ऐसा संधिकाल है जबकि बालक के मानसिक, शारीरिक और वैचारिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर दिखाई देते हैं। मध्यावस्था तक जो बालक घर की परिधि तक सीमित रहा था, अब उसके ज्ञान और अनुभव में विकास होने से बाह्य क्षेत्र की रुचि जाग्रत होने लगती है। इसीलिए उसकी इच्छा घूमने-फिरने, नये वातावरण से परिचय करने, नवीन वस्तुएँ देखने, पहनने, खाने की होने लगती है।

किशोरवय में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से उभरते दिखाई देने लगते हैं। इन्हीं परिवर्तनों के कारण बालक-बालिकाओं के व्यवहार बदल जाते हैं। उनके

दाढ़ी-मूँछ और उरोजों में उभार दिखाई देने लगता है। कूल्हे फैलने लगते हैं। इसी वय में हार्मोन्स उत्पादक ग्रन्थियाँ विशेष सक्रिय दिखाई देती हैं। इसी कारण बालक-बालिकाओं के कद बढ़ते दिखाई देते हैं। आवाज में भारीपन आ जाता है। बालकपन समाप्त होने लगता है। ऐसे में अभिभावकों का दायित्व हो जाता है कि बालक के इन परिवर्तनों की ओर विशेष ध्यान दिया जाय और किशोर-किशोरियों को शरीर धर्म एवं उसके निर्वाह, स्वास्थ्य के नियम एवं साज-सज्जा, सफाई आदि के विषय में ठीक से समझाये। हल्के-फुल्के, व्यायाम, आसन जो शरीर की स्फूर्ति बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं, बच्चों को अवश्य बतलाए जाने चाहिए। यही वह अपरिपक्व, अनुभवों की अवस्था है, जब किशोर-किशोरियाँ भटक जाते हैं। उनकी कोमल भावनाएँ दिवा-स्वप्न देखने लगती हैं। अतः बड़े प्यार-दुलार से मार्गदर्शन दिये जाने की आवश्यकता है।

संवेगों की दृष्टि से किशोरों का मन अस्थिर, चंचल, चलायमान रहता है। उनको अनुकरण के लिए कोई न कोई चाहिए। कितनी बार किशोरों की रुचि स्वास्थ्य निर्माण की होती है तो दारासिंह, गामा, किंगकाँग के चित्र अपने कमरों में सजाकर उनके जैसे हाव-भाव बनाने लगते हैं और यदि कभी फिल्मों की ओर उनकी रुचि मुड़ती है तो सिनेमा के पात्रों की तरह वेश-भूषा, साज-सज्जा अपनाकर उसी भाव-भंगिमा में बातचीत करने लगते हैं। ऐसा इसलिए भी होता है कि वे इस समय भावनाओं और कल्पनाओं के संसार में खोये रहते हैं। सुनहरे सपने देखते-देखते दिशाहीन कोई भी बात पकड़कर किसी का भी अनुकरण करने लगते हैं। लाभ-हानि, वर्तमान, भविष्य का उन्हें ज्ञान नहीं रह जाता। ऐसी दशा में उनके माता-पिता, अभिभावकों का दायित्व और बढ़ जाता है कि वे उनकी गतिविधियों, संगी-साथियों की देखभाल बारीकी से करते रहें, अन्यथा कितनी बार सुनहरे सपने उन्हें इतना निराश कर देते हैं कि वे भविष्य को ही चौपट कर लेते हैं।

किशोरावस्था की शक्ति का सदुपयोग करने के लिए विदेशों में प्रयास किए गए हैं। उन्हें उनकी रुचि के अनुसार, संगीत, नृत्य, गायन, वादन, चित्रकारी आदि के कला-सौन्दर्य से सम्बन्धित कार्य कराये जाते हैं। उनके भ्रमण-पर्यटन के लिए मनोरम दृश्यावली वाले उद्यान, सरोवर, नदी, पहाड़ों की सैर—स्वास्थ्यवर्द्धक, मनोरंजक खेल आदि में व्यस्त रखा जाता है, जिससे किशोर इतना संलग्न रहे कि उसे अपना स्वयं का ध्यान ही न रहे, अन्यथा उसका मस्तिष्क कल्पनाओं में खोजने अथवा बे-पैर की बातें करने पर उतारू हो जाएगा। ऐसे समय में थोड़े-बहुत रचनात्मक सुझाव उसके गले उतर सकते हैं। पाबन्धियाँ और उपदेशों से उल्टे खीझ होती है अथवा

उनके विपरीत कार्य करके प्रयोग करने लग जाते हैं। यदि किशोरों का मनोविज्ञान जिन्हें नहीं आता उनके लिए सम्भव भी नहीं कि उन्हें दिशा दे सकें या उनके समय का सदुपयोग करा सकें, सेठ, व्यापारी, किसान यदि चाहें कि उनका बालक उनके काम में हाथ बँटा लेगा तो असम्भव दिखाई देता है।

इसके लिए किशोरों को डराने, धमकाने से भी उन्हें सही रास्ते पर ले आने में सफलता मिलेगी। यह भी कम सम्भव लगता है। वरन् उनसे घनिष्टता, आत्मीयता, सद्व्यवहार अपनाकर ही उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए उनसे स्कूल की घटनाएँ, अध्यापकों का व्यवहार, मित्रों की जानकारी, छुट्टियों की सूचना, भोजन व नाश्ते की रुचि एवं शिकायत या व्यवधान, रास्ते की परेशानी आदि पूछकर बालकों का भय, झिझक समाप्त कर देना चाहिए। फिर बालक धीरे-धीरे पिता से न सही अपनी माँ से खुलकर बातें करने लगता है और कोई बात छिपाता भी नहीं अन्यथा भय के कारण कितने ही बालक माता-पिता से बातें छिपाकर उल्टे-सीधे कार्य करते रहते हैं अथवा झगड़े मोल ले लेते हैं।

यही वय ऐसी है जब किशोर-किशोरियों में काम कोशिकाएँ विकसित होती हैं, उनमें यौवन के चिह्न प्रकट होते हैं। स्वभावतः भिन्न लिंग की ओर आकर्षित होने लगते हैं। इनके सभी गुण-दोषों पर खाते-पीते, सोते-जागते नेक-सलाह, उचित मार्ग-दर्शन, हानि-लाभ पर प्रकाश डालने का पूर्ण दायित्व अभिभावकों का है। किशोरों का भटक जाना स्वाभाविक है। इसके लिए उन्हें ही दोषी ठहराकर अपनी जिम्मेदारी की इतिश्री मान बैठने वाले समझदार अभिभावक नहीं कहे जाते। वरन् समझदार वे हैं जो अपनी तरह बालकों के विकास की प्रक्रिया को समझते हैं।

लड़कों को इस समय अपने कारोबार के काम-काज में हाथ-बँटाने की आदत डालनी चाहिए और बाजार से छोटी-मोटी वस्तु खरीदने का अभ्यास कराना चाहिए। लड़कियों को घर के काम-काज में, सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, सफाई, साज-सज्जा में माँ का सहयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। समझदार अभिभावक अपने किशोर-किशोरियों की ऐसी व्यस्त दिनचर्या बनाकर रखते हैं कि जिसमें रचनात्मक कार्यों से लेकर अध्ययन, व्यायाम और खेल-मनोरंजन आदि की व्यवस्था रहती है। वार्तालाप के लिए सिनेमा के सभी नियमों की जानकारी उन्हें घरेलू वातावरण से मिलती है, किन्तु सुझाव के तौर पर अथवा सत्साहित्य के माध्यम से भी उन्हें जानकारी दी जानी चाहिए।

३. ११ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

किशोरावस्था में प्रेम, क्रोध, साहस, ईर्ष्या आदि का संवेग प्रबल होता है। उसके परिणाम-दुष्परिणाम, क्रिया-प्रतिक्रिया को देखने-समझने की बुद्धि का अभाव किशोरों में होता है। आयु बढ़ने पर इनमें स्वयमेव नियन्त्रण होने लगता है। जो बच्चे बचपन में ऊधमी, जिद्दी, हठीले स्वभाव के दिखाई देते थे वे किशोरवय में आते-आते सौम्य एवं शान्त प्रकृति के बन जाते हैं। किशोरवय में झूठ बोलने, चोरी करने, बहाना बनाने, कामचोरी की प्रवृत्ति यदि पनप रही होती है और अभिभावकों ने इस पर नियन्त्रण नहीं किया तो यह कुसंस्कार स्थाई बन जाने की सम्भावना बनी रहती है। जो किशोरों और उनके परिवारों के लिए दुःखदायी साबित होती है। उन्हें प्रारम्भ से ही समझाना चाहिए कि अमुक गुण, कर्म, स्वभाव के कारण उन्हें परिवार, समाज में सम्मान, स्नेह मिलेगा और बुरी आदत और बुरे स्वभाव से तिरस्कार, अपमान मिलेगा तो वे कुसंग और बुराई से बचे रहेंगे।

बालकों की मनोवृत्ति से भिन्न प्रकार की मनोवृत्ति किशोरवय में हो जाती है। बचपन में वे किसी वस्तु को पाने के लिए रोते थे, ज़िद करते, मचलते थे, किन्तु किशोरवय में वस्तु न मिलने या इन्कार कर दिये जाने पर उदास होकर, मुँह लटकाकर खिन्न बने रहकर, खाना न खाकर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। कितनी बार हठी, किशोर-किशोरियाँ विद्रोह प्रकट करने के लिए अपनी ज़िद पर अटल बने रहकर घर में भाग खड़े होते हैं अथवा कोई कीमती वस्तु की तोड़-फोड़कर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है, स्वभाव में गम्भीरता विचारों में स्थिरता, समझदारी विकसित होती जाती है। उनकी प्रौढ़ावस्था की गम्भीरता, स्थिरता को देखकर अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि किशोरावस्था की चंचलता इस प्रकार की समझदारी में परिवर्तित हो सकती है।

सामाजिक, मानसिक विकास के लिए किशोरों को दूसरों के आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेष-भूषा आदि की जानकारी के साथ विभिन्न देशों के इतिहास, भूगोल, समाज-व्यवस्था सामान्य ज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें अध्ययन के लिए दी जानी चाहिए। अपना देश बहुत अधिक गरीब है अन्यथा विदेश-भ्रमण अन्य देशों की रीति-रिवाज, विकास-क्रम परम्पराएँ आदि समझने का मौका भी उन्हें दिया जाना चाहिए। इससे उनमें मिलने-जुलने एक-दूसरे को समझने, सहिष्णुता, उदारता, आत्मीयता का दृष्टिकोण विकसित होगा।

किशोर-किशोरियों की १८ वर्ष की आयु पार होते-होते उन्हें भावी गृहस्थ जीवन के योग्य कुछ आवश्यक बातों के संकेत समझदार अभिभावक बताना प्रारम्भ कर देते हैं। जिससे वे आगत भविष्य की ज़िम्मेदारी को वहन करने में सक्षम बन सकें, अन्यथा

दाम्पत्य कला के अभाव में जैसे-तैसे ले-देकर जीवन काटते हैं और अभिभावकों को उनसे, उनको अभिभावकों से बराबर शिकायत बनी रहती है, जबकि भविष्य के संकेत देने में अभिभावकों ने कोताही बरती थी। किशोरावस्था की सफलता अच्छे और सफल दाम्पत्य जीवन का संकेत है। सफल वैवाहिक जीवन के लिए घनिष्ट मित्रता, परस्पर सहानुभूति प्रेम और सहिष्णुता आवश्यक है। वैवाहिक जीवन उन्हीं का सफल रहता है, जो मानसिक और शारीरिक तौर पर सुखी हैं, जो अपने कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट और सजग हैं। गृह कार्य में चतुर और व्यवहारकुशल, गृहिणियों के दाम्पत्य जीवन सुखी रहते हैं। यह शुभारम्भ किशोर अवस्था में करते रहने पर अभ्यास ढलता है।

इस आयु में जोश अधिक रहता है और होश कम। अनुभव के अभाव में उठते हुए उत्साह का दिग्भ्रान्त होना स्वाभाविक है। इसलिए इन दिनों अभिभावकों के कन्धों पर अधिक ज़िम्मेदारी आती है कि वे उठती आयु के बालकों पर विशेष रूप से ध्यान रखें, उनकी गतिविधियों पर परोक्ष रूप से ध्यान रखें। अधिक या प्रत्यक्ष पूछताछ करने पर तो उसे अपने प्रति अविश्वास मानकर अपमान जैसा भी अनुभव कर सकते हैं और क्रुद्ध तथा खिन्न भी हो सकते हैं। इसलिए उनके विषय में जानकारीयाँ प्राप्त करने में सहज वार्ता का ही आश्रय लेना चाहिए और हँसते-हँसते अन्यान्य प्रसंगों के सन्दर्भ में यह पता लगाना चाहिए कि वे अवांछनीय गतिविधियों के शिकार तो नहीं हो रहे हैं। इस सन्दर्भ में आवारा साथियों की संगति सबसे अधिक खतरनाक होती है। भले ही बालक अपने अध्ययन घरेलू काम या दूसरी उपयोगी प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं, किन्तु आवारा लड़के सदा कुछ न कुछ खुराफात सोचने तथा करने में लगे रहते हैं। उन्हें समय काटने तथा पैसा खर्च कराने के लिए कोई शिकार चाहिए। मित्र बनकर वे भोले भावुक लड़कों को चंगुल में फँसाते और तरह-तरह के दुर्व्यसन लगाकर उनका जीवन खराब करते हैं। हर अभिभावक को अपने किशोर बालकों को ऐसी आवारागर्दी और कुसंगति से बचाना चाहिए, अन्यथा उज्ज्वल भविष्य अन्धकारमय बनकर रहेगा।

किशोरों को स्वास्थ्य, शिक्षा और

शील का महत्त्व समझाएँ

किशोरावस्था की आयु में बच्चों का अभिभावकों द्वारा समुचित शिक्षण एवं मार्ग-दर्शन आवश्यक है, क्योंकि शक्तियों के संचय और संग्रह की यही आयु है। इस समय यदि वे चूक गये तो उस चूक का प्रभाव सम्पूर्ण जीवन पर पड़ता है। किशोरावस्था की लापरवाही का परिणाम जीवन भर भोगना होता है। अतः शरीर, मन और बुद्धि सम्बन्धी सभी आवश्यक जानकारीयाँ उन्हें इस आयु में समझा देनी चाहिए।

आहार-विहार की नियमितता तथा स्वास्थ्य-सम्बर्द्धन के नियम उन्हें बताये जाने चाहिए। भोजन के बारे में उनका सही दृष्टिकोण विकसित कर दिया जाय। पेट में हवा और पानी की जगह रखते हुए भोजन किया जाय, समय से भोजन किया जाय और ठीक से चबाकर किया जाय। जायके का लालच हर तरह से हानिकर है। यह सब उन्हें भली-भाँति समझा दिया जाय। समय पर सोने, सुबह जल्दी उठके स्वच्छता, रखने आदि के नियम तथा उठने-बैठने के कायदे सिखा दिये जायें।

किशोरों की खेलकूद की स्वाभाविक रुचि को प्रोत्साहित किया जाय और उस हेतु आवश्यक व्यवस्था जुटाई जाये, जो किशोर किन्हीं कारणों से खेल-कूद से विरत रहते हों, उनकी उस प्रवृत्ति का कारण ढूँढ़कर उसे समाप्त किया जाय। झिझक, संकोचहीनता या अन्य किसी मानसिक कुण्ठा के कारण ही किशोरों में खेल-कूद के प्रति उत्साह शिथिल हो सकता है। उनकी स्थिति को समझकर प्रेमपूर्वक खेल-कूद में उनकी रुचि पुनर्जागृति करना आवश्यक है, अन्यथा उनकी यह कुण्ठा उनके व्यक्तित्व को ठीक से विकसित न होने देगी। व्यायाम में उनकी रुचि स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। उन्हें बताया जाय कि स्वास्थ्य और स्वभाव दोनों के निर्माण का यही समय है। अतः वे व्यायाम, खेल-कूद, अध्ययन एवं संयम, शालीनता के अभ्यास में इस समय पूरी रुचि लें।

स्वास्थ्य इस समय कमजोर होता गया या लापरवाही, प्रमाद के कारण उसकी जड़ों पर आघात पहुँचाया गया तो जीवन में कोई भी उपलब्धि सम्भव न होगी। न तो उत्साह, आनन्द टिक सकेगा, न ही उपार्जन सम्भव होगा और न ही किसी भी कार्य-क्षेत्र में प्रगति हो सकेगी।

स्वास्थ्य से भी अधिक गरिमा है स्वभाव की। स्वास्थ्य की दुर्बलता तो स्वयं को ही तंग करेगी, औरों की स्वास्थ्यहीनता के प्रति सहानुभूति या उपेक्षा की ही प्रतिक्रिया हो सकती है, किन्तु स्वभाव के दोष तो स्वयं का मन-मस्तिष्क भी कड़ुआ, विषैला बनायेंगे और चारों ओर ऐसी गन्दगी फैलायेंगे, जिसकी प्रतिक्रिया दूसरों द्वारा क्रोध, प्रहार, प्रतिशोध और घृणा के भयंकर रूपों में सामने आ सकती है। उस स्थिति में जी पाना ही कठिन हो सकता है। वाणी का तीखापन, आवेश, जल्दबाजी आदि किशोरावस्था में स्वभाव में उभरते हैं। शक्ति के उमड़ते प्रवाह की वे असंस्कृत अभिव्यक्ति होते हैं। उन्हें संयमित-सुसंस्कृत रूप देने का, अभ्यास करने का भी यही समय है, अन्यथा यह स्वभाव का अनगढ़पन व्यक्तित्व का ही अंग बन जायेगा और सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति को पीड़ा देगा।

अध्ययनशीलता का स्वभाव में समावेश करने की भी यही आयु है। उन्हें शिक्षा का महत्त्व समझाकर उसके सम्बर्द्धन की प्रेरणा दी जाये। पढ़ाई में पिछड़ते हुए

किशोर की मनःस्थिति ठीक से समझी जाय। इसकी बुद्धि ही कमजोर है—ऐसा सोचकर शान्त न बैठा जाय न ही उदासीनता, बरती जाय। बहुत मेधावी होना अलग बात है, किन्तु शिक्षा में सामान्य निपुणता की सामर्थ्य हर किशोर में होती है। उनका सक्रिय मस्तिष्क अत्यधिक ग्रहणशील होता है। फर्क यह है कि यह ग्रहणशीलता उन विषयों के प्रति होती है, जिन्हें उसका किशोर-मन महत्वपूर्ण समझता है। जब उसे घर में समुचित स्नेह नहीं मिलता है, पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है, झिझकियों और आलोचनात्मक टिप्पणियों से उसकी भूलों का निषेध तो किया जाता है, किन्तु सकारात्मक, विधेयात्मक पक्ष की प्रेमपूर्वक जानकारी नहीं दी जाती, तो उसका जिज्ञासु मस्तिष्क असन्तुष्ट बना रहता है।

आवश्यकता इस बात की है कि उसे शिक्षा का महत्त्व समझा दिया जाय। उसे बताया जाय कि जानकारीयों के सही स्रोत श्रेष्ठ पुस्तकें और शिक्षा ही है। भ्रान्त जानकारीयों से असीमित हानि होती है कि इस समय शिक्षा में बरती लापरवाही से न तो नौकरी पाने की पात्रता आ सकेगी, न शादी-ब्याह की और न ही सम्मान-प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकेगी। उपार्जन न करने वाले के मित्र भी नहीं बनते-टिकते। चारों ओर अपने प्रति असम्मान का भाव आ जाने पर लोगों का सहयोग भी नहीं मिलेगा। इस प्रकार जो लोग आज तुम्हारे आगे-पीछे घूमते हैं, वे ही तुमसे किनाराकशी करने लगेंगे।

ये सभी बातें उन्हें डॉट-डपटकर नहीं, स्नेह-प्यार के साथ समझाई जायें। शिक्षा, स्वास्थ्य और शील के लाभों को विस्तार से निरन्तर बताया जाये, ताकि वे इनके द्वारा हो सकने वाली उपलब्धियों को ठीक से हृदयंगम कर सकें। इनकी उपेक्षा से होने वाली हानियों की भयंकरता समझ सकें। पास-पड़ोस के उदाहरणों से उन्हें समझाया जाय। हमेशा उन्हें सीधे सम्बोधित करना आवश्यक नहीं। कई बार, जब पारिवारिक गोष्ठी जुड़ें, उस समय ऐसे प्रसंग छेड़े जायें। जिन लोगों ने स्वास्थ्य, शिक्षा एवं सुशील स्वभाव का महत्त्व समझकर अपना विकास किया है, उनकी प्रशंसा की जाय। यह प्रशंसा उन गुणों और क्रियाओं की हो, जिनके कारण विकास हुआ। हवाई प्रशंसा न की जाये, जैसे—यह कि अमुक आदमी कितना अच्छा है, कितना बड़ा है आदि। वह अच्छा, बड़ा कैसे बना ? यह बताया-समझाया जाय अन्यथा प्रशंसा का अपेक्षित प्रभाव न पड़ेगा।

कहानियों द्वारा शिक्षण भी किशोरों के लिए उपयोगी होता है। कहानियाँ ऐसी हों, जो गुणों पर प्रकाश डालें, उनके लाभ तथा दोषों की भयंकरता समझाएँ।

स्वभाव में सुव्यवस्था और शालीनता सिखाते समय यह ध्यान रखा जाय कि यह उम्र हड़बड़ी और आवेश की होती है। हड़बड़ी से अव्यवस्था तथा आवेश से अशिष्टता का जन्म होता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ भी घर के

३. १०१ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

वातावरण के अनुसार घटती-बढ़ती है। किशोर उपदेश से नहीं आचरण से सीखता है। व्यवस्था उसे प्रत्यक्ष रूप में दिखाई जाय। प्रेम से स्वयं वस्तुओं को सुव्यवस्थित करके उन्हें समझाएँ। अपने कपड़े, जूते, बस्ते वे नियत स्थान पर ही रखें, टाँगे। यह सिर्फ कहे नहीं, बल्कि बाहर से घर आने पर जब वे इन वस्तुओं का हड़बड़ी में इधर-उधर फेंक दें, तब उन्हें अभिभावक खुद सहेज कर रखें और तब समझाएँ।

ध्यान रखना चाहिए कि किसी बात को समझ लेना एक बात है, उसे अभ्यास में उतारना बिल्कुल दूसरी बात है। कह देने भर से किशोर किसी बात को समझ तो जाते हैं, पर उनका वैसा अभ्यास नहीं हो पाता। अभ्यास धीरे-धीरे ही हो पाता है। यह भी ध्यान रखा जाय कि किशोर जैसा भी अभ्यास सीखते हैं, अपनी तीव्र ग्रहणशीलता के कारण वे उसकी बार-बार आवृत्ति करते हुए उसे गहरा बना लेते हैं। अतः वह अभ्यास यदि गलत हुआ, तो भी एकदम से नहीं छूट पाता। पूर्व-अभ्यास को बदलने और नया अभ्यास ठीक से सीखने में समय लगता है। उसे हेतु अपेक्षित धैर्य अभिभावकों में आवश्यक है।

किशोरों द्वारा सीखने के क्रम में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि वे किसी भी नये व्यवहार का क्रम ठीक से नहीं बैठा पाते। यह उनकी आवेशमूलक प्रकृति की विवशता होती है। अतः उन्हें प्रेमपूर्वक क्रमबद्धता सिखाएँ। उनकी क्रम-विहीनता पर झल्लाएँ नहीं।

शालीनता के बारे में भी वही बात लागू होती है; जो सुव्यवस्था के बारे में। घर का वातावरण शालीनता का हुआ, माँ-बाप, भाई-बहनों के आपसी व्यवहार में सुसंस्कारिता रही, तो किशोर के मन पर उसका प्रभाव अवश्यम्भावी है। बाहरी प्रभाव से उनमें कभी अशिष्टता, तुनकमिजाजी आदि बढ़ते दिखें तो उन्हें तेजी से झिड़कने का कोई प्रश्न ही नहीं, क्योंकि झिड़की के इस व्यवहार को भी वे उसी पैनेपन के साथ हृदयंगम कर लेंगे। अतः शिष्टता, शालीनता भी उन्हें सौम्यतापूर्वक ही सिखाई जानी चाहिए।

किशोरों में अपने को बड़ा और उत्तरदायी समझने की भावना आ जाती है। कठोर नियन्त्रण और झिड़की भरे निर्देशों का उन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वे हर अच्छी-बुरी बात को अपने दृष्टिकोण से देखते और अपनी इच्छा के अनुसार पसन्द, नापसन्द करते हैं। अतः उन्हें कोई भी बात उदाहरणों, प्रमाणों और कहानियों के आधार पर ही समझाई जा सकती है। समझाते समय भाषा और भाव गूढ़ न हों, सरल हों अन्यथा यह गूढ़ता उनके लिए एक नई समस्या बन जायेगी। उनमें हीनताजन्य कुण्ठा घर कर जायेगी।

किशोरों की आत्मगौरव की भावना को पुष्ट करते हुए, उन्हें स्वास्थ्य, शिक्षा और स्वभाव की उत्कृष्टता का

महत्त्व समझा दिया जाये तो उनका जीवन शुद्धता एवं श्रेष्ठता की दिशा में ही गतिशील रहकर धन्य बनता है। किशोरावस्था में जुटियों, भूलों और कल्मषों का क्रम रूढ़ होता गया तो फिर गहन पश्चात्ताप के बाद भी वैसी स्वाभाविक निर्मलता कठिनाई से ही आ पाती है। अतः किशोरावस्था में इन बातों की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

किशोरों के निर्माण में सावधानी बरती जाय

आज की तरुण पीढ़ी अपराध एवं अनुशासनहीनता की ओर वेग से बढ़ती जा रही है। यह दुष्प्रवृत्ति न केवल वर्तमान के लिए ही भयप्रद है बल्कि भविष्य के लिए भी भयानक है। जो आज बिगड़ गया है वह कल आने वाले के लिए बुराई का उदाहरण बन जायेगा। वर्तमान को देखकर आने वाला भविष्य भी अनुकरण करता हुआ वैसा बन जायेगा। इस प्रकार समाज में बुरी प्रवृत्तियों की एक परम्परा लग जायेगी। इस प्रकार बढ़ती हुई अपराध, अनुशासनहीनता, अशिष्टता एवं अश्लीलता की दूषित प्रवृत्तियाँ ठीक नहीं। इन्हें रोकने का यथासम्भव प्रयत्न किया ही जाना चाहिए।

हर नागरिक किसी न किसी की सन्तान हुआ करता है। यदि अभिभावक प्रारम्भ से ही अपने बच्चों में शुभसंस्कारों के बीज बो दें तो आगे चलकर वे अच्छे नागरिक ही बनें। अच्छे नागरिक अपने बच्चों को अच्छा बनायेंगे ही। इस प्रकार एक-दो पीढ़ी बाद समाज से बुरी प्रवृत्तियों का उन्मूलन हो जायेगा। इस दिशा में अभिभावक अपना कर्तव्य समझें और उसे पूरा करने का भरसक प्रयत्न करें। किशोर की बुद्धि परिपक्व नहीं होती। इसलिए वह अपना भला-बुरा स्वयं ठीक से नहीं समझ पाता। इस समय किशोर को यदि पूरी तरह उसी पर छोड़ दिया जाता है, तो उसके बहककर विपथगामी हो जाने का ही डर रहता है और फिर आज तो चारों ओर का वातावरण विपथगमन को ही प्रोत्साहित करने वाला हो गया है। इस अवस्था में एक बार बहक जाने पर किशोर अपने स्वास्थ्य एवं चरित्र को चौपट किये बिना नहीं मानेगा। वह कुछ ही दिनों में दुर्गुणों एवं दोषों का भण्डार बनकर अपना होनहार जीवन अभिशाप बना लेगा और आगे चलकर अपने पाप से समाज में विकृतियों की वृद्धि करेगा। उसका आचरण तथा व्यवहार परिवार और समाज दोनों के लिए ही अहितकर बन जायेगा।

ऐसी स्थिति होने पर भी किशोरों को उनकी अपनी जिम्मेदारी पर पूरी तरह छोड़ा नहीं जा सकता। अभिभावकों को उनके, परिवार के, समाज के तथा राष्ट्र के हित में उन पर नजर रखनी होगी। उनके निर्माण में हाथ देना ही होगा। ऐसा करने में उनका मार्ग डॉट-डपट

अथवा मारपीट का न होकर प्रेम, परामर्श तथा व्यवहार-संस्कार का हो सकता है।

अभिभावकों को चाहिए कि वे किशोरावस्था प्रारम्भ होने से पूर्व ही अपने बच्चों पर शुभ-संस्कार डालने प्रारम्भ कर दें, जिससे कि निरंकुशताप्रिय किशोरावस्था में उन्हें अभिभावकों का परामर्श एवं व्यवहार अस्वाभाविक न अनुभव हो। बाल्यकाल से बने हुए मार्ग पर वे बिना किसी द्वन्द्व के आसानी से चलते चले जायेंगे। बाल्यकाल से ही उनके मन-बुद्धि को जो दिशा दे दी जायेगी किशोरावस्था में भी उनकी गति उसी दिशा में बनी रहेगी। मनुष्य के मन और बुद्धि गहराई से पाये हुए मार्ग से सामान्यतया विचलित नहीं हो पाते। इसलिए बालकों पर उच्च संस्कारों का सृजन बाल्यकाल से करना अभिभावकों के लिए सरल भी होगा और उपयुक्त भी।

किशोरों में शुभ-संस्कार सृजन के लिए घर का वातावरण अनुकूल होना बहुत आवश्यक है। उपयुक्त वातावरण के अभाव में उपदेश, शिक्षा तथा परामर्श का कोई भी वांछित प्रभाव उन पर नहीं पड़ेगा। वाणी की अपेक्षा वातावरण का प्रभाव मनुष्य के मन-मस्तिष्क पर अधिक गहराई से पड़ता है। उपयुक्त वातावरण के बीच शुभाचार-विचार की शिक्षा किशोरों के मानसों में द्विगुण रूप से फलवती होती है। घर का वातावरण उत्तम होने से किशोर का मन-मस्तिष्क तथा शारीरिक स्वास्थ्य भी उत्तम होगा। उसका चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न रहेगा। ऐसी दशा में साधारण भोजन भी पौष्टिक पदार्थों की तरह ही गुणकारी होगा। शरीर में शुद्ध रक्त का निर्माण होगा जिससे बलवीर्य की वृद्धि के फलस्वरूप उसकी स्मृति बलवती होकर शीघ्र ही शुभ-संस्कारों को ग्रहण कर स्वभाव में परिवर्तित कर देगी।

जिन घरों में दिन-रात हाय-हाय और किच-किच बनी रहती है, उन घरों के बच्चे बहुत कम स्वस्थ, सुशील तथा सभ्य बन पाते हैं। कितना ही बचाव क्यों न किया जाय वे वातावरण के अशुभ संस्कार ग्रहण किये बिना न मानेंगे। लड़ाई-झगड़े, द्वेष-डाह के अनुपयुक्त वातावरण में बालक, स्वस्थ, सुन्दर, सुशील एवं दीर्घजीवी न बन सकेंगे, जबकि उन्हें वास्तव में बनना ऐसा ही चाहिए। उनके अंगों का विकास रुक जायेगा। प्रसन्नता के अभाव में उनकी पाचन-क्रिया बिगड़ जायेगी। पुष्टिकारक धातुओं का निर्माण रुक जायेगा। उनकी कार्यक्षमता का हास होगा। वृत्तियाँ कठोर एवं कर्कश हो जायेंगी, जिससे कि वे दया, उदारता, सहानुभूति, सहायता, सहयोग तथा संवेदना के मानवीय गुणों से वंचित रहकर अनुपयुक्त नागरिक ही बनेंगे। बच्चों के निर्माण में घर के वातावरण का बहुत महत्त्व है। अभिभावकों को चाहिए कि वे बच्चों के हित में घर का वातावरण हर मूल्य एवं प्रयत्न से उपयुक्त बनाए रखें।

किशोरों के निर्माण में शिक्षा-दीक्षा का अपरिहार्य महत्त्व है। सभ्य और सुशील होने पर भी बालक मृगछाये जैसे भोले होने पर भी अबोध पशु ही रह जायेगा। अशिक्षित, विनम्र भी पूरी तरह सभ्य नहीं कहा जा सकता। शिक्षा-सभ्यता तथा नागरिकता की आधारशिला है। इसलिए बच्चों का पढ़ाया जाना भी बहुत आवश्यक है। विद्याध्ययन के विषय में किशोरावस्था में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इस अवस्था में यदि उन्हें विद्या के प्रति उदासीनता से विमुख कर शिक्षा की ओर विशेष तौर पर उन्मुख कर दिया जाता है तो वे स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद भी अध्ययनशील बने रहते हैं। बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था ही शिक्षा के संस्कार डालने के लिए सबसे उपयुक्त आयु है। इस समय बालकों की बुद्धि बड़ी ही कोमल तथा ग्रहणशील होती है। इस समय के थोड़े-से ही अभ्यास से वे बहुत कुछ ग्रहण कर लेते हैं। आगे चलकर उनकी बुद्धि विकसित होने के कारण साथ-साथ प्रौढ़ भी हो जाती है, जिससे जल्दी पाठ ग्रहण नहीं कर पाते। सयाने हो जाने पर उन्हें पढ़ने में कुछ शर्म भी आती है और उनका उद्वण्ड मन पढ़ने में लगता भी नहीं। इसलिए बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था तक बच्चों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

प्रचुर सम्पत्ति का स्वामी होने पर भी शिक्षाशून्य मनुष्य समाज में अधिक आदर नहीं पाता, उसका क्षेत्र अपने जैसे अशिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित हो जाता है। वह समाज के बुद्धिवादी लोगों के बीच घुल-मिल नहीं सकता। उसका परिचय संसार की गतिविधियों से नहीं हो पाता। वह अपने व्यापार-व्यवसाय तक ही कूप-मण्डूक बना रहता है। कूप-मण्डूकता से स्वार्थ एवं संकीर्णता का प्रादुर्भाव होता है। तब ऐसी दशा में किसी से अच्छे नागरिक बनने की आशा करना उचित नहीं कहा जा सकता। अशिक्षित धनवान अपने धन का उचित उपयोग नहीं कर पाता। या तो वह बहुधा कृपण हो जाता है अथवा अपव्ययी। यह दोनों अवस्थाएँ किसी अच्छे नागरिक के उपयुक्त नहीं कही जा सकती ! अच्छा नागरिक बनकर अपने अधिकार तथा कर्तव्यों को ठीक से समझने तथा उपयोग करने के लिए शिक्षा की बहुत बड़ी आवश्यकता है। किसी भी अभिभावक को अपने बालकों को अशिक्षित नहीं रखना चाहिए। उन्हें हर अवस्था, हर दशा तथा हर परिस्थिति में शिक्षा दिलानी ही चाहिए।

धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत बालकों को शिष्टता, उदारता, श्रमशीलता, सदयता, स्वच्छता आदि के नियमों का अभ्यास करा देना तथा सत्य, शिष्ट, विनय मधुर एवं प्रसन्न व्यवहार का अभ्यस्त बना देना ही आवश्यक होगा। प्रातः जागरण, भ्रमण, व्यायाम, शुद्ध सात्विक भोजन, स्नान, संयम, निवास, वास तथा वसनों की सादगी, स्वच्छता तथा मनोयोग से अध्ययन की प्रवृत्ति पैदा कर

३. १०३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

देना बच्चों को धार्मिक शिक्षा दिया जाना है। प्रवृत्ति से प्रेम और ईश्वर पर आस्था उनके लिये ब्रह्मविद्या की तरह ही लाभकारी होगा। माता-पिता, भाई-बहनों, गुरुजनों, साथियों, सम्पर्कों तथा अन्य सर्वसाधारण से उन्हें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इसका ज्ञान करा देने का अर्थ होगा कि आपने इन्हें मानो योग साधना की शिक्षा दे दी।

किशोरों के लिए घर का वातावरण, शिक्षा तथा धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने वाले अभिभावक अवश्य ही समाज को सभ्य एवं सुशील नागरिक प्रदान कर श्रेय सौभाग्य के भागी बनेंगे।

किशोरों को स्नेहपूर्ण मार्गदर्शन दिया जाय

जिस प्रकार बच्चों को दुलार के नाम पर उन्हें अपने मनोविनोद का साधन बना डालने से प्यार नहीं, अहित सिद्ध होता है, उसी प्रकार किशोरों की वास्तविक आवश्यकताओं की उपेक्षा करने से तथा उन्हें मार्गदर्शन न दिये जाने से, उनका भी सम्यक् विकास नहीं हो पाता।

माता-पिता सोचते हैं कि अब तो बच्चा बड़ा हो गया। अब उसको सिखाने लायक जो कुछ है, वह सब स्कूल में ही सिखाया जायेगा। वे स्कूल भेज देते हैं, फीस देते हैं, पुस्तकें खरीदते हैं, आवश्यक उपकरण एवं वस्तुओं की व्यवस्था कर देते हैं, अब समय अलग से कहाँ से निकालें ? इतनी सारी व्यवस्था करने के लिए ही तो वे कमाते हैं, दौड़-धूप करते हैं।

काश ! अभिभावक यह समझ सकते कि सुविधाओं का सम्बर्द्धन मात्र व्यक्तित्व विकास के लिए पर्याप्त सहायक नहीं हो पाता। सुविधाओं की ऐसी भरमार, जो किशोर को अपनी शक्ति के उपयोग के अवसर तक सीमित कर दे, उन्हें लाभ के स्थान पर हानि पहुँचाती है। बहुत अधिक सुविधाएँ उपलब्ध कराना, प्यार नहीं, दुलार की विकृति है। सच्चा प्यार वह है, जिसमें किशोर की शारीरिक, मानसिक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए उसे क्रियाशीलता के अधिकाधिक अवसर उपलब्ध कराये जायें तथा साथ ही सक्रियता की दिशा भी दिखाई जाय।

किशोरावस्था उत्साह जोश-खरोश की एक अनोखी ही उम्र होती है। शक्ति के नये-नये स्रोत भीतर से उमड़ते हैं। समझदारी का दायरा नित्यप्रति बढ़ता है। अब सिर्फ खिलौनों से और माता-पिता के लाड़-प्यार से मन नहीं बहलता। अपने समकालीन संसार को जानने-पहचानने की प्रचण्ड जिज्ञासा प्रतिदिन विस्तृत होती जाती है। यौन-उत्थार का भी यही समय है। उससे किशोर के पूरे शरीर में एक नयी ही हलचल भरी उमंग उफ़ान लेती है। मस्तिष्क अपरिपक्व रहता है। न तो इन उमंगों का स्वरूप ज्ञात होता, न ही सदुपयोग की दिशा। अतः यह

स्थिति प्यार भरे मार्गदर्शन की अपेक्षा करती है। मात्र सुविधा-संरजामों को जुटा देने से किशोर की समस्या हल नहीं होती उल्टे और उलझन ही बढ़ती है।

माता-पिता का यह दायित्व है कि वे अपनी व्यस्तता में से समय निकालें। सुविधा-साधनों के उपार्जन में थोड़ी कमी भी करना पड़े, तो हर्ज नहीं। किशोर की वास्तविक आवश्यकता की उपेक्षा अधिक महँगी पड़ेगी। इस समय उसे सामान्य जानकारी की अधिकाधिक शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। सामाजिकता के शिक्षण की यही उम्र है। यह शिक्षण सर्वोत्तम रीति से माँ-बाप के ही द्वारा दिया जा सकता है। इस हेतु उन्हें समय भी निकालना चाहिए और अपने भावों की अभिव्यक्ति भी इस प्रकार करनी चाहिए, जिसे किशोर उन्हें ठीक से समझ सके, सीख सके और अनुकरण कर सके।

प्रत्येक माँ-बाप को इस उम्र में बच्चे से वार्तालाप के लिए नियमित समय निकालना चाहिए। उसके साथ गम्भीर चर्चा भी करनी चाहिए और विनोद भी। चर्चा, वार्तालाप के जरिये उसे शिष्टाचार के अनेक नियमों-कायदों की जानकारी दी जाये, सामान्य ज्ञान की जानकारी दी जाये, ताकि वह सामाजिक व्यवहार में दक्ष हो। डाक-तार, रेल-बस, सभा-सोसायटी, परिवार-रिश्तेदार, मित्र-परिचित आदि से सम्बन्धित दैनन्दिन व्यवहार की आवश्यक जानकारी दी जायें। बाजार से चीजें खरीदते समय अपेक्षित जानकारियाँ व सावधानियाँ बताई जायें। घर में ऐसी उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक, सुरुचिपूर्ण पत्र-पत्रिकाएँ मँगवाई जायें, जिनसे किशोर का सामान्य ज्ञान बढ़े।

उनके प्रश्नों के उत्तर उत्साहपूर्वक दिये जायें। साथ ही उनके साथ मिलकर काम किया जाय और उनके खेलों में भी रुचि ली जाये ताकि वे माँ-पिता से अधिक घुल-मिल सकें। घुलने-मिलने पर ही इस उम्र में बच्चे माँ-बाप की सिखाई बातें सीख सकते हैं अन्यथा वे उनकी उपेक्षा कर अपने समवयस्कों द्वारा प्रदत्त सीख को ही ग्रहण करते हैं।

किशोरों के क्रिया-कलापों में पूरा रस लिया जाय। उनके साथ काम किया जाय। कपड़े धोने, लोहा करने, सामान की व्यवस्था करने, स्नान, स्वच्छता के नियमों का पालन करने, किताबें, बस्ते सहेजकर रखने, चप्पलें-जूते, कपड़े, खेल के उपकरण आदि सब ठीक से रखने व इनकी साज-सँभाल करने तथा हर काम में क्रमबद्धता एवं सुव्यवस्था का ध्यान रखने का भली-भाँति प्रशिक्षण उनके साथ काम करते हुए ही दिया जा सकता है। नौकरों द्वारा यह सब सीखने के लिए नहीं छोड़ देना चाहिए। न ही साथी-सहपाठियों के अनाड़ीपन से भरे व्यवहार का ही अनुकरण करने को छोड़ना चाहिए। स्वयं साथ-साथ काम कर उन्हें सिखाया जाय। सिर्फ डॉट-डपट, उपदेश-प्रवचन से उन पर उचित प्रभाव नहीं पड़ेगा, अपितु उल्टी प्रतिक्रिया ही होगी।

किशोरों के प्रति माँ-बाप द्वारा समयजन्य उपेक्षा तो होती ही है, भावजन्य उपेक्षा भी होती है। मन में भले ही स्नेह-प्यार भरा हो, किन्तु यदि मुखाकृति हमेशा गम्भीर बनी रहे, भावभंगिमा से रूखापन टपके तो किशोर मन उस स्नेह को नहीं समझ पाता। वह यही रूखापन देखता है और उसका मन दूर भागता है।

संयुक्त परिवारों में दादी-बाबा के सामने पिता लड़के को गोदी में न ले, खिलाये न, ऐसी परम्परा रहती आई है। यदि बड़ों के सामने बच्चे को गोदी में ले लिया जाय, तो इसे बड़ों के प्रति अवज्ञासूचक माना जाता है, किन्तु यह परम्परा अच्छी नहीं। जब दादी-बाबा बच्चे को खिला रहे हों, उससे बात कर रहे हों, तब तो यही ठीक है कि उसे वहीं रहने दिया जाय। पर शेष समय उसके प्रति स्नेहपूर्ण भावों का प्रदर्शन उचित एवं आवश्यक है, अनुचित नहीं। किशोरों को प्रेमपूर्वक समझाना, उनके साथ हिल-मिलकर बातें करना, बताना, सिखाना बेहिकक किया जाना चाहिए। समय और भाव, दोनों में से एक की भी कमी से किशोर का समुचित शिक्षण नहीं हो पायेगा। उपेक्षा चाहे समयजन्य हो, चाहे भावजन्य, उस पर हानिकर असर डालेगी। अतः पर्याप्त समय देकर किशोरों के भावों के अनुरूप उन्हें शिक्षण देना चाहिए।

परीक्षा में उत्तीर्ण कैसे हों ?

परीक्षा के दिनों में विद्यार्थियों को पास होने की चिन्ता बढ़ती है और वे अपनी शक्ति-सामर्थ्य से अधिक परिश्रम करने लगते हैं। उन दिनों उन्हें घबराहट भी बहुत रहती है। अधिक मस्तिष्क भ्रम और घबराहट का बच्चों के मानसिक संस्थान पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए हम अभिभावकों का कर्तव्य है कि हम अपने बालकों को परीक्षा में उत्तीर्ण होने की कला सिखावें। यदि बच्चे इस विधि-विधान को ठीक तरह जान लें तो न तो उनके स्वास्थ्य पर अनावश्यक दबाव पड़ेगा और न मस्तिष्क पर, वह सहज ही उत्तीर्ण हो सकेगा। इस सम्बन्ध में हम उपयोगी निर्देश परीक्षार्थियों के लाभ हेतु नीचे लिखते हैं। इन्हें वयस्क बालकों को पढ़ा या सुना देने से उनका बहुत हित साधन हो सकता है।

१. आत्म-विश्वास—प्रत्येक कार्य में सफलता तो उसके अन्तिम चरण में देखने को मिलती है लेकिन कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व अपनी आत्मा में एक धारणा बनानी पड़ती है कि परिश्रम के बाद हमें सफलता अवश्य मिलेगी। यह विश्वास ऐसा तत्त्व है, जिसकी मात्रा पर विश्वासी की सफलता, असफलता निर्भर करती है। डावाँडोल स्थिति वाले, दुविधापूर्ण बातें करने वाले अधिकांशतः हर कामों में असफल देखे जाते हैं।

नन्हा-सा बच्चा जब पाठशाला में पढ़ने के लिए बैठाया जाता है तो उसके पिता, अध्यापक, उसे विश्वास

दिलाते हैं कि पढ़कर वह बहुत बड़ा अफसर, धनिक, व्यापारी, सेनापति आदि बन जायेगा। यद्यपि सभी विद्यार्थी ऐसे नहीं हो पाते। कोई बिरले ही उच्च पदों पर पहुँच पाते हैं, परन्तु उन्हें उस लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए वैसी धारणा बनानी अवश्य होती है।

जिन लड़कों ने पूरे वर्ष परिश्रम किया है, अपनी पाठ्य-पुस्तकों को भली प्रकार पढ़कर समझने का प्रयत्न करते रहे हैं, उनकी आत्मा स्वयं बलवती होने लगती है।

आत्मा को उसकी उचित मात्रा में उपासना, पूजा, कर्तव्य पालन रूपी खुराक पहुँचा देने पर वह बलवती हो जाती है। बलवती आत्मा से आप जो काम, जब कभी चाहें, ले सकते हैं।

मैंने बहुत-से विद्यार्थियों में से परीक्षा के पहले बातें की हैं और उनके परिणामों को भी देखा है। जो नियमित रूप से सन्ध्या, उपासना, पूजा, नमाज पूरा करते हैं। उनकी बातों से यह पक्का विश्वास हो गया कि उपासना द्वारा विद्यार्थियों को अपूर्व लाभ होता है। अपने सोने या मनोरंजन करने के समय में जो विद्यार्थी ५, १० मिनट का समय उपासना के लिए निकाल देते हैं, उसके कई घण्टे पुस्तक पढ़ने से कम लाभकारी नहीं होता। ऐसा करने वाले कई विद्यार्थियों ने बताया कि उन्हें पक्का विश्वास है कि ईश्वर उनकी सहायता करेगा।

महात्मा गाँधी ने एक स्थान पर कहा है कि आत्म-विश्वास का अर्थ है—ईश्वर की अनन्त शक्ति में विश्वास। हमारी आत्मा परमात्मा का संक्षिप्त स्वरूप है और प्रार्थना करने का तात्पर्य है आत्मा का परमात्मा से अनन्य संयोग।

विद्यार्थियों को परीक्षा भवन में जाते समय ईश्वर की सत्ता, दयालुता, सर्वव्यापकता और अपना एकमात्र सहारा मानकर अपने में पूर्ण विश्वास की भावना भरनी चाहिए। असफलता की चिन्ता करना ही व्यर्थ है। कभी भूलकर भी यह न सोचना चाहिए कि मैं असफल हो सकता हूँ।

ऐसा करने से आपके अन्दर अद्भुत आत्मिक-शक्ति का विकास होगा, जो आप को पहाड़ जैसी लगने वाली परीक्षा को तिनके जैसी हल्की बना देगा।

२. प्रश्नों को सावधानी से पढ़िए—पूर्ण आत्म-विश्वास से सफलता के लिए आशान्वित होकर प्रसन्नचित्त व स्थिर मुद्रा में आप परीक्षा भवन में प्रवेश करें।

प्रश्न-पत्र पाते ही सर्वप्रथम ऊपर से लेकर नीचे तक सभी प्रश्नों को पढ़ें। हर विषय के प्रश्न-पत्रों में ऊपर कुछ नोट लिखे होते हैं। इस नोट में आवश्यक निर्देश होता है कि कितने प्रश्नों का उत्तर देना है और उनमें से कौन-सा प्रश्न सभी विद्यार्थियों को करना अनिवार्य है। अतः इस नोट को अवश्य पढ़कर दिये हुए

३. १०५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

आवश्यक निर्देश को समझ लेना चाहिए। प्रायः विद्यार्थी लापरवाही, शीघ्रता व सरसरी निगाह से प्रश्न पढ़ने के कारण ही यह नहीं समझ पाते हैं कि प्रश्न में क्या लिखने को कहा गया है ? अपनी रटी हुई जानकारी को बिना कुछ सोचे-समझे लिखकर कापी भर देते हैं। परिणाम यह होता है कि वे परीक्षा भवन के बाहर तो बड़ी प्रसन्नता से निकलते हैं और कहते हैं कि अमुक प्रश्न का उत्तर हमने तीन पन्नों में लिखा, अमुक का चार पन्नों में, परन्तु जाँच के समय शून्य या तो तीन अंक ही पाते हैं।

इसलिए प्रश्न-पत्र पाते ही १५ मिनट तक प्रश्नों को खूब पढ़ना चाहिए। इसके दो भाग हैं—(१) नोट, (२) प्रश्न।

नोट को पढ़कर जो प्रश्न अनिवार्य रूप से करना है, उसके ऊपर टिक मार्क लगा देना चाहिए। नोट के न पढ़ने से कभी-कभी बड़ी हानि उठानी पड़ जाती है।

इसके बाद शेष प्रश्नों में से जितने प्रश्न करने हों, उन पर टिक मार्क लगा देना चाहिए। हर प्रश्न को पढ़कर यह समझ लेना बहुत जरूरी होता है कि उसमें क्या लिखने को कहा गया है ? अपनी जानकारी में से किन विशेष अंगों पर उत्तर देना है ? यह सभी कार्य स्थिर बुद्धि और खुले हृदय से करने से १५ मिनट में समाप्त हो जाते हैं।

प्रायः परीक्षक लोग प्रश्नों को घुमा-फिराकर पूछते हैं। उनके शब्द विषय को कुछ इस प्रकार तोड़-मरोड़ देते हैं कि प्रश्न भिन्न-सा प्रतीत होता है, परन्तु शान्तचित्त से ध्यान देने पर पता चलता है कि उसका उत्तर वही है, जिसे वे जानते थे। नीचे लिखे प्रश्नों को पढ़कर समझिए।

प्रश्न १. भौगोलिक परिस्थितियों का मनुष्य जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? 'बहू' और 'ऐस्कीमो' के जीवन से स्पष्ट कीजिए।

इसी प्रश्न को घुमा-फिराकर दूसरे वर्ष के प्रश्न-पत्र में इस प्रकार पूछा जा सकता है—

प्रश्न २. 'मनुष्य अपनी भौगोलिक परिस्थितियों का दास है' ऐस्कीमो तथा 'पिगमी' लोगों के रहन-सहन का उदाहरण देते हुए स्पष्ट कीजिए।

फिर इसी बात को अन्य प्रश्न द्वारा यों पूछा जा सकता है—

प्रश्न ३. भौगोलिक परिस्थितियाँ मानव जीवन पर अपना व्यापक प्रभाव डालती हैं। 'खिरगीज' और 'ऐस्कीमो' लोगों के रहन-सहन से इस बात की पुष्टि कीजिए।

उपर्युक्त तीनों प्रश्नों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। केवल शब्दावली का अन्तर है, भाव का नहीं। भौगोलिक परिस्थितियों का मानव जीवन पर क्या प्रभाव

पड़ता है ? ऐस्कीमो, बहू, खिरगीज या पिगमी के जीवन का उदाहरण देकर समझाना है।

इसी प्रकार इतिहास के कुछ प्रश्न द्रष्टव्य हैं—

प्रश्न १. 'मुहम्मद तुगलक' को कुछ इतिहासकारों ने 'पागल बादशाह' कहा है। आपकी सम्मति में क्या ऐसा कहना उचित है ? यदि हाँ, तो क्यों ? समझाइए।

प्रश्न २. 'मुहम्मद तुगलक' को 'पागल बादशाह' क्यों कहा जाता है ? उसकी योजनाओं के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

इसी बात को बिल्कुल सीधे-साधे ढंग से निम्न प्रकार से पूछा जा सकता है—

प्रश्न ३. मुहम्मद तुगलक के शासन काल में कौन-कौन-सी घटनाएँ हुई ?

ऊपर के प्रश्नों को तुलनात्मक ढंग से पढ़ने से कोई विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ेगा।

रेखागणित के भी कुछ उदाहरण ध्यातव्य हैं—

प्रश्न १. त्रिभुज किन-किन दशाओं में अनुरूप होते हैं ? किसी एक दशा को सिद्ध करके अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

प्रश्न २. यदि दो त्रिभुजों में दो भुजाएँ और बीच का कोण आपस में बराबर हों, तो दोनों त्रिभुज अनुरूप होंगे ?

प्रश्न ३. अ. ब. स. और द. य. र. दो त्रिभुज हैं, जिनमें भुजा अ. ब. = द. य., अ. स. = द. र. तथा कोण अ ब स = य द र के, तो सिद्ध करो कि दोनों त्रिभुज अनुरूप होंगे।

इसी प्रकार प्रायः हर विषय के प्रश्न-पत्रों में होता है। अब तो एक चलन-सा हो गया है कि सीधी-साधी बात को घुमा-फिराकर विद्यार्थियों की बुद्धि-चातुर्य की परीक्षा ली जाये। ऐसी स्थिति में सावधानी और सतर्कतापूर्वक जब आप प्रश्न-पत्र को पढ़ेंगे, तो आपकी अधिकांश कठिनाइयाँ हल हो जायेंगी और प्रतीत होगा कि प्रश्न-पत्र के उत्तर में आप कुछ-न-कुछ लिखने की क्षमता रखते हैं, जो परीक्षक की दृष्टि में सन्तोषजनक सिद्ध हो सके।

३. समय विभाजन—प्रश्न-पत्रों को सावधानीपूर्वक पढ़ लेने के बाद प्रश्नों के उत्तर लिखने के पूर्व हर विद्यार्थी के लिए आवश्यक है कि समय-विभाजन कर ले। निचली कक्षाओं से लेकर एम. ए. की उच्च कक्षाओं तक की परीक्षाओं में एक प्रश्न-पत्र के उत्तर के लिए तीन घण्टे का समय निर्धारित होता है। इस अवधि में पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखने होते हैं। किसी-किसी परीक्षा में इसी अवधि में ६ प्रश्न भी करने पड़ सकते हैं।

प्रथम १५ मिनट प्रश्नों को पढ़ने व अन्तिम १५ मिनट लिखे हुए प्रश्न-पत्रों को दोहराने के लिए छोड़कर शेष ढाई घण्टे बचते हैं। यदि पाँच प्रश्न करने हैं, तो हर प्रश्न के लिए तीस मिनट का समय निर्धारित करना चाहिए। ६ प्रश्न की स्थिति में हर प्रश्न के लिए २५ मिनट समय निर्धारित करना चाहिए। यदि कोई प्रश्न कुछ अधिक अंकों का है, तो उसके लिए दो-चार मिनट अधिक दिये जा सकते हैं और अन्य प्रश्नों में से वह कमी पूरी कर लेनी चाहिए।

निचली कक्षाओं के विद्यार्थियों का विषय-ज्ञान सीमित होता है। उन्हें ३० मिनट में अपनी विद्वत्ता को प्रकट करने का काफी अवसर मिल सकता है, यदि वे उसका सदुपयोग करें, परन्तु हाईस्कूल से ऊपर की कक्षाओं में सबसे बड़ी समस्या समय की कमी की होती है। विषय-ज्ञान तो प्रायः सबका इतना होता है जो ३० मिनट तक लिख सकें, परन्तु अधिक ज्ञान को कम समय में सुन्दरतापूर्वक प्रकट कर देने की कला जानने वाले बिरले ही मिलते हैं। गागर में सागर भर देने की कहावत यहीं चरितार्थ होती है। जिन विद्यार्थियों की लिखने की गति अच्छी होती है, वे तो सभी प्रश्नों के उत्तर लिख डालते हैं, परन्तु मन्दगति वाले विद्यार्थियों के बहुत-से प्रश्न इसीलिए छूट जाते हैं कि वे निर्धारित समय में लिख नहीं सके। उनके अनुत्तीर्ण होने का प्रायः यही कारण होता है। इसलिए ऊँची कक्षाओं में समय-विभाजन करके उसके अनुसार चलना और भी बड़ा महत्त्व रखता है।

अपने सामने घड़ी रख लेनी चाहिए और हर प्रश्न का उत्तर समाप्त करने के बाद समय देख लेना चाहिए कि औसत से अधिक समय तो नहीं लग रहा है। यदि घड़ी न हो, तो जो घण्टे परीक्षा भवन में ६० मिनट के बाद बजाये जाते हैं, उससे अपने को अनुकूल कर लेना चाहिए।

सदैव सीधी-सादी आम बोल-चाल की भाषा में प्रश्नों के उत्तर लिखने चाहिए, जो सबकी समझ में आ जायें।

हर प्रश्न के उत्तर दो-चार मिनट का हेर-फेर हो सकता है, परन्तु अधिक देरी न करनी चाहिए।

समय-विभाजन करके लिखने से हर प्रश्नों को लिखने का समान अवसर मिल जाता है। जब कापी में पाँच प्रश्न के उत्तर लिखे हों, तो परीक्षक को दया दिखाने का अवसर भी मिल सकता है। मान लीजिए कि प्रश्नों के उत्तर बहुत अच्छे नहीं लिखे जा सके हैं, परन्तु यदि २० अंक के हर प्रश्न में उसे केवल ६, ७ ही प्राप्त हो गये तो भी योग ३३, ३४ से अधिक हो जायेगा। इसके विपरीत यदि उसने दो प्रश्नों के उत्तर तो बहुत सुन्दर ढंग से लिखे, शेष तीन के औसत से कम स्तर के रहे तो उसे पहले २ प्रश्नों में अधिक से

अधिक ५० प्रतिशत अंक अर्थात् २० अंक मिले। शेष में ३, ३ अंक मिले। योग २९ ही रहा।

एक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी ऐसी कापियों का परीक्षक पर पड़ता है। जाँचते समय जब प्रथम दो प्रश्नों के उत्तर उसे ऊँचे स्तर के मिलते हैं, तब परीक्षक उस परीक्षार्थी के बारे में एक धारणा बना लेता है, परन्तु सहसा अगले प्रश्नों का उत्तर जब औसत से बहुत कम स्तर तथा कम पन्नों में लिखे मिलते हैं, तब उसका पारा एकदम चढ़ जाता है और वह उस परीक्षार्थी को सनकी समझकर बहुत कम अंक देने लगता है। इसलिए आपको समान स्तर, समान पन्ने, समान लेख कायम रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

४. सरल से कठिन की ओर—समझने अथवा समझाने के लिए चार मौलिक तरीके बताये गये हैं—(१) सरल से कठिन की ओर, (२) ज्ञात से अज्ञात की ओर, (३) स्थूल से सूक्ष्म की ओर, (४) एक से अनेक की ओर।

परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के लिए इनमें से पहला नियम लागू होता है।

करने योग्य प्रश्नों पर टिकमार्क लगा दें और समय-विभाजन करके लिखना प्रारम्भ करें, तो सर्वप्रथम आप उस प्रश्न का उत्तर लिखें, जो आपको सबसे अधिक याद हो।

पाँच प्रश्नों में सभी प्रश्न आपके समान रूप से न तैयार होंगे। कुछ प्रश्न ऐसे होंगे, जिनका उत्तर आप बहुत सुन्दर और सन्तोषजनक लिख सकेंगे और कुछ प्रश्न ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका उत्तर पहले जैसा अच्छा न लिख सकें। आपकी कापी जो परीक्षक देखते हैं, उनमें भी आप जैसी मानवीय भावनाएँ व दुर्बलताएँ हो सकती हैं। किसी व्यक्ति से प्रथम मिलन में आपकी जो अच्छी-बुरी धारणा उसके बारे में बन जाती है वह स्थायी होती है। यदि किसी अवसर पर उस व्यक्ति को प्रतिकूल आचरण करते देखें, तब भी शीघ्र विश्वास समाप्त नहीं होता है।

ठीक यही बात आपकी उत्तर-पुस्तिका के सम्बन्ध में भी है। शुरू-शुरू में जब परीक्षक आपकी कापी खोलकर जाँचना प्रारम्भ करता है, तो पहले प्रश्न का उत्तर आप जिस प्रकार लिखते हैं, उसी के आधार पर परीक्षक एक साधारण धारणा आपकी योग्यता के प्रति बना लेता है। प्रथम लिखे गये उत्तर से यदि आप परीक्षक के ऊपर अच्छा प्रभाव डालने में समर्थ हो गये, तो वह उस उत्तर पर अच्छे अंक देगा, साथ ही दूसरे प्रश्नों को भी सरसरी निगाह से देखकर उनमें भी अच्छे ही अंक देने का प्रयत्न करेगा।

साधारणतया परीक्षक लोग कापी के प्रथम ४, ६ पन्ने बड़ी सावधानी से देखते हैं। उनकी हर त्रुटि पर

३. १०७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

लाल पैसिल से निशान कर देते हैं। फिर उन्हें जल्दी सूझती है। बीच के पन्नों में ऊपर-नीचे की कुछ पंक्तियों को सरसरी दृष्टि से देखते हुए पन्ने उलटते चले जाते हैं। जहाँ प्रश्न समाप्त होता है, वहाँ अंक देते जाते हैं, फिर अन्तिम चार-छह पन्नों को पुनः सावधानी से देखते हैं। उसमें दिये गये अंक वास्तविकता पर अधिक आधारित रहते हैं। इस तरह प्रथम दो प्रश्न व अन्तिम एक प्रश्न की मार्किंग वास्तविकता की तुलना में बनी हुई धारणा पर की जाती है।

लिखते समय इस मनोवैज्ञानिक स्थिति का लाभ परीक्षार्थी को उठाना चाहिए। पहले तो उन प्रश्नों के उत्तर लिखने चाहिए जो उसे बहुत अच्छी तरह तैयार हों फिर बीच में कम या औसत तैयार प्रश्नों को लिखकर अन्त में फिर एक अच्छी प्रकार से तैयार प्रश्न को लिखना चाहिए।

इस ढंग से जहाँ एक लाभ यह होता है कि परीक्षक पर अच्छा प्रभाव पड़े, वहाँ दूसरी ओर विद्यार्थी में आत्म-विश्वास भी आ जाता है। अच्छे प्रकार का प्रारम्भ आधी सफलता मानी जाती है। आरम्भ के प्रश्न जब विद्यार्थी अच्छे ढंग से कर लेता है, तब उसका साहस बढ़ जाता है और वह अन्य प्रश्नों को भी सरलतापूर्वक करता है।

उपर्युक्त बातें वर्णनात्मक विषयों इतिहास, भूगोल, भाषा व कला आदि के बारे में कही गई हैं।

गणित के विषय में सर्वप्रथम उस प्रश्न को हल करना चाहिए, जो सबसे सरल प्रतीत हो, फिर क्रमशः उससे कठिन और सबसे कठिन प्रतीत होने वाले प्रश्न को सबसे अन्त में करना चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थी अधिकांशतः सफल होते हैं, परन्तु जो विद्यार्थी सबसे पहले कठिन प्रश्नों को हल करने की चेष्टा करते हैं, उनका अधिक समय उस प्रश्न पर व्यय तो हो ही जाता है, साथ ही प्रश्न के न आने पर विद्यार्थी हताश हो जाता है। ऐसी मनोदशा में जो प्रश्न वह हल कर सकता था, उन्हें भी भूल जाता है। गणित में सरल से कठिन की ओर जाने की पद्धति बहुत उपयोगी है।

५. नकल करना अपने लिए ही हानिप्रद—परीक्षा विषयक सबसे बड़ी समस्या नकल की है। मार्च, अप्रैल मास में सभी अध्यापकों और लड़कों में यह भगवान की माया की तरह व्याप्त होकर उनकी चर्चा और परेशानी का विषय बन जाती है। परीक्षार्थियों के बैठने की व्यवस्था इसी आधार पर की जाती है कि समान योग्यता के लड़के निकट न बैठ सकें, क्योंकि डर है कि कहीं नकल न कर लें। हर कमरे में दो-दो परीक्षक देखभाल के लिए होते हैं, परीक्षा इन्चार्ज महोदय गुप्त रूप से घूमकर सन्देशयुक्त लड़कों की तलाशी लेते हैं, उनके जेब, कमर व कपड़ों में परचा खोजते हैं।

सम्भावित प्रश्नों के उत्तर नोट रूप में तैयार करके पेंडू में दबाकर परीक्षा भवन में ले जाना, अपने हाथ में लिख लेना, पड़ोसी विद्यार्थी की कापी से नकल करना आदि तो छोटी बातें हैं। कुछ साहसी विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं, जो किताबें छिपाकर नकल के लिए ले जाते हैं।

विचारणीय प्रश्न यही है कि नकल करके पास होने की जो मान्यता अधिकांश विद्यार्थी बना लेते हैं, क्या वह सही है ?

एक अध्यापक अथवा संरक्षक की हैसियत से नहीं, वरन् एक विद्यार्थी की हैसियत से विचार करके और परीक्षा करके देखा जाय तो इस मान्यता को पौने सोलह आना निराधार पाया जायेगा।

अध्यापक को स्कूल में पढ़ाते-पढ़ाते अपनी कक्षा में विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर का ज्ञान हो जाना स्वाभाविक है। एक बार एक प्रधानाचार्य ने यह परीक्षण करना चाहा कि परीक्षा में नकल करने की पूरी छूट देकर देखूँ क्या परिणाम होता है ? बच्चों की बिना जानकारी से अध्यापकों को प्रयोग का उद्देश्य समझाकर यह नकली परीक्षा आरम्भ कराई गई। परीक्षा भवन में जब विद्यार्थी बैठे, कापियाँ बँटी, तो निरीक्षण की व्यवस्था ढीली कर दी गई। परीक्षक स्वयं भी एक स्थान पर बैठकर लिखने-पढ़ने का काम करने लगे। विद्यार्थी कुछ समय के बाद यह विश्वास कर बैठे कि 'पूर्ण स्वतन्त्रता मिल गई' मनमानी रूप से नकल करो। वैसा ही बहुतों ने किया भी, पर परिणाम वही रहा कि जो विद्यार्थी कमजोर थे, वे ही अनुत्तीर्ण रहे और कक्षा में अच्छे प्रतीत होने वाले ही अच्छे अंक प्राप्त कर सके।

नकल का मनोवैज्ञानिक प्रभाव—मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षण करके यह सिद्ध कर दिया है कि जब व्यक्ति किसी बात विशेष पर सोचने लगता है, अपना ध्यान एक केन्द्र-बिन्दु पर केन्द्रित कर देने से चेतन और अचेतन मन में जितनी भी जानकारी उस सम्बन्ध की होती है, वह सब क्रमशः मस्तिष्क में आनी शुरू हो जाती है। योगी ध्यानावस्थित होकर जब परमात्मा में अपने को लीन कर देता है, तो परमात्मा की सारी दृश्य व अदृश्य शक्तियाँ उसके सामने नाचने लगती हैं। व्यापारी, नेता, व्यवसायी, कर्मचारी भी अपने विषय पर चिन्तन करके बहुत कुछ नई बातें जान लेते हैं। चिन्तन और मनन की इसीलिए बड़ी महिमा है।

विद्यार्थी भी जब एकाग्र होकर प्रश्न विशेष के बारे में सोचने लगता है, तब पहले चाहे वह उस विषय में कुछ न जानता हो, परन्तु चिन्तन करने से कामचलाऊ ज्ञान उसे हो जाता है।

नकल पर विश्वास रखने वाले लड़के चिन्तन के इस मनोवैज्ञानिक रहस्य को समझने में असमर्थ रहते हैं। वे तो अगल-बगल की कापियों में अपने मन को लुभाते

हैं और अपनी आन्तरिक शक्तियों पर बल नहीं देते, परिणाम यह होता है कि पास-पड़ोस से तो कोई लाभ उठा नहीं पाते और अपनी शक्ति से भी वंचित रह जाते हैं। फलतः दुविधा में पड़कर फेल हो जाते हैं।

बाह्य शक्ति से आन्तरिक शक्ति अधिक होती है इसलिए विद्यार्थी को उसी पर अधिक भरोसा करना चाहिए। प्रश्न-पत्र पाते ही इधर-उधर से नकल करने के बजाय स्वयं सोच-विचार कर उत्तर लिखने की आदत डालें। इस अभ्यास को जारी रखने से थोड़े समय में ही अभूतपूर्व सफलता मिल सकती है।

नकल से हानियाँ—नकल करने से कितने प्रकार की हानियाँ होती हैं, इसे सभी भुक्तभोगी समझते होंगे, परन्तु उन्हें भी अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए, जो अभी किसी प्रकार की क्षति नहीं उठा पाने से बचे हुए हैं।

नकल से होने वाली हानियों को निम्न शीर्षकों में बाँटा जा सकता है—(अ) नैतिक हानि, (ब) आर्थिक हानि, (स) सामाजिक हानि।

नकल एक प्रकार की चोरी है। दूसरों की धन-सम्पत्ति वस्तुएँ चुराने वाले समाज में 'चोर' नाम से पुकारे जाते हैं। पकड़ जाने पर पुलिस उनकी उच्छी मरम्मत करती है। कारागार में रस्सियाँ बँटने और चक्की पीसने की सजा ऊपर से भुगतनी पड़ती है। चोर का नैतिक स्तर गिर जाता है। बिरादरी, मित्र-मण्डली, सभा-सम्मेलन में ऐसे व्यक्ति साहस के साथ कोई बात कह नहीं सकते। उनकी ओर लोग उपेक्षा की दृष्टि रखते हैं। वे एक कोने में दुबके बैठे रहते, दस आदमियों के बीच में सबसे पीछे आँखें बचाकर खड़े होते, सामने ताक नहीं सकते, निगाहें नीची किए रहते हैं।

नकल करने वाले विद्यार्थी की भी यही दशा होती है। उसके नैतिक स्तर का पतन हो जाता है। अपने सहपाठियों के सामने वह आत्मविश्वास के साथ सिर ऊँचा करके बातें नहीं कर सकता। जिन अध्यापकों ने उसे नकल करते देखा या पकड़ा है, उन्हें देखकर उसे रास्ता काटकर निकल जाने में ही भलाई दीख पड़ती है। प्रधानाचार्य के विचार उस विद्यार्थी के बारे में बदल जाते हैं। उसे वे अच्छा 'चरित्र प्रमाण-पत्र' नहीं देते। भावी जीवन में विद्यालय के प्रधानाचार्य के 'चरित्र प्रमाण-पत्र' का बड़ा मूल्य होता है। इस दृष्टि से नकल करने वाला विद्यार्थी अपनी बड़ी हानि करता है। एक कहावत है कि 'पहाड़ों से गिरा हुआ मनुष्य बच सकता है, परन्तु निगाहों से गिरा हुआ व्यक्ति बच नहीं सकता।' बचपन से जिन विद्यार्थियों का नैतिक स्तर बिगड़ जाता है, वे समाज में अच्छे नागरिक नहीं बन पाते। एक पैसिल की चोरी से उत्साहित होकर सुलताना बहुत बड़ा डाकू बना था, जिसने समाज को कितनी पीड़ा पहुँचाई, यह आप भली प्रकार जानते हैं।

नकल करने से होने वाली आर्थिक हानि की क्षति कभी पूरी नहीं हो सकती। नकल में पकड़ जाने पर विद्यार्थी निकाल दिया जाता है। उसका वर्ष भर का परिश्रम नष्ट हो जाता है। माता-पिता ने अपनी गाढ़ी कमाई से उसे पुस्तकें दीं, शुल्क चुकाते, स्वयं भूखे-नंगे रहकर उनकी सुख-सुविधा, विश्राम और सम्मान का ख्याल रखते हैं। नकल में पकड़े जाने पर विद्यार्थी क्षण भर में इस सारी मेहनत पर और धन पर पानी फेर देता है। इस प्रकार हुई क्षति का वह पैसा न तो कभी पूरा होता है न समय ही।

जहाँ नकल से नैतिक और आर्थिक क्षति होती है, वहाँ सामाजिक अपमान भी कम नहीं होता। नकल के अभ्यासी लड़के अपने बड़े-बूढ़ों की निगाहों से गिर जाते हैं। उनके अन्दर सामाजिकहीनता की भावना घर कर जाती है। वे स्वयं अपने को अन्यो से नीचा सोचने लगते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि इस प्रकार के नकल के अभ्यासी लड़के अपने बड़े-बूढ़ों की निगाहों से गिर जाते हैं। उनके अन्दर सामाजिकहीनता की भावना घर कर जाती है। वे स्वयं अपने को अन्यो से नीचा सोचने लगते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि इस प्रकार की नकल के अभ्यासी लड़के स्कूल-कॉलेजों में रचनात्मक सभा सोसायटी, डिबेटिंग क्लब आदि में कोई महत्वपूर्ण भाग लेने से असमर्थ रहते हैं।

उपरोक्त वर्णित तीनों प्रकार की हानियाँ अन्ततोगत्वा विद्यार्थी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालती हैं। वह ज्यों-ज्यों बुरा सोचता है, समाज द्वारा निरादृत होता है, त्यों-त्यों उसे नाना प्रकार के रोग जकड़ लेते हैं।

बहुत विचार करने पर भी कोई ठोस लाभ नहीं दीखता, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि नकल करने से कहीं हजार में एक विद्यार्थी कभी-कभी परीक्षा में पास होता है, परन्तु उसकी कमजोरी बनी रहती है, इसलिए आगे की कक्षा में पहुँचने पर वह फेल हो जाता है। प्राप्त लाभ पुनः हानि में बदल जाता है।

नकल करना एक प्रकार का धोखा है, प्रवचना है, जो अपने को बर्बाद करने के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं करता।

६. दोहराना आवश्यक—कुछ बिरले ही ऐसे होते हैं कि जिनके बिना दोहराये हुए लेखों में कोई भूल न निकले। परीक्षा में तो ऐसी भूलें हो जाने की अधिकांश सम्भावना होती है, क्योंकि कम समय में अधिक प्रश्नों के उत्तर लिखने के कारण शीघ्रता बरतनी पड़ती है, परन्तु ये छोटी-छोटी अशुद्धियाँ जब काफी जाँचते समय परीक्षक की निगाहों से गुजरती हैं, तो इसका बड़ा बुरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। अपने तीन घण्टे के समय का विभाजन करते समय अन्त के १५ मिनट दोहराने के लिए रख छोड़ना चाहिए। परीक्षा बोर्ड

३. १०९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

की ओर से भी ऐसी व्यवस्था है कि समय समाप्त होने से १५ मिनट पूर्व एक घण्टा लग जाता है। उस समय तक विद्यार्थी को अपने सब उत्तर लिख चुके होने चाहिए।

रोकथाम भी और प्रतिरोध भी

किशोरावस्था तेरह-चौदह वर्ष से आरम्भ होती है, पर वह चलती है पच्चीस-छब्बीस वर्ष तक। बिना मूँछ वाले ही नहीं, मूँछ वाले तरुण भी किशोरों में ही गिने जाते हैं, कारण कि उनमें जोश तो असाधारण रहता है, पर होश की कमी पाई जाती है। होश का अर्थ है—दूरदर्शी विवेकशीलता। यह अनुभवजन्य होती है। अनेकों के साथ हुई अनेकों प्रकार की भली-बुरी घटनाएँ बताती हैं कि किसी क्रिया का क्या परिणाम होता है ? किस प्रवाह में बहने लगने पर कहीं पहुँचा जाता है ? यह बहुज्ञता से सम्बन्धित है। इसे बाह्य क्षेत्र में घटित होने वाली घटनाओं के द्वारा प्रस्तुत हुए परिणामों को देखकर अधिक सरलतापूर्वक जाना जा सकता है, पर यह कोई लक्ष्मण रेखा नहीं है। कितने ही विचारशील ऐसे भी होते हैं, जो चिन्तन, मनन और कल्पना-शक्ति के आधार पर भी उचित-अनुचित का निष्कर्ष निकाल लेते हैं। उनका पूर्व संचित ज्ञान और सज्जनों के साथ विचार-विनिमय भी बहुत कुछ सिखा देता है। सत्साहित्य का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर भी मनीषियों के निर्धारणों-प्रतिपादनों से भी ऐसा बहुत कुछ सीखा जा सकता है, जो बड़ी आयु के विचारशील ही बहुधा प्राप्त कर पाते हैं।

सही मार्ग पर चलते हुए प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचना और उल्टी दिशा में चल पड़ने पर अनेकानेक संकटों का सामना करना ऐसा तथ्य है, जिसे जितनी जल्दी समझ लिया जाय, उतना ही उत्तम है। इस सन्दर्भ में जहाँ जितनी कमी पाई जाती है, वहाँ उतनी ही कच्ची-पक्की किशोरावस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। यही वह अवधि है, जिसे किसानों के बीज बोने वाली अवधि कहते हैं। मौसम के कुछ ही दिन ऐसे होते हैं, जिनमें बीज बोने पर समुचित रीति से फसल उगती है। यदि यह समय चुक जाय, तो समझना चाहिए कि फसल की बहुत बड़ी सम्भावना तिरोहित हो गई। इस तथ्य को समझते हुए समझदार किसान बीज बोने की अवधि का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं और उसे हाथ से नहीं जाने देते। किशोरावस्था को भी ठीक ऐसा ही अवसर माना जाना चाहिए। उसमें स्कूली शिक्षण ही नहीं साथ-साथ यह प्रयत्न भी चलना चाहिए कि सभ्यता, सुसंस्कारिता पनपे और नागरिकता-सामाजिकता की मर्यादाओं का स्वभाव में समुचित समावेश चल पड़े।

उठती आयु के किशोर प्रायः स्कूल से चलकर घर तक और घर से चलकर स्कूल तक ही आते-जाते हैं। खेल-कूद की आवश्यकता वे पास-पड़ोस में ही पूरी कर लेते हैं। अभिभावकों की नजर भी उन पर रहती है, पर

आयु अठारह से ऊपर निकल जाने और पच्चीस के लगभग पहुँचने तक स्थिति में भारी अन्तर आ जाता है। पढ़ना है, तो कॉलेज जाना पड़ता है, जो घर से दूर होता है, जाने-आने में समय लगता है। सांस्कृतिक कार्यक्रम, स्काउटिंग, खेल-कूद आदि अन्यान्य प्रसंगों का भी समावेश होता है। इनमें भी समय लगता है। फिर पढ़ाई के सम्बन्ध में अन्य साधियों के घर पूछताछ करने की भी उपयोगिता समझी जाती है। ऐसे ही अनेक प्रसंगों को जोड़कर घर से बाहर रहने का वास्तविक या अवास्तविक कारण गिना देने पर अवसर रहता है। इसी बचे हुए समय में यदि नवयुवक चाहें, तो कुसंग में पड़ने के लिए अधिक समय निकाल सकते हैं। छोटे बच्चों का तो किसी दिशा में रुझान ही होता है, पर बड़ी आयु के किशोर तो उसे चरितार्थ भी कर सकते हैं। पढ़ाई के लिए, जीवनचर्या के लिए कुछ पैसा भी उनके पास रहता है। उसे वे चाहें, तो गलत कामों में खर्च भी करते रह सकते हैं। अभिभावकों से वस्तुस्थिति को छिपाये रहने में भी अपनी विकसित बुद्धि के सहारे आसानी से सफल हो सकते हैं। नशेबाजी इन्हीं दिनों कुसंग के कारण आरम्भ होती है। सिनेमा देखने का चक्का भी इसी खाली समय में लगता है। अश्लील हरकतों से लेकर आवारागद्दी तक के अनेक दुर्व्यसन पल्ले बँध जाते हैं। यदि किन्हीं को सुयोग मिला, तो वे शालीनता के वातावरण एवं समुदाय के साथ भी अपनी घनिष्टता बना लेते हैं। इन्हीं दिनों अपने चिन्तन को किसी भली-बुरी दिशा के साथ जोड़ा जाता है। जड़ जमने की यही अवधि है। बाद में तो व्यक्ति कमाने-धमाने के फेर में लग जाता है और जो स्वभाव आरम्भिक दिनों में बन गया है, उसी के अनुरूप आचरण करता रहता है।

चूँकि सज्जनता का वातावरण एवं अवसर कम है। सब ओर दुस्वभाव, कुप्रचलन एवं अनाचार का ही बोलबाला है। ऐसी दशा में बहुमत का दबाव और अनाचारों का आकर्षण युवकों को अधिक प्रभावित करता है। उनमें से अधिकांश उसी कुचक्र में फँस जाते हैं। मानवी मर्यादाओं का उल्लंघन करने की, उच्छृंखलता अपनाने की आदत उन्हें यहीं से पड़ जाती है। यह आरोपण आगे चलकर विष वृक्ष के रूप में परिवर्तित होता है।

उठती आयु के किशोरों की अपेक्षा बढ़ती और पकती आयु के युवक कुविचारों को अनाचार के रूप में क्रियान्वित करने में अधिक सफल होते देखे गये हैं। इन दिनों विशेष देखभाल की जरूरत है। संकटों से बचने का ठीक यही समय है। इसके लिए सतर्कता, जाँच-पड़ताल, रोकथाम की तो आवश्यकता है ही, साथ ही यह प्रयत्न भी होना चाहिए कि उन्हें सुसंगति भी मिले। समय का कार्यक्रम ऐसा बने, जिसमें उपयोगी कार्यों की व्यस्तता ही छाई रहे। अच्छी प्रकृति वाले सज्जनों के साथ ही

बैठना-उठना बन पड़े। अच्छा हो दोस्तों का चुनाव लड़कों के ऊपर न छोड़ा जाय, पर उनकी टोली बनाने में अध्यापक एवं अभिभावक भी रुचि लें, साथ ही उनके साथ वार्तालाप करते रहने का भी उपक्रम चलायें। देखा यह गया है कि आयु बढ़ने के साथ-साथ अभिभावकों और किशोरों के बीच अनावश्यक संकोचशीलता पनपने लगती है। इससे विचारों के आदान-प्रदान की, वस्तुस्थिति को समझने और समझाने की व्यवस्था में अड़चन खड़ी हो जाती है, फलतः सुधार, परिवर्तन की सम्भावनाएँ भी घट जाती हैं। अच्छा हो यह स्थिति कहीं भी न बने। जिस प्रकार छोटे बालकों और अभिभावकों के बीच प्यार-दुलार का, हँसने-हँसाने का उपक्रम चलता रहता है, उसी प्रकार उसमें थोड़ा सुधार करके आयु के अनुरूप स्तर का विचार-विनिमय चलता रहे और रोकथाम से लेकर आवश्यक सुझाव पूछने या देने का सिलसिला चलता रहे।

जिन्होंने पढ़ाई आरम्भ ही नहीं की या थोड़ा पढ़कर स्कूल से नाम कटा लिया, उनकी समस्या और भी अधिक जटिल है। वे पूरे मन से, पूरी शक्ति से, पूरे समय घर का काम तो करते नहीं। घर वाले भी उन पर वैसा दबाव नहीं देते। उपेक्षा की मनःस्थिति में किया काम भी अस्त-व्यस्त ही रहता है। ऐसी दशा में परिवार वाले खीजते रहते हैं और रुष्ट होकर असहयोग जैसी स्थिति बना लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि युवक आचारागर्दी में जहाँ-तहाँ घूमने लगते हैं। पढ़ने वाले छात्रों की अपेक्षा इन अधिकचरे अस्त-व्यस्त युवकों की समस्या और भी अधिक जटिल है। आकांक्षा और अनगढ़ स्थिति उन्हें एक प्रकार से और भी अधिक जटिल बना देती है। उन्हें समझाने की दिशा में और भी कठिनाई होती है, जबकि परिवार वाले स्वयं अशिक्षित और समस्याओं से निपटने में अपने पिछड़ेपन के कारण अक्षम होते हैं।

युवकों को एक उपयोगी मोड़ देने की योजना यह है कि उनके लिए सर्वत्र व्यायामशालाएँ स्थापित की जाएँ, उनमें सम्मिलित होने के लिए हर उठती उम्र वाले को सहमत किया जाय। स्वास्थ्य-रक्षा में, व्यायाम के योगदान से विस्तारपूर्वक अवगत कराया जाय। यह दिलचस्प विषय ऐसा है, जिससे यदि नई पीढ़ी को जोड़ा जा सके, तो वे अपने शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ मानसिक स्वास्थ्य को भी सुधार सकते हैं। अपना भविष्य बिगड़ने से बचा सकते हैं और प्रगति के मार्ग पर चल पड़ने का एक नया आधार प्राप्त कर सकते हैं।

पिछले दिनों व्यायामशालाएँ मात्र कसरत तक सीमित थीं। उनमें दण्ड, बैठक, कुश्ती आदि का अभ्यास कराया और पहलवान बनाया जाता था, पर अब इस समग्रता के युग में उनके साथ स्वास्थ्य संरक्षण और सम्बर्धन के अनेकानेक पक्ष जुड़ गये हैं। इस आधार पर दुर्बलता और रुग्णता से भी छुटकारा पाया जा सकता है

तथा सामान्य स्वास्थ्य, असामान्य बलिष्ठता में विकसित किया जा सकता है। पाठशालाओं की तरह व्यायामशालाओं का भी महत्व समझा जाना चाहिए। उन्हें हर जगह स्थापित ही नहीं, सक्रिय एवं सक्षम भी बनाया जाना चाहिए। उनमें चरित्रनिष्ठा एवं अनौचित्य के अवरोध का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए।

लाठी चलाने की शिक्षा को व्यायामशालाओं का एक महत्वपूर्ण अंग निर्धारित किया जाना चाहिए। इसमें शारीरिक कसरत भी हो ही जाती है। बड़ी बात यह है कि मनोबल भी बढ़ता है। डरपोकपन छूटता है और अवांछनीयता के विरुद्ध प्रतिरोध करने का साहस भी उभरता है।

समर्थता उभरते देखकर अवांछनीय तत्त्वों की हिम्मत टूटती है। आक्रमणकारियों के इरादे बदलते हैं। जिन्होंने आक्रमण नीति अपनाई हुई है, उन्हें भी अपने पैर पीछे हटाने में ही भलाई दीखती है। बिना चोट पहुँचाये वह प्रयोजन सिद्ध होता है, जो दाँत खट्टे कर देने की स्थिति में ही बन पड़ता है। शक्ति का प्रदर्शन भी शक्ति के प्रयोग को रोकता है। फटा बाँस फटकारते रहने पर खेत उजाड़ने वाले जंगली जानवर भाग खड़े होते हैं। किसान खेतों में 'बिजुका' बनाकर खड़ा कर देते हैं, उसे देखकर चिड़ियाँ नहीं उतरतीं और लोमड़ी, खरगोश जैसे छोटे जानवर भी खेत में प्रवेश करने से कतराते हैं। व्यायामशालाओं में कसरत करने वालों और लाठी चलाना सीखने वालों को देखकर अनाचारियों की हिम्मत पस्त होती है। साहस का दीखना भी बल प्रयोग जितना काम कर जाता है। नवयुवकों की व्यायामशालाएँ और समर्थ नागरिकों का सेवादल जैसा संगठन बनाना भी गुण्डा तत्त्वों की रोकथाम का एक कारगर एवं सस्ता उपाय है। प्रसिद्ध है कि चोर के पैर नहीं होते। वह घर वालों के जाग जाने और रोने-चिल्लाने की आवाज भर सुनकर भाग खड़ा होता है। यही बात उन अनाचारियों के सम्बन्ध में भी लागू होती है, जो कमजोर, असंगठित वर्ग को ही आमतौर से अपना शिकार बनाते हैं। जहाँ उन्हें विश्वास होता है कि प्रतिरोध की आशंका नहीं है, वहीं वे शिकंजा कसने का प्रयत्न करते हैं। जब उन्हें प्रतीत होता है कि यहाँ तो दाँत खट्टे कर देने वाली प्रतिरोधक शक्ति मौजूद है, वहाँ से वे सहज ही किनारा काट लेते हैं और अपनी जान बचाते हैं। इस तथ्य से सर्वसाधारण को, विशेषतया उत्पीड़नग्रस्तों को बचाया जाना चाहिए। यदि इतना भर जनसाधारण को सिखा दिया जाय, तो मनोबल बढ़ने भर से आधी मात्रा में गुण्डागर्दी का समापन हो सकता है।

साँप जब तक अपनी आत्मरक्षा के लिए आवश्यक नहीं समझता, तब तक काटता नहीं। खतरों को अपने से दूर रखने के लिए वह गरदन उठाकर फुसकारता ही रहता है। इस फुसकार के पीछे यह तथ्य भी सम्मिलित

३. १११ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

रहता है कि वह जरूरत पड़ने पर काट भी सकता है। असामाजिक तत्वों से सचेत रहने के लिए कभी-कभी हमें ऐसी भूमिका भी निभानी पड़ सकती है जिसमें हमें नकली फुसकार का सहारा भी लेना पड़े। शटे शादयम की नीति अपनी जगह सही है। वहाँ यह भी ठीक है कि अनीति के प्रति कड़ा रुख समूह द्वारा अपनाया जाय। गुण्डा तत्व उच्छृंखल भी होता है, जब-जब भी अनीति किसी रूप में होती दिखे तो उसे अनदेखा न कर सभी सामूहिक रूप से प्रतिरोध को आगे आये तो फिर उसे दम दबाकर भागना ही पड़ता है। इसीलिए ऐसी नीति अपनाई जानी आवश्यक है। विशेषतः किशोर युवा वर्ग से तो सभी को यह अपेक्षा आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में है।

हमारा तरुण वर्ग और उसकी कुण्ठाएँ

आज समाज के सामने युवक वर्ग की समस्या बड़ा भयानक रूप धारण करती जा रही है। युवकों की बढ़ती हुई उच्छृंखलता, उद्वेगता तथा अनुशासनहीनता ने हर विवेकशील व्यक्ति की चिन्ता बढ़ा दी है। समाज की यह शक्ति यदि इसी प्रकार अनियन्त्रित होती चली गई और इसकी कोई रोकथाम की योजना जल्दी ही कार्यान्वित न की गई तो कौन-कौन-से दुष्परिणाम समाज एवं राष्ट्र के सम्मुख आ सकते हैं, इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। युवक वर्ग की इस अनुपयुक्तता के कारण खोजने और उनको दूर करने के उपायों पर विचार करना ही होगा।

युवकों के उच्छृंखल तथा अनुशासनहीन होते जाने के कारणों को खोजने पर एक कारण तो घर का वातावरण मालूम होता है। आज समाज में पारिवारिक जीवन का कोई उद्देश्य नहीं रह गया है। लोग खाने-पीने, रहने-सहने से अधिक इसका कोई अर्थ ही नहीं समझते। प्रमुख कुछ कमा लाया। माँ ने भोजन बना दिया, सबने खा-पी लिया और अपने-अपने रास्ते लग लिये। पढ़ने योग्य बच्चों को स्कूल भेज दिया गया, आवश्यक कपड़े बनवा दिये गये और अन्य सामग्री खरीद दी गई—बस पारिवारिक जीवन के सारे कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व समाप्त हो गये। सीखना चाहिए कि भोजन, निद्रा और आराम तो पशुओं में चलता रहता है और यदि उनमें चेतना और प्रथा होती तो शायद वे तन भी ढकते और शिक्षा का भी प्रबन्ध करते, किन्तु यह उनका दुर्भाग्य है कि शील तथा शिक्षा की चेतना उन्हें परमात्मा ने नहीं दी, न पारिवारिक अथवा सामाजिक भावना ही दी। यह विशेषता केवल मनुष्यों को मिली है। इसलिए कि वे व्यवस्थापूर्वक रहें, उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास की सुविधा हो सके, उनके जीवन में अनुरूप सुख-शान्ति का समावेश हो सके, किन्तु क्या वह इस विशेषता को चरितार्थ कर

रहा है ? और महानताएँ तो दूर वह आज पशुओं जैसा भी तो सुख-शान्तिपूर्वक नहीं रह पा रहा है।

इसका मुख्य कारण यही समझ पड़ता है कि लोग परिवार तो बसाते चले जाते हैं, बच्चों की परम्परा भी लगाते हैं, किन्तु उनके मानवोचित निर्माण की ओर ध्यान नहीं देते। वे प्रकृत रूप से अनियमित गति से चलने वाले चक्र पर चढ़े यों ही चक्कर लगाते चले जाते हैं। कुछ दिन खा-पहनकर उल्टा-सीधा जी लिये और उल्टी-सीधी जनसंख्या बढ़ाकर संसार से चलते बने। न तो यह पारिवारिक जीवन है और न मानवीय जीवन। मानवीय जीवन तो तब हो जब एक सुव्यवस्थित, सुचारु तथा सुयोग्य जिन्दगी को जिया जाये। परिवार तथा समाज को कुछ अधिक आगे बढ़ाया जाये और अपने पीछे ऐसे ढले हुए प्रतिनिधि छोड़े जायें जो समाज के लिए वरदानतुल्य सिद्ध हों। जिनका जीवन अपने में तो अनुशासित तथा आनन्दमय हो ही, दूसरों के लिए उसी दिशा में सहायक तथा सहयोगी बने। लेकिन इसके विपरीत होता यह है कि अपने शत्रु तो आप बने ही हैं, दूसरों के लिए अभिशाप बने हुए हैं।

आज समाज का तरुण वर्ग, जो देश की शक्ति, राष्ट्र का गौरव और परिवार के धुरीधारक होते हैं, उसके लिए कष्ट तथा चिन्ता के विषय बन गये हैं। जो देश, जाति के अभिमान और उसकी गौरव-पताका को ऊँचा उठाने वाले होने चाहिए, देश की अवनीति के कारण बन रहे हैं। यह शोक की ही नहीं लज्जा की बात भी है।

इस अवांछनीयता के दोषी तरुण हैं तो, किन्तु इससे अधिक दोषी वे अभिभावक हैं, जो उनको अस्तित्व में तो लाते हैं, किन्तु उनका सावधानीपूर्वक न तो विकास करते हैं और न निर्माण। ऐसे असावधान अभिभावकों को कोई अधिकार नहीं कि वे निरर्थक की जनसंख्या बढ़ाकर समाज के कष्टों में निरन्तरता की वृद्धि करें। बच्चे राष्ट्र के भावी नागरिक होते हैं, उन पर देश का भविष्य तथा सभ्यता, संस्कृति का गौरव निर्भर रहता है। यदि उनको उसके अनुरूप विकसित नहीं किया जाता तो बच्चे पैदा करना एक राष्ट्रीय अपराध है और अभिभावक उसके लिए लांछन के पात्र हैं।

भारतीय संस्कृति के अनुसार हमारे युवकों को स्वस्थ, सुन्दर, सुशील, अनुशासित, विनम्र, विद्वान तथा चरित्रवान होना चाहिए। उन्हें अपने को मानवता का अलंकार प्रमाणित करना चाहिए, किन्तु ऐसे कितने युवक देखने में आते हैं, जो तन-मन से स्वस्थ सरल तथा सुन्दर हों। जिनकी छोटी-छोटी-सी गतिविधि से देश का गौरव और राष्ट्र का स्वाभिमान झलकने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का गौरव परिलक्षित होता हो। शायद ही कतिपय युवक ऐसे देखने में आ जायें जिनके मुखमण्डल संयम एवं आवरण के ओज-तेज से दीप्तमान दिखते हों। जिनके हृदयों में देश, जाति के प्रति उत्तरदायित्व तथा

उसके मानापमान का भाव विद्यमान रहता हो और उसके जीवन की हर गतिविधि उससे नियन्त्रित एवं परिचालित होती हो, ऐसे युवक आज कहीं तो देखने में नहीं आते। ऐसे तेजस्वी तरुण आज कहीं हैं, जिन्हें यह स्वस्थ स्पर्धा प्रेरणा देती हो कि यदि रूस, अमेरिका, इंग्लैण्ड, चन्द्रलोक पर अभियान कर सकते हैं, तो हमारा देश क्यों नहीं कर सकता ? यदि किसी देश के तरुण अन्तरिक्ष को भेदकर बाह्य आकाश में पहुँच सकते हैं तो हम क्यों नहीं ? ऐसे कितने हैं जो भौतिक विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान के जिज्ञासु बने जीवन की शक्तियाँ नियोजित करने की सोच रहे हैं। आज भारत की देव सन्तानें और त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनियों के वंशधर मालवीय सन्तानों से जो उन्नति एवं विकास में पिछड़ रहे हैं उसका कुछ मूलभूत कारण है।

जहाँ कभी विवाह करने से पूर्व पूर्ण तैयारी कर ली जाती थी और उपरान्त सन्तान के गर्भस्थ होते ही उसके विकास तथा निर्माण की योजना चल पड़ती थी और कम से कम पच्चीस वर्ष तक जब तक कि वह पूर्ण एवं परिपूर्ण न हो जाता था जिम्मेदारी के साथ चलती रहती थी। वहाँ आज पशुओं की तरह काम-सन्ताने पैदा करने के सिवाय किसी को कुछ याद ही नहीं रहा। ऐसी सन्तानों से देश का गौरव और समाज की शक्ति बनने की आशा करना अपना उपहास कराने से ज्यादा कुछ नहीं। जहाँ प्राचीनतम राष्ट्र की यह दशा है, वहाँ हाल ही के सभ्य हुए देश विवाह तब ही करते हैं, जब उस योग्य पूरी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। तन-मन-धन तीनों से परिपूर्णतया परिपुष्ट होने के बाद ही वह उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं। उन्हें विवाह करने और उसका सुख लूटने की कोई जल्दी नहीं रहती, क्योंकि विवाह उनके लिए भोग का अवसर नहीं उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ एक उत्तरदायित्व होता है। उनके सन्तान पैदा नहीं हो जाती। सन्तान उनकी आत्मइच्छा तथा आवश्यकता पर निर्भर सावधान सृजन होता है। उनकी एक रचना होती है जो आगे चलकर देश-जाति की शोभा तथा गौरव बना करती है। वे सन्तान को पूरी तैयारी के साथ गर्भ में लाते और भूमि पर आते ही उसे शिक्षित करने लगते। उन्हें राष्ट्र-देश तथा समाज की शिक्षा देते उन्हें देश-देशान्तर की घटनाओं से अवगत कराते और नक्शे पर अँगुली रखकर और ग्लोब घुमाकर भूमि का ज्ञान कराते। वैज्ञानिक आविष्कारों की कहानियाँ सुनाते, चित्र दिखाते और उसके लिए उत्सुक बनाते। उन्हें समुद्रों, मल्लाहों तथा अन्तरिक्ष यात्रियों के विवरण बतलाते और उनका प्रेरणाप्रद यश सुनाते। उनकी शिक्षा में खुद पूरी तरह से रुचि लेते, प्रगति देखते और घर का वातावरण बिल्कुल वैसा ही रखते जैसा कि नागरिक वे समाज को देना चाहते। जब वहाँ का कोई प्रबुद्ध नागरिक सन्तान पैदा करता है, तो उसका जीवन लक्ष्य उसका समुचित निर्माण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। उसकी सारी शक्ति,

सारे साधन तथा सारा समय उसके निर्माण में ही लगता, क्योंकि एक सुयोग्य नागरिक दे सकना, वे देश राष्ट्र की सबसे बड़ी सेवा समझते हैं। साथ ही यदि अपनी स्थिति सन्तान, निर्माण के योग्य नहीं समझते, तब या तो विवाह ही नहीं करते अथवा दम्पति निःसन्तान रहकर स्वयं ही अपने आप राष्ट्र अथवा समाज की सेवा करते और सन्तान के स्थान पर कोई आविष्कार, अन्वेषण अथवा कला, विज्ञान, साहित्य, विचार तकनीकी के क्षेत्र की कोई अमर रचना प्रदान करते। वे सन्तान का न होना दुर्भाग्य नहीं मानते, दुर्भाग्य मानते हैं उसका अयोग्य होना। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य, भारत और भारत, न जाने क्या हो गया है ? प्राचीनतमता का नवीनता से इतना पिछड़ जाना खेद का ही नहीं लज्जा का विषय है। अभिभावक सोचें-समझें और देश व समाज के प्रति उनका जो कर्तव्य है, वह सन्तान निर्माण के माध्यम से पूरा करें अथवा निरर्थक एवं निकम्मी जनसंख्या बढ़ाने का पाप बन्द कर दें। इसी में उनका तथा समाज का हित है।

भारतीय तरुणों की वर्तमान अस्त-व्यस्तता में प्रमुख भूल अभिभावकों की मानकर भी यह नहीं माना जा सकता कि परिवार के बाहर समाजीय वातावरण का अथवा युवकों का अपना कोई दोष नहीं है। यह दोनों भी दोषी हैं। जैसे सबसे पहले यह ले लीजिए कि समाज में अधिकतर लोग अब भी उन सब बातों से प्रभावित होते हैं जिनसे अँग्रेजों की गुलामी के समय होते थे। जो कोट, पैण्ट पहनता है, अँग्रेजी की टाँग तोड़ता है, वह अधिक सभ्य तथा शिक्षित माना जाता है। जो ऐसा नहीं करता अथवा नहीं कर पाता वह पुराना, दकियानूसी और अर्धसभ्य समझा जाता है। रेलों, बसों, बाजारों किन्हीं भी सार्वजनिक स्थानों में यह विषमता स्पष्ट दिखाई देती है। कोट-पैण्ट वाले युवकों का रौब, पुलिस तथा अधिकारी वर्ग भी मानता है, जबकि सीधी-सादी पोशाक और अपनी मातृभाषा बोलने वालों को चपरासी तक नहीं पूछता। जब ऐसा है तो समाज में रौब डालने के लिए क्यों नहीं कोई तरुण विदेशी वेशभूषा में रहना पसन्द करेगा और क्यों नहीं अँग्रेजी बोलने का प्रयत्न करेगा। जैसी वेशभूषा और भाषा वैसी चित्त-वृत्तियाँ निदान उनमें भारतीय संस्कृति के प्रति विरक्ति होती जाती है। साथ ही पूरे अँग्रेज न हो सकने से उनका यह अवमिश्रित व्यक्तित्व अवोच्छित गतिविधियों की अभिव्यक्ति करता है।

सिनेमा ले लीजिए। इसने तो भारतीय तरुणों को भीतर-बाहर दोनों प्रकार से बर्बाद कर दिया है। फैशन ही नहीं भोंड़े फैशन इसी की देन है, बाजारू रोमांस और कॉलेजी विवाह इसी की कृपा है। माता-पिता के प्रति अवज्ञा, प्रेम के नाम पर अपराध यह सिखा रहा है। शील, संकोच और नैतिक मर्यादाओं का हनन यह सिखा रहा है और भारतीयता को वैदिकता तथा प्राचीनता को

३. ११३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

असुशील नवीनता में बदलने का पाप यह कर रहा है। राह चलते प्रेम करना, लड़कियों को देखते ही अभिनय भंगिमाएँ दिखलाना इसकी दी हुई शिक्षा है। भारतीय दृष्टि से अनैतिकता तथा आचरणहीनता का जितना विष आज भारतीय तरुणों में दिखलाई दे रहा है, वह सब निरुद्देश्य, निरर्थक तथा निकम्मी फिल्मों की देन है। विचार स्वातन्त्र्य और नई रोशनी के नाम पर गुरुजनों के साथ अनावश्यक मुँहजोरी करना तो सिखाया, किन्तु मातृ-पितृ भक्ति, परिश्रम पुरुषार्थ, राष्ट्र-निर्माण तथा चरित्र-निर्माण के नाम पर इसकी सारी कला को काठ मारे रहता है। आज के भारतीय फिल्म पचास प्रतिशत से अधिक भारतीय युवकों को बिगाड़ने की अपराधी है।

शिक्षा-पद्धति भी इस माने में कम दोषी नहीं है। आज किण्डर गार्डन, बाल मन्दिर और न जाने कितने प्रकार के प्रयोग तो शिक्षा सुधार में किये जाते हैं, किन्तु जानी-मानी और प्रारम्भिक गुरुकुल पद्धति से शिक्षाशास्त्रियों को न जाने क्यों विरक्ति है ? पहले जैसे वन और अरण्यों में भले ही वे न चलाये जायें, आज इसकी न तो आवश्यकता है और न वे सम्भव ही हैं। यही विद्यालय भवन उस प्रकार की शिक्षा तथा दीक्षा की प्रधानता से प्राचीन गुरुकुलों का उद्देश्य पूरा कर सकते हैं। महत्त्व स्थान तथा भवन का नहीं है महत्त्व इस बात का है कि छात्रों को क्या, कैसे और किस उद्देश्य से पढ़ाया जाता है ? आज की शिक्षा-पद्धति, थोड़ा विषय ज्ञान देने के अतिरिक्त क्या कुछ भी चरित्र-निर्माण की शिक्षा देती है उत्तर होगा नहीं। जब नहीं है तो फिर युवकों के बिगाड़ने पर रोष, क्षोभ ही बेकार है।

युवकों को परिश्रम, पुरुषार्थ तथा खेती जैसे परिश्रम पूर्ण कार्यों की न तो महत्ता बताई जाती है और न आवश्यकता। उन्हें तो आराम की जिन्दगी बिताने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है, यह सामाजिक तथा व्यक्तिगत त्रुटियाँ आज के भारतीय युवकों को पथ-भ्रान्त किये हुए हैं जल्दी से जल्दी जितनी त्रुटियाँ दूर होती जायेंगी अपना युवक वर्ग भी उतना सँभलता और बदलता जायेगा।

युवकों को सत्संस्कारों से भरी सहायता दी जाये

२० से २५ वर्ष की युवावस्था की आयु में अभिभावकों के सहयोग का स्वरूप बाल्यावस्था और किशोरावस्था से बिल्कुल भिन्न होता है तो भी युवकों के स्वावलम्बी एवं गृहस्थ बनने तक अभिभावकों का उनके प्रति सहयोग, मार्ग-दर्शन का कर्तव्य अनिवार्य ही बना रहता है। बाद में अभिभावकों से सहयोग सुझाव लेना, न लेना समर्थ युवक पर निर्भर करता है। वयस्क हो चले पुत्रों के प्रति पिता की भूमिका तत्त्व-चितक, पथ-प्रदर्शक एवं मित्र की ही हो सकती है। युवकों में अहं भावना

का अधिक विकास हो जाता है। वे अपने सम्मान की अपेक्षा करते हैं। अतः इस आयु में उन पर अनुशासन पहले से कम होना चाहिए। उन्हें ऐसा लगे कि उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का भी सम्मान किया जाता है। उनसे 'तू' कहकर नहीं, 'तुम' कहकर बोलें। आदेशपरक वाक्य बहुत कम बोलें। जो कहना हो सुझावपरक ढंग से कहें, जैसे—'मेरी राय में अमुक काम अमुक ढंग से करना अधिक अच्छा एवं उपयोगी होता है।' 'यह करने से यह लाभ होता है।' 'वैसा करने से हानि होती है।' 'तुम ऐसा कर सको, तो अधिक अच्छा रहेगा।' 'यह करके देखो। मेरे अनुसार इससे यह लाभ मिलता है।' आदि। ऐसे सुझावपरक संवाद में शब्द तो अधिक बोलने पड़ते हैं, किन्तु उसका प्रभाव समुचित होता है।

अहं भावना का युवकों में विकास समय की माँग है। उसे समझते हुए व्यवहार में तालमेल न बैठाया गया, तो अवज्ञा, मुँहजोरी, अवहेलना का सामना करना पड़ सकता है।

इस आयु में रहन-सहन की कुछ स्वतन्त्रता देनी चाहिए। उसमें कठोर आग्रह नहीं रखा जाय। पिता धोती-कुर्ता पहनता है, तो बेटे से भी वैसी ही पोशाक का आग्रह न करे। वह पाजामा, फुलपेंट, शर्ट, बुशर्ट पहन रहा है, इसमें आपत्तिजनक कुछ भी नहीं। पिता पूजा-पाठ में समय लगाता है, लड़का उस ओर एक क्षण भी ध्यान नहीं देता, तो भी ऐसी बातों को लेकर कलह नहीं किया जाना चाहिए। सिर्फ सुझावपरक ढंग से ही कुछ कहना चाहिए। उसे नास्तिक या इसी तरह के अन्य कठोर शब्द तो कभी भी न कहें, क्योंकि इसका परिणाम उल्टा ही होगा। केश-विन्यास, वेशभूषा आदि में विचार स्वातन्त्र्य एवं आचरण-स्वातन्त्र्य दिया जाय। पर इतना नहीं कि भोंड़े, फूहड़, हेय फैशन तक स्थिति जा पहुँचे। जब स्वतन्त्रता फूहड़पन तक पहुँचने लगे, तो समझाएँ कि यह फैशन, इसी तरह के दोस्त भले सराहें, पर सामान्य धारणा इनके प्रति अच्छी नहीं। इससे तुम्हारी बदनामी ही होगी। लोग आवारा, बदचलन समझेंगे या बाप का माल उड़ाने-फूँकने वाला कहेंगे।

सिगरेटबाजी, नशेबाजी जैसे दुर्व्यसनों की प्रवृत्ति देखने पर तो स्पष्ट रूप से टोकना-रोकना चाहिए। कड़ा रुख अपनाना चाहिए। विचार-स्वातन्त्र्य वस्त्र-वेश तक ही मर्यादित रूप में दिया जाये।

लड़का बिगड़ रहा है, विवाह-शादी के बाद जिम्मेदारी समझकर सँभल जायेगा—ऐसा सोचकर ब्याह-शादी की हड़बड़ी नहीं की जानी चाहिए। जब तक वह स्वावलम्बी न हो जाये, विवाह करना हर प्रकार से अनुचित एवं हानिकर है। इससे उसका दिमाग ही खराब होगा और भविष्य चौपट हो जायेगा।

युवावस्था में प्रवेश करते ही लड़के के साथ व्यवहार एवं वर्तलाप में जहाँ इस बात का ध्यान रखा

जाय कि उसके स्वाभिमान एवं अहं-भावना को अनुचित ठेस न पहुँचाई जाये, वहीं उन पर यह प्रभाव भी डाला जाये कि उन्हें परिवार एवं समाज का ऋण चुकाना है। वे यह न समझें कि पैतृक सम्पत्ति तो उनके ही 'बाप का माल' है, जिसे मुफ्त में उड़ाया जा सकता है। पैतृक सम्पत्ति पूरे परिवार के लिए है उस पर ऐकान्तिक हक किसी का नहीं। वह तो पूरे परिवार की व्यवस्था को संचालित, गतिशील रखने वाली पूँजी है। उससे जो अंश अपने लिये खर्च किया जाये, वह ब्याज सहित लौटाना कर्तव्य है।

महर्षि कर्वे ने जो व्यवहार अपने बेटों के साथ किया, वह एक सुयोग्य पिता का वयस्क पुत्र के साथ न्यायसंगत व्यवहार है। उन्होंने अपने बेटों के वयस्क हो जाने पर उन्हें उच्चस्तरीय शिक्षा के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता तो निस्संकोच दी, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह रकम तुम लोगों के लिए मुफ्त की नहीं। इसे उधार मानकर लो और समर्थ होने पर लौटाओ। उन पुत्रों ने ऐसा ही किया। वह धन महर्षि कर्वे ने समाज के उत्कर्ष के प्रयोजनों में लगाया। ऐसी ही शिक्षा प्रत्येक वयस्क पुत्र को दी जाय तो वे स्वावलम्बी भी बनेंगे, उदार भी।

परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति के उपयोग का आधार यह बनना चाहिए कि वह पूरे परिवार के समान विकास के लिए सहायक पूँजी है। जिस प्रकार सामाजिक समता के लिए पिछड़ों को विशेष अवसर देकर उन्हें आगे बढ़ने में मदद देना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह माँग की जा रही है कि विकसित, सम्पन्न देश पिछड़े एवं विकास हेतु प्रयासरत देशों को अधिकाधिक मदद दें और उसे एहसान नहीं, कर्तव्य समझें। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई है। उसी प्रकार पारिवारिक सम्पत्ति का लाभ उन्हें मिले, जो पिछड़े हैं, अभी समर्थ नहीं हुए हैं, जिन्हें मदद चाहिए। जो पहले से ही आगे बढ़े हुए हैं, वे ही पारिवारिक धन का जैसा चाहें, वैसा उपयोग करें, यह तो न्यायपूर्ण व्यवस्था न होगी। उसके समान बँटवारे की बात तो तभी उचित ठहराई जा सकती है, जब किसी परिवार में माता-पिता हों और जितनी भी सन्तानें हों, सब एक-सी स्थिति में हों, वय, क्षमता एवं आवश्यकता की दृष्टि से। यह स्थिति मात्र काल्पनिक ही हो सकती है। कभी भी कहीं भी ऐसा कोई परिवार नहीं हो सकता, जहाँ परिवार के सभी सदस्यों का स्तर एक-सा हो, आवश्यकता एक-सी हो। ऐसी स्थिति में पारिवारिक सम्पत्ति पर सबका एक-सा हक कैसे माना जा सकता है ? जिसकी भी परिवार में विशेष स्थिति है, जो समर्थ-सक्षम है, पढ़-लिखकर दक्षता-कौशल सीख चुका है और अब उसके द्वारा कमाई कर रहा है, वह पारिवारिक सम्पत्ति के अपने अंश के उपयोग से ही इस स्थिति में पहुँचा है। इतना

ही नहीं, अपितु ऐसा भी होता है कि दूसरों का हिस्सा उसकी समर्थता बनने में लग चुका होता है। क्या इसके बाद भी परिवार के धन में उस समर्थ व्यक्ति का ही हिस्सा बाकी रहा ? ऐसी बराबरी को क्या सामाजिक एवं प्राकृतिक न्याय-व्यवस्था के अनुरूप माना जायेगा ? स्पष्ट है कि ऐसे समर्थ और आगे बढ़े लोगों को अपने पर हुए व्यय का ऋण चुकाना चाहिए, प्रतिदान देना चाहिए।

अभी तो स्थिति बिल्कुल उल्टी है। घर के कमाऊ लोग परिवार के धन पर अपना एकछत्र अधिकार मानते हैं। उसका अपनी विलासिता एवं फिजूलखर्ची के लिए उपयोग करने में हिचकते नहीं। इसी प्रकार पढ़े-लिखे वयस्क युवक पारिवारिक धन को अपने जेब खर्च के लिए ही एकत्र पूँजी मान बैठते हैं। यह सारा क्रम पूर्णतः अनुचित है।

परिवार की पूँजी से बच्चों-किशोरों, वृद्धों, असहायों, अपंगों तथा पिछड़ी स्थिति वालों को ही सहायता दी जानी चाहिए। छात्रवृत्तियों तथा अनुदानों जैसा उपयोग ही इस धन का किया जाना चाहिए। प्रत्येक को यह ध्यान रहे कि उसे समर्थ होते ही परिवार का ऋण चुकाना है। पारिवारिक जिम्मेदारी की भावना के बिना पारिवारिक हक की भावना एकांगी और अनुचित है। वह अधिक दिनों टिक भी नहीं सकती। इसलिए पारिवारिक उत्तरदायित्व की भावना प्रत्येक वयस्क सदस्य में बद्धमूल की जानी चाहिए।

कानूनी स्थिति अभी भिन्न है, किन्तु पारिवारिक न्याय यही है कि जो परिवार में पल-बढ़कर अधिक उपार्जन की सामर्थ्य अर्जित कर चुका है, उसे पारिवारिक सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं। उसमें अभिवृद्धि करना ही उसका कर्तव्य है। उसमें से अभी और हिस्से की माँग करना अनधिकार चेष्टा है। भले ही कानून से इन दिनों उसे वैसा अधिकार प्राप्त है। पैतृक धन पर न्यायोचित हक तो उनका है, जो अविकसित, पिछड़े असमर्थ हैं। यदि किसी परिवार की कोई लड़की ससुराल में विपन्न स्थिति में है और उसके बेटे-बेटियों का पालन-पोषण कठिन हो रहा है तो परिवार की सम्पत्ति से उसे सहायता दी जानी अधिक उचित है, बजाय उसके कमाऊ भाई के, क्योंकि इन दिनों तो लड़कियों को स्त्रीधन भी नहीं दिया जाता। ऐसी स्थिति में अपनी असहाय अवस्था में उन्हें उसी परिवार का सहारा न मिलना जिसकी वे जन्मतः सदस्य हैं, अनुचित है। संकटकाल में काम आ सकने के लिए ही तो पहले स्त्रीधन दिया जाता था। जिस पर सिर्फ उस महिला का ही अधिकार होता था। यही बात किशोरों, बच्चों एवं अन्य असमर्थ सदस्यों के लिए लागू होती है। वयस्क बेटे को यह बात भलीभाँति समझा दी जाय कि पारिवारिक न्याय यह है तथा परिवार के प्रति तुम्हारे कर्तव्य ये हैं। इन कर्तव्यों को निबाहने और

३. ११५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

प्रतिदान के लिए तत्पर होने पर ही तुम आगे सहायता के अधिकारी हो।

विवाह-योग्य हो गये बेटे को यह भी समझाया जाय कि अपने भावी जीवन के लिए उसकी दिशा एवं स्वरूप का भली-भाँति विचार करने के साथ ही जीवन-साथी की भूमिका का भी समुचित विचार कर लेना चाहिए। सिर्फ चेहरा और शक्ल-सूरत देखकर पसन्द करना तो माँसलता की पसन्दगी मात्र है। आधुनिकता के नाम पर माँसलता को चुनाव का आधार मानने के परिणाम भी समझ लिये जायें। इस भ्रम में न रहा जाये कि पाश्चात्य जगत में जीवन-साथी का चुनाव इसी प्रकार होता है। यह आधारहीन और पूर्णतः काल्पनिक अनुमान मात्र है। पश्चिम में तो लम्बे समय तक साथ रहते हैं, 'डेटिंग' करते हैं, स्वभाव-व्यवहार की परख करते हैं, तब साथी चुनते हैं और सो भी, सिर्फ लड़का नहीं चुनता, लड़की-लड़के दोनों की सहमति से निर्णय होता है। यहाँ तो चुनेगा सिर्फ लड़का और वह भी देखेगा सिर्फ माँसल-गठन, देहयष्टि, मानसिक-गठन, व्यवहार की कुशलता, प्रतिभा, जीवन के सम्बन्ध में दृष्टिकोण आदि कुछ नहीं। मात्र शरीर की चमड़ी का रंग-रूप और ऊपरी उतार-चढ़ाव। इनसे अच्छे तो पश्चिम वाले ही ठहरे जो रुचि, व्यवहार, आकांक्षा, प्रकृति सभी पर विचार करते हैं और नर-नारी दोनों ही करते हैं।

जिसे हम प्रधानता देते हैं, उसे हमारा साथी भी प्रधानता देने लगे, यह स्वाभाविक ही है। अतः पत्नी की माँसलता, देह के बाहरी उभार को ही प्रधानता देने वाले को यह भी सोच लेना चाहिए कि यदि ब्याह के बाद पत्नी ने भी माँसल-सौष्ठव को ही पसन्द करना स्वाभाविक एवं उचित मान लिया तो उसकी पति-निष्ठा कैसे टिक सकेगी ? उस स्थिति में दोष किसका माना जायेगा ? जब सहधर्मिणी की पसन्दगी का आधार ही बाहरी रूप और चेहरा है, उसकी मान्यता ही उस गुण के कारण है, तब वह क्यों न इसी सर्वश्रेष्ठ मान्यता को स्वयं भी अपना केन्द्र-बिन्दु माने ?

इस प्रकार युवावस्था में प्रवेश करने वाले पुत्र को माता-पिता सत्संस्कारों से भरी सहायता दें। उसे जीवन के एवं जगत के प्रति एक स्वस्थ, रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने में मदद करें। भविष्य के बारे में विचार करते समय किन बातों का ध्यान रखा जाय, कैसे विचारों एवं व्यवहार के क्या परिणाम हो सकते हैं ? परिवार के प्रति उनकी क्या जिम्मेदारी एवं कर्तव्य हैं ? परिवार पर उनके अधिकार का वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह ठीक से समझाया जाये। पिता की कमाई के वे हमेशा के लिए हकदार नहीं हैं, यह तथ्य स्पष्ट रूप से मन में बिठा दिया जाय। उस कमाई पर परिवार के उन सदस्यों का अधिक अधिकार समझा जाय, जिन्हें सहायता की अधिक आवश्यकता है। तब उस पर समाज का हक भी उसे

समझ में आ जायेगा और वानप्रस्थ परम्परा की पृष्ठभूमि भी विदित हो सकेगी। उत्तरदायित्व की भावना के विकास से ही वानप्रस्थ परम्परा चल सकती है।

नवयुवक सज्जनता और शालीनता

सीखें

जीवन-निर्माण का महत्त्वपूर्ण समय १२ से लेकर २० वर्ष तक की आयु तक रहने वाली किशोर अवस्था है। इस अवधि में मनुष्य गीली मिट्टी और हरी लकड़ी की तरह रहता है, जिसे चाहे जिधर ढाला और मोड़ा जा सकता है। पीछे तो वह पक्की मिट्टी और सूखी लकड़ी की तरह जैसा उठती उम्र में बन गया प्रायः वैसा ही अन्त तक बना रहता है। जो बूढ़े हो चले उन ढलती आयु के लोगों के दिन करीब हैं, उनके दोष-दुर्गुणों को सहन भी किया जा सकता है और उपेक्षा भी की जा सकती है पर नई पीढ़ी के विकासवान बालकों की उपेक्षा नहीं हो सकती। अगले दिनों महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ उन्हें ही सम्पादित करनी हैं। नेतृत्व उन्हीं के कंधों पर आने वाला है। वे जैसे भी कुछ भले-बुरे होंगे उसी के अनुरूप समाज की भावी सम्भावनाएँ बनेंगी। यदि हम निकट भविष्य में अपने समाज को समुचित, सुसंस्कृत देखना चाहते हैं तो सारा ध्यान अपनी होनहार उदीयमान पीढ़ी पर केन्द्रित करना पड़ेगा।

कहना न होगा कि समस्त श्री, समृद्धि, प्रगति और शान्ति का उद्भव मनुष्य के सदगुणों पर अवलम्बित है। दुर्गुणी व्यक्ति हाथ में आई हुई, उत्तराधिकार में मिली हुई समृद्धियों को गँवा बैठते हैं और सदगुणी गई-गुजरी परिस्थितियों में रहते हुए भी प्रगति के हजार मार्ग प्राप्त कर लेते हैं। सदगुणों की विभूतियाँ ही व्यक्तित्व को प्रतिभावान बनाती हैं और प्रखर व्यक्तित्व ही हर क्षेत्र में सफलताएँ वरण करते चले जाते हैं। विद्या, धन और स्वास्थ्य के आधार पर उन्नति करने की बात कही जाती है पर उनसे भी बढ़कर प्रगति के आधार सदगुण हैं, उन्हीं के आधार पर विद्या, धन और स्वास्थ्य की शोभा है और उन्हीं के द्वारा प्रयत्नों के सत्परिणाम प्राप्त होते हैं। दुर्गुणी व्यक्ति अपने कौशल के आधार पर कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त कर भी लें तो उन्हें सुरक्षित नहीं रख सकता। इतना ही नहीं उनके घमण्ड में उद्धत आचरण करके अपनी तथा दूसरों की शान्ति नष्ट करता है। अपने को तथा अपने समीपवर्ती समाज को संकट में डालता है।

उठती आयु में सबसे अधिक उपार्जन सदगुणों का ही किया जाना चाहिए। विद्या पढ़ी जाय सो ठीक है, खेल-कूद, व्यायाम आदि के द्वारा स्वास्थ्य बढ़ाया जाय, सो भी अच्छी बात है, विभिन्न कला-कौशल और चातुर्य सीखे जाएँ, यह भी सन्तोष की बात है पर सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि इस आयु में

जितनी अधिक सतर्कता और तत्परतापूर्वक सदगुणों का अभ्यास किया जा सके, करना चाहिए। एक तराजू में एक ओर विद्या, बल, बुद्धि, धन आदि की सम्पत्तियाँ रखी जायँ और दूसरे पलड़े में सदगुण तो निश्चय ही यह दूसरा पलड़ा अधिक भारी और अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होगा। दुर्गुणी व्यक्ति साक्षात् संकट स्वरूप है। वह अपने लिए पग-पग पर काँटे खड़े करेगा, अपने परिवार को त्रास देगा और समाज में अगणित उलझने पैदा करेगा। उसका उपार्जन चाहे कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, कुकर्म बढ़ाने और विश्वोभ उत्पन्न करने वाले मार्ग में ही खर्च होगा। ऐसे मनुष्य अपयश, घृणा, द्वेष, निन्दा और भर्त्सना से तिरस्कृत होते हुए अन्ततः नारकीय यन्त्रणाएँ सहते हैं।

अभिभावकों को केवल इतना ही नहीं सोचना चाहिए कि उनके बच्चे कमाऊ, चतुर और कोई पदाधिकारी बन जाएँ, वरन् अधिक ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि बच्चे सच्चरित्र, सदगुणी, सज्जन एवं संस्कारवान बनें। यही उपलब्धि उनके जीवन की सबसे बड़ी लाभदायक सम्पदा सिद्ध होगी। इसी के आधार पर वे अपना जीवन सुखी एवं समुन्नत बना सकेंगे। सच्चा प्यार इसी को कहते हैं। वे अभिभावक ही अपने कर्तव्य पालन में सफल कहे जायेंगे, जिन्होंने अपने बच्चों को सदगुणी बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। सच्चे अध्यापक वे हैं, जो केवल, गणित, भूगोल, इतिहास आदि किताबी ज्ञान देकर निवृत्त नहीं हो जाते वरन् छात्रों की गतिविधियों में निरन्तर सदगुणों की मात्रा बढ़ाने में संलग्न रहते हैं।

आज कुछ ऐसी गन्दी हवा चली है, जिसने नई पीढ़ी में उद्धत एवं उच्छृंखल बनाने की विभीषिका खड़ी कर दी है। हमारे होनहार बच्चों में से अधिकांश में उच्छृंखलता, अवज्ञा, उद्दण्डता, अनुशासनहीनता की मात्रा बहुत बढ़ती चली जाती है, यह चिन्ता की बात है। इसमें देश के दुर्भाग्य का खतरा छिपा हुआ है। परस्पर छुरेबाजी, अध्यापकों की अवज्ञा, परीक्षा में नकल, बिना टिकट यात्रा, लड़कियों को छेड़ना, सिनेमा की शौकीनी, मृंगार, सजावट की फिजूलखर्ची, उद्धत आचरण एवं वार्तालाप में विनय एवं शिष्टता का अभाव आदि कितने ही दुर्गुण अपने होनहार बालकों में देखते हैं तो भारी चिन्ता होती है कि इतने उथले व्यक्तित्व को लेकर वे किस प्रकार अपने भविष्य को उज्ज्वल और प्रकाशवान बना सकेंगे और अगले दिनों जो जिम्मेदारी उनके कंधों पर आने वाली है, उसका निर्वाह किस प्रकार कर पायेंगे ?

जो नवयुवक अपना भला-बुरा समझने की स्थिति में है, उन्हें गिरह बाँध लेनी चाहिए कि सभ्य समाज के जिम्मेदार नागरिक हमेशा अपने व्यक्तित्व को तेजस्वी बनाने के लिए सदगुणों को अपने स्वभाव में निरन्तर सम्मिलित करते रहते हैं। शिष्टता ही लोकप्रिय बनाती है।

अनुशासनप्रिय व्यक्ति के अनुशासन में ही दूसरे लोग रहते हैं। सज्जनों को ही श्रद्धा मिलती है। सदगुणी दूसरों का हृदय जीतते हैं और दसों-दिशाओं में उन पर स्नेह, सहयोग बरसता है। इस राज-मार्ग को जिसने अपनाया उसे ही मनस्वी, तेजस्वी और यशस्वी बनने का अवसर मिला है और जो दुष्टता के दुर्गुणों में ग्रस्त हो गये, वे थोड़े समय औरों को आतंकित करके, क्षणिक रौब-दौब जमा सकते हैं और डरा-धमकाकर कुछ उल्लू सीधा भी किया जा सकता है, पर यह तनिक-सी सफलता अन्ततः बहुत महँगी और भारी पड़ती है। लोगों की निगाह में जब व्यक्तित्व गिर गया और गुण्डा-उपद्रवी माना जाने लगा तो समझना चाहिए कि सम्मान और सहयोग की स्थिति समाप्त हो गई। जीवन में प्रगति और शान्ति के लिए दूसरों की सद्भावना और सहायता की जरूरत पड़ती है। पर यह दोनों ही अनुदान केवल सज्जनों को मिलते हैं। आतंकवादी और उद्धत व्यक्ति किसी हृदय में अपने लिए स्थान न बना सकेंगे, उनके लिए सबके भीतर घृणा और अविश्वास भरा रहता है। ऐसे व्यक्ति अपने जीवन में कोई ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं कर सकते और न उन्हें कोई बड़ी सफलता ही मिलती है।

हमारे नवयुवकों को समझना चाहिए कि ध्वंसात्मक दुष्प्रवृत्तियों को—अशिष्टता एवं उच्छृंखलता को अपना लेना अति सरल है। छछोरे साथियों अथवा उद्धत अनुआ लोग उठती आयु के बालकों को आसानी से गुमराह कर सकते हैं पर शालीनता और सज्जनता का अभ्यास बनाना उनके बस की बात नहीं। इसलिए हेय व्यक्तित्व के जोशीले और उच्छृंखल लोगों को अपने ऊपर हावी ही नहीं होने देना चाहिए, उनके प्रभाव और सान्निध्य से दूर रहना चाहिए। अन्यथा उनकी मैत्री अपने को भी उच्छृंखल बना देगी और वह स्थिति पैदा कर देगी, जिसमें अपनी निज की और दूसरों की आँखों में अपना व्यक्तित्व गया-गुजरा, ओछा, कमीना और निकृष्ट स्तर का बन जाय। इस स्थिति में जो पड़ा उसके सौभाग्य का सूर्य एवं उज्ज्वल भविष्य अस्त हो गया ही समझना चाहिए।

सभ्य, समुन्नत देशों के नवयुवक अपने राष्ट्रों की स्थिरता एवं प्रगति में भारी योगदान दे रहे हैं। उनकी प्रवृत्तियाँ रचनात्मक दिशा में लगी हैं। अध्ययन में गम्भीर रुचि लेकर वे अपनी योग्यता बढ़ाते हैं, ताकि अवसर आने पर अपनी प्रतिभा को किसी भी कसौटी पर खरी सिद्ध कर सकें।

एक हम हैं कि जिनके बच्चे हर कहीं सिर-दर्द सिद्ध होते हैं। अभिभावक रुष्ट, अध्यापक दुःखी, साथी क्षुब्ध, स्वयं उद्विग्न। इस सबका एक ही कारण है—दुर्गुणों की मात्रा का बढ़ जाना। बुखार चढ़ने की तरह मर्यादाओं का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति का बढ़ना भी खतरनाक है। अपने बालकों के उद्धत आचरण देखकर

३. ११७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

हम दुःख, पश्चाताप और दुर्भाग्य की कल्पना करें यह स्थिति हम सबके लिए लज्जास्पद है।

जो भी हो, हमें बच्चों को समझाने और सिखाने का हर मीठा-कड़ुआ उपाय करना चाहिए कि वे सज्जन, शालीन, परिश्रमी और सत्यधर्मी बनें, इसी में उनका और हम सबका कल्याण है।

सुसंस्कृत युवा पीढ़ी कैसे बने ?

बच्चों, विद्यार्थियों में वातावरण की विषाक्तता के कारण शालीनता, सभ्यता, विनम्रता जैसे मानवोचित गुणों का दिन-दिन हास होता जा रहा है। समय रहते समाज विरोधी उद्दण्ड एवं उच्छृंखल गतिविधियों को रोकना जा सका तो इसके भावी परिणाम देश, समाज और उनके स्वयं के लिए हानिकारक ही सिद्ध होंगे।

स्वीडन के ख्यातिलब्ध मनोविज्ञानी डॉ. डाल ओल्यू ने अपने देश के स्कूल-कॉलेजों के उद्दण्ड एवं दुस्साहसी छात्रों की मनोवृत्ति का अध्ययन बड़ी गहनता से किया है। इसके लिए उन्होंने बच्चों के माता-पिता, अभिभावक और अध्यापकों से भी सम्पर्क किया है। अपने शोध निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बताया है कि सर्वप्रथम संस्कारों का बीजारोपण बच्चों में पारिवारिक वातावरण के बीच माता-पिता, अभिभावकों के द्वारा सम्पन्न होता है। वे जैसे चाहें उन्हें गीली मिट्टी के सदृश उन्हें ढाल सकते हैं। प्रायः उसमें भली-बुरी प्रवृत्तियों का बीज बहुत कुछ उसके गर्भस्थ जीवन में ही जम जाता है। पैदा होने के बाद घर वालों के व्यवहार पर बच्चों का जीवन बहुत कुछ निर्भर करता है। कई बार वे अपने अभिभावक, अध्यापक आदि के कठोर व्यवहार के कारण अपराधी तक बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में दूसरों को तंग करने में, परेशान करने में उन्हें प्रसन्नता होने लगती है। अपने से छोटों के प्रति उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करके, उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण करके उन्हें तंग करने में गर्व अनुभव करना धीरे-धीरे उनके स्वभाव का एक अविच्छिन्न अंग बन जाता है, जिसके दूरगामी दुष्परिणामों से बचा नहीं जा सकता। स्कूल-कॉलेजों में 'रैगिंग' के अभद्र एवं अशोभनीय स्वरूप को देखकर इस तथ्य की पुष्टि शीघ्र ही हो जाती है। डॉ. ओल्यू का कहना है कि बचपन से ही जिन लड़कों को शरारत, मारपीट तथा बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन करने की आदत पड़ जाती है, उनमें से ४० प्रतिशत बच्चे २४ वर्ष की परिपक्व आयु तक पहुँच कर कम से कम तीन अपराधों के लिए न्यायालय द्वारा दण्डित हो चुके होते हैं।

इसी तरह की मान्यता इलिनोय विश्वविद्यालय के मनोविज्ञानी डॉ. लियोनार्ड डी इरोन की है। इस हेतु उन्होंने विशेष अध्ययन परियोजना का शुभारम्भ किया, जिसके अन्तर्गत ८ से ३० वर्ष तक की अवधि के ८७५ छात्रों की जीवनचर्या का आकलन बड़ी गहनता से किया गया।

निष्कर्ष एक ही निकला है कि जो बच्चे बचपन से ही अधिक उग्र, उद्दण्ड, उच्छृंखल और झगड़ालू प्रवृत्ति के रहे होते हैं, वे १९ वर्ष की आयु तक स्कूल छोड़कर अपराधी प्रवृत्ति का शिकार बन जाते हैं और ३० वर्ष पार करके ऐसे बच्चों के जनक बन चुके होते हैं, जो कि उन्हीं की तरह उग्र मनोवृत्ति के होते हैं। इस प्रकार सामाजिक बुराई का एक विषम चक्र सामने आता है।

शरारतपूर्ण दुर्व्यवहार करने वाले तो अपने जीवन को भारभूत बनाते ही हैं, तरह-तरह के त्रास भी भुगतते रहते हैं। इस उत्पीड़न के शिकार बच्चों की कोमल मानसिकता पर भी समान रूप से कुप्रभाव पड़ता है, जिसके फलस्वरूप वे अपने जीवन को अभिशप्त बना बैठते और आत्महत्या का प्रयत्न करते देखे गये हैं। उद्दण्ड साधियों द्वारा सताये जाने के कारण कितने छात्रों को अपनी जीवन लीला समाप्त करनी पड़ती है, इसका अनुमान समाचार-पत्रों को पढ़कर आसानी से लगाया जा सकता है।

जिन राष्ट्रों में बच्चों की इन उग्र प्रवृत्तियों को न पनपने देने और सज्जनता को, सद्व्यवहार को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न चल पड़ा है, वहाँ पर कुछ सुधार के आसार भी नजर आने लगे हैं। डॉ. ओल्यू का कहना है कि यह कार्य सरकारी स्तर पर सम्भव नहीं हो सकता, वरन् बच्चों के अभिभावक और अध्यापकगणों की मानसिकता को उस दिशा में मोड़ना होगा। उक्त उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रचार-प्रसार पर अधिक बल दिया है। इस समस्या से जूझने के लिए अभिभावक और अध्यापकगण क्या भूमिका निभा सकते हैं ? शरारती उच्छृंखल बच्चों को कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है ? और उनमें शालीनता के तत्त्वों को कैसे विकसित किया जा सकता है ? आदि बातों का उपयुक्त मार्गदर्शन करते हुए डॉ. ओल्यू ने एक पुस्तक लिखी है जिसे 'परपीडक बच्चे तथा उनके शिकार बनने वालों की समस्याएँ' के नाम से प्रकाशित किया है, जिसमें कुछ सूत्र संप्रेषित किए गये हैं, जिनका परिपालन करने से समस्या का समाधान सरलतापूर्वक हो सकता है।

उनके अनुसार सुधार का उपाय-उपचार घर-परिवार के वातावरण से आरम्भ होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि एक आचार-संहिता बने, जिसके नियम और अनुशासन को बच्चे भली प्रकार समझ सकें। नियम के अनुरूप चलने वाले बच्चों की प्रशंसा करने में अभिभावकों को कोताही नहीं बरतनी चाहिए। लेकिन नियमों का उल्लंघन करने वाले के साथ मारपीट का माहौल तो न बनाया जाय, पर कोई अधिकार छीनने अथवा जेब खर्च में कटौती करने जैसा उपक्रम तो अवश्य बिठाया जा सकता है। बच्चों को पढ़ाई-लिखाई पूरा करने के बाद खाली समय भी बचता है, जिसमें बच्चों के साथ किन्हीं रचनात्मक गतिविधियों अथवा

खेल-कूदों में समान रूप से भाग लिया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप बच्चों को अचिन्त्य चिन्तन का मौका ही नहीं मिले। दूसरे अच्छे बच्चों के साथ सहयोग-सहकार की प्रवृत्तियों को विकसित करने कुसंग से बचाने का प्रयत्न ऐसा है, जो आगे चलकर भविष्य निर्माण में महती भूमिका निभाता है।

समर्थ और समुन्नत नई पीढ़ी का निर्माण

अच्छी फसल उगाने के लिए जितना महत्व अच्छी भूमि और अच्छे बीज का है उतना ही इस बात का भी कि उपज को उदरस्थ कर जाने वाले खरपतवार को बढ़ने न दिया जाय। बीजारोपण से पूर्व भूमि की जुताई इसीलिए की जाती है कि खेत की उर्वरता को आरोपित पौधों के पोषण में लग सकने का सुक्ष्मात्मक प्रबन्ध पहले से ही कर लिया जाय। सुयोग्य पीढ़ियों के उत्पादन का दूसरा पक्ष यह है कि अयोग्य उत्पादन की रोकथाम भी साथ-साथ की जाय, अन्यथा जिन साधनों का उपयोग दक्षता बढ़ाने के लिए किया जाना है, उनका अधिकांश आवेगों के निर्वाह तथा उनके द्वारा उत्पन्न की गई विकृतियों के निराकरण में ही खर्च होता रहेगा। खेत में खरपतवार को निर्बाध गति से बढ़ने की छूट दी जाती रहे तो समझना चाहिए कि उपयुक्त फसल के पकने की सम्भावना समाप्त हो गई।

सन्तान को सुयोग्य बनाने में माता-पिता की प्रजनन प्रक्रिया ही सब कुछ नहीं होती। वे तो श्री गणेश-बाजीरोपण मात्र करते हैं। अगला सारा काम तो समूचे परिवार या समाज को करना होता है। बीज उपयुक्त खेत में पड़कर अंकुरित होता और किसान के प्राथमिक पुरुषार्थ की सफलता व्यक्त करता है, पर इतने से ही तो काम नहीं चल जाता। उसके लिए खाद कहीं से लाना पड़ता है। पानी का प्रबन्ध कहीं से होता है। निराई-गुड़ाई में किसी का पसीना बहता है। पशु-पक्षियों से रखवाली और कृमि-कीटकों को निरस्त करने की जिम्मेदारी किसी को उठानी पड़ती है। इस प्रबन्ध में अनेकों की भागीदार रहती है और अनेक साधन जुटते हैं। सुयोग्य पीढ़ियों के निर्माण में न केवल गर्भस्थापन एवं गर्भ-धारण से उत्तरदायित्व सम्पन्न होता है, वरन् उस अनुष्ठान में समूचे समाज को प्रकारान्तर से योगदान करना पड़ता है। ऐसी दशा में उत्पादकों का ही नहीं समाज के कर्णधारों का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वे सुयोग्यता-सम्बर्धन के आवश्यक वातावरण बनाने, साधन जुटाने की तरह इस बात का भी ध्यान रखें कि कहीं हेय सृजन का दौर तो नहीं चल रहा है। सज्जन और चोर साथ-साथ बढ़ते रहे तो सज्जनता के लाभ से लाभान्वित होने का स्वप्न साकार न हो सकेगा। उठने के लिए सीढ़ी बनाने और

गिरने के लिए खाई खोदने का उपक्रम साथ-साथ चले तो बात कैसे बनेगी ?

सुसंतति का शुभारम्भ जनक-जननी को गर्भाधान क्रिया के साथ आरम्भ होता है। उन दोनों की शारीरिक, मानसिक स्थिति तो वंशानुक्रम के रूप में सन्तति को सुस्कारिता एवं दक्षता प्रदान करने के लिए उपयुक्त होनी चाहिए। इसमें कमी पड़ेगी तो सड़े-घुने बीज से उत्पन्न हुए अंकुर पूर्णता तक पहुँच नहीं सकेंगे, वरन् उल्टी खीज पैदा करेंगे। जो बोने की क्रिया सम्पन्न करें वे ही उगने से लेकर पकने तक की अवधि में अभीष्ट आवश्यकताएँ जुटाने का भी प्रबन्ध करें। इसके लिए उनकी पूर्व तैयारी होनी चाहिए। तात्पर्य यह है प्रजनन कृत्य में संलग्न होने वालों की आर्थिक स्थिति भी इस योग्य होनी चाहिए कि वे अपने उत्पादन को समुचित खाद-पानी देने तथा सुरक्षा जुटाने में व्यतिरेक उत्पन्न न हो सके। जिसके पास ऐसे साधन नहीं हैं वे बोने का साहस ही न करें। इसमें जुताई, बुआई का श्रम निरर्थक जाता है। साधनों के अभाव में जब अंकुर सूखते हैं तो दुःख भी होता है और अपयश भी लदता है। इस अक्षम विकृति सृष्टि का यदि समाज को भार वहन करना पड़े तो यह भी विश्व मानव की कुसेवा है। उत्पादित सन्तान का भविष्य न बना सकने की क्षमता न होते हुए भी उस वजन को उठाकर अपनी गर्दन तोड़ लेना और भार की गठरी को जमीन पर गिराकर चूरचूर कर देना कहाँ की बुद्धिमानी है।

सुप्रजनन की आवश्यकता और उसकी पूर्ति के लिए विज्ञानों में उपयुक्त वातावरण, प्रशिक्षण एवं सुविधा-साधन जुटाने के लिए समूचे समाज को प्रोत्साहित किया है। इससे पहले उनका कथन यह भी है कि यह कार्य मात्र उन्हें ही करने दिया जाय जो हर दृष्टि से इसके लिए उपयुक्त होने की कसौटी पर कस लिये जाएँ। जिस प्रकार डॉक्टर, इंजीनियर, सैनिक विद्यालयों में भर्ती होने से पूर्व छात्रों को प्राथमिक योग्यता जाँच ली जाती है, उसी प्रकार बालकों के उत्पादन की आज्ञा भी समूचे समाज की ओर से मिलनी चाहिए। ताकि कुपात्र उस कार्य में हाथ डालकर मानवी बिरादरी का अहित न करने लगे। नागरिक अधिकारों की गणना में यदि यौन कर्म आता हो तो भी उसके पीछे इतना नियन्त्रण तो रहना ही चाहिए कि वह शरीर-क्रीड़ा तक सीमित रहे और समाज संकट उत्पन्न करने का कारण न बने। सन्तानोत्पादन समाज को प्रभावित करने वाला कृत्य है। इसलिए उस पर यदि समाज या शासन की ओर से अंकुश लगता है तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। नागरिक अधिकारों की स्वतन्त्रता तभी तक उचित ठहरती है, जब तक कि उसका प्रभाव समाज पर नहीं पड़ता। इसके आगे कदम बढ़ते ही समाज को अधिकार क्षेत्र बनता है कि वह स्वतन्त्रता का व्यतिरेक न करें। अपनी मर्यादा में सीमित

३. १९९ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

रहे। शरीर-क्रीड़ा तक ही नागरिक अधिकारों की परिधि समाप्त हो जाती है। प्रजनन कर्म स्पष्टतः समाज को लाभ या हानि पहुँचाने वाला कृत्य है। ऐसी दशा में उसका अधिकार होना चाहिए कि सुप्रजनन के लिए प्रोत्साहन प्रदान करें और उपयुक्त जोड़ों को यह उत्तरदायित्व निभाने के लिए अनुरोधपूर्वक आवश्यक सुविधा प्रदान करें। प्राचीनकाल में इसके लिए 'नियोग' प्रचलन था अब उसके लिए वीर्य बैंक स्थापित किये जा रहे हैं।

यह व्यवस्था जुटाना अगला काम है। प्रथम चरण कुप्रजनन को रोकना है, जिसके कारण इन दिनों त्राहि-त्राहि मची हुई है और अगले दिनों विपत्ति बरसाने वाली घटा घिरती आ रही है। इस रोकथाम की ओर विश्व विचारकों का ध्यान गया है और उन्होंने व्यक्ति तथा समाज से समान आग्रह किया है कि वह अवांछनीय प्रजनन की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने वाले कदम उठायेँ अन्यथा भविष्य को अन्धकारमय बनाने वाले विभीषिकाओं में अनुपयुक्त सन्तानों की भरमार से जो संकट उभरेगा उसका समाधान कर सकना किसी के हाथ में नहीं रहेगा। टिड्डी दल से होने वाली हानियों को जो जानते हैं, जिन्हें मूषकों की, मच्छरों की अभिवृद्धि के दुष्परिणाम का पता है, उन्हें यह भी जानना चाहिए कि आज का कुप्रजनन अगले कल किस प्रकार समूचे वातावरण को विषाक्त करेगा और अनेकानेक समस्याओं का कारण बनेगा।

फ्रांस के व्यक्तित्व विशेषज्ञ अल्फ्रेडविने ने मेधावी और मन्दगति लोगों की इस मौलिक विशेषता का आधारभूत कारण उनके जन्मदाताओं की जीन्स सम्पदा को बताया है और कहा है मेधावी सन्तानों का जन्म वे ही लोग दे सकते हैं, जिनका व्यक्तित्व इसके लिए हर दृष्टि से परिष्कृत हो। पुरातन जीन्स वैभव में आज के व्यक्तित्व का सबसे अधिक प्रभाव रहता है।

विने ने अपने ग्रन्थ 'दि ट्रेनिंग ऑफ इन्टेलिजेन्स' में इस बात पर अधिक जोर दिया है कि किसी को बुद्धिमत्ता विकसित करनी हो तो यह कार्य उसके जनक-जननी को अपनी शारीरिक, मानसिक दक्षता तदनुरूप बनाने के साथ आरम्भ करना चाहिए। अनुपयुक्त वंश परम्परा लेकर जन्मे बालकों में प्रतिभावान बालकों का उत्पादन बहुत प्रयत्न करने पर भी एक छोटी सीमा तक ही सम्भव हो सकेगा।

अमेरिका में इस सम्बन्ध की खोजबीन करने और किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए कई महामनीषियों ने असाधारण प्रयत्न किये हैं। इनमें से स्टैनफोर्ड के डॉ. लीविस टर्मान, न्यूजर्सी के प्रो. हेनरी गोर्डर और हारवर्ड विश्वविद्यालय के रावर्ट यर्कीज प्रमुख हैं। इन तीनों ने सन्तानोत्पादक दक्षता के सम्बन्ध में एक विशेष पर्यवेक्षण पद्धति का आविष्कार किया है। उसका नाम दिया है—'स्टैन फोर्ड विने टैस्ट' वे कहते हैं, जो इस परीक्षण में खरे उतरे मात्र उन्हीं को सन्तानोत्पादन का लाइसेंस

मिलना चाहिए। शेष को इनके लिए अयोग्य घोषित कर देना चाहिए।

यूनेजिम्स रिसर्व ऐसोसिएशन को 'कमेटी ऑन इन हरिटेंस ऑफ मेण्टल टेस्ट' के सम्मुख प्रो. गोर्डर ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था कि ऐसे लोगों को बलपूर्वक 'वधिया' बना दिया जाये जो यौन कर्म में तो रत रहते हैं, किन्तु सुयोग्य उत्पादन की दृष्टि से अक्षम।

इस प्रतिवेदन से प्रभावित होकर मूढ़ता की रोकथाम, प्रयोजन के लिए कई देशों ने कानून भी बनाये और अंकुश भी लगाये। ऐसे अनुबन्धों में पेंसिलवानिया, इण्डियाना, न्यूजर्सी और इओवा में हल्के-फुल्के कानून भी बने। प्रजातन्त्र में बहुमत का विरोध देखकर भी ऐसे सुधार करते समय फूँक-फूँककर कदम उठाने होते हैं। इन कानूनों में शराबी, अफीमची, अपराधी, आक्रामक, असन्तुलित, विक्षिप्त, सनकी, दुर्बल, रोगी लोगों को सन्तानोत्पादन के अयोग्य घोषित किया गया और अनुबन्ध के उल्लेख कर कड़े दण्ड का प्रावधान रखा गया।

सरकारी महत्वपूर्ण पदों पर भर्ती करने के सम्बन्ध में उपयुक्त व्यक्तित्व तलाश करने की दृष्टि से उपयुक्तों का परीक्षण करने में अमेरिकी साइकोलाजी ऐसोसिएशन की भी भागीदारी थी। उसके अध्यक्ष मेजर यर्कीज ने जिन्हें प्रतिभावान पाया उनमें से अधिकांश वह विशेषता अपनी वंश परम्परा से साथ लेकर आये थे।

भविष्य-निर्माण के लिए जहाँ अन्यान्य साधन जुटाने की आवश्यकता है, वहाँ भावी पीढ़ी में मनस्वी एवं व्यक्तित्व सम्पन्न होने की बात को भी महत्व मिलना चाहिए। इसके लिए सुप्रजनन को प्रोत्साहित और पात्रता को निरुत्साहित प्रतिबन्धित करने की भी आवश्यकता है।

यों वंशानुक्रम में प्रधानतया जनक-जननी के संस्कारों का ही बाहुल्य रहता है, तो भी माता और पिता की पिछली पीढ़ियों के उत्तराधिकार भी किसी मात्रा से हस्तान्तरित होते रहते हैं भले ही वे अपेक्षाकृत स्वल्प मात्रा में ही क्यों न हों। यह विरासत आगे-आगे बढ़ती चलती है और अनेक पीढ़ियों तक अपने प्रभाव किसी न किसी रूप में छोड़ती जाती है।

इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी जिम्मेदारी जनक और जननी की आती है कि उन्होंने अपने उत्तराधिकारियों को देने के लिए क्या कुछ सँजोया है ? इन दोनों में भी पिता की जिम्मेदारी अधिक है, क्योंकि भ्रूण पर वर्चस्व उसी के पक्ष का रहता है। प्रतिभा जितनी पिता की सन्तान को हस्तान्तरित होती है, उसकी तुलना में माता का योगदान अपेक्षाकृत कम ही रहता है। वंशानुक्रम में पिता की विशेषता रहने पर माता का उत्तरदायित्व हल्का नहीं होता वह उस कमी को ऊपर से गर्भ धारण के समय अपनी सुसंस्कारिता हस्तान्तरित पूरा करके सम्पन्न करती है। जबकि यह कार्य पिता को लम्बी अवधि तक

साधनारत रहकर पूरा करना पड़ता है। सुप्रजनन की दृष्टि से उपयुक्त पिताओं को तलाश करना और उन्हें अपना महान उत्तरदायित्व सँभाल सकने के लिए लम्बे समय तक आत्म-निर्माण साधना के लिए सहमत किया जाना चाहिए। उनके व्यक्तित्व का ही अगली पीढ़ी से हस्तान्तरण जो होना है। इसका अर्थ यह नहीं कि माता की अपेक्षा की जाय। उनमें से अधिकांश में भावनात्मक वरिष्ठता प्रकृति प्रदत्त परम्परागत रूप से पाई जाती है। तो भी उन्हें गर्भधारण के समय की तथा पालन-पोषण के दिनों की उत्कृष्टता तथा सतर्कता जानने तथा अभ्यस्त करने का प्रयत्न समय रहते किया जाना चाहिए।

बढ़ती हुई जनसंख्या की रोकथाम अपने स्थान पर उचित एवं आवश्यक है। इस प्रयास में उन्हें अग्रणी रहना चाहिए जिनकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं पारिवारिक क्षमता सुसन्नति निर्माण के लिए उपयुक्त नहीं है। जो इस स्थिति में है कि भावी पीढ़ी के लिए संस्कारवान, प्रतिभावान नागरिक प्रदान कर सकते हैं, उन्हें इसे भी एक पारमार्थिक देशभक्ति पूर्ण कार्य समझकर सम्पन्न करना चाहिए। इसके लिए मेधावी और प्रतिभावानों युग्मों के अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना चाहिए।

भावी पीढ़ी का स्तर उठाने की समस्या

संसार की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, पर पीढ़ियों का स्तर शारीरिक, मानसिक और नैतिक तीनों ही दृष्टियों से गिरता चला जा रहा है। इस गिरावट का कहीं जाकर अन्त होगा, यह चिन्ताजनक प्रश्न है। विज्ञान, शिक्षा और सम्पत्ति की दृष्टि से हम कितनी ही प्रगति क्यों न करते जायें ? वंश परम्परा का क्रम यदि पतनोन्मुख दिशा में ही बढ़ता चला गया तो इन सम्पदाओं का उपयोग कौन करेगा, जिनके निर्माण में आज हम अहर्निश सर्वतोभावेन लगे हुए हैं ? शरीर और मन से दुर्बल और रुग्ण बना मनुष्य अपने आपके लिए भार रहेगा और अपने समाज के लिए अभिशाप सिद्ध होगा, भले ही उसके पास सुविधा साधन कितने ही बढ़े-चढ़े क्यों न हों ?

प्रगति की बात सोचते हुए संसार के बुद्धिमान मनुष्य यह विचार गम्भीरतापूर्वक कर रहे हैं कि भावी पीढ़ियों का स्तर किस प्रकार समुन्नत बनाया जाय, नस्ल के भयंकर पतन का वर्तमान क्रम किस प्रकार रोका जाय ? वैज्ञानिक आविष्कारों की घुड़दौड़ और सुविधा-साधनों का उपार्जन होते रहने से ही समुन्नत भविष्य की कल्पना सार्थक न हो सकेगी। इसके लिए शारीरिक, मानसिक और नैतिक दृष्टि से समुन्नत स्तर की पीढ़ियाँ भी चाहिए। विचारशील वर्ग ने अधिक तत्परतापूर्वक इस दिशा में विचार करना आरम्भ किया है

कि संसार को श्रेष्ठ नागरिकों और महामानवों से भरा-पूरा कैसे रखा जाय ?

नोबेल पुरस्कार से पुरस्कृत विश्व के मूर्धन्य विज्ञानी डॉ. हरमन जे. मुलर ने अपने 'आउट ऑफ द नाइट' प्रतिवेदन में इस आवश्यकता पर बहुत बल दिया था कि विश्व को—विशिष्ट व्यक्तियों को सर्वथा नष्ट होने की विपत्ति से बचाया जाय। उनका अभिप्राय यह था कि वर्तमान पीढ़ी के मूर्धन्य व्यक्तियों का जीवन-रस संग्रहीत करके रखा जाय ताकि उन जैसे विशिष्ट व्यक्तियों को भविष्य में फिर कभी भी आवश्यकतानुसार उत्पन्न कर सकना सम्भव हो सके।

जीवविज्ञानी गाल्टन यूजेनिक्स (सृजनिकी) विद्या का सूत्रपात करते हुए यह आशा व्यक्त की थी कि हम इस दिशा में शोध कार्य करते हुए अभीष्ट गुण सम्पन्न मनुष्यों का उत्पादन कर सकने में एक दिन सफल होकर रहेंगे। विद्वान फ्रांसिस गाल्टन ने इस बात पर बहुत जोर दिया था कि प्रगति की अन्य धाराओं को ही महत्त्व न दिया जाय, वंश सुधार पर भी ध्यान दिया जाय। पतनोन्मुख वंश परम्परा की दुर्गति यदि रोकी न गई तो दुर्बल और रुग्ण व्यक्ति समस्त प्रकार की उपलब्धियाँ प्राप्त कर लेने पर भी सुखी न रह सकेगा।

इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ व्यक्त की गई हैं, एक यह कि सुयोग्य नर-नारियों को सन्तानोत्पादन के लिए प्रोत्साहित किया जाय, दूसरा यह कि यदि उनका विवाह सम्भव न हो तो फिर कृत्रिम गर्भाधान का प्रयोग चलाया जाय।

शरीर की दृष्टि से परिपुष्ट युवक और युवती विवाह करें और गर्भरक्षा तथा शिशु-पोषण का समुचित प्रबन्ध रहे तो उसका परिणाम इतना ही हो सकता है कि मजबूत शरीर वाले बालक पैदा हों। बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास यदि इस जोड़े का नहीं हुआ है तो वह बलिष्ठ सन्तान बुद्धू अथवा अनैतिक भी हो सकती है। फिर वंश परम्परा की कई विकृतियाँ भी इस जोड़े में ऐसी जुड़ी हो सकती हैं कि बड़ा होने पर वह मजबूत बालक किसी ऐसी विकृति में फँसा पाया जाय, जिससे परिपुष्ट शरीर वाले युवक-युवतियों के विवाह वाली बात ही निरर्थक सिद्ध हो जाय।

शरीर से अधिक महत्त्व बुद्धिमत्ता और प्रतिभा का है। उस तत्त्व का विकास अष्टादश आयु के उपरान्त होता है। इससे पूर्व पता नहीं चलता कि कौन बुद्धिमान या प्रतिभावान सिद्ध होगा ? फिर उतनी आयु तक वे लोग अविवाहित ही बैठे रहें, यह सम्भव नहीं। प्रतिभाशाली लोग तलाक देकर नये जोड़े चुने यह और भी अधिक झंझट भरा कार्य होगा।

भौतिकविज्ञानी नीति-अनीति के झंझट में नहीं पड़ते। —उन्हें गुणकारी औषधि बनाने के लिए प्रचुर जीव हिंसा

३. १२१ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

करनी पड़े तो आपत्ति नहीं। इसी दृष्टि से वे उत्तम सन्तान प्राप्त करने का उद्देश्य पूर्ण करने के लिए दाम्पत्य-जीवन की, पवित्रता की उपेक्षा करने को तैयार हैं। वे कहते हैं विवाह एक सामाजिक साझेदारी है और सन्तानोत्पादन राष्ट्रीय कर्तव्य, मानवी समस्या। दोनों को एक-दूसरे से जोड़ा न जाये। पति-पत्नी को अन्य नर-नारियों के सम्पर्क से सुप्रजा उत्पन्न करने की छूट रहे, तभी भावी पीढ़ियों को समुन्नत बनाने की समस्या हल होगी। इसके लिए कृत्रिम गर्भाधान निरापद समझा गया है, उसमें व्यभिचार की वर्तमान बुराई भी सिर नहीं बँधती और एक महत्वपूर्ण उद्देश्य भी पूरा हो जाता है। इसके प्रमाण में हनुमान पुत्र मकरध्वज का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

बुद्धिवादी वर्ग के गले यह दलील उतर गई है और विकसित देशों में कृत्रिम गर्भाधान के लिए अत्युत्साह फूट पड़ा है, किन्तु उससे कई कानूनी तथा भावनात्मक समस्याएँ सामने आई हैं।

अमेरिका में इन दिनों प्रायः २५ हजार माताएँ कृत्रिम गर्भाधान से सन्तानोत्पादन का लाभ उठाती हैं। इन उत्पन्न बालकों का असली पिता कौन है ? यह सर्वथा अविज्ञात रहता है। स्थापित शुक्र के अनुदाता का नाम सर्वथा गुप्त रखा जाता है अन्यथा भावनात्मक एवं आर्थिक उत्तराधिकार सम्बन्धी अनेक झंझट उठ खड़े होंगे और उनका सुलझाना एक नया सिर-दर्द बन जायेगा। आज के अभिभावकों और सन्तान के बीच जो कानूनी एवं भावनात्मक स्थिति है, वह बदल जाय तो फिर यह आज का दुराव भी आवश्यक न रहेगा।

प्रो. जोनास साल्क ने विश्व के कानून क्षेत्र को इस सम्भावना की आगाही दी है कि निकट भविष्य में मनुष्य प्रयोगशालाओं में उत्पन्न किये जायेंगे, जिनका रज-वीर्य उस प्रयोजन के लिए लिया गया है, उनका उस उत्पन्न हुई सन्तान पर कितना अधिकार होगा अथवा वे बच्चे अपने जन्मदाताओं से उत्तराधिकार की क्या उपेक्षा करेंगे, इसका निर्धारण किया जाना चाहिए। वर्तमान रतिक्रिया प्रधान उत्पादन को आधार मानकर बनाये गये उत्तराधिकार कानून अगले दिनों की जटिलताओं का समाधान न कर सकेंगे।

नर के शुक्राणु चिरकाल तक सुरक्षित रखना और उसे प्रजनन योग्य बनाये रहना यह सफलता बहुत पहले ही मिल चुकी है। अब आवश्यक नहीं रहा कि नर-नारी को रतिक्रिया करनी ही पड़े अथवा पिता जीवित ही हो। मृतक घोषित किया गया नर भी सन्तानोत्पादन करता रह सकता है। सुदूर देशवासी नर-नारी व्यस्तता के कारण परस्पर मिल न सकें तो भी उनका प्रजनन-कर्म व्यवस्थापूर्वक चलता रह सकता है। शुक्राणुओं को सुरक्षित रखने की विधि बहुत समय पहले लिटिलराक अर्कासास के डॉ. एच. शर्मन ने खोज निकाली थी। शुक्र को

ग्लिसरोल में मिलाकर द्रव नाइट्रोजन की सहायता से बनाये गये। १९६ सेन्टीग्रेड में नीचे शीत तापमान में रख दिया जाता है। इस प्रकार पशुओं का शुक्र १० साल तक और मनुष्यों का ५ साल तक सुरक्षित रखा जा सकता है। उपयुक्त शुक्र की सहायता से उपयुक्त बच्चे उत्पन्न करने की इच्छुक महिलाओं ने इस विधि से अकेले अमेरिका में ही लगभग डेढ़ लाख बच्चे पिछले दिनों उत्पन्न किये हैं। अन्य देशों में भी यह प्रचलन बढ़ रहा है।

वैज्ञानिक सोचते हैं कि प्रजनन क्रिया पर विज्ञान का नियन्त्रण हो जाने से अभीष्ट स्तर की पीढ़ियाँ उत्पन्न कर सकना सम्भव हो जायेगा, जिस प्रकार पशुओं में कृत्रिम गर्भाधान के सहारे नस्ल सुधार का प्रयास सफलतापूर्वक चल पड़ा है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी क्यों नहीं चलाया जा सकता है। वे सोचते हैं संसार के मूर्धन्य महामानवों को विश्व प्रजनन संस्था के लिए वीर्यदान देना चाहिए और उसका उपयोग परिष्कृत स्तर की महिलाओं की सहायता से उसी स्तर की सन्तान उत्पन्न करने के लिए किया जाना चाहिए। सोचा गया है कि इस पद्धति से एक आइन्स्टीन से अनेकों आइन्स्टीन पैदा करने में सफलता मिलेगी और इससे विश्व मानव की नस्ल सम्पदा को ऊँचा उठाने में महत्वपूर्ण योगदान मिलेगा।

इस क्षेत्र में मूर्धन्य पुरुषों को ही तुल्य त्याग नहीं करना पड़ेगा, वरन् नारियों को भी कष्ट सहने के लिए तैयार रहना होगा। एकपक्षीय श्रेष्ठता कुछ बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध न कर सकेगी।

विश्वविख्यात साहित्यकार जार्ज वर्नार्ड शा अपनी विनोदी प्रकृति के लिए प्रख्यात थे। वे उन दिनों वृद्ध भी थे और कुरूप तो पहले से ही थे। एक सुन्दर युवती उनके पास यह प्रस्ताव लेकर पहुँची कि वे उसके साथ विवाह कर लें ताकि उसे 'शा' जैसी बुद्धिमान और उस जैसी सुन्दर सन्तान प्राप्त हो सके।

'शा' ने उत्तर दिया आवश्यक नहीं वह मुझ जैसी बुद्धिमान और आप जैसी सुन्दर ही सन्तान हो, इसका ठीक उल्टा भी हो सकता है—यह मुझ जैसी कुरूप और आप जैसी मूर्ख भी उत्पन्न हो सकती है।

यह मात्र विनोद ही नहीं था। इसके पीछे एक सच्चाई भी है कि केवल नर-पक्ष को ही पीढ़ी निर्माण का सारा श्रेय नहीं मिल सकता; इसके लिए माता का स्तर भी अनुकूल होना चाहिए। शुक्राणुओं के साथ तो श्रेष्ठ परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं, किन्तु डिम्बाणु अवांछनीय स्तर की विशेषताओं से भरे हो तो इच्छित परिणाम न हो सकेगा। माता और पिता की संयुक्त खेती ही तो शिशुओं की फसल देती है, इसलिए सुधार प्रयास, मात्र नर-पक्ष के लिए पर्याप्त नहीं, उसके लिए उतना ही प्रयत्न नारी-पक्ष के गुण-सूत्रों के सुधार को भी करना

पड़ेगा। वंश परम्परा में पितृपक्ष और मातृपक्ष की भूमिका न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः समान ही रहती है।

भीम का पुत्र घटोत्कच अपने पिता के समान बलवान तो था, पर माता हिडम्बा वनवासी भील थी इसलिए बच्चे की आकृति-प्रकृति माता के समान ही बन सकी। मदालसा ने अपनी सभी सन्तानें मनचाहे स्तर की उत्पन्न की थीं, इसमें उसके पति का स्तर तो साधारण था, पर उसने अपनी शारीरिक, मानसिक स्थिति में सुधार कर अभीष्ट गुण, कर्म, स्वभाव के बच्चे उत्पन्न किये। यह एकगुणी प्रयास के उदाहरण है। यदि भीम की पत्नी कोई परिष्कृत स्तर की होती तो घटोत्कच की अपेक्षा अधिक समुन्नत बालक उत्पन्न होता। इसी प्रकार मदालसा का पति भी यदि सुविकसित रहा होता तो अभीष्ट उत्पादन और भी अधिक ऊँचे स्तर का सम्भव हुआ होता।

कहा जाता है कि प्राचीनकाल में यह प्रचलन भी था कि गृह-व्यवस्था के लिए दाम्पत्य-जीवन का एक क्रम बना रहे और श्रेष्ठ सन्तानोत्पादन के लिए नर-नारी उपयुक्त आधार तलाश कर सकें। कुन्ती का उदाहरण ऐसा ही है। वह पाण्डु की पत्नी थी और आजीवन उसी रूप में रही। बिना तलाक दिये अथवा न पतिव्रत धर्म भंग किये उन्होंने मनचाहे स्तर की सन्तान उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की। उनके पाँच पुत्र, पाँच पाण्डव, पाँच देवताओं की सन्तानें थीं। इतना ही नहीं विवाह से पूर्व भी उन्होंने कर्ण को जन्म दिया था। उनका यह प्रयोग असफल नहीं रहा। प्रचलित सामाजिक परम्पराओं के अनुसार लोकापवाद हुआ या नहीं, यह एक पृथक् प्रश्न है।

निम्नोक्त प्रथा का शास्त्र में उल्लेख भी है और आदेश भी। पति-पत्नी में से किसी की असमर्थता अथवा अनुपस्थिति में अन्य नर-नारी की सहायता से सन्तानोत्पादन करना और उसे उत्तराधिकारी मानना हिन्दू धर्म की शास्त्रीय परम्पराओं के अनुरूप ही माना जाता था।

हिटलर के वे प्रयोग सर्वविदित हैं जिनमें उसने जर्मन जाति की उत्कृष्ट नस्ल पैदा करने की दृष्टि से एक योजना चलाई थी, जिसके अन्तर्गत चुनी हुई नारियों को चुने हुए नरों के द्वारा सन्तानोत्पादन के लिए बाध्य किया गया था। इस प्रयोग की उन दिनों धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में घोर निन्दा की गई थी, पर हिटलर यही कहता रहा—जर्मन जाति को विश्वविजयी नस्ल की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति के लिए जो प्रयोग किये जा रहे हैं। उनमें सन्निहित उद्देश्य किसी भी प्रकार निन्दनीय नहीं हो सकता।

इन सब दलीलों और प्रमाणों के रहते हुए भी यह प्रश्न बना ही रहेगा कि दाम्पत्य-जीवन की गरिमा को घटाकर ही कृत्रिम गर्भाधान का प्रचलन मानवी समाज में

हो सकता है। इससे परम्परागत भावनाओं को चोट लगेगी और छुट-पुट प्रयोगों के अतिरिक्त बड़े पैमाने पर यह प्रयोग सफल न हो सकेगा।

कृत्रिम गर्भाधान के समर्थन में कितनी ही गहरी दलीलें क्यों न दी जाएँ, वह बड़े पैमाने पर सफल न हो सकेगा। पति-पत्नी के बीच स्नेह, सम्बन्धों और मिलन आवेश का जो भावनात्मक प्रवाह बहता है, उसका कृत्रिम प्रक्रिया में कैसे समावेश किया जायेगा ? शिशुओं के प्रति आत्मीयता का सहज वात्सल्य पिता के मन में किस प्रकार उत्पन्न होगा ? इतनी महत्वपूर्ण उपलब्धियों से वंचित शिशु को भावनात्मक दृष्टि से बहुत दूर तक अभावग्रस्त ही रहना पड़ेगा। अस्तु, इस वैज्ञानिक प्रक्रिया से इतनी ही आशा की जा सकती है कि वे शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से सुविकसित होंगे। उनमें स्थूल स्तर की विशेषताएँ भी वंश परम्परा के आधार पर भी हो सकती हैं, किन्तु भावनात्मक अभाव तो अकेला ही इतना बड़ा है कि उसे छोड़ देने पर समग्र मानव की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

शिशुओं में भावनात्मक विकास के लिए पति-पत्नी के बीच अगाध आत्मीयता और उदीप्त भावुकता का होना आवश्यक है। ऐसी दशा में भावी पीढ़ियों को सुसंस्कृत बनाने का लक्ष्य हर दृष्टि से आवश्यक और महत्वपूर्ण होते हुए भी उसकी पूर्ति के लिए हमें आध्यात्मिक मूल्यों का भी ध्यान रखना होगा। इस समस्या का समाधान हमें भावनात्मक आदर्शों को साथ लेकर ही करना चाहिए। पति-पत्नी की प्रजनन श्रेष्ठता बढ़ाकर ही इस प्रयोजन की पूर्ति की जा सकेगी।

सर्वतोमुखी प्रगति की आधारशिला— चरित्र-निर्माण

बात के पक्के, आचरण के सच्चे और चिन्तन के ऊँचे मनुष्य भले ही सामान्य स्तर का जीवनयापन करते हों, पर लोगों की दृष्टि में उनका असाधारण सम्मान होता है। जिन गुणों के कारण मनुष्य को 'देवता' कहा जाता है उनमें ईमानदारी प्रमुख है। जो ईमानदार है वह अपने भीतर अन्य दैवी गुणों की स्थापना एवं अभिवृद्धि करता चलता है। बेईमानी वह कदम है, जिसके बढ़ने पर पतन का सर्वनाशी गर्त दिन-दिन निकट आता चला जाता है।

यह नासमझी का चिह्न है कि तात्कालिक थोड़े-से लाभ के लिए दूरगामी दुष्परिणामों को आँख से ओझल कर दिया जाय। मछली आटे की गोली के लोभ से काँटा निगलती है और मछुए के हाथों में पड़कर अपनी जान गँवा बैठती है। चिड़ीमार द्वारा फैलाये हुए दाने पर जो चिड़ियाँ आँखें बन्द करके टूटती हैं, वे जाल में फँसती हैं और सतर्कता की उपेक्षा का परिणाम मृत्युदण्ड

३. १२३ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

के रूप में भुगतती है। इन्द्रिय असंयम का क्या परिणाम होता है यह किसी से छिपा नहीं है। चटोरी जीभ पेट खराब करती है और अपचजन्य विष के प्रभाव से सारा शरीर अनेक रोगों से ग्रसित हो जाता है। ब्रह्मचर्य के प्रति असावधानी बरतने पर आदमी भरी जवानी में बुढ़ापे को आमन्त्रित करता है और अशक्तता ग्रसित होकर मुर्दनी भरी खोखली ज़िन्दगी जीता है। अपव्ययी व्यक्ति अपनी पूँजी गँवाकर दरिद्र बनते, ऋणी रहते और अपमान सहते हैं। आलसी श्रम से बचकर समय गँवाते और हर बात में असफल रहते हैं। खेत में बोये जाने वाले बीज को बेचकर मेला तमाशा देखने में खर्च कर डालने वाला किसान तात्कालिक मौज पर प्रसन्न होता है पर उसे फसल के नाम पर खाली हाथ रहना ही पड़ता है।

ऊपर की पंक्तियों में उन अदूरदर्शियों की चर्चा है, जो तत्काल के क्षणिक लाभ पर अन्धे होकर दूटते हैं और यह विवेक खो बैठते हैं कि इस अदूरदर्शिता के फलस्वरूप उन्हें कितना कुछ भुगतना पड़ेगा, यह क्षणिक लाभ कितना महँगा पड़ेगा ? बेईमानी का लाभ दिन दूना इसी प्रकार का है।

कोई व्यक्ति बेईमानी तभी कर सकता है जब पहले दूसरे को विश्वास में ले लें। अविश्वासी के प्रति तो मनुष्य सदा सावधान रहता है। उसे इतना निकट ही नहीं आने देता कि किसी प्रकार की चालाकी की गुंजाइश रहे। उसी का प्रथम चरण यही है कि जिसे ठगना है उसे इतना विश्वास में लिया जाय कि दुरभिसंधि की सम्भावना सोचने में ही न आये। दूसरों को निश्चिन्त विश्वसनीयता की स्थिति में देखकर बेईमानी के अस्त्र का प्रहार किया जाता है। इसे प्रत्यक्षतः विश्वासघात ही कह सकते हैं। दूसरा अपने ऊपर विश्वास करता है और अपनी ओर से उस पर आक्रमण कर दिया गया, यह सोते को कल कर देने की ही बात है। धन की कितनी मात्रा का अपहरण किया गया वह बात गौण है। नैतिक अपराध तो छोटी या बड़ी बेईमानी से लगभग समान ही बनता है। उससे आत्मिक पतन की गति में कोई कमी नहीं आती। बेईमानी का लाभ वस्तुतः दूसरों को अनीतिपूर्वक पीड़ा देकर किया गया उपार्जन ही है इसलिए उसे हिंसा, हत्या, शोषण, उत्पीड़न, अपहरण जैसे कुकृत्यों की श्रेणी का बड़ा पातक ही गिना जा सकता है। यद्यपि वह प्रचलन में आ जाने से छोट-सा दोष प्रतीत होता है।

शरीरशास्त्री बताते हैं कि पारा पचता नहीं। उस भारी किन्तु पतली धातु को आसानी से खाया जा सकता है, पर पचता किसी प्रकार से नहीं। शरीर से फूट-फूटकर निकलता है। ठीक इसी प्रकार बेईमानी की कमाई अनेक विपत्तियाँ लाती है। यह अनेकों अवांछनीय छिद्रों में होकर बह जाती है। बीमारी, मुकदमेबाजी, चोरी, आतंकवादियों द्वारा अपहरण, व्यसन, अपव्यय आदि अनेक ऐसे द्वार खुलते हैं, जिनमें होकर वह पैसा जिस प्रकार आया था

उसी प्रकार चला जाता है। चोर, जुआरी, जेबकट ज़िन्दगी भर में इतना कमाते हैं कि यदि वह धन रुक सका होता तो वे लोग ऊँचे दर्जे के धनी व्यवसायी बन जाते, पर ऐसा कभी भी नहीं देखा गया। अनीति की कमाई न कहीं ठहरती है और न कभी फलती-फूलती है। वह किसी को रुलाकर आई थी अस्तु, विदा होते समय भी कमाने वाले को रुलाकर ही जाती है। कहते हैं जादूगर ढेरों रुपये बना देता है पर वह कमाई सिर्फ देखने का मनोरंजन भर करती है, उससे बाजीगर या कोई और व्यक्ति धनी नहीं बन सकता, बेईमानी की कमाई की जादूगर की सफाई से पूरी तरह तुलना की जा सकती है। वह झोली में से निकलती है और झोली में ही जाती है। उसका कोई कारगर उपयोग हो नहीं सकता।

वैयक्तिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में स्थायी सफलता केवल ईमानदार लोगों के लिए सुरक्षित है। जिन्हें अपनी ईमानदारी पर भरोसा है, वे आत्मबल सम्पन्न होते हैं। कहते हैं सत्य में हजार हाथियों का बल होता है। समस्त दुर्बलताएँ चरित्रिक दुर्बलता से उत्पन्न होती हैं। जो आदर्शों पर दृढ़तापूर्वक आरुढ़ है उसे अपने भीतर से शक्ति के स्रोत फूटते दीखते हैं। आत्मबल संसार का सबसे बड़ा बल है उसकी तुलना में धनबल, भुजबल, बुद्धिबल, शस्त्रबल आदि सब तुच्छ हैं। आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति ही भौतिक एवं आत्मिक क्षेत्र में सुस्थिर और महत्त्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त करते हैं। यह शक्ति किसी पूजा-पत्री से नहीं केवल आदर्शवादी चरित्रनिष्ठा से ही उत्पन्न होती है। इसके लिए मनुष्य को बाहर के लोगों की दृष्टि से नहीं अपनी आत्मा की दृष्टि से ईमानदार रहना पड़ता है।

परिवार के सदस्यों का संगठित रहना—परस्पर स्नेह, दुलार, सहयोग देना—सुसंस्कृत बनकर समुन्नत स्तर की प्रगति करना तभी सम्भव है, जब उस कुटुम्ब में चरित्रनिष्ठा और आदर्शवादिता का वातावरण बना हुआ हो। यदि घर में बेईमानी की कमाई आती होगी तो जीभ से सिद्धान्तवादिता की चर्चा भले ही होती रहे। घर का हर सदस्य विश्वास यही करेगा कि बेईमानी के बिना काम नहीं चल सकता। वही व्यावहारिक और आवश्यक है। इस मान्यता का प्रयोग-परीक्षण घर में ही चलता है। एक-दूसरे के छल-कपट, छीन-झपट, लड़-झगड़ का व्यवहार करते हैं, उनके मूल में अनुदार स्वार्थपरता ही काम कर रही होती है। यहाँ से दुश्चरित्रता के सारे पेड़-पौधे उत्पन्न होते हैं और वे बड़े होकर कँटीले झाड़-झंखाड़ बन जाते हैं। स्पष्ट है कि किसी भी समूह परिवार का सुदृढ़ संगठन आदर्शवाद और सहयोग के आधार पर ही सुदृढ़ रह सकता है। जहाँ इसकी जितनी कमी होगी, वहाँ उसी अनुपात में मनोमालिन्य और बिखराव बढ़ेगा। परिवारों के सुरम्य उद्यान सदा अन्ततः कलह की चिन्गारी में जलकर भस्म हुए हैं और वह

सर्वभक्षी आग केवल अनैतिक परम्पराओं का आश्रय और उन्नति के लिए सुविधा-साधनों की जितनी जरूरत है, उससे हजार गुनी आवश्यकता आदर्शवादी रीति-नीति को आधार बनाये जाने की है। इसका मूल स्रोत यह है कि गृहपति अनीति की कमाई करना बन्द करके और फिजूल-खर्ची के सारे मार्ग कड़ाई के साथ रोककर सादगी और मितव्ययता के साथ गुजारा करने का अभ्यास हर सदस्य को कराये। जहाँ ऐसे कदम उठाये गये होंगे, वहाँ परिवार के सदस्यों का आन्तरिक स्तर ऊँचा उठेगा और इस उत्कर्ष का परिणाम सर्वतोमुखी प्रगति एवं सुख-शान्ति के रूप में देखा जा सकेगा।

जो पैसा परिश्रमपूर्वक पसीना बहाकर न्यायपूर्वक, कमाया जाता है, वह उचित कामों में ही खर्च होता है। उसे अपव्यय की होली में फूँकते हुए कलेजा टूटता है। ऐसे वातावरण में अपनी मर्यादा के अनुरूप मात्र उपयोगी कार्यों में ही खर्च होता है। जहाँ यह क्रम चल रहा होगा वहाँ दरिद्रता का प्रवेश न हो सकेगा। अपव्ययी ही ऋण लेते और अनेक उलझनों में उलझते हैं। जहाँ सरलता, सादगी और मितव्ययिता है, वहाँ कम आमदनी होते हुए भी व्यवस्थापूर्वक हँसी-खुशी की जिन्दगी जियी जा रही होगी। अधिक उपार्जन की आवश्यकता अनुभव होगी तो अधिक परिश्रम करने, अधिक योग्यता बढ़ाने और अधिक सन्तुलन बरतने के लिए कदम बढ़ाये जायेंगे। इससे न केवल आर्थिक कठिनाई दूर होगी, वरन् योग्यता एवं प्रतिभा के विकास का दुहरा लाभ भी मिलेगा।

व्यापार सदा ग्राहकों को विश्वास में लेने से ही चल सकता है। अधिक खरीदार होंगे तो अधिक लाभ मिलेगा। यह सीधी बात है और यह भी स्पष्ट है कि ग्राहकों को फन्दे में फँसाये नहीं रखा जा सकता है। हर व्यक्ति विश्वस्त से ही व्यवहार करना चाहता है। ऐसे दुकानदार की ही सबको तलाश रहती है, जिससे उचित मूल्य पर अच्छी चीज, पूरे परिमाण में उपलब्ध हो सके। इस कसौटी पर जो व्यापारी खरे उतरते हैं, उनके ग्राहकों की संख्या बढ़ती ही रहती है। एक से दूसरे में प्रचार होता है और ऐसा सम्पर्क समाज बन जाता है, जो स्वयं ही उस दुकान का खरीदार नहीं रहता, वरन् अपने साथियों को भी उसी के साथ जोड़ देता है। सद्व्यवहार, ईमानदारी और कुशलता का मिश्रण-समन्वय जहाँ होगा वहाँ व्यापार निश्चित रूप से चल सकेगा और आर्थिक उन्नति सहज प्रतिफल सामने खड़ा दिखाई देगा। संसार में बड़े-बड़े व्यापारिक फर्म इसलिए प्रख्यात बने और लाभान्वित हुए हैं कि उन्होंने अपने लाभ की ही तरह ग्राहकों के हित का भी पूरा ध्यान रखा है और उन्हें मजबूत, सही और सुन्दर वस्तु देकर अपनी प्रामाणिकता का परिचय दिया है। लोग कुछ अधिक कीमत देना पसन्द करते हैं यदि उन्हें अच्छी चीज मिले और व्यवहार में ईमानदारी का समावेश हो। इसके विपरीत भले ही

सस्तेपन का प्रलोभन दिया जाय पर जब कमजोर, रद्दी वस्तुएँ पल्ले बँधती हैं तो ग्राहक की आँखें खुल जाती हैं और वह फिर सस्तेपन के लालच में ठोकरें खाने की अपेक्षा महँगे मूल्य की प्रामाणिक वस्तुएँ ही प्रामाणिक दुकानदार से खरीदता है। यही तथ्य है कि बेईमान दुकानदार अन्ततः सिर पकड़कर रोते हैं और ईमानदारी दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति के साधन जुटा रही होती है।

अपने देश में लोग कम तोलने, कम नापने, नकली, मिलावटी चीजें बेचने के आदी होते जाते हैं। इस प्रकार उन्हें तत्काल कुछ अधिक कमाने का अवसर भी मिल जाता है। पर यह सिलसिला थोड़े ही समय चलता है। यथार्थता देर तक छिपी नहीं रहती। जब कलाई खुलती है तो पुराने ग्राहक तो टूट ही जाते हैं, वे अपने परिचितों को भी उस शिकारी के जाल में फँसने के लिए सावधान करते रहते हैं। सोने का एक अण्डा देने वाली मुर्गी के सारे अण्डे एक ही दिन पा लेने के लालच ने उसका पेट चीर डाला था और एक अण्डा पाने का लाभ भी गँवा बैठा था। यह कहानी उन लोगों पर अक्षरशः सही उतरती है, जो बेईमानी का सहारा लेकर जल्दी अमीर बनने की बात सोचते हैं, किन्तु अन्ततः अपनी साख गँवाकर दुर्गति के शिकार बनते हैं।

ऊपर व्यापारी के उदाहरण दिये गये हैं पर बेईमानी केवल उसी क्षेत्र तक सीमित नहीं है। हर काम में, हर क्षेत्र में दूसरों के साथ मिल-जुलकर ही काम करना पड़ता है। एकाकी रहकर तो कुछ भी नहीं हो सकता। सम्पर्क में रहने वालों की घनिष्टता, श्रद्धा, आत्मीयता जितनी प्रगाढ़ होगी, उसी अनुपात में सहयोग का आदान-प्रदान और उसी क्रम में सफलताओं का पथ प्रशस्त होगा। बेईमानी की नीति अपनाकर हम दूसरों की दृष्टि में अपने को अविश्वस्त और अप्रामाणिक ठहराते हैं फलतः निकटस्थ व्यक्ति भी उदासीन रहने लगते हैं—उपेक्षा बरतते हैं और वह खिचाव, असहयोग जैसी स्थिति उत्पन्न करता है। ऐसे वातावरण में रहकर मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही यत्किंचित सफलता पा सकता है। सहयोगजन्य सुविधाओं के सहारे ही आगे बढ़ना और ऊँचा उठना सम्भव होता है। बेईमानी इन दिव्य सम्भावनाओं को समाप्त करती चली जाती है। न उसके अधीनस्थ सम्मान करते हैं और न अधिकारी कोई प्रोत्साहन देते हैं। इसका दोष दूसरों पर लादकर अपना जी हल्का किया जा सकता है, पर जब गहराई से देखा जाय तो काम की चोरी, मनोयोग लगाने की उपेक्षा, लापरवाही, गैर-जिम्मेदारी जैसी बुरी आदतों ने सहयोगियों को असहयोगी बनाया है। श्रम, समय, वचन, उत्तरदायित्व का सही तरह निर्वाह न करना भी एक प्रकार से बेईमानी ही है। मात्र धन चुराने और धोखा देने तक ही बेईमानी सीमित नहीं है। कर्तव्यों की उपेक्षा करके भी हम लगभग उसी स्तर के निन्दनीय बनते हैं।

३. १२५ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

समाज ने कितनों को ही सम्मान दिया है, नेता माना है, उनके आदेशों को बहुत कष्ट सहकर भी निबाहा है, यह सौभाग्य उन्हीं के लिए सुरक्षित रहा है, जो अपनी चरित्रनिष्ठा का गहरा विश्वास जनसाधारण को करा सकने में सफल हुए हैं।

टूटी धुरी का समाज-रथ चलेगा कैसे ?

किसी के सामने कोई भौतिक कठिनाइयाँ आती हैं तो उन्हें हल करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाना पड़ता है। परिवार की आर्थिक स्थिति डाँवाँडोल हो तो निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करना कठिन हो जाता है और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न केवल दिमाग खपाना पड़ता है, वरन् परिश्रम और पुरुषार्थ भी करना पड़ता है। घर में कोई व्यक्ति बीमार पड़ा हो, परिवार के किसी सदस्य का स्वास्थ्य बिगड़ गया हो तो उसकी तीमारदारी से लेकर चिकित्सा-परिचर्या तक में भाग-दौड़ करनी पड़ती है। एक व्यक्ति के बीमार होने पर प्रायः घर के सभी सदस्यों को भाग-दौड़ करनी पड़ती है, परेशान होना पड़ता है। इस तरह की समस्याएँ लगभग सभी परिवारों में आये दिन उत्पन्न होती रहती हैं, भाग-दौड़कर जी-तोड़ मेहनत कर उसका हल भी खोजा जाता है और ये हल भी हो जाती हैं, किन्तु एक समस्या ऐसी है, जिसका शिकार यदि कोई परिवार हो गया तो घर के सभी सदस्यों को परेशान होना पड़ता है। वह समस्या है परिवार के सदस्यों की भावनात्मक गुत्थियाँ।

ये गुत्थियाँ थोड़ी-सी असावधानी बरतने पर किसी भी सदस्य में उत्पन्न हो सकती हैं और पूरे परिवार का भावनात्मक स्वास्थ्य चौपट कर डाल सकती हैं। भौतिक कठिनाइयाँ तो फिर भी थोड़े-बहुत परिश्रम से थोड़ी-बहुत परेशानी उठाते हुए हल की जा सकती हैं। यद्यपि इस तरह की समस्याओं का सामना करने वाले जानते हैं कि यह कितना परेशानीपूर्ण कार्य है ? फिर भी विचारों और भावनाओं की गुत्थियाँ सुलझाना या परिवार के सदस्यों में सद्भावना तथा सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाते रहना उससे भी जटिल काम है, यदि उस पर प्रारम्भ से ध्यान नहीं दिया गया तो।

सभी जानते हैं कि घर की वस्तुओं को स्वच्छ, सुव्यवस्थित और सुसज्जित रखने से ही उनकी शोभा और सुरक्षा बनी रहती है। ठीक इसी उदाहरण से यह भी समझा जा सकता है कि परिवार के लोगों में परिवारिकता

की गौरवानुभूति तभी सम्भव है, जबकि घर में सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाते रहने वाला वातावरण बना रहे। परिवार के सदस्य एक-दूसरे के प्रति सहयोग रखा करें और इसी आधार पर अपने व्यक्तित्व को सुविकसित बनायें, जब परिवार के सदस्य एक-दूसरे के प्रति उपेक्षा का भाव बरत रहे हों, उनमें परस्पर सहयोग, सद्भाव न हो, आपसी सम्बन्ध एक-दूसरे से तालमेल न खाते हों तो परिवार का वातावरण नारकीय ही हो जाता है। उस स्थिति में प्रत्येक सदस्य अपने ही स्वार्थ को पूरा करने के लिए आग्रही होता है, दूसरों से मतभेद जरा भी सहन नहीं होते, अन्य सदस्यों की जरूरी माँगें भी उपेक्षणीय और अपनी अनावश्यक माँगें भी अवश्य पूरणीय लगती हैं। उसी के प्रति वह आग्रही रहता है और आग्रह पूरा न होने पर विग्रह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे परिवारों में नित्य कलह मची रहती है क्योंकि परिवार संस्था के मूलभूत आधारों का तो वहाँ ध्यान ही नहीं रखा जाता।

स्वाभाविक ही ऐसे परिवार कभी भी फलते-फूलते नहीं देखे जा सकते और न ही वहाँ के वातावरण में सुख-शान्ति की ही झाँकी मिलती है। संघर्ष और कलह की प्रवृत्ति का बोल-बाला देखकर यही कहना पड़ता है कि इस परिवार में रहने वाले सदस्य धर्मशाला या होटल में साथ-साथ रहने वालों की तरह की येन-केन प्रकारेण दिन काटते हैं। धर्मशाला या होटल में दिन काटना तो फिर भी एक दृष्टि से उन परिवारों की अपेक्षा अच्छा ही कहा जायेगा, क्योंकि वहाँ साथ ठहरने वाले आपस में लड़ते-झगड़ते तो नहीं हैं। एक-दूसरे के प्रति अपरिचय और आपस में कोई रुचि न होना ही धर्मशाला या होटल में रहने वालों की नियति है। परिवारों में यह बातें तो होती हैं पर इतने घृणित और विकृत रूप में कि अलगाव संघर्ष की सीमा को भी पार कर जाता है यदि कहा जाय कि ऐसे परिवारों का वातावरण जानवरों को एक बाड़े में बन्द करने पर उत्पन्न होने वाली स्थिति जैसा बन जाता है तो भी कोई अत्युक्ति नहीं है।

इस स्थिति में वह लाभ मिल पाना असम्भव ही है जो परिवार के सदस्य को स्वाभाविक रूप से मिलना चाहिए। परिवार के लोग यदि अपने अधिकारों को आगे रखेंगे और कर्तव्यों को भूल जायेंगे, पारिवारिक भावना की उपेक्षा करेंगे और अपनी ही इच्छा तथा आग्रह को महत्व देंगे तो उनका व्यक्तित्व स्वभावतः ही ओछा पड़ जाएगा और ओछे व्यक्तित्व खींचता बढ़ाकर परिवार में ही नहीं समाज में भी विग्रह खड़े करते हैं।

दुर्भाग्य से इन दिनों अधिकांश परिवारों की यही हालत है। अनेकों की स्थिति ऐसी है कि जैसे कोई चट्टान किसी चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो उठती है। परिवार संस्था भी इसी प्रकार दुर्बुद्धि की चट्टान से टकराकर टूटते और चरमराते देखे जा सकते हैं। इस स्थिति की किसी भी दृष्टि से सराहना तो दूर रहा, सहन भी नहीं किया जा सकता। पर उपाय क्या है ? परिवार संस्था की उपयोगिता और महत्व किसी से छुपे नहीं हैं, हर विचारशील व्यक्ति उन्हें जानता, समझता है, पर जो दुर्बुद्धि का राहु उस पवित्र संस्था को ग्रसे जा रहा है, उस संकट का निवारण किस प्रकार किया जाए ?

इसका उत्तर एक ही हो सकता है कि परिवार में सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को प्रेरणा, प्रोत्साहन देने वाला वातावरण बनाया जाय। इसका उत्तरदायित्व कौन सँभाले ? परिवार में सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाला वातावरण बनाना परिवार के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है, लेकिन प्रश्न उठता है कि जब परिवार के अधिकांश सदस्य अपने-अपने अहंकार को लेकर विग्रह खड़े कर रहे हों, तब इस ओर कौन ध्यान दे ? इस सन्दर्भ में विचार करते समय ध्यान दिया जाना चाहिए कि संकटकाल के समय महत्वपूर्ण व्यक्तियों की जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं। परिवार संस्था की वर्तमान स्थिति संकटकाल से कम नहीं है। तो इस संस्था में महत्वपूर्ण सदस्य कौन है ? उत्तर एक ही है नारी।

और नारी ही पारिवारिक वातावरण को सुधारने, सँवारने, सद्भावपूर्ण बनाने की जिम्मेदारी सरलता से सँभाल सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि परिवार के सदस्यों को प्रस्तुत दिशा में कोई ध्यान ही नहीं देना चाहिए परिवार संस्था के पुनर्जीवित और उसके पोषण सिंचन की जिम्मेदारी प्रत्येक सदस्य की है, किन्तु इस कार्य में अग्रणी तो नारी को ही रखा जा सकता है, क्योंकि प्रकृति ने उसके भीतर इस जिम्मेदारी को वहन और नेतृत्व करने की सम्भावनाएँ पहले ही भर रखी हैं। उसके भीतर सद्भावनाओं का एक अमृत निर्झर निरन्तर इस प्रकार बहता रहता है, जो कभी नहीं सूखता है। इस अमृत निर्झर से एक-एक चुल्लू अमृत वह घर के सभी लोगों को पिलाती रह सकती है और स्वभाव से ही टेढ़े कहे जाने वाले व्यक्तियों को शिवजी की सेना कहलाने का सौभाग्य प्रदान कर सकती है। सरकस वाले तरह-तरह के जानवरों को साधकर उनकी सहज शत्रुता भुला उन्हें मित्र जैसा व्यवहार करने का आदी बना देते हैं, किन्तु यह विशेषता नारी की प्रकृति में ही मौजूद है। वह चाहे तो इसका कौशल से उपयोग करके किसी भी स्तर के लोगों में स्नेह-सौजन्यता-सहयोग पैदा कर सकती है।

नारी में एक गुण प्रकृति ने इतनी प्रचुर मात्रा में भर रखा है कि उसे सहज ही देवी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, उसकी सहनशीलता को ही लें। आमतौर पर वह परिवार भर के दोष-दुर्गुणों का प्रभाव अपने ऊपर सहती है। यह सहनशीलता प्रशंसनीय है, परन्तु जहाँ परिवार संस्था के पुनर्जीवन और कार्याकल्प का प्रश्न आता है, वहाँ इतने भर से सन्तोष नहीं किया जा सकता है। यह सदगुण यहीं तक सीमित नहीं रहना चाहिए, वरन् इसका सार्थक उपयोग किया जाना चाहिए और इसका सम्बल लेकर परिवार के सदस्यों में जो दोष-दुर्गुण समा गये हैं, उनको निकालने में करना चाहिए। यदि यह नहीं किया गया तो परिवार में दुर्गुण और दुर्भाग्य जहाँ के तहाँ पड़े रहेंगे तथा आपस में किसी का भी सहयोग नहीं बन पड़ेगा। इसके लिए एक ओर जहाँ दोषों को उखाड़ने, पछाड़ने का पूरा-पूरा ध्यान रखना होता है, वहीं यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि किसी के स्वाभिमान को चोट न लगे।

स्वाभिमान को बिना ठेस पहुँचाये भावनाओं को शुद्ध करना और जीवन को एक नई दिशा प्रदान करना चतुराई का काम है। इसके लिए परिवार के हर सदस्य के साथ तालमेल बिठाना पड़ता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे बड़ी चतुराई भरी सफलता कहा जा सकता है और यह केवल नारी ही कर सकती है और अन्य के लिए तो नितान्त ही कठिन है। नारी में यह सब करने की क्षमता तो है ही, यह उसका कर्तव्य भी है।

परिवार निर्माण पूरा एक दर्शन एक प्रायोगिक और व्यवहारिक विज्ञान है। उसका सफल प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि नारी पहले उसमें स्वयं निष्णात हो। यह ठीक है कि प्रकृति ने उसमें इस तरह के अनेकानेक गुण भर दिये हैं, परन्तु उन गुणों के उपयोग की कला भी तो आनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि नारी की अपनी योग्यता एवं मानसिक क्षमता भी विकसित हो। शारीरिक दृष्टि से रुग्ण, कमजोर और मानसिक दृष्टि से अविकसित स्त्रियाँ स्वयं ही अपनी साज-सँभाल नहीं कर सकती तो वे परिवार का निर्माण कहाँ से कर सकेंगी ? अस्तु, परिवार निर्माण के लिए महिलाओं के स्वयं शिक्षित, समर्थ और सुयोग्य होने के साथ-साथ अपनी प्रतिभा और योग्यता को परिवार निर्माण का प्रयोजन पूरा करने में लगाने की कला भी आनी चाहिए।

इन गुणों का उपयोग परिवार निर्माण में किस प्रकार किया जाय ? किस तरह परिवार के सदस्यों को सुसंस्कारी और परिष्कृत व्यक्तित्व सम्पन्न बनाया जाए ? यह प्रश्न परिवार निर्माण के प्रारम्भ में आना स्वाभाविक है। इनके उत्तर में पहली बात तो यही कही जा सकती

३. १२७ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

है कि ठोस प्रभाव कह-सुनकर नहीं स्वयं के माध्यम से आदर्श प्रस्तुत कर ही उत्पन्न किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए घरों में स्वच्छता और सुरुचिपूर्ण सुसज्जता का अभाव रहता है तो इसका एक बड़ा कारण यह है कि स्वयं गृहिणी का इस और कोई ध्यान नहीं रहता, इसलिए परिवार के अन्य सदस्य भी इस ओर उपेक्षा बरतते हैं। घर में गन्दगी देखकर बच्चे भी और गन्दगी बढ़ाने लगते हैं। घर की यह अव्यवस्था बताती है यहाँ आलस्य और प्रमाद का राज्य है। आलस्य और प्रमाद मनुष्य के सबसे बड़े दोष समझे गये हैं और उनका पहला परिचय गन्दगी के रूप में ही मिलता है। इसीलिए गृहिणी को स्वयं साफ-स्वच्छ रहने के साथ-साथ घरों में भी सुरुचि और सुसज्जता का वातावरण बनाने की कार्यपद्धति अपनानी चाहिए। परिवार के लोगों में इसी प्रकार स्वच्छता तथा सुसज्जा के संस्कार डाले जा सकते हैं।

अन्य सदगुण सत्त्ववृत्तियों के विकास में भी यही रीति-नीति अपनाई जा सकती है। जहाँ तक दोष-दुर्गुणों को हटाने-मिटाने का प्रश्न है, उसके लिए स्नेह, सद्भाव भरा सत्परामर्श उपयोगी हो सकता है। परिवार संस्था के पुनर्जीवन, सुदृढ़ीकरण और पूर्ण निर्माण में नारी इस प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है और यह निबाही भी जानी चाहिए। व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती कही जाने वाली यह संस्था इन दिनों जितनी दोन-हीन और दुर्दशाग्रस्त स्थिति में पड़ी है, यह बहुत ही भयावह और विषम है। उसके दुष्परिणाम किसी व्यक्ति परिवार या समुदाय को नहीं, वरन् पूरे मानव समाज के लिए हानिकारक हैं। इस दुःसम्भावना का निवारण करने के लिए परिवार संस्था को टूटने से बचना चाहिए। यदि ऐसे न किया गया तो परिवार संस्था की यह टूटन अन्ततः मनुष्य को आदिम कबीलाई अवस्था में ही पहुँचाकर छोड़ेगी।

सुसंस्कारिता जीवनचर्या का एक

महत्त्वपूर्ण अंग

सभ्यता से बढ़कर सुसंस्कारिता का मान, महत्त्व एवं गौरव है। उनकी क्षमता और परिधि भी अपेक्षाकृत अधिक है। सभ्यता का श्री-गणेश करने वाले अगला कदम सुसंस्कारिता अपनाने के रूप में उठाते हैं। सभ्यता की पूर्णता सुसंस्कारिता के साथ जुड़ने से ही होती है अन्यथा सभ्यता का व्यवहार-कौशल तो कलात्मक छद्म के रूप में भी सीखा-अपनाया जा सकता है। उतने भर से बात बनती

नहीं, सर्वतोमुखी प्रगति की सम्भावना सुनिश्चित होती नहीं। हमें शरीर से सुन्दर, स्वच्छ और सुव्यवस्थित तो होना ही चाहिए, किन्तु आवश्यक यह भी है कि आदर्शों के प्रति आस्थावान बना जाय, दृष्टिकोण में उत्कृष्टता को समाविष्ट रखा जाय। भाव-संवेदनाएँ, आकांक्षाएँ इस स्तर की हों, जिन्हें शालीनता, सज्जनता की पक्षधर कहा जा सके।

सुसंस्कारिता के चार आधारों को प्रमुख माना गया है— (१) समझदारी, (२) ईमानदारी, (३) जिम्मेदारी, (४) बहादुरी। इन्हें आन्तरिक वरिष्ठता की दृष्टि से उतना ही महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए, जितना कि शरीर के लिए अन्न, जल, वस्त्र और निवास को अनिवार्य समझा जाता है।

समझदारी का तात्पर्य है दूरदर्शी विवेकशीलता को अपनाया जाना। आमतौर से लोग तात्कालिक लाभ को ही सब कुछ मानते हैं और उसके लिए अनाचार भी अपना लेते हैं। इससे भविष्य अश्वकारमय बनता है और व्यक्तित्व का स्तर एक प्रकार से हेय ही बन जाता है। अदूरदर्शिता तुर्त-फुर्त, अधिक सुविधा-सम्पादन के लिए लालायित रहती है और इस उतावली में ऐसे काम करने में भी नहीं झिझकती, जिनकी भावी परिणति बुरे किस्म की हो सकती है। मूर्ख चिड़ियाँ और मछलियाँ इसी दुर्बुद्धि के कारण तनिक से प्रलोभन में अपनी जिन्दगी देती देखी गई हैं। चटोरे व्यक्ति इसी में अपनी स्वास्थ्य सम्पदा को तहस-नहस कर लेते हैं। यौनाचार में अतिवाद बरतने वाले लोग, जवानी में ही बूढ़े-खोखले होकर अकाल मृत्यु के मुँह में जा घुसते हैं। अपराधी तत्त्वों में से अधिकांश लोग इसी मनोवृत्ति के होते हैं। पढ़ने का समय आवारागर्दी में गुजार देने वाले व्यक्ति जवानी में ही दर-दर की ठोकें खाते हैं। नशेबाज भी इसी मूर्खता को अपनाकर धीमी आत्म-हत्या करने में निधड़क रूप से लगे रहते हैं। ऐसी नासमझी के रहते आज का अभी का लाभ ही सब कुछ दीख पड़ता है और भविष्य की सम्भावनाओं के सन्दर्भ में सोचने तक की फुर्सत नहीं मिलती।

दूरदर्शिता, विवेकशीलता, उस अनुभवी किसान की गतिविधियों जैसी है, जिनके अनुसार खेत जोतने, बीज बोने, खाद-पानी देने, रखवाली करने में आरम्भिक हानि उठाने और कष्ट सहने को शिरोधार्य किया जाता है। दूरदर्शिता उसे बताती है कि इसका प्रतिफल उसे समयानुसार मिलने ही वाला है। एक बीज के बदले में सौ दाने उगने ही वाले हैं और समय पर उस प्रयास के प्रतिफल कोठे भरे धन-धान्य के रूप में मिलने ही वाले

हैं। संयम और सत्कार्य ऐसी ही बुद्धिमत्ता है। पुण्य-परमार्थ में भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाली सम्भावनाएँ सन्निहित हैं। संयम का प्रतिफल वैभव और पौरुष के रूप में दृष्टिगत होता है।

सुसंस्कारिता का दूसरा चिह्न है—ईमानदारी। कथनी और करनी को एक-सा रखना ईमानदारी है। आदान-प्रदान में प्रामाणिकता को इसी सिद्धान्त के सहारे अधुण्ण रखा जाता है। विश्वसनीयता इसी आधार पर बनती है। सहयोग और सद्भाव अर्जित करने के लिए ईमानदारी ही प्रमुख आधार है। इसे अपने व्यवसाय में अपनाकर कितनों ने ही छोटी स्थिति से उठकर बड़े बनने में सफलता पाई है। बड़े उत्तरदायित्वों को उपलब्ध करने और उसका निर्वाह करने में ईमानदार ही सफल होते हैं। इस सद्गुण को सुसंस्कारिता का एक महत्वपूर्ण पक्ष माना गया है। उसे अपनाने वाले ईमानदारी और पश्चिम की कमाई से ही अपना काम चला लेते हैं। उनकी गरीबी भी ऐसी शानदार होती है, जिस पर अमीरी के भण्डार को निछावर किया जा सके।

सुसंस्कारिता का तीसरा पक्ष है—जिम्मेदारी। मनुष्य अनेकानेक जिम्मेदारियों से बँधा हुआ है। यों गैर-जिम्मेदार लोग कुछ भी कर गुजरते हैं, किसी भी दिशा में चल पड़ते हैं, अपने किन्हीं भी उत्तरदायित्वों से निर्लज्जतापूर्वक इन्कार कर सकते हैं, पर जिम्मेदार लोगों को ही अपने अनेकों उत्तरदायित्वों का सही रीति से, सही समय पर निर्वाह करना पड़ता है। स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने की, जीवन सम्पदा का श्रेष्ठतम उपयोग करने की, लोक-परलोक को उत्कृष्ट बनाने की व्यक्तिगत जिम्मेदारी जो निभाना चाहते हैं, वे ही सन्तोष, यश और आरोग्य का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। पारिवारिक जिम्मेदारियाँ समझने वाले आश्रितों को स्वावलम्बी, सद्गुणी बनाने में निरत रहते हैं और सन्तान बढ़ाने के अवसर आने पर फूँक-फूँककर कदम रखते हैं।

पेट और प्रजनन तक ही मनुष्य की सीमा नहीं है। धर्म और संस्कृति के प्रति, विश्व मानवता के प्रति मनुष्य के सामाजिक और सार्वभौम उत्तरदायित्व जुड़े हैं, यहाँ तक कि अन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों के प्रति भी। उन सभी के सम्बन्ध में दायित्वों एवं कर्तव्यों के निर्वाह की चिन्ता हर किसी को रहनी चाहिए। यह कार्य तभी सम्भव है, जब अपनी संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाया जाय। औसत व्यावहारिक स्तर का निर्वाह स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया जाय। यदि लोभ, मोह, अहंकार का, वासना, तृष्णा और संकीर्ण-स्वार्थपरता का घटाटोप ऊपर छाया होगा, तो फिर नासमझ खाली बच्चों का मन, न

तो उस स्तर का सोचेगा और न सयानों से लोक-मंगल के लिए कुछ निकालते बन पड़ेगा। आवश्यकताएँ तो कोई थोड़े श्रम, समय में पूरी कर सकता है; पर वैभवजन्य भौतिक महत्वाकांक्षाएँ तो ऐसी हैं, जिन्हें पूरी कर सकना रावण, हिरण्यकश्यप, सिकन्दर आदि तक के लिए सम्भव नहीं हुआ, फिर सामान्य स्तर के लोगों की तो बात ही क्या है ? वे हविश की जलती चिताओं वाली कशमकश में आजीवन विचरण करते रहते हैं। भूत-पलीत की तरह डरते, डराते समय गुजारते और अन्ततः असन्तोष तथा पाप की चट्टानें ही सिर पर लादकर विदा होते हैं। जिन्हें मानव जन्म के साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारियाँ निबाहनी हों, उनके लिए करने को तो बहुत कुछ पड़ा है; पर वह सब बन तभी पड़ेगा, जब निजी जीवन में सन्तोष और सत्प्रवृत्ति सम्बर्धन जैसे लोक-मंगल के कार्यों के लिए समुचित उत्साह अन्तःकरण में उमगता हो।

सुसंस्कारिता का चौथा चरण है—बहादुरी। दैनिक जीवन में अनेकानेक उलझनें आती रहती हैं। उन सबसे निपटने के लिए आवश्यक साहस होना आवश्यक है, अन्यथा हड़बड़ी में समाधान का कोई सही उपाय तक नहीं सुझ पड़ेगा। आगे बढ़ने और ऊँचा उठने की प्रतिस्पर्धाओं से सम्मिलित होना पड़ता है। गुण, कर्म, स्वभाव में गहराई तक घुसे, जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कारों से भी निरन्तर वह महाभारत लड़ने का कृत्य करना पड़ता है, जिसमें गीताकार ने अर्जुन को प्रशंसा एवं भर्त्सना की नीति अपनाते हुए प्रवृत्त होने के लिए उद्यत किया है। अपने को निखारने, उबारने और उछालने के लिए अदम्य साहस का सहारा लिए बिना कोई मार्ग नहीं। समाज में अवांछनीय तत्वों की, अन्धविश्वासों, कुप्रचलनों और अनाचारों की कमी नहीं है। उनके साथ समझौता सम्भव नहीं, जो चल रहा है, उसे चलने देना सहन नहीं हो सकता। उसके विरुद्ध असहयोग, विरोध की नीति अपनाए बिना और कोई चारा नहीं। इसके लिए सज्जन प्रकृति के लोगों को संगठित भी तो करना होता है। यह सभी बहादुरी के चिह्न हैं। इन्हें भी सुसंस्कारिता का महत्वपूर्ण अंग माना गया है।

सभ्यता के सर्वतोमुखी क्षेत्र को प्रकाशित करने के लिए जहाँ स्काउट स्तर की जागरूकता, पराक्रम, प्रयत्न अपनाए जाने की आवश्यकता है, वहीं सुसंस्कारिता को भी बढ़ाने और अपनाने के लिए, भरपूर प्रयत्न करते रहने की भी अनिवार्य आवश्यकता है।

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनो का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लंग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रंगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोवाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनो में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी- उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनो का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) युगतीर्थ आँबलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मबर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ आँबलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अंग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में; जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है— वहाँ पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसे ही निर्मित कर दी गयी हैं— जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया— वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँबलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भवनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रस्त

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छपी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्यास अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञांशुयोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालये में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शान्तिकुंज को उनसे एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्ता यहाँ गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट् स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहाँ उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सप्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है। www.awgp.org

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनो को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टांतर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। □□□

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनसे अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन

समग्र वाङ्मय का परिचय

२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्त्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सुस्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सुस्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२
- (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण

३७. तोर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?

३८. प्रज्ञोपनिषद्
 ३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
 ४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
 ४१. जीवेम शरदः शतम्
 ४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
 ४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
 ४४. मरकर भी अमर हो गये जो
 ४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
 ४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
 ४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
 ४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
 ४९. शिक्षा एवं विद्या
 ५०. महापुरुषों के अधिस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
 ५१. महापुरुषों के अधिस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
 ५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
 ५३. धर्मतत्व का दर्शन व मर्म
 ५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
 ५५. दुःख जगत् की अदुःख पहिलियाँ
 ५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
 ५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
 ५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
 ५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
 ६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
 ६१. गृहस्थ : एक तपोवन
 ६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
 ६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
 ६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
 ६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
 ६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
 ६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
 ६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
 ६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
 ७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)
- वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—**
७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
 ७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय

७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप

७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन : एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-ज्ञोष-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संश्लेषण
१०८. गुरुदेव की अपने आरपीय, जनों से अपनी बातें